बौद्धधर्म और बिहार

श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—३

[C]
प्रथम संस्करण; स्वत्व प्रकाशकाधीन
विक्रमाब्द २०१६, शकाब्द १८८२, खिष्टाब्द १९६०
मूल्य सजिल्द—८.००

मुद्रक
ज्ञानपीठ (प्रा०) लि०,
पटना—४

वक्तव्य

बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग के अन्तर्गत संचालित 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' प्रारंभ से ही ऐसे दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन करती आ रही है, जिन्हें कई कारणों से हिन्दी के अन्य प्रकाशक प्रकाशित नहीं कर पाते। परिषद् का प्रकाशन-कार्य व्यापारिक लाभ की दृष्टि से न होकर, हिन्दी-साहित्य के अपूर्ण अंगों तथा मौलिक अनुसन्धानविषयक ग्रन्थों की पूर्ति के विचार से सम्पन्न होता है। बिहार-सरकार अपनी इस संस्था के माध्यम से सतत सचेष्ट है कि हिन्दी के साधारण पाठकों की भी अध्ययन-वृत्ति सुरुचि-सम्पन्न बनाई जाय और दुरूह तथा अछूते विषयों को भी रोचक साहित्य के रूप में उनके समक्ष प्रस्तुत किया जाय। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन परिषद् के इसी दृष्टिकोण का परिचायक है।

सन् १९५६ ई० में, बुद्ध-परिनिर्वाण की २५००वीं वर्ष-जयन्ती के उपलक्ष्य में, शिक्षा-विभाग ने परिषद् के माध्यम से *'बौद्धधर्म के विकास में बिहार की देन'* शीर्षक निबन्ध लिखाने के लिए अखिल भारतीय स्तर पर प्रतियोगिता कराई थी। उसने इसके व्यय के लिए परिषद् को एक अलग से धनराशि भी दी। उस प्रतियोगिता में प्रस्तुत ग्रन्थ का ७५ पृष्ठोंवाला प्रारूप सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित होकर प्रथम पुरस्कार से सम्मानित हुआ। उस समय निबन्धों के निर्णायकों ने परिवर्द्धन के साथ निबन्ध को परिषद् से प्रकाशित कराने का सुझाव दिया। बाद में निबन्ध के लेखक श्री 'सहृदय' ने बड़े परिश्रम से उसका विस्तार कर सर्वांगपूर्ण पाण्डुलिपि तैयार कर दी। परिषद् के संचालक-मण्डल ने पाण्डुलिपि का निरीक्षण-परीक्षण कर प्रकाशित करने की अपनी स्वीकृति दे दी। वस्तुतः बिहार-प्रदेश की जिस भूमि में सिद्धार्थ ने छह वर्षों तक कठिन तपस्या की, जिसमें उन्होंने बुद्धत्व-लाभ किया, जिसमें स्वयं धर्म-प्रचार का कार्य किया, जहाँ उन्हें सारिपुत्र-जैसा धर्म-सेनापति प्राप्त हुआ और जहाँ के सम्राट् अशोक ने उनके धर्म-विस्तार में अपना सारा जीवन लगा दिया, उस भूमि का कोई बौद्ध सांस्कृतिक इतिहास हिन्दी में न होना, एक बहुत बड़ा खलनेवाला विषय था। हमें संतोष है कि उस अभाव की पूर्ति इस ग्रन्थ के प्रकाशन से हो गई है। यद्यपि परिषद् ने इसके पहले ही बौद्धसाहित्य-विषयक, स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव-लिखित *'बौद्धधर्म-दर्शन'* और पण्डित मोहनलाल महतो 'वियोगी'-लिखित *'जातककालीन भारतीय संस्कृति'* नामक दो प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित किये थे, तथापि इस इतिहास-प्रधान ग्रन्थ का अपना एक अलग वैशिष्ट्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की लेखन-शैली रोचक और सरस है। इसमें २५०० वर्षों की बौद्ध संस्कृति की उन घटनाओं की परम्परा है, जिनके साथ किसी-न-किसी प्रकार बिहार-प्रदेश का सम्बन्ध है। लेखक ने कई स्थलों में प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर अपनी नवीन

मान्यता स्थापित की है, जिसके सम्बन्ध में इतिहास और पुरातत्त्वज्ञ विद्वान् ही निर्णय दे सकते हैं। किन्तु, ग्रन्थ में कतिपय बौद्ध स्थानों के सम्बन्ध में लेखक का जो नवीन अनुसन्धान है, वह उनकी गवेषणात्मक प्रवृत्ति का शुभ प्रतीक है। बौद्ध संस्कृति से सम्बन्ध रखनेवाले प्रान्तीय स्तर पर, प्रायः जितने विषय हो सकते हैं, लेखक ने उन सबका समावेश, परिशिष्टों के साथ, ग्रन्थ में कर दिया है। बौद्धधर्म और दर्शन का सुबोध और संक्षिप्त परिचय भी 'प्राकथन' भाग में दे दिया गया है, जिससे ग्रन्थ प्रायः सर्वांगपूर्ण बन गया है।

इस प्रकार के क्षेत्रीय अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों के सम्बन्ध में, आलोचकों की ओर से प्रान्तीयता की संकीर्ण भावना का विचार रखना, हिन्दी-साहित्य के विविध अंगों की सम्पुष्टि के लिए हितकर नहीं कहा जा सकता। हमारा तो विश्वास है कि यदि अंधकार में विलीन क्षेत्रीय इतिहास और मानचित्र सर्वांगपूर्ण तैयार कराकर प्रकाश में लाये जायँ, तो हिन्दी-साहित्य के भांडागार की समृद्धि के साथ ही देश के अनेक अतीत गौरव-रत्नों की खान उद्घाटित हो जाय। इतिहास और पुरातत्त्व के प्रेमियों की ओर से इस प्रकार का प्रयास होना चाहिए, अब ऐसा समय आ गया है। इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने अपनी ओर से ऐसा ही प्रयास किया है।

ग्रन्थ के लेखक श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' हिन्दी-संसार के सुपरिचित कवि और निबन्ध-लेखक हैं। अनुसन्धान-सम्बन्धी इनका यह ग्रन्थ विद्वानों में पूर्ण यश अर्जित करेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

वसन्तोत्सव
शकाब्द १८८१; विक्रमाब्द २०१६
ख्रिष्टाब्द १९६० ई०

वैद्यनाथ पाण्डेय
परिषद्-संचालक



ग्रन्थकार

श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'

जिन्होंने बड़ी आशा लगाकर मुझे पढ़ाया-लिखाया; किन्तु जिन्हें
मैं जीवन में कुछ भी न दे सका

उन्हीं

अपने स्वर्गीय पूज्य पिता

पण्डित नरेश त्रिपाठी

को

तर्पण-स्वरूप श्रद्धया समर्पित

—'*सहृदय*'

प्राक्कथन

इस पुस्तक की रचना एक आकस्मिक घटना है। सन् १९५६ ई० में, सम्पूर्ण भारत में, वैशाख पूर्णिमा को भगवान् बुद्ध-परिनिर्वाण की २५००वीं वर्ष-जयन्ती मनाई जानेवाली थी। इस जयन्ती के उपलक्ष्य में बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग की एक विज्ञप्ति 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' (पटना) की ओर से प्रसारित हुई। विज्ञप्ति में उल्लेख था कि केवल ७५ पृष्ठोंवाले **'बौद्धधर्म के विकास में बिहार की देन'** शीर्षक निबन्धों पर तीन पुरस्कार दिये जायेंगे। सर्वोत्कृष्ट निबन्ध ३००) रु० से, द्वितीय श्रेणी का निबन्ध २००) से और तृतीय स्थान प्राप्त करनेवाला निबन्ध १००) से पुरस्कृत होगा।

दिसम्बर १९५५ ई० में विज्ञप्ति प्रसारित हुई और जनवरी सन् १९५६ के अन्त तक निबन्धों की माँग की गई। प्रतियोगिता अखिल भारतीय स्तर पर हुई। इसके पहले ऐसे विषयों की ओर मेरा ध्यान बिलकुल नहीं था और न इस विषय पर पुस्तक लिखने का विचार ही था। मैंने उस प्रतियोगिता में भाग लिया, और मेरा निबन्ध अखिल भारतीय स्तर पर सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित होकर प्रथम पुरस्कार का भागी बना।

इस अवसर पर मैंने जो प्रचुर सामग्री एकत्र की, वह उस छोटे निबन्ध में अन्तर्भुक्त नहीं हो सकी। इसके अतिरिक्त मेरे मन में ऐसा भी विचार उठा कि इस परिश्रम का एक मात्र उद्देश्य क्या तीन सौ रुपये प्राप्त करना ही था? क्यों न एकत्र की गई शेष सामग्री से इस निबन्ध को विस्तृत कर पुस्तकाकार प्रकाशित कराऊँ? मेरे इसी विचार के फलस्वरूप आज यह पुस्तक आपके समक्ष प्रस्तुत है। पुस्तक में जो विषय हैं, मेरे नहीं हैं। मेरा तो केवल अध्ययन, चिन्तन और प्रतिपादन की शैली मात्र है। इसकी जो अच्छाई होगी, उन विद्वान् लेखकों की होगी, जिनके ग्रन्थों का मन्थन करके मैंने मक्खन निकालने का प्रयास किया है। हाँ, इसके दोष निश्चित रूप से मेरे होंगे।

इस पुस्तक में, बौद्धधर्म के साथ विगत २५०० वर्षों का, बिहार-प्रदेश के योगदान का मूल्यांकन, ऐतिहासिक कालक्रमानुसार किया गया है। इसमें बिहार-प्रदेश के तत्कालीन धार्मिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक स्थितियों, बिहार-स्थित विभिन्न राज्यों, बौद्ध स्थानों, बुद्ध अथवा बौद्धधर्म-सम्बन्धी घटनाओं और सहयोगियों की चर्चा आपको मिलेगी। इसके अतिरिक्त इसमें आज के बिहार की तत्कालीन भौगोलिक स्थिति का ज्ञान; बिहार के बौद्ध विद्वानों, धर्म-प्रचारकों, कलाकारों, श्रेष्ठियों और राजाओं के सहयोग का विवरण; बौद्धधर्म को बिहार की भाषा और कला की देन का परिचय आदि भी आप प्राप्त करेंगे। किन्तु, बौद्ध-धर्म और उसका दर्शन क्या है, इसके विवरण का अभाव आपको शायद खटकेगा।

बौद्ध-धर्म और दर्शन पर प्रकाश डालना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं था, अतः इस प्राक्कथन में उसकी थोड़ी चर्चा कर देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है ; क्योंकि पुस्तक की आधार-भूमि 'बौद्ध-धर्म' ही है।

बौद्धधर्म

भगवान् बुद्ध को बिहार-प्रदेश के 'उरुवेला' स्थान में जो ज्ञान प्राप्त हुआ था, वही ज्ञान बौद्धधर्म का केन्द्र-बिन्दु है। वह ज्ञान इतना ही था कि दुःख है, दुःख-समुदय (कारण) है, दुःख का निरोध है और दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् (उपाय) है। छह वर्षों की घोर तपस्या के बाद उक्त चार बातें उनको प्रत्यक्ष हुई थीं। भारतीय ऋषि ज्ञान के द्रष्टा होते थे, स्रष्टा नहीं। भगवान् बुद्ध इन 'चार आर्यसत्यों' के वैसे ही द्रष्टा थे। उपर्युक्त चार बातों को बौद्ध-धर्म में चार आर्यसत्य कहा गया है। किन्तु, बुद्ध ने इनमें से चौथे 'दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद्' को आठ अंगोंवाला कहा है। इन आठों के नाम हैं—**सम्मादिट्ठि** (सम्यक् दृष्टि), **सम्मा सङ्कप्पो** (सम्यक् संकल्प), **सम्मा वाचा** (सम्यक् वचन), **सम्मा कम्मन्तो** (सम्यक् कर्म), **सम्मा आजीवो** (सम्यक् आजीविका), **सम्मा वायामो** (सम्यक् व्यायाम), **सम्मा सति** (सम्यक् स्मृति) और **सम्मा समाधि** (सम्यक् समाधि)। इन्हीं आठों को **अष्टांगिक मार्ग** कहते हैं। ये ही ऐसे रास्ते हैं, जिनपर चलने से निर्वाण प्राप्त हो सकता है, अतः इन्हें **मध्यम मार्ग** भी कहा जाता है। इन्हें मध्यम मार्ग इसलिए भी कहते हैं कि इनके आचरण में न तो शरीर को कठिन तपस्या करके गलाना-पचाना है या न अधिक रागों में ही फँसना है। जिस संध्या में भगवान् बुद्ध को बोधिवृक्ष के नीचे यह ज्ञान प्राप्त हुआ, उस रात के प्रथम याम में, वहीं इसका अनुलोम-विलोम करके, उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त का भी आविष्कार किया। इसी प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त का चक्र बुद्ध ने 'ऋषिपत्तनमृगदाव' (सारनाथ) में पंचवर्गीय भिक्षुओं को, शिक्षा देने के क्रम में, सर्वप्रथम चलाया था।

१. दुःख—

उपर्युक्त 'चार आर्यसत्यों' के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध ने जो सूक्ष्म विवेचन किया है, उनमें दुःख के लिए प्रत्यक्ष उदाहरण रखे हैं—

जाति पि दुक्खा, जरा पि दुक्खा, मरणं पि दुक्खं, सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासापि दुक्खा, अप्पि ये हि सम्पयोगो पि दुक्खो, पिये ही विप्पयोगो पि दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तं पि दुक्खं, संखित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धा दुक्खा। —दीघनिकाय २, ६, ५, १६

अर्थात्—"जन्म, बुढ़ापा, मरण, शोक, रुदन, परिदेवन, दौर्मनस्य, अप्रिय का संयोग, प्रिय का वियोग, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति आदि दुःख हैं। वस्तुतः पञ्च उपादान-स्कन्ध मात्र दुःख हैं। ये सारी बातें मनुष्यमात्र के लिए अनुभूत और प्रत्यक्ष हैं। अतः दुःख सत्य है।"

बौद्ध-धर्म में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को उपादानस्कन्ध माना गया है—**रूपुदानक्खन्धो, वेदनुपादानक्खन्धो, सञ्ञुपादानक्खन्धो, विञ्ञाणुपादानक्खन्धो।**

(क) भगवान् बुद्ध आकाश को छोड़कर पृथ्वी, जल वायु और अग्नि—इन चार महाभूतों को रूप बतलाते हैं। इन्हें वैशेषिक दर्शन में मूर्त्त द्रव्य कहा गया है।

(ख) वस्तुओं के सम्पर्क अथवा उनके विचार के सम्पर्क से जो वस्तु सुख-दुःख का अनुभव करती है, वही वेदना उपादानस्कन्ध है।

(ग) वेदना के पश्चात् बुद्धि में जो पहले से अंकित संस्कार है, उसके द्वारा वस्तुओं को (नाम से) जो हम पहचानते हैं, वही संज्ञा है।

(घ) रूपों की वेदना और संज्ञाओं का संस्कार हमारी बुद्धि में पहले से ही पड़े रहते हैं। इनके सहयोग से जो हम ज्ञान करते हैं, वही संस्कार उपादान स्कन्ध है।

(ङ) उक्त चारों के अतिरिक्त भगवान् बुद्ध चित् (चेतनत्व) को विज्ञान उपादान स्कन्ध कहते हैं, जिसे सांख्य 'महत्' कहता है।

उपर्युक्त सारी वस्तुएँ दुःख हैं, अतः इनका निरोध बौद्धधर्म का मुख्य सिद्धान्त है।

२. दुःख-समुदय—

दुःख-समुदय (दुःखों के कारण) के सम्बन्ध में बुद्ध का कहना है कि काम, भव, विभव, इन्द्रिय-सुख, यश आदि की तृष्णा ही दुःख-समुदय है—**कामतण्हा, भवतण्हा और विभवतण्हा**। इनमें कामतृष्णा जगत् के यावत् भोगों की तृष्णा है, भवतृष्णा जीवन (जीने) की तृष्णा है और विभवतृष्णा पुनर्जन्म प्राप्त करने की तृष्णा है। इन विषयों का संसर्ग या स्मरण भी तृष्णा पैदा करता है। इनमें पञ्चतन्मात्राएँ (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) भी दुःख-समुदय हैं। अतः, इनका उच्छेद ही एकमात्र निर्वाण का मार्ग है।

३. दुःख-निरोध—

भगवान् बुद्ध इन सारी तृष्णाओं के परित्याग को ही दुःख-निरोध कहते हैं। उनका कहना है कि विषय अथवा उनके विचार-विकल्प तक की काम-तृष्णा के निरोध हो जाने पर ही उपादान का निरोध होता है। उपादान (पंचोपदानमय विषय-संग्रह) के निरोध पर ही **भव-निरोध** होता है और भव-निरोध से ही **विभव-निरोध** होता है। अर्थात्—काम, भव और विभव की तृष्णा ही दुःख-समुदय है। इन सबका निरोध करना ही बौद्धधर्म का मुख्य पराक्रम है। इस दुःख-निरोध की नींव पर ही बौद्ध-दर्शन के विविध बहुभूमिक प्रासाद खड़े किये गये हैं।

४. दुःखनिरोध-गामिनी प्रतिपद् (अष्टांगिक मार्ग)—

उपर्युक्त दुःखनिरोध के जो अष्टांगिक मार्ग हैं, वे भी आर्यसत्य हैं। इनके नाम पहले लिखे गये हैं। इनके तीन भाग होते हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा।

(क) शील में—सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म और सम्यक् आजीविका है। (ख) समाधि में—सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि है और (ग) प्रज्ञा में—सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प है।

या चावुसो विसाख, सम्मा वाचा यो च सम्माकम्मन्तो यो च सम्मा आजीवो इमे

धम्मा सीलक्खन्धे सङ्गहिता; यो च सम्मावायामो या च सम्मा सति या च सम्मासमाधि इमे धम्मा समाधिक्खन्धे सङ्गहिता; या च सम्मादिट्ठि यो च सम्मासङ्कप्पो इमे धम्मा पञ्ञाक्खन्धे सङ्गहिता' ति[१]।

उपर्युक्त अष्टांगिक मार्गों में तीन भाग हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। इनमें हिंसा, चोरी और व्यभिचार कायिक हैं; मिथ्या भाषण, चुगलखोरी, अप्रिय भाषण और प्रलाप वाचिक हैं तथा लोभ, प्रतिहिंसा और मिथ्या धारणा मानसिक हैं। ये सारे बुरे कर्म हैं और इनके विपरीत अर्थवाले अच्छे कर्म हैं।

(१) इन भले-बुरे कर्मों को पहचान लेना ही सम्यक् दृष्टि है। (२) राग, हिंसा और प्रतिहिंसा से रहित संकल्प को सम्यक् संकल्प कहते हैं। (३) सम्यक् वचन उसे कहते हैं, जिसमें मिथ्या, चुगलखोरी, अप्रिय और कलहकारक वचन न हो तथा सर्वदा सत्य एवं प्रिय वचन बोला जाता हो, (४) हिंसा, चोरी और व्यभिचार से रहित कर्म ही सम्यक् कर्म कहलाता है। (५) सम्यक् आजीव वह है, जिस जीविकोपार्जन में शस्त्र, प्राणी, मांस और विष का व्यापार न होता हो। (६) सम्यक् व्यायाम में इन्द्रियों का संयम, बुरी भावनाओं का परित्याग, अच्छी भावनाओं के उत्पादन का प्रयत्न और उत्पन्न की गई अच्छी भावनाओं को सुस्थिर रखने का पराक्रम होता है। (७) सम्यक् स्मृति उसे कहते हैं, जिसमें सदा इस विषय का स्मरण रखा जाता है कि काय, वेदना, संज्ञा, चित्त और मन (अर्थात्—पंचोपादान-स्कन्ध)—सभी क्षण-क्षण नाश-जन्मा तथा मलिनधर्मा हैं। इसी प्रकार (८) सम्यक् समाधि उसे कहते हैं, जिस में मन के सम्पूर्ण विक्षेप दूर होकर चित्त स्थिर हो जाय। 'योगसूत्र' इसी को योग कहता है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

भगवान् बुद्ध ने इन अष्टांगिक मार्गों में से सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प को स्थिर रखनेवाली प्रज्ञा का विवेचन किया है तथा सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म और सम्यक् आजीविका के लिए पंचशील का विधान किया है, एवं सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि के लिए समाधि की विविध प्रक्रिया बतलाई है। उपर्युक्त अष्टांगिक मार्ग ही, समाधि को छोड़कर, बौद्धधर्म में सप्ताङ्ग नाम से अभिहित हैं।

भगवान् बुद्ध को बिहार-प्रदेश के 'उरुवेला' क्षेत्र में जिन चार आर्यसत्यों का ज्ञान हुआ था, उनका अतिसंक्षेप में यही सार है। बुद्ध इन्हीं चार आर्यसत्यों का सर्वत्र प्रचार-प्रसार करके दुःख से छुटकारा दिलाने के लिए इनके आचरण करने का उपदेश देते थे। इन विषयों को ठीक-ठीक समझनेवाला ही भिक्षु कायानुपश्यी, वेदनानुपश्यी, चित्तानुपश्यी और धर्मानुपश्यी कहलाता था। इसी तरह कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना को ही बौद्धधर्म में चार स्मृति-प्रस्थान कहा गया है।

उपर्युक्त 'चार आर्यसत्य' ही बौद्ध धर्म-चक्र की सम्पूर्ण अराओं की एकमात्र धुरी हैं,

---

१. मज्झिम-निकाय (चूलवेदल्लसुत्त—४४)

जिनके सहारे भगवान् बुद्ध अपने धर्मचक्र को निरन्तर चलाते रहते थे—ये केचिकुसला धम्मा सब्बेते चतूसु अरियसच्चेसु सङ्गहं गच्छन्ति[1]।

बौद्ध-दर्शन

बौद्ध-दर्शन के मुख्य विषय तीन हैं—दुःख, प्रतीत्यसमुत्पाद (क्षणिकवाद) और अनात्म। १. दुःख—के सम्बन्ध में 'बौद्धधर्म' वाले विवरण में लिखा जा चुका है और बतलाया गया है कि सांसारिक सारे पदार्थ और शरीर के सारे धर्म दुःख-समुदय हैं। इनकी सम्पूर्ण तृष्णाओं का छेदन ही निर्वाण है, जो मानवमात्र के लिए साध्य है। इसी सिद्धान्त के प्रतिपादन में ही बौद्ध-दर्शन का विकास हुआ है। भगवान् बुद्ध ने सकल धर्मों के उच्छेद के लिए ही प्रतीत्यसमुत्पाद (क्षणिकवाद) और अनात्मवाद का सिद्धान्त आविष्कृत किया। प्रतीत्यसमुत्पाद ही एक ऐसा सिद्धान्त है, जो भगवान् बुद्ध का एकमात्र मौलिक सिद्धान्त कहा जा सकता है।

भगवान् बुद्ध के क्षणिकवाद और अनात्मवाद को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि उन्होंने अपने दर्शन के प्रतिपादन में स्कन्ध, आयतन और धातु—इन तीन भागों में तत्त्वों का विभाजन किया है। सांख्यकार कपिल ने जिस तरह २५ तत्त्वों[2] को माना है, उसी तरह बुद्ध ने ३६ तत्त्व गिनाये हैं, जो 'निर्वाण' को छोड़कर ३५ होते हैं।

(क) स्कन्ध—स्कन्ध के सम्बन्ध में यह लिखा गया है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—ये पंचोपादान स्कन्ध कहलाते हैं। इनमें आकाश को छोड़कर चार महाभूत ही **रूप** कहलाते हैं। सुख-दुःख आदि के अनुभव का नाम **वेदना** है। **संज्ञा** अभिज्ञान को कहते हैं। मन पर जिस किसी चीज की छाप (वासना) रह जाती है, उसे **संस्कार** कहा जाता है। इसी तरह चेतना (सांख्य के महत्) को बुद्ध **विज्ञान** कहते हैं। बौद्ध-दर्शन का कहना है कि रूप (चतुर्महाभूत) के सम्पर्क से विज्ञान की विभिन्न स्थितियाँ ही वेदना, संज्ञा और संस्कार हैं। इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए 'मज्झिम-निकाय' का 'महावेदल्लसुत्त' कहता है कि संज्ञा, वेदना और विज्ञान—इन तीनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है—

या चावुसो, वेदना या च सञ्ञा यं च विञ्ञाणं इमे धम्मा संसट्ठा नो विसंसट्ठा, न च लब्भा इमेसं धम्मानं विनिब्भुजित्वा नाना करणं पञ्ञापेतुं।

पुनः 'दीघनिकाय' इन पंचस्कन्धों के सम्बन्ध में कहता है कि ये सभी अनित्य, संस्कृत, प्रतीत्यसमुत्पन्न, क्षयधर्मा और विनाश (निरोध)-धर्मा हैं—

इति रूपं इति रूपस्स समुदयो इति रूपस्स अथङ्गमो, इति वेदना इति वेदनाय समुदयो इति वेदनाय अथङ्गमो, इति सञ्ञा इति सञ्ञाय समुदयो इति सञ्ञाय अथङ्गमो, इति

---

१. मज्झिम-निकाय (महाहत्थिपदोपमसुत्त)

२. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ —सांख्य-तत्त्वकौमुदी

सङ्खारा इति सङ्खारानं समुदयो इति सङ्खारानं अथङ्गमो, इति विञ्ञानं इति विञ्ञाणस्स समुदयो इति विञ्ञाणस्स अथङ्गमो' ति[१]। ५

(ख) आयतन—आयतन में १२ तत्त्व होते हैं—छह ज्ञानेंद्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका और मन) और इनके छह विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और धर्म। बौद्ध-दर्शन में धर्म का अर्थ होता है—वेदना, संज्ञा और संस्कार।

भिक्खवे भिक्खु धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति–छसु अज्झत्तिक बाहिरेसु आयतनेसु[२]।

(ग) धातु—धातु के अन्दर १८ तत्त्व माने गये हैं, जिनमें १२ आयतन भी सम्मिलित हैं। अर्थात् छह ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके छह विषय आयतन के अतिरिक्त धातु भी हैं। इनके अतिरिक्त इन्द्रियों और विषयों के सम्पर्क से होनेवाले जो छह विज्ञान हैं, वे भी धातु कहलाते हैं। इन छह विज्ञानों के नाम हैं—श्रोत्र-विज्ञान, काय-विज्ञान, चक्षुर्विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान और मनोविज्ञान। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि बुद्ध के उपर्युक्त तत्त्वों में पाँच कर्मेन्द्रियों का अलग से कहीं स्थान नहीं है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार ये पाँच स्कन्ध, द्वादश आयतन और अष्टादश धातुएँ—सभी कृत्य, संस्कृत और विध्वंसी हैं। ये नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अविकारी नहीं हैं। बुद्ध ने इसपर जोर देते हुए कहा है कि यह अटल नियम है, सनातन सत्य है और इसे मैं भी कहता हूँ[३]।

२. प्रतीत्यसमुत्पाद—

भगवान् बुद्ध के विशुद्ध मौलिक सिद्धांत 'प्रतीत्यसमुत्पाद' को ही क्षणिकवाद कहा जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त को समझने के पहले इसका शाब्दिक अर्थ जान लेना आवश्यक है। आचार्य नरेन्द्रदेव ने लिखा है—"प्रति + इ का अर्थ 'प्राप्ति' है और प्रतीत्य का अर्थ 'प्राप्तकर' है। पद् धातु सत्तार्थक है। सम् + उत् उपसर्ग पूर्वक इसका अर्थ 'प्रादुर्भाव' है। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद = प्राप्त होकर प्रादुर्भाव—अर्थात् वह उत्पद्यमान है[४]।" किन्तु, मेरी समझ में आचार्यजी ने 'समुत्पाद' का अर्थ तो ठीक लिखा है; पर 'प्रतीत्य' का अर्थ अस्पष्ट ही रह गया है। यहाँ प्रतीत्य का अर्थ है—प्रति + इत्य = अर्थात् (एक के) इति (चले जाने) के बाद (दूसरे का) समुत्पाद। इसी तरह विलोम में एक के निरोध के बाद दूसरे के समुत्पाद का भी निरोध। अतः, यह हेतु-प्रत्ययता का वाद कहलाता है। हेतु-प्रत्ययता का तात्पर्य है—इसके उत्पाद से, उसका उत्पाद, इसके उत्पन्न न होने से, उसकी भी उत्पत्ति नहीं और इसके निरोध से उसका भी निरोध। अतः, इसी को हेतु-फल-प्रत्ययवाद भी कहते हैं।

यह पहले कहा गया है कि वेदना, संज्ञा और संस्कार धर्म कहलाते हैं, अतः ये भी प्रतीत्यसमुत्पाद हैं। इसीलिए भगवान् बुद्ध कहते हैं कि जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह

१. दीघनिकाय (महासत्तिपट्ठान सुत्त)
२. तत्रैव
३. देखिए—अंगुत्तर निकाय—३, १, १४
४. बौद्ध-धर्म-दर्शन—पृ० २३०

धर्म को देखता है और जो धर्म को देखता है, वही प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है। अर्थात्—प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त को समझनेवाला ही पंचस्कन्धों और धर्मों को समझ सकता है—

यो पटिच्चसमुप्पादं पस्सति सो धम्मं पस्सति, यो धम्मं पस्सति सो पटिच्चसमुप्पादं पस्सति ति, पटिच्चसमुप्पन्ना खो पनि मे यदिदं पञ्चुपादानक्खन्धा'[1]।

बुद्ध पंचोपादानस्कन्ध के सम्बन्ध में कहते हैं कि ये स्कन्ध अपने आहार से उत्पन्न होनेवाले हैं, अतः आहार के निरोध से ये सभी निरुद्धधर्मा हैं—

तदाहारसम्भवं ति भिक्खवे, पस्सथाति तदाहारनिरोधा यं भूतं तं निरोधधम्मंति भिक्खवे पस्सथा' ति[2]।

'मज्झिमनिकाय' के उपर्युक्त सुत्त में ही प्रतीत्यसमुत्पाद को द्वादशांग कहा गया है। ये बारहो अंग हेतु-फल-परम्परा के अनुसार इस प्रकार हैं— (१) जरा-मरण, जरामरण का हेतु (२) जाति (जन्म, उत्पत्ति), जाति का हेतु (३) भव, भव का हेतु (४) उपादान (विषयों का संग्रह), उपादान का हेतु (५) तृष्णा, तृष्णा का हेतु (६) वेदना, वेदना का हेतु (७) स्पर्श, स्पर्श का हेतु (८) छह आयतन (मन के साथ पाँच ज्ञानेंद्रियाँ), आयतन का हेतु (९) नामरूप, नामरूप का हेतु (१०) विज्ञान, विज्ञान का हेतु (११) संस्कार और संस्कार का हेतु (१२) अविद्या। पुनः यह द्वादशांग चक्र उलटी गति से अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान आदि होते हुए जरामरण तक पहुँचता है। ये सभी क्षण-क्षण उत्पन्नधर्मा और विनाशी हैं। इसी चक्र-क्रम का अनुलोम-विलोम करके बुद्ध ने दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध के अष्टांगिक मार्ग को देखा और समझा था। ये सभी हेतु-फल-प्रत्यय न तो सत्य हैं, न नित्य हैं। इन सभी कार्य-कारणों का निरोध किया जा सकता है। बौद्ध-दर्शन में इसी सिद्धान्त को प्रतीत्यसमुत्पाद या क्षणिकवाद कहते हैं।

यहाँ हमने देखा कि प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त सभी विषयों और धर्मों को विच्छिन्न प्रवाह की तरह उत्पन्न और विलीन हेतु-फलवाला मानता है। इसके कार्य-कारण-भाव में अविच्छिन्न परम्परा का न तो सम्बन्ध है और न इसमें नित्य, सत्य और अविनाशी आत्मा का कहीं स्थान है। इस सिद्धान्त में यदि कहीं किसी धर्म को नित्य-सत्य माना जायगा अथवा अविनाशी आत्मा को स्थान दिया जायगा, तो बुद्ध के 'निर्वाण' का सारा पराक्रम व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि, सकल धर्म-विषयों का उच्छेद ही 'निर्वाण' है और नित्य-सत्य विषयों का उच्छेद संभव नहीं है। इसी प्रकार हेतु-फलों में यदि अविच्छिन्न परम्परा का सम्बन्ध माना जायगा तो अविद्या-जनित सारे धर्मों का कभी शुद्धीकरण हो ही नहीं सकेगा, तथा अष्टांगिक मार्गों के आचरण का उद्योग भी व्यर्थ हो जायगा। और तब, ऐसी अवस्था में 'निर्माण' भी असंभव होगा। इसीलिए बुद्ध का यह निश्चित सिद्धान्त है कि 'दूसरा ही जन्मता है, दूसरे का ही निरोध होता है।'

१. मज्झिमनिकाय (महाहत्थिपदोपमसुत्त)

२. मज्झिमनिकाय (महातण्हासङ्खयसुत्त)

यद्यपि भगवान् बुद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु-फल में अविच्छिन्न प्रवाह नहीं मानता, तथापि वह यह मानता है कि एक (कारण) के उत्पन्न होने और उसके मिटने पर ही दूसरे (कार्य) की उत्पत्ति संभव है—अर्थात् हेतु का बिलकुल नाश हो जाने पर ही कार्य का नया उत्पाद होता है। बुद्ध के इस क्षणिकवाद की गति में न तो धाराप्रवाह की गति है या न सरिसृप-सिद्धांत की; बल्कि इसमें बीजांकुर-न्याय का सिद्धान्त निहित है।

३. अनात्मवाद—

यह पहले कहा गया है कि अविनाशी और नित्य आत्मा को मानने पर बुद्ध का निर्वाणवाला उद्देश्य विफल हो जायगा; क्योंकि आत्मा को नित्य और एकरस कहा गया है। ऐसी अवस्था में न तो आत्मा का परिशोधन हो सकता है या न उसका उच्छेद ही संभव है। भगवान् बुद्ध का कहना है कि यदि आत्मा नित्य और कूटस्थ है, तब न तो किसी तरह के संस्कार का उसपर कोई असर हो सकता है और न वह पाप-पुण्य का भागी बन सकता है। वह न तो पाप के कारण दुःख पायेगा और न पुण्य करने के कारण किसी तरह का सुख पायेगा। इसी प्रकार यदि नित्य है, तो वह अजर-अमर तो होगा ही, साथ ही अजन्मा भी होगा। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि ऐसी आत्मा को न तो किसी प्रकार के उद्योग की आवश्यकता है या न निर्वाण की। इसी तरह यदि वह एक और नित्य है तो संसार में हजारों-लाखों आत्माएँ कहाँ से दिखाई दे रही हैं; क्योंकि नित्य और अविनाशी का न तो खण्ड हो सकता है या न उस कूटस्थ में ऐसी शक्ति हो सकती है, जो स्वयं भी अपने को खण्डित कर सके। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन ऐसी आत्मा को नहीं मानता, जो कूटस्थ, अजन्मा और नित्य है। उसके अनुसार क्षण-क्षण उत्पन्न और विलीन होनेवाले चित्तप्रवाह को ही अन्य लोग 'आत्मा' कहते हैं।

तत्कालीन अवस्था में दार्शनिकों के दो वर्ग थे। एक वर्ग आत्मवादी था; पर दूसरा वर्ग ऐसा था—जो आत्मा का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार करता था। ऐसे दार्शनिकों में 'अजितकेशकम्बल'[१] और चार्वाक्[२] परम प्रसिद्ध थे। इन अनात्मवादियों का कहना था कि जिस तरह शरीर के विकास से इन्द्रियाँ विकसित हो जाती हैं, उसी तरह सभी विकसित इन्द्रियों के सन्निकर्ष से चेतना का विकास होता है और उसी चेतना को लोग आत्मा कहते हैं। जब इन्द्रियाँ और शरीर नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा का भी नाश हो जाता है। आत्मा का अपना अलग अस्तित्व कहीं नहीं है।

फिर आत्मवादियों के भी दो दल थे। एक दल आत्मा को 'अरूपी' (अव्यक्त) और दूसरा रूपी' (व्यक्त) मानता था। इन दोनों सिद्धान्तों में सान्त आत्मा और अनन्त आत्मा करके दो-दो भेद थे।

भगवान् बुद्ध ने उपर्युक्त अनात्मवादियों और आत्मवादियों—दोनों से भिन्न एक तीसरे ही (मध्यम) मार्ग का अवलम्बन किया है। उनका कहना था कि जिस तरह कूटस्थ

१. इसका विवरण मूल पुस्तक के पृ० १६ पर देखिए।

२. यावज्जीवेत सुखं जीवेत, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

और नित्य आत्मा को मानने से सकल धर्मों का उच्छेद असंभव है, उसी तरह यदि शरीर के नाश के साथ-साथ आत्मा का नाशवाला सिद्धान्त भी माना जाय, तो आत्मा का परिशोधन करना और पुण्य कर्म करना—दोनों व्यर्थ होंगे। ऐसी अवस्था में आत्मा के निर्वाण या मोक्ष की गुंजाइश ही कहाँ रहती है। इसलिए बौद्धदर्शन क्षण-क्षण उत्पन्न होनेवाले चित्त-प्रवाह को, क्षण-क्षण बदलनेवाले सरित्-प्रवाह की तरह, विच्छिन्न और अविच्छिन्न—दोनों मानता है। अर्थात्—जिस तरह प्रवाह का कोई जल-खण्ड एक नहीं है और एक दूसरे से अलग भी नहीं है, उसी तरह चित्त-प्रवाह भी विच्छिन्न और अविच्छिन्न—दोनों तरह का है। ऐसा मानने से आत्मा के परिशोधन और निर्वाण—दोनों की समस्या सुलझ जाती है।

व्यक्त और अव्यक्त आत्मा को माननेवाले आत्मवादियों के मतों का खण्डन भगवान् बुद्ध ने 'दीघ निकाय' के 'महानिदानसुत्त' में किया है। इसमें उन्होंने 'आनन्द' को विशद रूप से अनात्मवाद का ज्ञान समझाया है। फिर भगवान् बुद्ध 'मज्झिम-निकाय' के 'सब्बासव सुत्त' में भर्त्सनापूर्ण शब्दों में कहते हैं—

यो मे अयं अत्ता वदो वेदेय्यो तत्र-तत्र कल्याणपापकानं कम्मानं विपाकं पटिसंवेदेति सो खो पन मे अयं अत्ता निच्चो धुवो सस्सतो अविपरिणामधम्मो सस्सतिसमं तथेव ठस्सती' ति। इदं वुच्चति, भिक्खवे, दिट्ठिगतं दिट्ठिगहनं दिट्ठिकन्तारं दिट्ठिविसूकं दिट्ठिविप्फन्दितं दिट्ठिसंयोजनं। दिट्ठिसंयोजनसंयुतो भिक्खवे, अस्सुतवा पुथुज्जनो न परिमुच्चति जातिया जराय मरणेन सोकेहि परिदेवेहि दुक्खेहि दोमनस्सेहि उपायासेहि, न परिमुच्चति दुक्खस्मा' ति।

अर्थात्—"जो आत्मा को अनुभवकर्त्ता, अनुभव का विषय, यत्र-तत्र शुभ-अशुभ-कार्यों के परिणाम का भोक्ता, नित्य, ध्रुव, सत्य, अविपरिणामधर्मा तथा सर्वदा और सर्वकाल में एकरस रहनेवाला मानता है, उसके लिए मैं कहता हूँ, भिक्षुओ कि वह दृष्टि के बीहड़ वन में, दृष्टि की मरुभूमि में, दृष्टि के काँटों में और दृष्टि के जाल में फँस जाता है। भिक्षुओ, वह दृष्टि के फंदे में फँसा अज्ञ तथा अनाड़ी पुरुष जन्म, जरा, मरण, शोक, रोदन, दुःख, दौर्मनस्य आदि से नहीं छूटता—दुःख से कभी परिमुक्त नहीं होता।"

उक्त स्थल में ही भगवान् बुद्ध ने मानवों के लिए तीन बन्धन कहे हैं, जिनमें से एक सत्काय-सिद्धान्त (आत्मवाद) ही है। इसके अतिरिक्त 'मज्झिम-निकाय' के 'चूल-वेदल्ल सुत्त' में तथागत की शिष्या 'धम्मदिन्ना' ने सत्काय (आत्मवाद) के जाल का मुख्य कारण कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा बतलाया है—

यायं आवुसो विसाख, तण्हा पोनोब्भविका नन्दीराग सहगता तत्रतत्राभिनन्दिनी, सेय्य थीदं—कामतण्हा, भवतण्हा विभवतण्हा; अयं खो आवुसो विसाख, सक्कायसमुदयो वुत्तो।

इस प्रकार बुद्ध के दर्शन में कूटस्थ और अविनाशी आत्मा की कहीं गुंजाइश नहीं है।

जिस तरह बौद्धदर्शन अनात्मवादी है, उसी तरह वह अनीश्वरवादी भी है। यदि भगवान् बुद्ध ईश्वर की सत्ता मानते, तो उसे जगत्कर्त्ता भी मानते और तब उन्हें मनुष्य को ईश्वर के अधीन मानना पड़ता। ऐसी अवस्था में बुद्ध का यह दावा कि मनुष्य स्वयं अपना

स्वामी है, वह जैसा चाहे अपनेको बना सकता है; वदतोव्याघात हो जाता। इतना ही नहीं, ईश्वर के मानने पर तृष्णा से छुटकारा पाने के लिए किया जानेवाला पराक्रम भी ईश्वराधीन हो जायगा और अपनी निर्मिति में मनुष्य स्वतः स्वामी नहीं रह जायगा। इस बात का हमेशा खयाल रखना चाहिए कि नियतिवादिता से बुद्ध को बहुत बड़ा विरोध था। यद्यपि भगवान् बुद्ध ने ईश्वर के विरोध में बहुत कम कहा है, तथापि 'दीघ निकाय' के 'पथिकसुत्त' और 'केवट्टसुत्त' में ईश्वरवादियों का मजाक उड़ाया गया है। बौद्धदर्शन में जब नित्य आत्मा की ही गुंजाइश नहीं है, तब ईश्वर-जैसी वस्तु की कल्पना तो और भी असंभव थी। अत्यन्त संक्षेप में बौद्धदर्शन का इतना ही सार है।

× × ×

बौद्धों के सबसे प्राचीन सम्प्रदाय का नाम 'थेरवाद' (स्थविरवाद) है। बुद्ध-परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष बाद 'महासंघिक' और 'स्थविरवाद' नाम से बौद्धसंघ में दो दल हो गये। मौर्य सम्राट् अशोक के जीवन का अन्तिम भाग आते-आते तो बौद्धधर्म १८ सम्प्रदायों में बँट गया। ईसवी सन् का आरंभ होते-होते 'वैपुल्यवाद' ने जोर पकड़ लिया, जिसके आधार पर नागार्जुन (प्रथम) ने शून्यवाद का विस्तार किया। इसी वैपुल्यवाद से मंत्रयान, तंत्रयान और वज्रयान-सम्प्रदाय कालक्रम से प्रादुर्भूत होकर विकसित हुए।

बौद्धों के मुख्य दर्शन चार हैं—(१) सर्वास्तिवाद (वैभाषिक), (२) सौत्रान्तिक, (३) विज्ञानवाद (योगाचार) और (४) माध्यमिक (शून्यवाद)।

उपर्युक्त सभी सम्प्रदायों और दर्शनों का विकास बिहार-प्रदेश में भरपूर हुआ है। इन सभी विषयों में बिहार-प्रान्त की देन क्या है, इसकी तथा बौद्धधर्म-सहायक व्यक्तियों और घटनाओं की चर्चा ऐतिहासिक कालक्रमानुसार इस पुस्तक में की गई है।

बौद्धधर्म के मूल स्रोत

सर्वप्रथम हमें यह देखना है कि भगवान् बुद्ध के चार आर्यसत्यों का मूल स्रोत क्या है? भगवान् बुद्ध के समय में चिकित्सा-शास्त्र का चरमोत्कर्ष हम पाते हैं। इसका प्रमाण हमें बुद्ध के समकालीन वैद्य 'जीवक कौमारभृत्य'[1] के जीवन-चरित में मिलता है। जीवक की शिक्षा 'तक्षशिला' में हुई थी, जहाँ अतिप्राचीन काल से आयुर्वेद के उद्भट विद्वान् आयुर्वेद-विज्ञान के सम्बन्ध में अनुसन्धान करते थे। चिकित्सा-शास्त्र उस समय चार सिद्धांतों पर आवृत था—कर्त्ता, करण, कारण और कार्य।

भिषक् कर्त्ताऽथ करणं रसा दोषास्तु कारणम्। कार्यमारोग्यमेवैकं अनारोग्यमतोऽन्यथा[2] ॥

यहाँ भिषक् कर्त्ता, रस करण, दोष कारण और आरोग्य कार्य है। इसी वस्तु को सुश्रुत के टीकाकार ने लिखा है—एवमेतत् पुरुषो व्याधिरौषधं क्रियाकाल इति चतुष्टयं समासेन व्याख्यातम्।

१. इस पुस्तक के पृ० १०९ से ११० द्रष्टव्य।
२. सुश्रुत-संहिता, उत्तरतंत्र—६६, १४

इसी चिकित्सा-शास्त्र के चतुर्व्यूह का उदाहरण देते हुए 'योग-भाष्य' (२, १५) लिखता है—**यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं—रोगो, रोगहेतुः, आरोग्यं, भैषज्यमिति एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव तद् यथा— संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति।**

अर्थात्—"जिस तरह चिकित्सा-शास्त्र में रोग, रोग का हेतु, रोग-निरोध (आरोग्य) और रोग की दवा है, उसी तरह योग-शास्त्र में भी संसार, संसार-हेतु, मोक्ष और मोक्ष के उपाय—ये चतुर्व्यूह होते हैं।" मेरी धारणा है कि भगवान् बुद्ध ने रोग से छुटकारा दिलानेवाले चिकित्सा-शास्त्र के चतुर्व्यूह-सिद्धान्त को ही दुःख से छुटकारा दिलानेवाले चार आर्यसत्यों में ढाल दिया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।

इसके अतिरिक्त हम भगवान् बुद्ध को पर-पक्ष के सिद्धान्तों के खण्डन में और स्व-पक्ष के सिद्धान्तों के स्थापन में सर्वत्र तर्क-शक्ति का साहाय्य लेते देखते हैं। अतः, जिस प्रकार तर्कशास्त्र पक्ष, साध्य, हेतु और दृष्टांत—इन चार विषयों पर अवलम्बित है, उसी प्रकार बुद्ध ने तृष्णा-उच्छेदवाले चार आर्यसत्यों का सूत्र इसी तर्क-शास्त्र से पाया हो, तो कोई असंभव नहीं। पुनः हम बुद्ध के 'प्रतीत्यसमुत्पाद' सिद्धांत को भी निर्वाण और आर्य-सत्यों के साथ 'पंचावयव' के रूप में पाते हैं। यहाँ भी ज्ञात होता है कि न्याय-शास्त्र के पंचावयव (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन) ने उन्हें बहुत-कुछ प्रेरित किया होगा, ऐसा मेरा अनुमान है। इतना ही नहीं, न्याय-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का भी व्यवहार हम बुद्ध-वचनों में पाते हैं। जैसे—व्याप्ति को 'अन्वय-व्यतिरेक' के द्वारा शुद्ध किया जाता है, उसी तरह बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद को 'अनुलोम-प्रतिलोम' के द्वारा ही परिशोधित किया है—

अथ खो भगवा रत्तिया पठमं यामं पटिच्चसमुप्पादं अनुलोमपटिलोमं मनसा कासि।

'अन्वय-व्यतिरेक' का ही प्रतिशब्द यहाँ 'अनुलोम-प्रतिलोम' है। अन्वय का अर्थ है—कार्य के अस्तित्व से कारण का भी अस्तित्व और व्यतिरेक का अर्थ है—कारण के अभाव से कार्य का भी अभाव। इस प्रकार दोनों ओर से सिद्ध होने पर व्याप्ति-धर्म का ज्ञान होता है। अनुलोम-प्रतिलोम का भी यही अर्थ होता है। बुद्ध ने अनुलोम करके देखा कि अविद्या से संस्कार होता है, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम-रूप आदि। फिर उन्होंने इस बात को प्रतिलोम करके भी देखा कि अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध होता है, संस्कार-निरोध से विज्ञान-निरोध और विज्ञान-निरोध से नाम-रूप का निरोध आदि।

अतः, इन सारी वस्तुओं के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि बुद्ध के चिन्तन-मनन भारतीय तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों से अवश्य प्रभावित थे।

बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग[1] और सप्त अपरिहाणीय धर्मों[2] का उद्गम-स्रोत भारतीय उपनिषद् हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् की प्रस्तुत ऋचा विचारणीय है—

१. देखिए प्राक्कथन-भाग, पृ०—२

२. (१) एक साथ मिलकर बैठना, (२) एक साथ बैठकर करणीय वस्तु पर विचार करना, (३) अप्रज्ञप्त को प्रज्ञप्त और प्रज्ञप्त को अप्रज्ञप्त नहीं करना, (४) गुरुजनों की पूजा और

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च, सत्यञ्च° तपश्च° दमश्च° शमश्च° अग्नयश्च° अग्निहोत्रञ्च° अतिथयश्च° मनुषञ्च° प्रजा च° प्रजनश्च° प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। —१,६

उपर्युक्त ऋचा के अग्नि, अग्निहोत्र, प्रजा, प्रजन और प्रजाति को छोड़कर शेष सात बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग के दिशा-निर्देशक हैं। इसी प्रकार बुद्ध के 'सप्त अपरिहाणीय धर्म' की ओर उक्त उपनिषद् की १, ११ वाली ऋचा इंगित करती है—

सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न° कुशलान्न° भूत्यै न° स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न° देवपितृकार्याभ्यां°। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि।

इसी प्रकार वज्जियों के सन्निपात-बहुल होकर करणीय पर विचार-विनिमय करने की भावना का उत्स 'कठोपनिषद्' के प्रथम मंत्र में ही प्राप्त होता है—

सहनाववतु सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

पुनः भगवान् बुद्ध के पंचशील (अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सत्य-भाषण और मद्य-सेवन का त्याग) का रूप निम्नलिखित ऋचा में विद्यमान दिखाई पड़ता है—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन्।
ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरँस्तैरिति॥

—छान्दोग्य : ५, १०, ६

अर्थात्—सुवर्णचोर, मद्यप, गुरुपत्नीगामी, ब्रह्मघाती—ये चारों पतित हैं और इनसे संसर्ग रखनेवाला पाँचवाँ भी पतित है। इसमें संसर्ग रखनेवाला पाँचवाँ बुद्ध का मृषावादी ही होगा।

यद्यपि बौद्धदर्शन नित्य, एकरस, शाश्वतधर्मा और अविनाशी आत्मा को नहीं मानता, तथापि वह ऐसी आत्मा का विरोध नहीं करता है, जो क्षण-क्षणविध्वंसी और नव-नवोन्मेषशील है। बौद्ध ऐसी आत्मा के विरोधी नहीं थे, चाहे इसे वे 'चित्त-प्रवाह' ही क्यों न कहें? अन्यथा 'धम्मपद' की इस गाथा की कोई सार्थकता नहीं दीखती—

गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहासि।
सब्बा ते फासुगाभागा गहकूटं विसंखतं।
विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा॥—११, ६

अर्थात्—"हे गृहकारक, तुम्हें मैंने देख लिया। फिर तुम इस गृह (शरीर) का कभी निर्माण करनेवाला नहीं हो सकता। तुम्हारे सभी पार्श्वभाग आज भग्न हो गये, जिससे मेरी आत्मा (गृहकारक) भी समस्त संस्कारों से छिन्न हो गई। मेरा चित्त भी संस्कार-रहित हो गया और सकल तृष्णाओं का आज क्षय हो गया।"

सेवा करना (५) कुलस्त्रियों के साथ बलात्कार न करना, (६) चैत्यों की पूजा और पूर्व में दिये गये अग्रहार को नहीं छीनना और (७) अर्हत् ज्ञानियों की रक्षा करना। इन सातों को बौद्धधर्म में अपरिहाणीय धर्म कहा गया है।—ले०

मेरा अभिमत है कि भगवान् बुद्ध ने इस तरह के ज्ञान-वाक्य अपने सत्संग की कई गोष्ठियों में सुने थे, जिनका रहस्य उन्होंने ज्ञान-प्राप्ति के समय समझा। आरादकलाम तथा उद्दकरामपुत्र के आश्रमों में तथा राजगृह के तपस्वियों के सत्संग में सिद्धार्थ को ऐसे अनेक अवसर प्राप्त हुए होंगे, जब उन्हें उपनिषद् के ज्ञान-विज्ञान सुनने को मिले होंगे। बुद्ध के उपर्युक्त विचार उपनिषदों के ही थे, जिनकी ज्ञान-गंगा उनके समय में जोरों से प्रवहमाण थी। तैत्तिरीयोपनिषद् की निम्नांकित ऋचा विचारणीय है—

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति[1]।

अर्थात्—"ब्रह्मविद् परम (ब्रह्म) को प्राप्त करता है, इसीलिए यह उक्ति कही गई है कि जो सत्य-रूप, ज्ञान-रूप और अनन्त-रूप ब्रह्म को परम गुहा में सूक्ष्म रूप से स्थित जान लेता है, वह विज्ञ सभी सुखों का भोग करता हुआ ब्रह्म-रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।"

श्वेताश्वतरोपनिषद् (६, १५) भी ऐसी ही बात कहती है—

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

अर्थात्—"उसी ब्रह्म को जानकर मृत्यु को जीता जा सकता है, दूसरा कोई रास्ता नहीं है।" भगवान् बुद्ध के गृहकारक को ठीक से देख लेना ही निर्वाण का रास्ता था, जिसे तथागत ने ठीक से देख लिया था। औपनिषदिक ज्ञान में भी ब्रह्म को जान लेना ही मोक्षोपाय है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

फिर यही बात हम बृहदारण्यकोपनिषद् में भी याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद में पाते हैं। याज्ञवल्क्य कहते हैं—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्[2]।

अर्थात्—यदि आत्मा को देख लिया, सुन लिया, समझ लिया और जान लिया, तो जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह गया।

इसी तरह बौद्धदर्शन के छह विज्ञानों[3] की रूपरेखा स्पष्ट रूप से हमें 'छान्दोग्योपनिषद्' के दूसरे खण्ड में प्राप्त होती है। भगवान् बुद्ध ने अपने छह विज्ञानों को अनित्य और सदोष कहा है और यही बात छान्दोग्य भी पहले से पुकार-पुकारकर सुना रहा है। कथा-प्रसंग में आया है कि देवताओं और असुरों में जब युद्ध होने लगा, तब देवों ने असुरों के पराभव की इच्छा से उद्‌गीथ का अनुष्ठान किया। देवताओं ने पहले नासिका में रहनेवाले प्राण के रूप में उद्‌गीथ की उपासना की, किन्तु असुरों ने उसे पाप-विद्ध कर दिया—

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्‌गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तं हासुरा पाप्मना विविधुः।

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद्—२, १

२. बृहदारण्यक०—४, ५, ६

३. देखिए, इस पुस्तक का प्राक्कथन-भाग—पृ० ६

तब देवताओं ने वाणी के रूप में उद्‌गीथ की उपासना की, किन्तु असुरों ने उसे भी पाप-विद्ध कर दिया—

अथ ह वाचमुद्‌गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तान् हा सुराः पाप्मना विविधुः।

इसी प्रकार देवताओं ने चक्षु, श्रोत्र और मन के उद्‌गीथ की उपासना की और असुरों ने सबको पाप-विद्ध कर दिया। पुनः यही प्रसंग हमें बृहदारण्यक के प्रथम अध्याय के तृतीय ब्राह्मण के १ से ७ छन्दों में प्राप्त होता है।

उपर्युक्त दोनों में भगवान् बुद्ध के पाँच ही विज्ञानों का उत्स दिखाई देता है, काय-विज्ञान (स्पर्श) की चर्चा नहीं मिलती। किन्तु, 'बृहदारण्यक' के अध्याय ३, ब्राह्मण २ के ३ से ९ छन्दों में बुद्ध के अन्य विज्ञानों के साथ स्पर्श का भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादन है—

त्वग् वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान् वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः।

इस प्रकार, हम बुद्ध के छह विज्ञानों की चर्चा तो देखते ही हैं, उनके 'प्रतीत्य-समुत्पाद' के १२ अंगों[1] का भी संकेत हमें 'छान्दोग्योपनिषद्' के ही सप्तम अध्याय में विस्तृत रूप से प्राप्त होता है, जहाँ सनत्कुमार ने नारद को एक की अपेक्षा दूसरे को श्रेष्ठ बतलाया है।

भगवान् बुद्ध के निर्वाण और ऋषि-मुनियों के मोक्ष में भी एक ही प्रकार का विचार दृष्टिगोचर होता है। जिस तरह निर्वाण में काम, भव और विभव की तृष्णाओं का उच्छेद तथा पंच स्कन्धों, द्वादश आयतनों और अष्टादश धातुओं का निरोध आवश्यक है, ठीक उसी तरह के विचार का अभिव्यक्तीकरण 'मुण्डकोपनिषद्' मोक्ष के लिए करती है—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥ —३, २, ७

अर्थात्—"शरीर का आरम्भ करनेवाली प्राणादि १५ कलाएँ अन्ततोगत्वा अपने आश्रय में लीन हो जाती हैं। चक्षु आदि सर्वेन्द्रियों के अधिष्ठाता अपने प्रतिदेवता (आश्रय) में तिरोहित हो जाते हैं। इसी तरह सभी कर्म और विज्ञानमय आत्मा भी पर अव्यय में (नाशरहित ब्रह्म में) लीन होकर एक हो जाते हैं।"

इस छन्द में भगवान् बुद्ध के 'एक के निरोध से दूसरे का निरोध' वाला सिद्धान्त कितना स्पष्ट प्रतिपादित है, जो आश्चर्यकर होते हुए विचारणीय है। निरोध का अर्थ कारण के नाश से कार्य का नाश है—अर्थात् कार्य, कारण में ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार, संक्षेप में स्पष्ट है कि बुद्ध द्वारा प्रत्यक्षीकृत ज्ञान और दर्शन न तो आकस्मिक थे और न बिलकुल असंभावित ही; बल्कि पूर्वप्रतिपादित ज्ञान-दर्शनों से प्रभावित अथवा उनके परिसंस्कृत रूप थे। इसके अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थ अपने वाक्यों से इस बात को

१. देखिए, इस पुस्तक का प्राक्कथन-भाग—पृ० ७

स्वयं सिद्ध करते हैं कि गृह्यसूत्रों, उपनिषदों, आरण्यकों, इतिहास-पुराणों की कथाओं से बौद्ध कथाएँ अनुप्राणित हैं। मेरे ऐसे विचारों का समर्थन कुछ विदेशी विद्वान् भी करते हैं।

'फ्युहरर' का कहना है कि बौद्धों का 'विनय' अथवा 'बौद्धागम' का नीति-शास्त्र हिन्दू-धर्मशास्त्र गृह्यसूत्र का संक्षिप्त अनुवाद है[1]।

'एडमंड हार्डी' कहता है कि पालि-धर्मशास्त्रों का उद्गम-स्थान वैदिक 'गृह्यसूत्र' है[2]।

इतना ही नहीं, आप भी यदि 'दीघ निकाय' के 'पोट्ठपादसुत्त' और 'मुण्डकोपनिषद्' को थोड़ा ध्यान से पढ़ेंगे, तो देखेंगे कि 'दीघ निकाय' का यह सुत्त 'मुण्डक' के विचारों से कितना अनुप्राणित है।

आनुषङ्गिक विषय

इस पुस्तक के लिखने के विचार से जब मैं बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन-मनन करने लगा, तब देखा कि जिस तरह भारतीय पुराणों में एक ही कथा के विभिन्न रूप हैं, उसी तरह बौद्ध ग्रन्थों में अपने-अपने ढंग से कथाएँ लिखी गई हैं और उनमें कहीं-कहीं परस्पर विभेद भी हैं। पर-पक्ष के सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी वहाँ अस्पष्ट है। पुराणों की तरह बौद्ध ग्रन्थों में भी अन्धभक्ति और अतिशयोक्तियाँ हैं। जैसे, छह शास्ताओं के सिद्धान्तों का और आत्मवाद का प्रतिपादन उलझन से भरा है। सिद्धार्थ के पिता शुद्धोदन के वैभवों का वर्णन, बुद्ध की धातुओं पर अजातशत्रु द्वारा चैत्य का निर्माण, शुंगवंश का बौद्ध धर्म-विध्वंसक के रूप में चित्रण, काश्यप-बन्धुओं के साथ तथागत के यष्टिवन में आने पर राजगृह में कोलाहल एवं बिम्बिसार का मिलन आदि अतिशयोक्ति और अंधभक्ति के ही प्रमाण हैं। इसी प्रकार, बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त में इतनी अतिशयोक्तियाँ भरी हैं कि ऐतिहासिक सत्य को ढूँढ़ निकालना अत्यन्त दुरूह हो गया है। पुस्तक में बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त तथा अन्य जिन घटनाओं का जैसा मैंने उल्लेख किया है, बौद्ध ग्रन्थों पर ही आधृत हैं। विद्वानों से अनुरोध है कि वे ऐसे स्थलों से सत्यांश को छान लेने का प्रयत्न करेंगे।

इस पुस्तक में आपको कई स्थल ऐसे मिलेंगे, जिनके सत्यांश के उद्घाटन का प्रयास मैंने किया है। कई जगह मैंने पूर्व-प्रतिपादित विचारों से, प्रमाण और युक्ति के बल पर, अपना मतभेद प्रकट किया है। उदाहरण के तौर पर जैसे—'बुद्धघोष' ने 'जातकट्ठ-कथा' में लिखा है कि धर्मचक्र-प्रवर्त्तन करने के लिए जब बुद्ध 'उरुवेला' से 'ऋषिपत्तन मृगदाव' जाने लगे, तब वे दो दिनों में वहाँ पहुँच गये। किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि भगवान् बुद्ध चारिका करते हुए १० दिनों में 'ऋषिपत्तन मृगदाव' पहुँचे थे। इसका विवेचन पृ० ५७ पर मैंने किया है। इसी तरह 'कंकहार' प्रदेश को 'महावग्ग' गया और बोधगया के बीच में बतलाता है, पर 'बुद्धघोष' के कथन के आधार पर ही मैंने उसे स्वर्णभद्र नद के आस-पास बतलाया है।

१-२. जनरल ऑफ् दि रॉयल सोसाइटी, बंबई, सन् १९८२ ई०, भाग १४, पृ० ३३३

बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त को काव्यात्मक शैली में कहनेवाला प्रथम ग्रन्थ 'ललित-विस्तर' है। अश्वघोष ने 'बुद्ध-चरित' इसी ग्रन्थ के आधार पर लिखा था, ऐसा मेरा दृढ विचार है। इस ग्रन्थ के नाम में ही लालित्य और विस्तार—दोनों हैं, जिनमें अलंकारपूर्ण वर्णना की लक्षणा अभिव्यंजित है। ऐसी अवस्था में बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त में अतिशयोक्ति स्वाभाविक है; क्योंकि बुद्ध के सारे विस्तृत जीवन-चरितों का मूल आधार 'ललित-विस्तर' ही है।

बौद्ध ग्रन्थों में कुछ विषय ऐसे हैं, जो समझ में नहीं आते। जैसे—बिहार-प्रदेश की छोटी-छोटी नदियों, पुष्करिणियों तथा प्रदेशों (बागमती, मही, सरयू, अजिरवती, अनोमा, निरंजना, सिलवती, कृमिकाला, सुमागधा, गर्गरा तथा प्रदेशों में मिथिला, अंग, अंगुत्तराप, कजंगल, सेतकण्णिक, मगध, काशी, भर्ग, वज्जि, अल्लकप्प, मल्ल आदि) की चर्चा मिलती है। किन्तु, समस्त बौद्ध ग्रन्थों में कहीं भी हिरण्यबाहु (शोण नद) और 'करुष' प्रदेश के नाम नहीं मिलते। इस बात का भी पता नहीं चलता कि आधुनिक 'शाहाबाद' जिला उस समय काशी, कोसल, मगध, अवन्ती, मल्ल आदि में से किसमें था? महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भी शाहाबाद को उस समय के उपर्युक्त राज्यों में से किसी में होने की चर्चा नहीं की है। किन्तु, यथाप्रयास मैंने इसपर विचार किया है। मैंने कापासियवन, आलवी, अंगुत्तराप, अल्लकप्प, केसपुत्तनिगम, आपणनिगम और अग्गालाव चैत्य के सम्बन्ध में भी अपना दृष्टिकोण उपस्थित किया है। पालि-भाषा के नामकरण के सम्बन्ध में भी मैंने अपना अभिमत अन्य लोगों से भिन्न प्रकट किया है। फिर भी, ये सारे विषय आपके विचारों की अपेक्षा रखते हैं।

बौद्ध ग्रन्थों में आये बिहार के कुछ ऐसे भी स्थान हैं, जो पुरातत्त्वज्ञों की बाट जोह रहे हैं। जैसे मगध के—चातुमा, अम्बषण्ड, चोदनावत्थु, मोरनिवाप, खाणुमत, एकनाला, सुमागधा; वज्जि के—नादिका, अश्वपुर, उक्काचेल, गिंजकावसथ; उरुवेला से सारनाथ के यात्रा-क्रम में—नाहाल, बुन्दद्विरस्, लोहितवस्तु, गन्धपुर, सारथिपुर; अंग के—अश्वपुर, गर्गरा-पुष्करिणी, भद्दिया, चालिय पर्वत आदि। इसी प्रकार सुजाता का 'सेनानिग्राम' निरंजना के पूर्वी तट पर था या पश्चिमी तट पर, इसका भी अन्वेषण-अनुसंधान आवश्यक है। आज जो मत प्रचलित है, उसके अनुसार निरंजना के पूर्वतटीय 'बकरौर' स्थान सेनानिग्राम माना जाता है। पर मेरे विचार से सेनानिग्राम बोधगया के समीप ही उत्तर और निरंजना के पश्चिमी तट-प्रदेश में होना चाहिए; क्योंकि 'जातकट्ठ-कथा' में उल्लेख है कि तथागत सुजाता का पायस-पात्र ग्रहण कर निरंजना के तट पर गये और वहाँ उन्होंने पूर्वाभिमुख होकर ४९ ग्रास पायस खाया और थाल को नदी की धारा में फेंक दिया। यदि यह घटना पूर्वी तट की होती, तो बुद्धघोष सिद्धार्थ के नदी की धारा की ओर पश्चिमाभिमुख होकर पायस-ग्रहण करने का उल्लेख करते। बुद्धघोष का जन्म बोधगया के पास के ही किसी गाँव में हुआ था, अतः इस सम्बन्ध में उनका मत अधिक प्रामाणिक होगा। मैं पुरातत्त्वज्ञों और अनुसन्धान-प्रेमियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करता हूँ।

कृतज्ञता-ज्ञापन

मैं अन्त में उन सभी बौद्ध ग्रन्थकारों और इतिहासकारों का हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनके ग्रन्थों से इस पुस्तक के लिखने में सहायता मिली है। मुझे यह कहने में जरा भी संकोच नहीं कि यदि उन्होंने पूर्व में यह तीर्थ रचा नहीं होता, तो मुझ-जैसे अल्पज्ञ के लिए बौद्धसाहित्य-सागर में अवगाहन करना दुर्लभ था। पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार हो जाने पर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के आद्य संचालक और मेरे आचार्यदेव श्रीशिवपूजनसहायजी ने जिस अपनत्व से सारी पाण्डुलिपि सुनकर भाषा को पूत-पवित्र कर दिया, उसके लिए मेरे पास वे शब्द नहीं हैं, जिनको व्यक्त करके कृतज्ञता-ज्ञापन करूँ! इसी प्रकार पण्डित छविनाथ पाण्डेयजी, बेनीपुरीजी और सुधांशुजी जैसे गुरुजनों के कृपा-साहाय्य से ही इस पुस्तक का प्रकाशन संभव हुआ है, अतः मैं उनका सदा हृदय से कृतज्ञ हूँ। भ्रातृवर और मेरे अभिन्न भारत-प्रसिद्ध कलाकार श्रीउपेन्द्र महारथी के प्रोत्साहन और सहायता के बिना तो मेरा कोई यश अधूरा ही रहता है। आप ही जैसे सच्चे मित्र का यह काम था कि पुस्तक में लगनेवाले अनेक चित्रों के फोटो मुझे सुलभ करा दिये, जिससे पुस्तक की महार्घता बढ़ गई। यों तो सदैव ही मैं आपका आभारी हूँ, पर इस सहयोग के लिए विशेष रूप से। बन्धुवर श्रीउमानाथजी के प्रोत्साहन और सहयोग को तो कभी भुलाया ही नहीं जा सकता, जिनकी सदाशयता मेरे हर अच्छे काम में प्रकृत्या बनी रहती है। मेरे मित्र श्रीश्रीरञ्जन सूरिदेव ने अपने सहायक श्रीकामेश्वरप्रसाद के साथ पुस्तक के प्रूफ-संशोधन में जैसा अथक परिश्रम किया है, वह मुझसे भी असंभव था; तदर्थ मैं दोनों के प्रति आभार-प्रदर्शन करता हूँ। ज्ञानपीठ प्रा० लि०, पटना ने इसके मुद्रण में जिस धैर्य का परिचय दिया है, उसके लिए उसको भी धन्यवाद-ज्ञापन करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। इत्यलम्!

पटना
फाल्गुन, महाशिवरात्रि
संवत् २०१६; शकाब्द १८८१
खिष्टाब्द १९६०

हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'

विषय-तालिका

पहला परिच्छेद

बुद्ध-पूर्व तथा बुद्धकाल का बिहार

दूसरा परिच्छेद

बुद्धत्व की प्राप्ति में योगदान

बुद्ध के जीवन-काल में धर्म के सहायक

बुद्ध की पर्यटन-भूमि और विभिन्न घटनाएँ

तीसरा परिच्छेद

बिहार की नारियाँ और बौद्धधर्म

चौथा परिच्छेद

बुद्ध के पश्चात् और मौर्यों के पूर्व

पाँचवाँ परिच्छेद

मौर्यकाल में बौद्धधर्म का विकास

छठा परिच्छेद

मौर्यकाल और गुप्तकाल के बीच

सातवाँ परिच्छेद

बौद्धधर्म के विकास का स्वर्णिम काल

गुप्तकाल में प्रचार-कार्य

आठवाँ परिच्छेद

पालकाल में बौद्धधर्म

पालकाल में वज्रयान-सम्प्रदाय और बिहार के सिद्ध

नवाँ परिच्छेद

बौद्धधर्म का अन्धकार-युग मुस्लिमकाल

दसवाँ परिच्छेद

अँगरेजी शासन-काल के कार्य

ग्यारहवाँ परिच्छेद

स्वराज्य के बाद

परिशिष्ट—१

बौद्धधर्म को भाषा और साहित्य की देन

परिशिष्ट—२

बौद्ध स्थापत्य और शिल्पकला के क्षेत्र में—

परिशिष्ट—३

विहार से सम्बन्धित बौद्ध रचनाओं की तालिका

परिशिष्ट—४

अशोक के अभिलेखों का मूलपाठ और हिन्दी-रूपान्तर

चित्र-सूची

बौद्धधर्म और बिहार

चरथ भिक्खवे, चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। × × × अहं पि भिक्खवे, येन उरुवेला येन सेनानिगमो तेनु पसङ्कमिस्सामि धम्मदेसनाया' ति।

महावग्गो—१, २, ५, १

बोधिभूमि की महिमा

पच्चोरोह महाराज, भूमिभागो यथा समनुगीतो।
इध अनधिवरा बुद्धा अभिसम्बुद्धा विरोचन्ति॥
पदक्खिणतो आवत्ता तिणलता अस्मिं भूमिभागस्मिं।
पुथवियायं मण्डो, इति नो सुतं महाराज॥
सागरपरियन्ताय मेदिनिया सब्बभूत धरणिया।
पुथवियायं मण्डो, आरोहित्वा नमो करोहि॥

कालिङ्गबोधि जातक—सं० ४७९

राजगह-महिमा

रमणीयं आनन्द राजगहं, रमणीयो गिज्झकूटो पब्बतो, रमणीयो गोतम-निग्रोधो, रमणीयो चोरपपातो, रमणीया वेभारपस्से सत्तपण्णिगुहा, रमणीया इसिगिलिपस्से कालसिला, रमणीयो सीतवने सप्पसोण्डिक-पब्भारो, रमणीयो तपोदारामो, रमणीयो वेलुवने कलन्दकनिवापो, रमणीयं जीवकम्बवनं, रमणीयो मद्दकुच्छिस्मिं मिगदायो।

दीघ निकाय—६, ३१, ४३

वैशाली-महिमा

रमणीया आनन्द वेसाली। रमणीयं उदेनं चेतियं, रमणीयं गोतमकं चेतियं, रमणीयं सत्तम्बकं चेतियं, रमणीयं बहुपुत्तं चेतियं, रमणीयं सारन्ददं चेतियं, रमणीयं चापालं चेतियं।

दीघ निकाय—१६, ३, २

पहला परिच्छेद

बुद्धपूर्व तथा बुद्धकाल का बिहार

विचारणीय प्रश्न

बुद्धत्व-प्राप्ति के पहले भगवान् बुद्ध का नाम 'सिद्धार्थ' था। सिद्धार्थ का पैतृक निवास 'कपिलवस्तु' था। वहाँ शाक्य-क्षत्रियों का राज्य था, जो इक्ष्वाकु-वंश के थे। सिद्धार्थ के समय में भी शाक्यों का घनिष्ठ सम्बन्ध कोसल-राज्य से था[1]। कपिलवस्तु कोसल के उत्तर-पूर्व में और बिहार के पश्चिमोत्तर भाग में अवस्थित था। आज यह स्थान 'नेपाल-राज्य' की तराई में वर्त्तमान है और इसका नाम 'तिलौरा कोट' है। ऐसी अवस्था में प्रश्न उठता है कि जब कपिलवस्तु का सम्बन्ध किसी प्रकार 'मगध' से नहीं था और जब इसके पार्श्व-भाग में ही हिमालय के सुरम्य एवं विस्तृत उपत्यकांचल तथा रमणीय घनी वनानी फैली थी, तब सिद्धार्थ ने अपने तप, ज्ञान और सिद्धान्त-प्रचार के लिए बिहार-प्रदेश को क्यों चुना? वस्तुतः जो नगाधिराज स्वयं देवतात्मा है, जिसके ऊँचे-ऊँचे शृंगों पर यक्ष, किन्नर और गन्धर्व निवास करते हैं, जो धनपति कुबेर तथा भगवान् शंकर का वास-स्थान है, जहाँ अलकापुरी-जैसी नगरी है, मुक्ता-मराल-मण्डित मानसरोवर है, जिसके स्वच्छ अन्तर से पुण्य-प्रवाह-जैसी गंगा आदि नदियाँ बहती रहती हैं; ऐसे पवित्र और तपोयुक्त स्थान को त्यागकर अपनी तपस्या तथा ज्ञानार्जन के लिए सिद्धार्थ का मगध-जैसे निन्दित भू-भाग[2] का चुनाव कहाँ तक उपयुक्त था, यह एक आश्चर्य-जनक विषय है!

किन्तु, इस प्रश्न के उत्तर के लिए तात्कालिक बिहार की अनेक स्थितियों पर जब हम चिन्तन और अनुशीलन करते हैं, तब प्रश्न का उत्तर सरल और स्पष्ट हो जाता है। यहाँ हमें देखना चाहिए कि उस काल में सामाजिक वातावरण में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का सम्बन्ध कैसा था? उस समय की बिहार-भूमि किस जाति के लिए उत्कर्ष-स्थान थी? ब्राह्मण-वाद की दृष्टि में बिहार-प्रदेश का क्या स्थान था और उनके विरोधियों का यह कैसा अखाड़ा था?

---

१. सुत्तनिपात—२७, १८—१९

२. (क) अङ्ग-वङ्ग-कलिङ्गेषु सौराष्ट्र-मगधेषु च।
तीर्थयात्रां विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति॥

(ख) केवल ब्राह्मण-ग्रन्थों की दृष्टि में ही नहीं, प्रत्युत बौद्ध-ग्रन्थों की दृष्टि में भी, बुद्ध से पूर्व, मगध में दूषित चित्तवालों से उत्पादित अशुद्ध धर्म प्रचरित था—

'पातु रहोसि मगधेसु पुब्बे धम्मो असुद्धो समलेहि चिन्तितो।'

—महावग्गो १।१।५।२

ब्राह्मणों की यज्ञादि क्रियाओं के समकक्ष तपस्या तथा ज्ञान का यहाँ कितना आदर था, जिस कारण इसे क्षत्रियों ने अपनाया था ? केवल ज्ञान, त्याग और तपस्या के आचरण करनेवाले ऋषियों का प्रभाव तथा सम्मान यहाँ की सर्वसाधारण जनता में कहाँ तक था ? इतना ही नहीं ; सिद्धार्थ को बचपन से प्राप्त होनेवाले वातावरण, शिक्षा-दीक्षा एवं उच्चकुलोचित स्वाभिमान के लिए बिहार की भूमि उपयुक्त थी या नहीं ? इसी तरह उनकी तपस्या और ज्ञान को उर्वर बनाने में तथा उनके सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में कहाँ तक यह भूमि सहायक हो सकती थी—इन सारी बातों पर थोड़ी गहराई से विचार करने पर प्रश्न का उत्तर बहुत-कुछ सरल हो जाता है। इसलिए हमें बिहार-प्रदेश के तात्कालिक भू-भागों की भौगोलिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि स्थितियों का समुचित विवेचन और विश्लेषण करना आवश्यक है। इनके विवेचन से बुद्धपूर्व अनेक स्थितियों का भी ज्ञान होगा, जिससे हमें बौद्धधर्म के उगने एवं विकसित होने की परंपरागत भाव-भूमि मिलेगी।

भौगोलिक स्थिति

भगवान् बुद्ध के पूर्व, उनके समय में तथा उनके बाद भी, अनेक सदियों तक, बिहार-प्रदेश नाम का कोई भू-भाग नहीं था। आज जिस भू-भाग को हम बिहार-राज्य की संज्ञा देते हैं, वह उस समय कई राज्यों में बँटा हुआ था। उन राज्यों में मगध का राजतंत्र और वैशाली का गणतंत्र—दोनों राज्य सर्वशक्तिसम्पन्न थे। इनके अतिरिक्त भर्ग, अंग, अंगुत्तराप, कंजंगल, सुह्म का पश्चिमी-दक्षिणी भाग, पुण्ड्र का पश्चिमी भाग, सीमान्त, अल्लकप्प, पिप्पली-कानन और मिथिला नामक क्षेत्र भी प्रसिद्ध थे। भगवान् बुद्ध के समय में केवल 'भर्ग' और 'सीमान्त' के कुछ भागों को छोड़कर बाकी सभी प्रदेश प्रायः मगध और वैशाली के अधीन हो चुके थे।

आज के पटना और गया जिले का क्षेत्र उस समय 'मगध' कहा जाता था। भगवान् बुद्ध के पहले इसका नाम 'कीकट' भी मिलता है। वर्त्तमान शाहाबाद जिला, बुद्ध के पहले, पूर्ण स्वतंत्र था और इसका नाम 'करुष' था, जिसका प्रायः सम्बन्ध विन्ध्याचल के दक्षिणी क्षेत्रों से था। बाद में काशी-राज के अधीन हो गया[1]। किन्तु, जब कोसल-राज्य ने काशी पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर लिया, तब शाहाबाद भी कोसल में आ गया था। शाहाबाद के भभुआ और सहसराम-प्रमण्डलों का दक्षिणी-पश्चिमी पहाड़ी भाग, बुद्ध के समय में, भर्ग देश कहलाता था[2]। बुद्ध के कुछ दिन पहले मगध के राजा 'बिम्बिसार' का विवाह कोसल-देश के राजा 'महाकोसल' की कन्या से हुआ। उस अवसर पर अपनी कन्या के स्नान-चूर्ण के व्यय के लिए महाकोसल ने काशी और उसके पास के भागों को दहेज में दे दिया[3], जिससे शाहाबाद का भू-भाग मगध-राज्य में आ गया।

१. घत जातक—३३५

२. मज्झिम निकाय—२।४।५

३. संयुक्त निकाय, अट्ठकथा।

आधुनिक मुँगेर और भागलपुर के जिले 'अंग' कहलाते थे और भागलपुर का नाम 'चम्पा' था। बुद्ध के समय में बिम्बिसार ने अंग को जीतकर अधीनस्थ कर लिया था। 'अंगुत्तराप' गंगा के उत्तरी किनारे का भाग (मुँगेर जिले से सहरसा तक का भू-भाग) था। आज का सन्तालपरगना उस समय 'कजंगल' कहा जाता था। सुह्म-प्रदेश के अन्तर्गत बाँकुड़ा, मेदिनीपुर और मानभूमि का कुछ हिस्सा तथा हजारीबाग का भी पूर्वी भाग आदि थे। आज के पूर्णिया और दिनाजपुर उस समय पुण्ड्र-देश के नाम से अभिहित होते थे। महावग्गो (६।५।१।२१) से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध जब अंगुत्तराप के 'आपण' निगम[1] में गये, तब 'भद्दिया' के मेण्डक गृहपति ने, जो बिम्बिसार के राज्य में था, बुद्ध के भिक्षुसंघ के लिए अपने नौकरों के साथ रसद भिजवाई थी। इतना ही नहीं, 'सुत्तनिपात'-३३ में कहा गया है कि बुद्ध की अगवानी में 'केणिय' ने जब भोज की तैयारी की, तब 'सेल' नामक ब्राह्मण ने कहा–"यह धूमधाम किसी विवाह के उपलक्ष्य में है या राजा बिम्बिसार की अगवानी में?" इससे ज्ञात होता है कि तब अंगुत्तराप भी मगध के ही अधीन था, जिससे बिम्बिसार के राजा होने और जाने की बात उठती थी। हाँ, छोटानागपुर के जंगली और दक्षिणी प्रदेश स्वतंत्र थे[2], जो सीमान्त देश कहलाते थे। मगध-राजतंत्र की राजधानी राजगृह में थी, जो गंगा के दक्षिण भाग में पड़ती थी।

गंगा के उत्तर भाग में वैशाली गणतंत्र था। यह वज्जिसंघ के नाम से प्रसिद्ध था। वज्जिसंघ वर्त्तमान मुजफ्फरपुर जिले और सारन जिले में फैला था। 'अल्लकप्प' सारन जिले के दक्षिणी भाग में, गंगा के उत्तरी किनारे और मही नदी के पश्चिमी तथा सरयू नदी के पूर्वी भाग का नाम था[3]। आज इसी का नाम 'अनवल' और 'कोपा' गाँव है, जो आस-पास में ही हैं। रिविलगंज से चार मील उत्तर तथा छपरा-सिवान रेलवे-लाइन में छपरा स्टेशन के बाद ही दूसरा स्टेशन 'कोपा' है। कोपा में जो टीला है, वह शायद बुद्ध के अवशेष पर बुलियों द्वारा बनवाया चैत्य है। इस टीले की ओर पुरातत्त्वज्ञों का ध्यान जाना चाहिए।

वर्त्तमान चम्पारन जिले का एक भाग 'पिप्पली-कानन' कहलाता था। उस समय दरभंगा जिले का उत्तरी भाग और नैपाल के तराई भाग का नाम 'मिथिला' था। भगवान् बुद्ध के काल में अल्लकप्प, पिप्पली-कानन और मिथिला, वैशाली गणतंत्र के अधीन ही थे। 'ललितविस्तर' ग्रन्थ से स्पष्ट पता चलता है कि 'मिथिला' के अन्तिम राजा का नाम 'सुमित्र' था, जिसे जीतकर वज्जिसंघ ने मिथिला को अपने अधीन कर लिया था।

उपर्युक्त सम्पूर्ण भू-प्रदेश का नाम आज 'बिहार' है। बौद्ध धर्म के विकास में उपर्युक्त क्षेत्रों की देन क्या है, इसका मूल्यांकन करना ही—बिहार-प्रदेश की इस भौगोलिक सीमा के अनुसार ही—इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है। श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार और पृथ्वीसिंह

१. आज का कस्बा उस समय 'निगम' कहा जाता था।

२. महावग्गो—१।८।१।१—४

३. प्राचीन भारत का इतिहास (भगवतशरण उपाध्याय)—पृ० १८

मेहता के संयुक्त विचार के अनुसार तो—"ठेठ विहार, गंगा काँठे का मध्य भाग था, जहाँ (काशी से आगे) गंगा ठीक पूर्ववाहिनी है। इस हिसाब से वर्त्तमान युक्त-प्रान्त के मिर्जापुर और बनारस जिले विहार के अंश हैं[१]।"

वस्तुतः सांस्कृतिक, सामाजिक, भाषा-सम्बन्धी तथा भौगोलिक एकता को ध्यान में रखकर, काशी से आगे जहाँ गंगा पूर्व की ओर मुड़ती है, यदि एक सीधी रेखा खींची जाय, तो वह दक्षिण में चुनार से लेकर उत्तर में भगवान् बुद्ध के निवास-स्थान 'कपिलवस्तु' तक जायगी और उस रेखा के पूर्वी भू-भाग विहार-प्रदेश में पड़ेंगे और तब काशी का पूर्वी भाग, गाजीपुर, बलिया और गोरखपुर के हिस्से विहार के अन्तर्गत होंगे। अपने प्राचीन ग्रन्थों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब हमें इन भू-भागों में बसनेवाले प्राचीन मल्लों का घनिष्ठ सम्बन्ध भी शाहाबाद के करुषों के साथ दिखाई पड़ता है[२] और आज भी सांस्कृतिक तथा भाषागत दृष्टि से इनकी एकरूपता लक्षित होती है। किन्तु इस पुस्तक का सम्बन्ध वर्त्तमान विहार-प्रदेश की सीमा से ही है, अतः ऐसे विषय की चर्चा यहाँ अनावश्यक होगी।

बौद्धधर्म के साथ जिस विहार-प्रदेश के सम्बन्ध की चर्चा यहाँ अभीष्ट है, वह विहार नाम 'विहारशरीफ' नगर के नाम पर मुस्लिम शासकों का दिया हुआ है। किन्तु मुसलमानों के पूर्व स्वयं 'विहार-शरीफ' नगर का नाम 'उदन्तपुरी' या 'ओदन्तपुरी' था, जहाँ बौद्धों के अनेक मठ और चैत्य थे। उन मठों का नाम 'विहार' था, जिनके आधिक्य के कारण मुसलमानों ने 'उदन्तपुरी' का नाम 'विहारशरीफ' रख दिया। इसी विहारशरीफ के नाम पर उन्होंने सम्पूर्ण मगध का नाम विहार-प्रदेश रखा। इसलिए अफगान-शासकों के समय में गंगा के दक्षिणी क्षेत्र का ही नाम 'विहार-प्रदेश' था। आधुनिक विहार-प्रदेश की सीमा का विहार नाम तो 'शेरशाह' के शासन-काल में हुआ, जब उसने पटना को पुनः राजधानी बनाया। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध ऐतिहासिक जयचन्द्र विद्यालंकार का एक उद्धरण पर्याप्त होगा। वे लिखते हैं—"मुँगेर और भागलपुर का प्रदेश बहुत दिनों से बंगाल में सम्मिलित चला आता था। इस प्रसंग में वह बंगाल से अलग किया गया। सन् १५४२ ई० के अन्त में अंग और तिरहुत भी विहार में मिला दिये गये और तब से 'विहार' शब्द का वह अर्थ हुआ, जिस अर्थ में आज हम उसे बरतते हैं[३]।"

सांस्कृतिक स्थिति

आर्यों की निवास-भूमि भारतवर्ष में वैदिक काल से ही, वर्ण-व्यवस्था के प्रमाण प्राप्त

---

१. विहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० १

२. मलदाश्च करूषाश्च ममाङ्गमलधारिणौ।
मा्धुसार्न्विति तं देवाः पाकशासनमब्रुवन्॥
—वाल्मीकीय रामायण, बाल०, अध्या० २५, श्लो० २३

३. विहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० २३६

होते हैं। उन प्रमाणों में चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) में ब्राह्मण ही श्रेष्ठ बतलाये गये हैं। महाभारत में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"वाक्य की उत्पत्ति होते ही उस देव-देव से पहले ब्राह्मण प्रादुर्भूत हुए और तब उन ब्राह्मणों से शेष (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) वर्णों की उत्पत्ति हुई।"

क्षत्रियों की उत्कर्ष-भूमि विहार

वाक्यसंयमकाले हि तस्य देवदेवस्य ब्राह्मणाः प्रथमं प्रादुर्भूताः।

ब्राह्मणेभ्यः शेषा वर्णाः प्रादुर्भूताः॥—शान्ति०, अध्या० ३४२, पद २१

'हरिवंशपुराण' में भी बहुत-कुछ ऐसा ही उल्लेख मिलता है। उसमें कहा गया है—'अक्षर से ब्राह्मण, क्षर से क्षत्रिय, विकार से वैश्य और धूम-विकार से शूद्र की उत्पत्ति हुई[1]।' इन दोनों से अतिप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' में '*ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः*' आदि ऋचाएँ मिलती हैं, जिन सबके अनुसार ब्राह्मण को अन्य वर्णों से श्रेष्ठ कहा गया है। ऋग्वेद में चारों वर्णों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है और जिनमें ब्राह्मण का नाम पहले लिया गया है। इस तरह के अन्य प्राचीन ग्रन्थों के विभिन्न प्रमाण, अनेक स्थलों में तथा अनेक बार, मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। भगवान् बुद्ध से बहुत पहले इस ब्राह्मण-वर्ग का, अपने ज्ञान-विज्ञान के कारण, भारतीय समाज पर प्रभुत्व स्थापित था और जिसके हाथ में समाज की सांस्कृतिक बागडोर थी।

देश के सांस्कृतिक क्षेत्र में जहाँ समाज का सूत्र ब्राह्मणों के हाथ में था, वहीं समाज का राजनीतिक सूत्र क्षत्रियों के हाथ में। ये क्षत्रिय भी अपने उच्चकुल का स्वाभिमान रखते थे और अपने उदात्त चरित्र तथा समाज के रक्षात्मक भारवाही होने के कारण समाज में शक्ति-सम्पन्न थे। इस तरह हम देखते हैं कि समाज में एक ओर जहाँ ब्राह्मण-वर्ग सत्त्वशक्ति-सम्पन्न था, वहीं दूसरी ओर क्षत्रिय-वर्ग भी पूर्ण रजःशक्ति-सम्पन्न था। चूँकि, रजःशक्ति का विकास सत्त्व और तमस्—दोनों की ओर हो सकता था, अतः ज्ञान का प्रसार होने पर क्षत्रियों ने अपने को सत्त्व की ओर मोड़ने का प्रयास किया और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी अपनी धाक जमानी चाही। बस इसी बात को लेकर ब्राह्मणों और क्षत्रियों में परस्पर श्रेष्ठता की स्पर्द्धा छिड़ गई तथा कालक्रम से इसी स्पर्द्धा ने दोनों वर्णों में संघर्ष का रूप धारण कर लिया। बात यहाँतक पहुँच गई कि जब रक्षा-भारवाही तथा शक्ति-साधक क्षत्रियों ने अपनी सात्त्विक वृत्ति का विकास कर सांस्कृतिक क्षेत्र में अपनी महत्ता स्थापित करनी चाही, तब संस्कृति-सम्पन्न ब्राह्मणों ने भी शक्ति के क्षेत्र में अपने ब्रह्मबल तथा बाहुबल की आजमाइश करने की ठानी। परिणाम यह हुआ कि स्पर्द्धा और ईर्ष्या ने श्रद्धा एवं शान्ति का आसन छीन लिया और ब्राह्मण-क्षत्रिय—दोनों को कलह की जलती भट्ठी में डाल दिया।

मेरे उपर्युक्त विश्लेषण के कई प्रमाण, प्राचीन काल की कई ऐतिहासिक घटनाओं में, उपलब्ध होते हैं—पुराणों में वसिष्ठ और विश्वामित्र की जिस लड़ाई की चर्चा मिलती है,

१. अक्षराद् ब्राह्मणाः सौम्याः क्षरात् क्षत्रियबान्धवाः।
वैश्याः विकारतश्चैव शूद्राः धूमविकारतः॥ —हरिवंश, भवि० २१० । ११८ । १६

वह इसी ब्राह्मण-क्षत्रिय की श्रेष्ठतावाली प्रतिस्पर्द्धा का प्रतीक है। इस युद्ध का विस्तृत वर्णन हमें 'ब्रह्मपुराण' में मिलता है। हम देखते हैं कि इसी श्रेष्ठता की स्पर्द्धा के कारण जामदग्नेय (परशुराम) और क्षत्रियों का घोर संग्राम[१] हुआ, जिसकी कथा भी हमारे प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त है। 'शिव पुराण'[२] में 'दधीचि' और 'क्षुवथु' नामक राजा के युद्ध का भी वर्णन हमें मिलता है जिसमें क्षत्रिय राजा की मदद करनेवाले विष्णु भी पराजित हुए थे। ये सारे कलह ब्राह्मण-क्षत्रिय-स्पर्द्धा-जनित ही थे।

यद्यपि इस श्रेष्ठता की स्पर्द्धा का संघर्ष लम्बी अवधि तक तथा बहुत बड़े पैमाने पर हुआ, तथापि समाज में श्रेष्ठता की बागडोर ब्राह्मणों के हाथ से क्षत्रिय छीन नहीं सके ; ऐसा स्पष्ट प्रमाणित है। क्षत्रियों ने इसे अच्छी तरह समझ लिया कि जिस क्षेत्र और जहाँ के समाज में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का आधिपत्य कायम है, वहाँ और उस समाज में हमारी श्रेष्ठता का दावा कायम नहीं हो सकता। इसलिए क्षत्रिय ऐसे प्रदेश और ऐसे समाज की खोज में लगे, जहाँ ब्राह्मणों का प्रभुत्व कायम नहीं हो सका था। उस समय ऐसा प्रदेश और समाज देश का पूर्वीय भाग ही था, जहाँ ब्राह्मण, धार्मिक प्रवृत्ति के अभाव के कारण, जाना और रहना पसन्द नहीं करते थे। बल्कि इन भू-भागों को हेय बतला कर दूसरे लोगों को भी वहाँ जाने से रोकते थे[३]। देश का पूर्वी भाग कुछ तो दलदल था और कुछ जंगली भू-भाग था। स्वभावतः यह भाग सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ा था और गरीबी के गर्त्त में गिरा हुआ था। ऐसा पूर्वी भाग आज का बिहार, बंगाल, आसाम एवं उड़ीसा था, जहाँ क्षत्रियों ने अपनी श्रेष्ठता के लिए अड्डा कायम किया।

हम देखते हैं कि इसी पूर्वीय भाग में राजर्षि जनक हुए, जो क्षत्रिय थे और जिनकी सभा में सभासद के रूप में 'याज्ञवल्क्य'-जैसे तत्त्ववेत्ता ब्राह्मण रहते थे। राजर्षि (पीछे चलकर ब्रह्मर्षि भी) विश्वामित्र ने भी अपनी श्रेष्ठता के लिए इसी पूर्वी भाग को चुना था और यहाँ यज्ञ-यागादि की क्रिया भी प्रतिष्ठित की थी। किन्तु ऐसे भू-भागों में तत्त्ववेत्ता क्षत्रियों ने ब्राह्मणों द्वारा चलाई बहुव्ययी विधि-क्रियाओं को त्यागना ही उचित समझा और उन्होंने मोक्ष-मार्ग को प्रशस्त करने में एक नया कदम उठाया—केवल तपस्या, त्याग और ज्ञान के बल से ही मोक्ष तथा आत्म-ज्ञान-लाभ करने का अधिकार प्रतिष्ठित किया। इस भाग की पिछड़ी और गरीब जनता के लिए यह नवीन और क्रान्तिकारी मार्ग-पद्धति अनुकूल साबित हुई। इसलिए हम देखते हैं कि ब्राह्मणों के द्वारा जिन यज्ञ-यागादि क्रियाओं का उदय सप्तसिन्धु की घाटी में हुआ, बहुत जोर मारने पर भी—वह विधि-क्रिया भारतीय पूर्वी सीमा में जड़ नहीं जमा सकी और न ब्राह्मणवाद ही इस भाग में अपनी सत्ता कायम कर सका।

१. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, गणपति खण्ड, अध्याय ४०

२. शिवमहापुराण, अध्याय ३८-३९

३. ज्ञात होता है कि इसी कारण आजतक पश्चिम के ब्राह्मण पूर्वीय भाग के ब्राह्मणों को पंक्ति में छोटा बतलाते है और अपना सम्बन्ध पूर्वीय भाग के ब्राह्मणों के साथ नहीं करना चाहते है।—ले०

इसके विपरीत देश के ब्राह्मण मगध, अंग आदि प्रदेशों को हेय समझकर तिरस्कृत करते रहे। स्वभावतः क्षत्रियों को अपने नये मार्ग के संवर्द्धन और उसकी स्थिति दृढ़ करने के लिए उपयुक्त भूमि प्राप्त हो गई। क्रमशः क्षत्रियों का उत्कर्ष ऐसे भू-भाग में बढ़ता गया तथा यज्ञादि के विपरीत, तप और ज्ञान-मार्ग का विकास, बिहार-जैसे पूर्वी भाग में दृढ़ होता गया।

उपर्युक्त तथ्यों का स्पष्ट चित्र हमें उपनिषद्-काल में प्राप्त होता है। इस काल में अनेक ऐसे क्षत्रिय राजा हुए, जिन्होंने कठिन साधना से ज्ञानबल को प्रबुद्ध करके ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लिया। ऐसे क्षत्रियों में काशिराज अजातशत्रु, जनक वैदेह, अश्वपति कैकेय, प्रवाहण जैवलि आदि प्रमुख थे[१]। इनके बाद ही हमें वह कथा मिलती है, जिसमें लिखा है कि औपमन्यव, सत्ययज्ञ, पौलुषि-इन्द्रद्युम्न, भाल्लवेय, जन-शार्कराक्ष्य और बुडिल आश्वतराश्वि-जैसे महाश्रोत्रिय ब्राह्मण गृहस्थों ने भी 'अश्वपति कैकेय' से ब्रह्म-विद्या प्राप्तकर ऋषित्व लाभ किया था[२]। किन्तु ऐसे ब्रह्मविद् अश्वपति कैकेय भी ब्राह्मण ऋषियों को अपने यहाँ निमंत्रण देकर खिलाने के लिए या दान देने के लिए तरसते रहते थे। एक बार जब उन्होंने उपर्युक्त ब्राह्मण-ऋषियों को बहुत-सा धन देना चाहा, तब ऋषियों ने अस्वीकार कर दिया। इस पर इन्होंने शपथ खाते हुए कहा—"मेरे संपूर्ण राज्य में एक भी चोर, एक भी स्वैरिणी, एक भी व्यभिचारी, एक भी मिथ्याभाषी और एक भी अशिक्षित जन नहीं है; तब फिर क्यों आपलोग मेरा धन अस्वीकार करते हैं[३]?" हमने देखा कि इस पश्चिमी भाग में ब्राह्मणों का इतना प्राबल्य था कि ऐसे ब्रह्मविद् राजा को उन्हें निमंत्रण पर बुलाने के लिए शपथ खानी पड़ती थी और वे इतने पर भी अस्वीकार कर देते थे। यही कारण था कि क्षत्रियों का उत्कर्ष पूर्व-प्रदेश में ही बढ़ा, पश्चिम के भू-भाग में नहीं। इस काल में ब्राह्मणत्व और ब्रह्म-विद्या प्राप्त करने के लिए क्षत्रियों में होड़-सी लग गई थी। किन्तु ये बातें सिद्ध करती हैं कि क्षत्रिय से ब्राह्मण-वर्ण श्रेष्ठ था, जिसे प्राप्त करने के लिए क्षत्रिय-वर्ग लालायित रहता था।

यह पौराणिक कथा भी प्रसिद्ध है कि विश्वामित्र की प्रचण्ड तपस्या से जब संसार संतप्त और कम्पित होने लगा, तब ब्रह्मा ने आकर उनसे तपस्या छोड़ देने और वर माँगने का अनुरोध किया, जिसपर उन्होंने कहा कि मैं ब्रह्मर्षि होना चाहता हूँ; पर केवल आपके ब्रह्मर्षि कह देने से मुझे सन्तोष नहीं होगा, जबतक स्वयं वसिष्ठ आकर मुझे ब्रह्मर्षि नहीं मान लेंगे।

इसलिए भी प्रमाणित होता है कि क्षत्रिय से ब्राह्मण श्रेष्ठ थे।

देश के ऐसे ही पूर्वीय और उत्तरी भाग में तथा श्रेष्ठता का दावा करनेवाले ऐसे ही क्षत्रिय-कुल में सिद्धार्थ का जन्म हुआ था। उनकी रहन-सहन तथा शिक्षा-दीक्षा श्रेष्ठताभिमानी वायुमंडल में ही हुई थी। शाक्यवंशीय क्षत्रिय अपने जात्यभिमान के लिए देश

१. छान्दोग्य, बृहदारण्यक और कौषीतकि-उपनिषद् द्रष्टव्य।

२. छान्दोग्य-उपनिषद्—५, ११

३. तत्रैव—५, ११, ५

में प्रसिद्ध थे और ऐसे प्रसिद्ध थे कि सिद्धार्थ जब बुद्ध और सकल अभिमान से रहित हो गये, तब भी समय-समय पर उनका वंश-परम्परागत यह अभिमान नहीं छूट सका था[१]। यह श्रेष्ठतावाली बात भगवान् बुद्ध के काल तक पहुँचते-पहुँचते ऐसी उग्र और विकृत हो गई कि इस काल में क्षत्रिय कर्म से ही नहीं, जन्म से ही अपनेको श्रेष्ठ मानने लगे और जिसे स्वयं बुद्ध भी मानते थे। ऐसे अनेक प्रमाण हमें बुद्ध-वचन के रूप में कई जगहों में मिलते हैं[२]। 'दीघ निकाय' के अम्बट्ठसुत्त से पता चलता है कि सम्पूर्ण शाक्यकुल अपने श्रेष्ठताभिमान के कारण ब्राह्मणों का सम्मान नहीं करता था। अम्बष्ठ ब्राह्मण ने भगवान् बुद्ध से भेंट होने पर यही आक्षेप किया है। उसने कहा है—

'चण्डा भो गोतम शक्य जाति······इब्भा सन्ता इब्भा समाना न ब्राह्मणे संग करोन्ति न ब्राह्मणे मानन्ति' आदि।

भगवान् बुद्ध ने जहाँ-जहाँ वर्णों के नाम गिनाये हैं, वे सर्वत्र ब्राह्मण से पहले क्षत्रिय का ही नाम लेते हैं। इतना ही नहीं, तीर्थंकर महावीर और भगवान् बुद्ध ने क्षत्रियोत्कर्ष के लिए जितना बड़ा काम किया, उतना उपनिषद्-काल के सभी ब्रह्मविद् क्षत्रिय-राजाओं ने मिलकर भी नहीं किया। इस क्षत्रियोत्कर्ष का विकसित रूप ही, इस पूर्वीय भाग में, जैनधर्म और बौद्धधर्म के माध्यम से दिखाई पड़ा। सच पूछा जाय, तो ये दोनों धर्म ब्राह्मण-क्षत्रिय-संघर्ष में क्षत्रियों की उस विजय-वैजयन्ती के प्रतीक हैं—जो बिहार-प्रदेश में उड़ी थी। इन सभी कारणों के चलते ही हम देखते हैं कि वर्णाश्रम-व्यवस्था और ब्राह्मण-धर्म का प्रसार जिस अनुपात में, काशी से पश्चिम के भागों में दिखाई पड़ता है, उस अनुपात में काशी से पूर्व के भागों में, ऐतिहासिक शुंगकाल के पहले, नहीं दिखाई पड़ता। अब आप अच्छी तरह समझ गये होंगे कि बुद्धदेव की क्षत्रियोचित प्रकृति तथा उनके तात्कालिक शिक्षा-दीक्षानुप्राणित विचारों का जैसा सम्मान बिहार की भूमि में हो सकता था, वैसा न तो हिमालय की देवभूमि में या न सप्तसिंधु एवं गंगा की घाटी में ही।

बिहारवासियों की धार्मिक प्रवृत्ति

देश के इस पूर्वी भाग के धार्मिक निवासी और राजवंश ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'व्रात्य' नाम से अभिहित हुए हैं। व्रात्य का शाब्दिक अर्थ तो होता है—व्रत को माननेवाला अथवा व्रत को धारण करनेवाला। परन्तु वैदिक और ब्राह्मण-ग्रन्थों में व्रात्य शब्द अत्यन्त गर्हित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ इसका तात्पर्य अनार्य, वैदिक-कर्मकांड-विरोधी एवं वर्णसंकर है। 'मनुस्मृति' कहती है कि सावित्री और उपनयन से भ्रष्ट द्विजाति व्रात्य कहलाते हैं[३]। इस तरह मल्ल, मल्ल,

१. दीघ निकाय (अगञ्ञसुत्त)—३ । ४

२. दीघ निकाय (अम्बट्ठसुत्त)—१ । ३

३. द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान् ।
तान् सावित्रीपरिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥—मनु० १० । २०

लिच्छवि आदि सभी व्रात्य हैं।[1] इस स्मृति के अनुसार क्षत्रिय से ब्राह्मण-कन्या में उत्पन्न सन्तान 'सूत' कहलाती थी और वैश्य से क्षत्रिय कन्या में उत्पन्न सन्तान 'मागध' होती थी। इसी तरह वैश्य से ब्राह्मण-कन्या में उत्पन्न सन्तान 'वैदेह' कही जाती थी।[2] इस प्रकार, आधुनिक बिहार के सभी प्राचीन भागों के निवासी व्रात्य थे और युक्तप्रान्त के गाजीपुर और बलिया तथा गोरखपुर के निवासी भी व्रात्य थे। क्योंकि, बिहार-प्रदेश के अंग-क्षेत्र के निवासी 'अधिरथ' को 'सूत' तथा उनके पुत्र 'कर्ण' को सूत-पुत्र कहा गया है। इसी तरह वैशाली के लिच्छवि, मिथिला के वैदेह और मगध के निवासी मागध कहे जाते थे। पुनः युक्त-प्रान्त के उपर्युक्त जिलों के निवासी भी मल्ल थे, जिसकी राजधानी कुशीनारा और पावा थी।

महाभारत के उद्योग-पर्व में व्रात्यों को पातकी कहा गया है। इसके अनुसार आग लगानेवाले, विष देनेवाले, मदिरा बेचनेवाले, कुसीद भक्षण करनेवाले (सूदखोर), मित्रद्रोही, भ्रूण-हत्यारे, व्यभिचारी, व्रात्य आदि ब्रह्मघाती कहे जाते हैं।[3] वेदों के प्रसिद्ध भाष्य-कार 'सायणाचार्य' ने व्रात्य का अर्थ पतित बतलाया है।[4] 'पञ्चविंशब्राह्मण' व्रात्य-सभ्यता के सम्बन्ध में लिखता है[5] कि ये सिर पर उष्णीष (पगड़ी) धारण करते थे। डंडा या चाबुक लेकर चलते थे। बिना बाण के 'ज्याह्रोड़' (गुलेल) पास में रखते थे। 'बौधायन श्रौतसूत्र' के अनुसार व्रात्यों के पास बाण होते थे। इन बाणों को रखने के लिए वे चमड़े के बने तरकस रखते थे। इनके पास बाँस की फट्टी की बनी गाड़ी होती थी, जिसे खच्चर या घोड़े खींचते थे। इनके शरीर पर के दुपट्टे में काली धारियाँ होती थीं। इनके नेता श्वेत वस्त्र की पगड़ी सर पर बाँधते थे। व्रात्य लोग भूत, डायन, जादू-टोना और ब्रह्मराक्षस में विश्वास करते थे। इनका पुरोहित मंत्र-तंत्र तथा जादू-टोने के पेशे से जीविका चलाता था। अनादि-व्रात्य २१ प्रकार से श्वासोपश्वास लेते थे। ये तपस्या में रत होकर वर्षों खड़े ही रह जाते थे। ये बड़े भारी हठयोगी होते थे।[6]

१. झल्लो मल्लश्च राजन्याद् व्रात्यान्निच्छविरेव च।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च॥—मनु० १०, २२

२. क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः।
वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासु तौ॥—मनु० १०, ११

३. अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी।
पर्वकारश्च सूची च, मित्रध्रुक् पारदारिकः॥
भ्रूणहा गुरुतल्पी च, यश्च स्यात्पानपो द्विजः।
सुबप्रग्रहणो व्रात्यः कीनाशश्चात्मवानपि॥—महाभारत, उद्यो० ३५, ४६-४८

४. प्राङ्मौर्य बिहार—३, १५

५. पञ्चविंशब्राह्मण—१७, १, १४

६. प्राङ्मौर्य बिहार—पृ० १६-१७

जब हम विचार करते हैं कि उपर्युक्त सभ्यता का प्रदेश कौन हो सकता है, तब हमारे सामने स्पष्ट रूप से बिहार-प्रदेश प्रत्यक्ष हो जाता है। आज भी उक्त सभ्यता का रूप हमें बहुत-कुछ बिहार-प्रदेश में मिल जाता है। इन सारी बातों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ इस पूर्वी प्रदेश को किस दृष्टि से देखते थे और इसे कितना हेय बतलाते थे। किन्तु इससे यह भी स्पष्ट है कि यहाँ स्वतंत्र विचारक, ज्ञानी और बड़े-बड़े तपस्वी वर्त्तमान थे। अशोक-कालीन स्मारकों में उष्णीष, पाश आदि के जो चिह्न मिलते हैं, ज्ञात होता है कि इसी व्रात्य-सभ्यता के वे प्रतीक थे। पाटलिपुत्र में मिली राजा 'उदयी' या यक्ष की मूर्त्ति के कंधे पर से पीछे की ओर लटकता दुपट्टा हम देखते हैं, जिस पर धारियाँ स्पष्ट हैं। बुद्ध-कालीन तपस्या की प्रणाली का जो उल्लेख हमें बौद्ध-ग्रन्थों में मिलता है, उसमें व्रात्यों की ही तपस्या-प्रणाली दिखाई पड़ती है। तंत्र-मंत्र की प्रक्रिया तो बहुत पुरानी है ही, जिससे बौद्ध भी नहीं बच सके—बुद्ध-कालीन 'आटानाटीय सुत्त' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है ! एक बार महामौद्गल्यायन के पेट में दर्द उठा था, तो उन्होंने उसे मार (भूत) ही समझकर मंत्रों से भगाया था, जो इसी व्रात्य-सभ्यता का पूर्ण प्रतीक था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित व्रात्य-सभ्यता के अनेक चिह्न आज भी बिहार-प्रदेश के छोटानागपुर-भाग में विद्यमान हैं।

भगवान् बुद्ध के जीवन-चरितविषयक प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रंथ 'ललित-विस्तर' में भी जो आठ राजकुलों का उल्लेख है, उन राजकुलों में मगध-कुल के सम्बन्ध में लिखा है—"यह कुल मातृशुद्ध और पितृशुद्ध नहीं है। यह चंचल है तथा विपुल पुण्य से अभिषिक्त नहीं है। इसकी राजधानी जंगली लोगों के बसने के योग्य है[१]।" इस वाक्य से भी ब्राह्मण-ग्रंथों की बात प्रमाणित होती है। 'अथर्ववेद' में एक ऋचा इस प्रकार है—

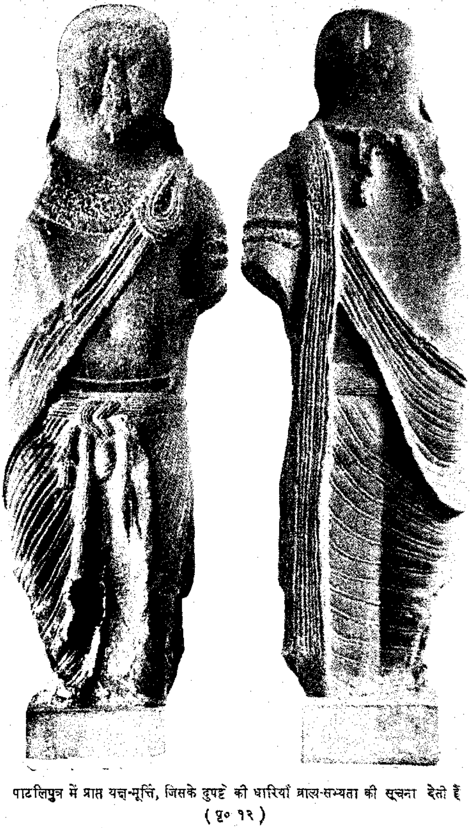
गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः।
प्रेष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परिदद्मसि ॥[२]

अथर्ववेद के ऋषि कहते हैं—"जैसे मनुष्य और उपभोग के सामान एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजे जाते हैं, उसी तरह हम ज्वर को गन्धार, मूजवान्, अंग और मगध-देश में भेज देते हैं।" इससे ज्ञात होता है कि आर्य अंग और मगध को अनार्यों की भूमि मानते थे और इन्हें अत्यन्त हेय बतलाते थे। वेद की एक दूसरी ऋचा में इसी प्रकार की बात कही गई है। उसमें एक ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करता है—"कीकट (मगध) की गायें किस काम की हैं, जिनका दूध यज्ञ में तुम्हारे काम नहीं आता और न सोमरस के साथ मिलकर यज्ञ-पात्रों को ही गर्म करता है। अतः, हे इन्द्र ! उन नैचाशाख 'प्रमगन्दों' का वह धन मुझे दिला दो[३]।" इस वाक्य से पता चलता है कि मगध के निवासी नीच शाखा के (नैचाशाख) थे,

१. ललितविस्तर—अध्याय १

२. अथर्ववेद—काण्ड ५, सू० २२, ऋ० १४

३. किन्ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः ॥—ऋग्वेदः ३, ५३, १४



पाटलिपुत्र में प्राप्त यक्ष-मूर्त्ति, जिसके दुपट्टे की धारियाँ व्रात्य-सभ्यता की सूचना देती हैं
(पृ० १२)

जो यज्ञ-विरोधी थे। प्रमगन्द शब्द से ही वंग, अंग और मगध का बनना कहा जाता है। स्पष्ट है कि ऐसा स्थान ब्राह्मण-विरोधी धर्मों के प्रचार के लिए अत्यन्त ही उर्वर नजर आता था।

ज्ञान, होम तथा तप की प्रधानता

बिहार-प्रदेश के ऋषि, ज्ञानी तथा तपस्वी यज्ञकर्म में दी जानेवाली पशु-बलि के तीव्र विरोधी थे। ये सभी ज्ञान, व्रत, तपश्चर्या तथा उच्छेद को श्रेष्ठ मानते थे। ये यज्ञादि कर्मों के बदले सदाचार, उपवास तथा आत्मशुद्धि पर ही विशेष जोर देते थे। और तपस्या द्वारा इस शरीर को जितना ही अधिक तपाया जायगा, उतनी ही बड़ी और ऊँची आत्मशुद्धि होगी। ऐसा ही विश्वास बिहार के तपस्वियों का था। इस तरह की तपस्या बुद्ध के समय तथा उनके कुछ काल बाद तक भी बनी रही[1]। किन्तु भगवान् बुद्ध ने शरीर को यातना देनेवाली तपस्या का स्वयं विरोध किया और इसे अत्याचार बतलाया। बुद्ध के समय में जिन छह शास्ताओं का उल्लेख मिलता है, सभी उपर्युक्त ढंग के तपस्यावाले सिद्धान्त के ही पोषक थे। ईसा से पूर्व १०वीं सदी में होनेवाले काशी-निवासी 'पार्श्व' इसी मार्ग के दर्शक थे। पार्श्व (नाथ) का जन्म काशी के राजा 'विश्वसेन' अथवा 'अश्वसेन' की पत्नी 'वामा' के गर्भ से हुआ था। ये जैनधर्म में २३वें तीर्थंकर के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये अपनी ३० वर्ष की आयु में संन्यासी हुए और केवल ८४ दिनों की तपस्या से ही अर्हत्त्व प्राप्त कर गये थे[2]। वैशाली का राज-परिवार इसी पार्श्व-मत का अनुयायी था। यही कारण हुआ कि वैशाली के समीपस्थ कुण्डग्राम के राजा 'सिद्धार्थ' के पुत्र 'वर्द्धमान' जैनधर्म के २४वें तीर्थंकर हुए और जो 'महावीर' के नाम से प्रसिद्ध थे। ये ही महावीर तीर्थंकर बुद्धदेव के समसामयिक थे। बौद्ध-ग्रन्थों में इनका नाम 'निग्गंठनाथपुत्त' कहा गया है। निग्गंठ 'निर्ग्रन्थ' का पालि-रूप है, जिसका अर्थ है—ग्रन्थि (बन्धन)-रहित। जिस समय सिद्धार्थ (गौतम) ने महाभिनिष्क्रमण का विचार किया, उस समय इस निग्गंठनाथपुत्त (महावीर तीर्थंकर) का तपस्या तथा कर्मस्थान मगध की राजधानी के आस-पास ही था।

सिद्धार्थ गौतम को संन्यास लेकर ज्ञान के क्षेत्र में यश अर्जित करने की बहुत-कुछ प्रेरणा बिहार-प्रदेशवासी इसी महावीर तीर्थंकर से मिली, इसकी संभावना बहुत कुछ है। महावीर का जन्म वैशाली के क्षत्रिय-कुल में हुआ था, जिस कुल से शाक्य-क्षत्रियों का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। उनके सम्पूर्ण आचार-विचारों का आदान-प्रदान परस्पर हुआ करता था। उसी कुल के वर्द्धमान ने संसार का त्याग कर ज्ञान-मार्ग का आश्रय ले लिया था। उन्होंने राजाओं से अधिक सम्मान लोक में प्राप्त कर वैशाली-कुल का गौरव बढ़ाया था और वे मगध में अपनी सिद्धि तथा सिद्धान्त की कीर्त्ति फैला रहे थे। वे अपने ज्ञान और तपोबल से वैशाली और मगध के राजाओं से पूजित भी हो चुके थे। महावीर ने सिद्ध कर दिया था कि ज्ञान और उच्छेद (त्याग) का बल राजबल से कहीं उच्च और श्रेष्ठ है।

---

१. महावग्ग—प्र० १ और चुल्लवग्ग—प्र० ६ देखिए।

२. बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० ५६

इस तरह जब वैशाली के एक राजकुमार ने इतना बड़ा सम्मान प्राप्त कर लिच्छवि-कुल का गौरव बढ़ा दिया, तब स्वभावतः शाक्य-कुल का सिद्धार्थ गौतम—जो कुल में लिच्छवियों से श्रेष्ठ था—अपने ज्ञानबल तथा त्याग के द्वारा भी शाक्य-कुल को श्रेष्ठ प्रमाणित कर देने के लिए कटिबद्ध हुआ हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं[१]।

बुद्धपूर्व तथा बुद्ध के काल में बिहार-प्रदेश धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्र में क्रान्तिकारी सिद्धान्त का बीजारोपक हो चुका था। इसने हिंसा को प्रश्रय देनेवाले वैदिक कर्मकाण्ड की उपेक्षा कर ज्ञान-मार्ग में उपासना, उपवास तथा आत्मशुद्धि का अवलम्बन कर लिया था। बिहार के निवासियों ने भी आत्मशुद्धि के इन सिद्धान्तों के प्रति अपना हार्दिक सम्मान प्रकट किया था। सिद्धार्थ गौतम को बचपन से ऐसी ही शिक्षा-दीक्षा का वातावरण प्राप्त हुआ था और उन्हें ऐसी भावना रुचिकर थी।

सिद्धार्थ की तपस्या-पद्धति और सिद्धांत का गुरु-कुल

'आराद कालाम' और 'उद्दक रामपुत्त' के सांख्य-दर्शन का सिद्धान्त[२] इसी बिहार-प्रदेश में प्रचलित था। सिद्धार्थ गौतम ने जब संन्यास ग्रहण किया, तब प्रथम-प्रथम इन्हीं विद्वानों के सम्प्रदाय में उन्होंने सांख्यदर्शन तथा समाधि की शिक्षा ली थी[३]। 'आराद कालाम' के मत का ही एक अनुयायी, जिसका नाम 'भरण्डु कालाम' था, कपिलवस्तु में रहता था[४]। अपने गृहस्थ-जीवन में, सिद्धार्थ गौतम ने अपने ग्राम के इसी भरण्डु-आश्रम में उससे संन्यास-धर्म की महिमा जानी और समाधि की दीक्षा ली थी। संन्यास ग्रहण करने की प्रेरणा भी इन्हें यहीं से मिली। सिद्धार्थ जब अपने खेतों की देख-रेख करने घर से निकलते थे, तब घंटों इस आश्रम में बैठ जाते थे और 'भरण्डु' से ज्ञान तथा समाधि की शिक्षा लेते थे। 'आराद कालाम' के दर्शन का ज्ञान भी इन्होंने थोड़ा-बहुत यहीं प्राप्त कर लिया था[५]। उस 'आराद कालाम' का मूल आश्रम बिहार-प्रदेश में ही था।

भगवान् बुद्ध के जीवन-चरित के प्रसिद्ध ग्रंथ 'ललित-विस्तर' के अनुसार 'आराद

---

१. टिप्पणी—उपर्युक्त बातें मैंने बौद्धधर्म-सम्बन्धी पालि-ग्रन्थ 'दीघ निकाय' और 'मज्झिम निकाय' के आधार पर लिखी हैं, जिनके उल्लेखों से सिद्ध होता है कि तीर्थंकर महावीर बुद्ध से बड़े थे और वे उनसे पहले निर्वाण को प्राप्त हुए। पर जैन-ग्रन्थ तथा उसके विद्वान् इस बात को नहीं मानते हैं। उनके कथनानुसार तीर्थंकर महावीर बुद्ध के परिनिर्वाण के १४ वर्ष ५ महीना १५ दिन बाद निर्वाण को प्राप्त हुए और महावीर भगवान् बुद्ध से २२ वर्ष छोटे भी थे। इस पर विस्तृत और शोधपूर्ण विवेचन 'मुनि कल्याणविजय' ने 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' (काशी) के भाग १०, अंक ४ (संवत १९८६) में किया है।

२. बौद्धधर्म-दर्शन—पृ० ४

३. मज्झिम निकाय—२, ४, ५

४. अंगुत्तर निकाय—३, १, ३, ४

५. भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कोसम्बी)—पृ० ६३

कालाम' और 'उद्दक रामपुत्त' का आश्रम वैशाली के आस-पास विद्यमान था। बौद्ध-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् महापण्डित 'राहुल सांकृत्यायन' ने अपनी 'बुद्धचर्या' नामक पुस्तक में इनका आश्रम बुद्धगया और राजगीर के मध्य में बतलाया है। किन्तु 'धर्मानन्द कौसम्बी' ने इनका आश्रम कोसल-प्रदेश में माना है[1]। 'अंगुत्तर निकाय' में कालाम नामक क्षत्रियों के नगर का नाम 'केसपुत्त' निगम लिखा है[2]। धर्मानन्द कोसम्बी आराद का आश्रम 'केसपुत्त' में ही बतलाते हैं, जिसे वे कोसल प्रदेश में मानते हैं। यदि 'आराद कालाम' का आश्रम 'केसपुत्त' में था (जिसकी संभावना अधिक है), तो यह 'केसपुत्त' कोसल में नहीं था, बल्कि बिहार-प्रदेश के शाहाबाद जिले में था, जिसका नाम आज 'केसठ' है। वस्तुतः 'केसठ' ग्राम 'केसपुत्त' है; क्योंकि आज भी यहाँ प्राचीन क्षत्रियों की विशिष्ट शाखा का निवास है। यहाँ के अतिप्राचीन और सुविस्तृत डीहों, नदी-किनारे के अतिप्राचीन बरगद का वृक्ष और उसके पास एक मंदिर को देखने से इसकी प्राचीनता तथा गौरव अक्षुण्ण दिखाई पड़ते हैं। यह डुमराँव नगर के दक्षिण में अवस्थित है। ज्ञात होता है कि धर्मानन्द कोसम्बी ने जिन प्राचीन ग्रन्थों को देखकर 'केसपुत्त' को कोसल में कहा है, उसका कारण यही हो सकता है कि बुद्ध के पहले यह प्रदेश काशी-राज्य में था, जिसे जीतकर 'कोसल' राजा ने कोसल में मिला लिया था। यही कारण है कि प्रसिद्ध विद्वान् 'होई' ने आरा नगर का प्राचीन नाम 'आराद' कहा है और 'आराद कालाम' का आश्रम 'आरा' में ही बतलाया है[3]। 'आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ् इंडिया' (भाग ३, पृ० ७०) में भी ऐसा उल्लेख है कि एक जैन अभिलेख में आरा का प्राचीन नाम 'आराम' था।

एक बात और विचारणीय है। यदि 'ललित-विस्तर' के अनुसार 'आराद कालाम' का आश्रम वैशाली के पास होता, तो सिद्धार्थ 'कपिलवस्तु' से चलकर चम्पारन होते हुए वैशाली आते। दूसरी बात यह है कि यदि आराद का आश्रम वैशाली के पास होता, तो उस समय सिद्धार्थ अवश्य वैशाली भी जाते और तब उसकी चर्चा भी रहती; क्योंकि वैशाली जैसी नगरी की उपेक्षा वे नहीं कर सकते। किन्तु, हम पढ़ते हैं कि उन्होंने छन्दक के साथ कन्थक पर चढ़कर अचिरावती नदी को पार किया और तब वे कोसल-प्रदेश में पहले गये। वहाँ से सीधे 'आराद कालाम' और तब उद्दक रामपुत्त' के आश्रम से होते हुए राजगीर पहुँचे। इससे निश्चित है कि उन्होंने कोसल से शाहाबाद की भूमि में गंगा को पार किया, और आराद कालाम' तथा 'उद्दक रामपुत्त' के आश्रम में होते हुए राजगीर पहुँचे। इस विषय में पं० राहुल सांकृत्यायन का भी मत ठीक नहीं जँचता है; क्योंकि सिद्धार्थ उक्त दोनों आश्रमों में होकर ही राजगीर गये थे। वैशाली तो वे बुद्धत्व प्राप्त कर लेने के तीसरे वर्ष में गये।

बिहार-प्रदेश सिद्धार्थ गौतम के दीक्षित सिद्धान्त का गुरु तो था ही, इसके अतिरिक्त

१. भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कोसम्बी)—पृ० ११६

२. अंगुत्तर निकाय (तिकनिपातसुत्त—६५)

३. जर्नल एशियाटिक सोसायटी ऑफ् बंगाल—भाग ६६, पृ० ७७

छह शास्ता : उनका सिद्धान्त और प्रभाव

मगध के रमणीय वनों तथा पर्वतीय भू-भागों में अनेक ऋषि-तपस्वी, परिव्राजक, श्रमण, अग्निहोत्री तथा दार्शनिक निवास करते थे, जिनके सम्प्रदायवाले सम्पूर्ण मध्य-प्रदेश में फैले हुए थे। राजगीर नगर स्वयं पर्वत की घाटी में अवस्थित था, जिसके चतुर्दिक्, मगध-राज्य की छत्रच्छाया में, श्रमणों का संघ निर्विघ्न व्रतोपासना में सदा संलग्न रहता था। इनमें छह शास्ताओं का उल्लेख तो हमें बौद्ध-ग्रन्थों में मिलता है, जो छह सम्प्रदाय के थे।

'मज्झिम निकाय' के 'चूल सारोपम सुत्तन्त' में उपर्युक्त छह शास्ताओं[1] की चर्चा देखने को मिलती है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) अजित केशकम्बल, (२) संजय वेलट्ठिपुत्त, (३) पकुध कचायन, (४) पुरण कस्सप, (५) मक्खलि गोसाल और (६) निगंठ नाथपुत्त। इनमें अन्तिम निगंठनाथपुत्त ही जैनधर्म के २४वें तीर्थंकर महावीर हैं। जैनधर्म तो बौद्धधर्म की तरह ही फूला-फला और आज भी इस देश में लाखों व्यक्ति इस धर्म के उपासक हैं। शेष पाँच सम्प्रदायों का आज कहीं पता नहीं है; पर शुंग-काल तक इन दार्शनिकों के सम्प्रदाय पूर्ण विख्यात रहे, ऐसा प्रमाण मिलता है।[2] बुद्ध के काल में ये सभी श्रमण-धर्म के माननेवाले थे और समाज में इनके सिद्धान्तों की पूर्ण प्रतिष्ठा थी।

(१) *अजित केशकम्बल*—उच्छेदवाद तथा जड़वाद के उपासक थे। ये ग्रात्यों में अग्रणी थे। ये तपस्या में लीन होकर वर्षों खड़े ही रह जाते थे। इनके विचार में दान, यज्ञ, तप और होम दम्भार्थियों के कर्म हैं। इन विधि-क्रियाओं के अनुष्ठाताओं में आत्म-शुद्धि का तथ्य कतई नहीं है। इहलोक, परलोक, नरक, स्वर्ग, देवता आदि ढोंगियों की कल्पित वस्तुएँ हैं। इस संसार में अच्छे और बुरे कर्म भी कुछ नहीं होते हैं। कोई भी ज्ञानी, श्रमण या ब्राह्मण ऐसा नहीं, जो इहलोक और परलोक का वास्तविक साक्षात्कार करके कुछ कहे। इसलिए दान और धर्म का वितंडावाद स्वार्थियों ने फैलाया है। मृत्यु के बाद शरीर के चार तत्त्व चार महाभूतों (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु) में मिल जाते हैं। शरीर की इन्द्रियाँ पाँचवें तत्त्व आकाश में विलीन हो जाती हैं। जो लोग आत्मा को सत् और शरीर से भिन्न मानते हैं, वे मिथ्यावादी हैं। मृत्यु के बाद कोई ऐसी चीज नहीं, जो शेष रह जाती हो। सभी तत्त्व नष्ट हो जाते हैं।

यह सम्प्रदाय अग्निहोत्र, वेद, त्रिदंड तथा तपस्या का भी विरोधी था।[3] यह बड़ी तत्परता से वैदिकी हिंसा का विरोध तथा कड़ाई के साथ सदाचार का पालन करता था।

---

१. ये मे भो गोतम समण ब्राह्मणा संघिनो गणिनो गणाचारिया ञाता यसस्सिनो तित्थकरा साधु-सम्मता बहुजनस्स, सेय्यथीदं पुरणो कस्सपो, मक्खलि गोसालो, अजितो केसकम्बलो, पकुधो कच्चायनो, सञ्जयो वेलट्ठपुत्तो, निगंठो नाथपुत्तो। —मज्झिम निकाय १।३।१०

२. मिलिन्द-प्रश्न।

३. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता। —सर्वदर्शनसंग्रह

इसलिए लोक में यह सम्प्रदाय सत्कार एवं सम्मान का पूर्णपात्र था। 'वत्स'-देश का तात्कालिक राजा उदयन इसी सम्प्रदाय का उपासक था[1]। इस सम्प्रदाय के उपासक आत्मवाद के विरोधी नहीं थे। इनका मत था कि पंचमहाभूतों के सम्मिलन के परिणामस्वरूप आत्मा की उत्पत्ति होती है और मृत्यु के बाद महाभूतों में जब सभी तत्त्व विलीन हो जाते हैं, तब स्वतः आत्मा का नाश हो जाता है। ज्ञात होता है, इसी सिद्धान्त के अनुसार विष्णुशर्मा ने अपनी प्रसिद्ध आख्यायिका-पुस्तक 'हितोपदेश' के दो श्लोकों में कहा है कि- यज्ञ, वेदपाठ दान, तप, सत्य, धृति, क्षमा और अलोभ—ये आठ धर्म के मार्ग हैं, जिनमें प्रथम चार का सेवन तो स्वार्थी और दम्भी भी करते हैं, पर अन्तिम चार का सेवन महात्मा ही करते हैं।[2] इन उच्छेदवादियों का सिद्धान्त चार्वाक का मत तो नहीं है, पर चार्वाक-सिद्धान्त के समीप अवश्य है। इन्हीं के दर्शन के सिद्धान्त पर लोकायत, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त की नींव पड़ी थी जिस पर उच्च और सुदृढ़ प्रासाद कौटिल्य ने आगे चलकर तैयार किया।[3] लोकायत शास्त्र का पठन-पाठन बुद्ध के समय में खूब प्रचलित था।

(२) *संजय बेलट्ठिपुत्त*—विक्षेपवादी थे। इनके सिद्धान्त को अनिश्चिततावाद भी कहा जा सकता है। विक्षेपवाद के अनुसार अस्ति और नास्ति किसी का भी समर्थन नहीं होता था। परलोक कहीं दिखाई नहीं पड़ता, इसलिए वह नहीं है, ऐसा ये नहीं कहते थे। परलोक कोई वस्तु है, यह भी ये नहीं कहते थे; क्योंकि वह किसी तरह प्रत्यक्ष नहीं है। इसी तरह अच्छे-बुरे कर्मों का फल होता है या नहीं, मृत्यु के बाद आत्मा रहती है या नहीं, इन सारी बातों में इनका कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं था। इनका विक्षेपवाद जैन-दर्शन के 'स्याद्‌वाद' (स्यादस्ति स्यान्नास्ति) का अनुसरण करता है। ज्ञात होता है, विक्षेपवाद पीछे चलकर जैन-दर्शन में समाहित हो गया। कई विद्वानों की राय में इसी विक्षेपवाद की आधारभूमि पर जैनों के 'स्याद्‌वाद' का गढ़ खड़ा हुआ होगा। इन्हीं संजय के शिष्यों में 'सारिपुत्त' और 'महामौद्‌गल्यायन' थे, जो पीछे चलकर भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्यों में अग्रणी हुए।

(३) *पकुध कच्चायन*—को अन्योन्यवादी कहा गया है। ये अन्योन्यवादी इसलिए कहलाते थे कि किसी एक पदार्थ में न तो शक्ति मानते थे और न उसे ये सुख-दुःख का कर्त्ता मानते थे। किसी एक को ये न तो दोषी मानते थे और न पुण्यात्मा ही। पृथिवी, अप्, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीवन को इन्होंने सप्त पदार्थ माना है। इनका सिद्धान्त 'अकृतता-

१. ललित-विस्तर—अध्याय १

२. इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति॥—हितोपदेश, मित्रलाभ, श्लो० ८-९

३. भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कोसम्बी)—पृ० १८६

वाद' कहलाता है। वैशेषिकों के सात पदार्थों से[1] इनके पदार्थ बिलकुल भिन्न हैं। ये अपने पदार्थों को किसी के बनाये या बनवाये नहीं मानते थे। इनका कहना था कि ये पदार्थ बन्ध्य, कूटस्थ और नगरद्वार के स्तम्भ की तरह अचल हैं। ये परस्पर एक-दूसरे को नहीं सताते, ये एक-दूसरे में सुख-दुःख उत्पन्न करने में भी असमर्थ हैं। इन्हें मारने-मरवाने, सुनने-सुनवाने, जानने या बतलानेवाला भी कोई नहीं है। जो कोई किसी का सर काटता है, वह उसे नहीं मारता[2]। केवल इतना समझना चाहिए कि सात पदार्थों से अलग, उनके अवकाश के बीच, शस्त्र घुस गया है। इन सातों के ऊपर तो शस्त्रघात हो ही नहीं सकता।

'पकुध कच्चायन' (प्रकुध कात्यायन) का सिद्धान्त वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त की उलझन-भरी ग्रन्थि का कँटीला प्रारूप ज्ञात होता है। पूर्वोक्त छह सिद्धान्तों में यह सिद्धान्त निर्बल था और भगवान् बुद्ध के समय में ही प्रायः इस सम्प्रदाय का लोप हो गया था। इस सम्प्रदाय के उपासक यद्यपि व्रत और तपस्या में रत रहते थे, तथापि अपने अस्पष्ट विचारों के चलते, जनप्रिय नहीं हो सके।

(४) *पुरण कस्सप*—अक्रियावादी विचारक थे। ये आत्मा को निष्क्रिय और कर्म को निष्फल मानते थे। ये कहते थे कि यदि कोई गंगा नदी के दक्षिणी किनारे हत्या करे या डाका डाले, तो भी कोई पाप नहीं होगा और यदि कोई उत्तरी किनारे यज्ञ करे या दान दे, तो भी किसी तरह का पुण्य नहीं मिलेगा। इनके विचारानुसार छेदन करने, कराने, पकाने-पकवाने, शोक करने-कराने, प्राण-हरण करने-कराने, सेंध काटने-कटवाने, गाँव लूटने-लुटवाने, बटमारी करने-कराने आदि में पाप नहीं होता। झूठ बोलने और परस्त्री-गमन करने से भी पाप नहीं लगता। ये कहते थे कि प्राणियों के वध करने से यदि पृथिवी पर मांस के टुकड़ों का खलिहान भी लग जाय, तो भी कोई पाप नहीं होगा। इसी तरह, इनके विचारों में दान, दम, संयम और सत्य के आचरण से भी किसी तरह का पुण्य नहीं प्राप्त होता। किन्तु समाधि, व्रत और तपश्चर्या में इनकी भी अतिश्रद्धा थी। ये सांख्य-सिद्धान्त की तरह आत्मा को निष्क्रिय मानते थे, पर पुरुषार्थ का फल नहीं मानते थे। अवन्ती का राजा 'चण्डप्रद्योत' इसी सम्प्रदाय का माननेवाला था[3]।

(५) *मक्खलि गोसाल*—पूर्ण नियतिवादी थे। इनके सिद्धान्तानुसार जीव का अपवित्र तथा पूत होना अहेतुक अथवा निष्कारण है, यानी कोई भी क्लेश कारण-जन्य नहीं है, उसी तरह किसी भी मल की शुद्धि हेतु के द्वारा नहीं होती है। अपने या दूसरे के सामर्थ्य से कुछ नहीं होता या न तो पुरुषार्थ ही कुछ करता है। पुरुष में तो न बल है, न वीर्य है

१. 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः।'—तर्कसंग्रह

२. मिलाइए गीता–२, १९—

"य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥"

३. ललित-विस्तर—अध्या० १

या न कोई दूसरी शक्ति। सर्वभूत और जीव अबल हैं—निर्वीर्य हैं। जीव स्वभावतः सुख-दुःख का भोक्ता है। जिस प्रकार सूत का गोला फेंकने पर जबतक सम्पूर्ण न खुल जाय, तबतक बढ़ता चला जाता है, उसी प्रकार बुद्धिमानों तथा मूर्खों का दुःख इस जीव के चौरासी लाख छियासठ सौ योनियों में चक्कर काट लेने पर ही नष्ट होता है। इनकी धारणा है कि इस भव-सागर में कुछ ऐसी भँवरें हैं, जिन्हें बिना झेले, पार नहीं जाया जा सकता। इनमें ५०५ कर्म, ३ अधिकर्म (मानसिक), ६२ मार्ग, ६२ अन्तर् कल्प, ६ अभिजातियाँ, ८ पुरुष-भूमियाँ, १६०० आजीवक, ६०० परिव्राजक, ४६०० नाग-आवास, २००० इन्द्रियाँ, ३००० नरक, ३६ रजोधातु और सात-सात संज्ञीगर्भ, असंज्ञीगर्भ, निर्ग्रन्थ-ग्रन्थ, देव, मनुष्य, पिशाच, स्वर तथा ७०७ गाँठें, ७०७ प्रपात, ७०७ स्वप्न तथा अस्सी लाख छोटे-बड़े कल्प हैं। मूर्ख या पण्डित इन सबको जानकर अथवा अनुगमन करके ही दुःखों का अन्त कर सकते हैं। इन सबको पार करने के लिए अथवा अन्य सभी बातों के लिए भाग्य ही सब-कुछ है। बौद्धधर्म में इसी के आधार पर नरक की कल्पना की गई और उनके नाम गिनाये गये हैं।

इनके सम्प्रदाय का नाम 'आजीवक' था। ये अक्रियावादी तथा नियतिवादी कहे जाते थे। वेदान्तियों के सर्वव्यापी एकदेव[1] की तरह इनकी नियति ही सर्वसमर्थवती है। भगवान् बुद्ध के समय में मगध-प्रदेश में आजीवकों का बहुत बड़ा अड्डा था और सर्वसाधारण में इनकी बहुत बड़ी प्रतिष्ठा थी। आजीवकों का एक भारी संघ राजगृह के जेतवन के पीछे के भाग में ही रहता था। ये अत्यन्त कठिन तपस्या करते थे। आचार्य नरेन्द्रदेव के लेखानुसार—'ये पंचाग्नि तपते थे, उत्कुटिक (उकड़ू बैठनेवाले) थे और हवा में झूलते रहते थे[2]।" इन आजीवकों के लिए ही अशोक के पोते 'दशरथ' ने गया के पास की 'बराबर' पहाड़ी में कई गुफाएँ बनवाई थीं और उन्हें आजीवकों को दान दे दिया था। भगवान् बुद्ध की जन्म-जन्मान्तरवाली जातक-कहानियों में भी इस सिद्धान्त की गन्ध जान पड़ती है। भगवान् बुद्ध इनकी नियतिवादिता के कारण सभी सम्प्रदायों से इस सम्प्रदाय को हीन मानते थे।

(६) *निग्गंठनाथ* पुत्त—चातुर्याम संवर को मानते थे। २३वें तीर्थङ्कर पार्श्व (नाथ) ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह को चार याम कहा था। २४वें तीर्थङ्कर 'निग्गंठनाथपुत्त' (महावीर) ने इनमें ब्रह्मचर्य को भी जोड़ दिया। इसी प्रकार पार्श्व के शिष्य नग्न रहा करते थे और अचेलक कहलाते थे; पर महावीर के शिष्य वस्त्र धारण करने लग गये थे। महावीर का जैनधर्म केवल नीति-नियमों का आधार-धर्म नहीं है, बल्कि अनेकान्त और स्याद्वाद पर आधारित दर्शन है। फिर भी, भगवान् बुद्ध के समय में चार यामों का ही महत्त्व था[3]। चार यामों

१. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥—श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। ११

२. बौद्धधर्म-दर्शन—पृ० ४

३. 'दीघ निकाय' (१। २) के 'सामञ्ञफलसुत्त' में चतुर्याम की चर्चा मिलती है। उसमें लिखा है कि निग्गंठनाथपुत्त (१) जल का वारण करता है, (२) सभी पापों का वारण करता है,

तथा तपश्चर्या के द्वारा पूर्व जन्म के पाप का निरसन होता है, ऐसा इनका मत है। 'इन चार यामों की जानकारी बौद्धग्रन्थ 'सामञ्ञफलसुत्त' में अपूर्ण है'[1]। इस विचार के अनुसार उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों की पूर्णता भी बौद्धग्रन्थों में नहीं होगी। अन्य साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का यथातथ्य प्रतिपादन निश्चित रूप से बौद्धग्रन्थ नहीं कर सके होंगे, जिनके कारण आज हमें इनमें अनेक त्रुटियाँ नजर आ रही हैं। फिर भी, इनके स्पष्ट सिद्धान्तों को जानने के लिए हमारे सामने कोई दूसरा मार्ग भी नहीं है, जिससे इनके वास्तविक स्रोत तक हम पहुँच सकें।

इन छह शास्ताओं के दार्शनिक सम्प्रदाय मगध की भूमि में यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रतिष्ठित थे। ये ब्राह्मण-धर्म की यज्ञादि विधि-क्रियाओं के विपरीत व्रत, अग्निहोत्र और त्याग-तपस्या की पृष्ठभूमि तैयार किये हुए थे। बिहार में जो ब्राह्मण-विरोधी बौद्धधर्म ने शीघ्र जोर पकड़ लिया, उसका मुख्य कारण था कि उपर्युक्त दार्शनिकों ने पहले से ही वैदिक विधि-क्रियाओं के विरोध में अच्छा वातावरण तैयार कर रखा था। इनके सिद्धान्त भगवान् बुद्ध के बहुत पहले से चले आ रहे थे, और सम्पूर्ण उत्तर-भारत में फैले हुए थे। भारतीय जनता के हृदय में इनकी कितनी गहरी छाप थी, इसका पता हमें इसी बात से मिलता है कि 'साकल' (स्यालकोट) के राजा मिनान्दर ने भी, जो शुंग-काल (ईसा से सिर्फ १५० वर्ष पूर्व) का था, इन सम्प्रदायवालों से मिलकर तर्क किया था। इसका उल्लेख 'मिलिन्द-प्रश्न' में है। इसलिए बौद्धग्रन्थों में जो इन दार्शनिकों के लचर सिद्धान्त मिलते हैं, वे कहाँ तक प्रामाणिक हैं, यह कहना मुश्किल है। क्योंकि, ऐसे लचर सिद्धान्त भारतीयों के हृदय में इतने काल तक अपना असर नहीं छोड़ सकते थे। जो हो, इतना तो निश्चित है कि ये सभी स्वतंत्र विचारक और ब्राह्मणधर्म-विरोधी थे। उस समय मगध में बिम्बिसार की छत्रच्छाया में जो थोड़े-से ब्राह्मण—सोणदण्ड-कूटदन्त आदि—जहाँ-तहाँ यज्ञ-यागादि क्रियाओं में तत्पर थे, और उनका जोर बढ़ रहा था, वे केवल बिम्बिसार-जैसे राजा की उदारता और सर्वधर्मप्रियता के कारण ही। बड़े पैमाने पर प्रभाव तो उपर्युक्त सम्प्रदायवालों का ही था, जो बौद्धधर्म के विकास के लिए पहले से ही वातावरण को पूर्ण अनुकूल बनाये हुए थे, किन्तु इन सबके दार्शनिक सिद्धान्त न तो वैज्ञानिक थे और न दृढ ही, अतः ताश के पत्ते की तरह बिखरनेवाले ही थे।

निगंठनाथपुत्त के अतिरिक्त सभी नास्तिक थे। वैदिक कर्मकाण्ड के तो सभी विरोधी थे। किन्तु, इनमें आजीवक सम्प्रदायवाले अग्निहोत्र-कर्म करते थे। यज्ञविरोधी और नास्तिक होते हुए भी लोक में इनका भारी प्रभाव था। इनके प्रभाव का अंदाज इसी से लगाया जा सकता है कि स्वयं राजगृह के पीछे आजीवकों का एक बड़ा संघ रहता था। उसी राजगृह में विक्षेपवादियों का विद्यालय भी था, जिसमें २५० विद्यार्थी शिक्षा-लाभ

---

(३) सभी पापों के वारण से धुतपाप होता है, (४) सभी पापों के वारण करने में तत्पर रहता है। इन चार प्रकार के संवरों से संवृत निग्गंठ थे।

१. भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कोसम्बी)—पृ० १८४

करते थे तथा इन्हीं विद्यार्थियों में 'सारिपुत्त' और 'महामौद्गल्यायन' भी थे। गयाशीर्ष में काश्यप-बन्धुओं का जो अग्निहोत्र-कर्म चलता था, उसमें सम्पूर्ण मगध और अंग के धनी-मानी प्रचुर सामग्रियों के साथ पैदल जा-जाकर सम्मिलित होते थे[१]। इन सबके मूल में बात यह थी कि ये सब सुख-भोगों से विरत होकर व्रत और तपस्या में लीन रहते थे। ये ऐसी कठिन तपस्या में रत रहते थे कि हवा, पानी, धूप, अग्नि में अपने शरीर को गला-तपा देते थे। किसी तरह का व्यसन तो इन्हें छू नहीं सका था—सांसारिक आवश्यकताएँ इनके लिए नहीं के बराबर थीं। उपकरणों की आवश्यकता इनकी कैसी थी, यह ध्यान देने योग्य है। कोई सन का कपड़ा पहनता था, तो कोई कुश की चटाई धारण करता था। कुछ, मनुष्य के बाल के कम्बल बनाकर अपने शरीर को ढँकते थे। कोई-कोई उलूक-पक्षी के पंखों को गूँथकर वस्त्र बना लेता था और उसे ही कमर में लपेटे रहता था। बहुतेरे काँटों के बिछौने बिछाकर सोते थे। शरीर सुख की लालच न करे, अतः ये अपने माथे के बाल को नोंचते रहते थे। इनका ऐसा विश्वास था कि शरीर को जितना ही ज्यादा कष्ट दिया जायगा, उतना ज्यादा अपनेको विषय-वासनाओं से अलग रखा जा सकता है तथा उतना ही शीघ्र एवं बड़ी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। ये लोक के कल्याण के लिए सर्वदा नये-नये मार्ग ढूँढ़ते थे और जनवर्ग का पथ-प्रदर्शन करते थे। ये राजाओं से आर्थिक सहायता लेना तथा उनके बल पर सम्प्रदाय का विकास करना पाप मानते थे। ये राजनीति के दाँव-पेंच से दूर रहकर धर्म की आराधना में ही नित्य तत्पर रहते थे। इस तरह मगध के इन तपस्वियों की कीर्त्ति लोक में विश्रुत थी, जिससे सिद्धार्थ गौतम अवगत थे।

राजनीतिक स्थिति

'अंगुत्तरनिकाय' और 'ललित-विस्तर' के तीसरे अध्याय में जिन १६ राष्ट्रों की चर्चा मिलती है[२], उनमें अंग तो मगध में ही आ चुका था। काशी, कोसल और मगध में बँटकर, तिरोहित हो गया था। मल्ल-गणतंत्र की कोई बड़ी हस्ती नहीं रह गई थी। वत्स में उदयन और अवन्ती में चण्डप्रद्योत सर्वसत्तात्मक शक्ति लेकर बैठे थे। कुरु-देश की स्थिति बिलकुल नहीं की अवस्था में थी। बौद्धग्रन्थों से इतना ही पता चलता है कि कोई कौरव्य नामक शासक वहाँ था, जिसकी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई थी। चेदि, बाँदा जिले में था। इसकी भी दशा कोई अच्छी नहीं थी। सूरसेन (मथुरा) अवन्ती के अधीन ही हो गया था और वहाँ अवन्तीपुत्र शासक था। पांचाल्य की राजधानी काम्पिल्य थी; पर मत्स्य की राजधानी कहाँ थी, इसका उल्लेख तक नहीं मिलता। हाँ, गन्धार की राजधानी तक्षशिला थी, जो

---

१. 'उरुवेलकस्सपस्स जटिलस्स महायञ्ञो पच्चुपट्टितो होति, केवलकप्पा च अङ्गमगधा पहूतं खादनीयं भोजनीयं आदाय अभिक्कमितुकामा होन्ति।'—महावग्गो १. ३, १, १५

२. यो इमेसं सोलसन्नं महाजनपदानं पहूतसत्तरतनानं इस्सराधिपच्चं रज्जं कारेय्य सेय्यथीदं अंगानं मगधानं कासीनं कोसलानं वज्जीनं मल्लानं चेतीनं वंसान कुरूनं पंचालान मच्छानं सूरसेनानं अस्सकानं अवंतीनं गंधारानं कंबोजानं इति। —ललितविस्तर, अ० ३

शक्ति-सम्पन्न थी। मगर, बिहार से गन्धार और कम्बोज बहुत दूर पश्चिम में थे। अश्मक-प्रदेश बिलकुल दक्षिण-भारत में था, यानी बुद्ध के समय में मगध, वैशाली, कोसल, वत्स और अवन्ती यही राज्य ऐसे थे, जो शक्ति-सम्पन्न और कपिलवस्तु से कुछ निकट थे। किन्तु, इनमें भी गणतन्त्रात्मक दृष्टिकोण से वैशाली ही श्रेष्ठ थी और एकतन्त्रात्मक राज्यों में मगध का ही भविष्य उज्ज्वल दिखाई पड़ रहा था।

यह पहले कहा गया है कि सिद्धार्थ गौतम के समय में बिहार-प्रदेश में मुख्यतया दो ही राज्य थे। इनमें एक का नाम 'वज्जिसंघ' था, जिसकी राजधानी वैशाली थी तथा दूसरे का नाम मगध था, जिसकी राजधानी राजगृह में थी। यहाँ कुछ प्राचीन छोटे-छोटे राज्य भी थे, जिनका महत्त्व अधिक नहीं था। इन दो राज्यों में शासन की प्रक्रिया दो थी। वैशाली गण-तंत्रात्मक राज्य था और मगध एकतंत्र सर्वसत्तात्मक। वैशाली के सटे पश्चिम की ओर पावा तथा कुसीनारा नाम के और भी दो गणतंत्रात्मक राज्य थे, जो एक होते हुए भी उस समय दो खंडों में विभक्त थे। किन्तु, इनमें वैशाली ही उस समय पूर्ण सबल एवं सर्वशक्ति-सम्पन्न थी। इन गणतंत्रों की नाजुक परिस्थति के सम्बन्ध में इतना जानना जरूरी है कि इनके पूर्व-उत्तर में हिमालय पहाड़ खड़ा था, और पूर्व-दक्षिण में मगध तथा पश्चिम-उत्तर में कोसल-जैसे एक-तंत्रात्मक राज्य बड़े ही बलवान् हो गये थे। इनके अतिरिक्त अवन्ती और वत्स के राज्य भी एकतंत्रात्मक ही थे और बड़े ही चण्ड थे, यानी चारों ओर से विरोध का बवंडर भयानक रूप में घुमड़ रहा था। फिर भी, इन सब के बीच वैशाली देदीप्यमान शुक्रतारे की तरह चमक रही थी—इसकी प्रतिष्ठा और शान में जरा भी धक्का नहीं लगा था।

वैशाली नगर का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। 'वाल्मीकीय रामायण' में ऐसा उल्लेख मिलता है कि जब राम अपने गुरु विश्वामित्र के साथ 'जनकपुर' जा रहे थे, तब रास्ते में उन्हें 'वैशाली' नगरी मिली थी, जिसका नाम उस समय 'विशाला' था। विशाला नगरी उस समय की सर्वनगरियों में श्रेष्ठ थी। "इसका निर्माण 'इक्ष्वाकु' के पुत्र धर्मात्मा राजा 'विशाल' ने कराया था। विशाल राजा की माता का नाम 'अलम्बुषा' था" —

वज्जि-संघ

इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्रः पुत्रः परमधार्मिकः।
अलम्बुषायामुत्पन्नो विशाल इति विश्रुतः॥
तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरी कृता।

—वा० रा०, बाल०, अ० ४७, श्लो० ११-१२

किन्तु, इस 'विशाला' नगरी को बसानेवाले राजा 'विशाल' को 'विष्णुपुराण' ने 'इक्ष्वाकु' का पुत्र नहीं माना है। इस पुराण के अनुसार इक्ष्वाकु-वंश के ही राजा 'दिष्ट' के पुत्र 'नाभाग' थे, जो वैश्य हो गये थे[1]। इसी 'नाभाग' की २६वीं पीढ़ी में 'तृणबिन्दु' राजा हुए,

१. 'नाभाग' के वैश्य हो जाने का वर्णन 'मार्कण्डेयपुराण' के ११३—११५ अध्यायों में देखिए।

राजा विशाल इसी 'तृणबिन्दु' के पुत्र थे। इसी 'तृणबिन्दु' की पत्नी 'अलम्बुषा' थी, जो एक अप्सरा थी। इसी के गर्भ से 'विशाल' राजा की उत्पत्ति हुई थी।

ततश्चालम्बुषा नाम वराप्सरास्तृणबिन्दुं भेजे तस्यामप्यस्य विशालो जज्ञे यः पुरीं विशालां निर्ममे। —विष्णुपुराण—४, १, ४८-४६

तृणबिन्दोः प्रसादेन सर्वे वैशालिका नृपाः।
दीर्घायुषो महात्मानो वीर्यवन्तोऽतिधार्मिकाः॥

—तत्रैव ४, १, ६१

"'तृणबिन्दु' राजा के प्रसाद से ही वैशाली के सभी राजा दीर्घायु, महात्मा, पराक्रमी और परम धर्मात्मा हुए थे।" वस्तुतः वाल्मीकीय रामायण में भी 'इक्ष्वाकोः पुत्रः' के मानी इक्ष्वाकु-वंश की सन्तान है, इक्ष्वाकु के पुत्र नहीं। राम जब मिथिला जा रहे थे, तब वैशाली में 'सुमति' नामक राजा राज्य करता था।

वैशाली-क्षेत्र के 'कुण्डग्राम' में जन्म लेनेवाले वर्द्धमान (महावीर) का नाम 'वैशालिक' भी था। वर्द्धमान की माता का नाम 'त्रिशला' था। मध्यकालीन जैन टीकाकारों का कहना है कि महावीर की माता का नाम 'विशाला' भी था, इसीलिए ये 'वैशालिक' कहे जाते थे। त्रिशला के पिता का नाम 'चेटक' था। 'चेटक' की दूसरी कन्या यानी 'त्रिशला'की छोटी बहन मगध के सम्राट् बिम्बिसार से ब्याही गई थी, जिससे 'अजातशत्रु' का जन्म हुआ था, इसीलिए 'अजातशत्रु' वैदेही-पुत्र भी कहलाता था। इस नाते अजातशत्रु वर्द्धमान महावीर का मौसेरा भाई था। मगध में महावीर तीर्थंकर के धर्म (जैनधर्म) को प्रश्रय मिलने का, महावीर और बिम्बिसार का ऐसा सम्बन्ध होना भी एक कारण कुछ लोग बतलाते हैं। किन्तु कुछ ग्रंथों के अनुसार अजातशत्रु की माता कोसल के राजा 'प्रसेनजित्' की बहन थी और अजातशत्रु प्रसेनजित् का भानजा था, किन्तु ऐसी बात नहीं है। प्रसेनजित् की कोसलवाली पत्नी से जो पुत्र था, उसका नाम 'जयसेन' था[1]। श्रावस्ती का 'भूमिज' नामक भिक्षु जयसेन का मामा लगता था[2], जो प्रसेनजित् का भाई होता होगा। बिम्बिसार की पटरानियों में एक कोसल की और दूसरी वैशाली की थी, यह तो सर्वविदित है ही।

इस वैशाली की छत्रच्छाया का बहुत-कुछ सहारा सिद्धार्थ गौतम के शाक्य-कुल को प्राप्त था। यद्यपि सिद्धार्थ गौतम के काल में 'कपिलवस्तु' कोसल-राज्य के अधीन जानपद राज्य था[3]; तथापि प्राचीन काल में उसका वैशाली से ही निकट का सम्बन्ध था, जो सिद्धार्थ के समय में भी बहुत-कुछ बना हुआ था। सिद्धार्थ गौतम के समय में वैशाली अपने वैभव-वैपुल्य, शासन-प्रणाली, एकता तथा बड़े-बड़े ज्ञानी-मानी एवं वीरों से भरी-पूरी थी। विनय-ग्रन्थ से पता

१. मज्झिम निकाय—३।३।४
२. मज्झिम निकाय (रा० सां०)—पृ० ५२० टि०
३. सुत्तनिपात (पब्बज्जा सुत्त-२७)—१८-१९

चलता है कि उस काल में वैशाली नगरी तीन भागों में बँटी थी। पहले भाग में ७००० प्रासाद ऐसे थे, जिनके गुम्बद सोने से मढ़े गये थे। नगर के दूसरे भाग में १४००० ऐसे प्रासाद थे, जिनके गुम्बद चाँदी से मढ़े गये थे और तीसरे भाग में तो इक्कीस हजार मकान थे, जिनके गुम्बद ताँबे से मढ़े हुए थे। इन तीनों भागों में क्रमशः उच्चकुल, मध्यकुल और साधारण कुल के लोग रहते थे। इस तरह खास वैशाली नगरी में ४२००० परिवार वास करता था। यदि प्रति परिवार पाँच व्यक्ति का भी माना जाय, तो वैशाली की आबादी उस समय २१०००० (दो लाख दस हजार) थी। 'भद्दसाल जातक' से पता चलता है कि वैशाली में एक ऐसी पुष्करिणी थी[1], जिसका जल केवल राजतिलकोत्सव के अवसर पर अभिषेक के काम में आता था। पुष्करिणी का जल पंछियों तक के लिए भी दुर्लभ था। चारों ओर सोपान और घाट पत्थर के बने थे। सम्पूर्ण पुष्करिणी एक सुदीर्घ प्राचीर के मध्य में अवस्थित थी। पुष्करिणी तमाम लोहे के तारों की जाली से आच्छादित थी, जिससे इसके जल में पक्षी भी चोंच नहीं मार सकते थे। उसके जल की रक्षा के लिए सैनिकों का कड़ा पहरा बैठाया गया था। किन्तु कोसल-राज प्रसेनजित् के सेनापति 'बन्धुल' ने एक बार अपनी पत्नी को इसके जल में स्नान कराया था[2], जिसके लिए मार-काट भी हुई। 'बन्धुल' गोरखपुर या बलिया का निवासी था। तलवार की एक वार से लोहे के स्तम्भ को काट देता था।

कैसी थी, वैशाली की दुर्लभ पुष्करिणी, जिसके जल में स्नान करने की इच्छा श्रावस्ती के सेनापति की पत्नी को हुई और जिसके लिए इतना बड़ा काण्ड मचा! वैशाली के अनेक गौरवों में से यह एक पुष्करिणी भी थी।

वैशाली के सभी सभासद राजा होते थे। इनका महत्त्व इसी से समझा जा सकता है कि भगवान् बुद्ध जब अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में वैशाली गये, तब वज्जि के सभासद उनसे मिलने आये। आते हुए वज्जियों को देखकर भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा—'भिक्षुओ, जिन्होंने तावत् त्रिंशद् देवता नहीं देखे हैं, वे इन वज्जियों को देख लें[3]।'

---

१. सन् १९५८ ई० की जनवरी में 'डॉ० अनन्तसदाशिव अलतेकर' की देखरेख में खुदाई हुई, जिसमें पुष्करिणी के प्राचीर मिले हैं।

२. बन्धुल की पत्नी का नाम 'मल्लिका' था। मल्लिका ने जब गर्भ धारण किया, तब उसने अपनी दोहद-पूर्ति के लिए, अपने पति के आगे, 'वैशाली' की पुष्करिणी में स्नान करने की इच्छा प्रकट की। बन्धुल बहुत बड़ा योद्धा था। उसने तलवार चलाने की शिक्षा 'तक्षशिला' में पाई थी। वह अपनी पत्नी मल्लिका को लेकर 'वैशाली' आया और पुष्करिणी की रक्षा करनेवाले पहरेदारों को मारकर और पुष्करिणी में लगी लोहे की जाली को तलवार से काटकर अपनी पत्नी को स्नान कराया! वैशाली के वीरों ने जब उसका सामना किया, तब वह अनेक को मारकर हँसी-खुशी के साथ अपनी पत्नी को लेकर श्रावस्ती लौट गया।

धम्मपद, अट्ठकथा (४,३)

३. दीघनिकाय (परिनिब्बाणसुत्त)—२, ३, १६

बिहार के इस राज्य के प्रति बुद्धदेव को पूरी ममता थी। अजातशत्रु ने वज्जिसंघ पर चढ़ाई करने के निमित्त भगवान् बुद्ध की सम्मति लेने के लिए उनके पास अपने मंत्री 'वर्षकार' को भेजा था; पर लिच्छिवियों के पक्ष में बुद्ध को जानकर उसने चढ़ाई करने का विचार त्याग दिया। उस अवसर पर बुद्ध ने 'वर्षकार' से कहा था कि 'जबतक वज्जि राज्य-संचालन के लिए एक साथ बैठकर विचार-विनिमय करते रहेंगे, चैत्यों की पूजा और ज्येष्ठों का आदर-सम्मान करते रहेंगे, तबतक उन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता।'

उस समय वैशाली में बड़े-बड़े योद्धा, धर्माचार्य, तपस्वी, दिग्गज विद्वान वास करते थे जिनमें महालि, महानाम, सिंहसेनापति, गोशृंगी, भद्दंकर और सचक-जैसे महान् पुरुष थे। जैनों के २४वें तीर्थंकर महावीर यहीं के वंशज थे। गोशृंगी ने ही 'महावन' और 'शालवन' नामक आश्रम बनवाये थे। 'शालवन' में ही 'कूटागार' शाला थी, जो दोमंजिला थी और भगवान् बुद्ध वैशाली आने पर इसीमें ठहरते थे। उस समय वैशाली सभी प्रकार से गौरवशालिनी थी।

मगध-देश की चर्चा तो वेदों में भी मिलती है। मगध के साथ ही इसे कीकट भी कहते थे। इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में थोड़ी चर्चा पहले की गई है। इतिहासकारों का तो कहना है कि यदि प्राचीनकाल में मगध के इतिहास को सम्पूर्ण भारतवर्ष का इतिहास कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इस मगध-प्रदेश की राजधानी 'राजगृह' थी, जिसे 'गिरिव्रज' भी कहते थे। आजकल इसे 'राजगिर' कहते हैं और यह पटना जिले के 'बिहार' सबडिवीजन में, तथा पटना से लगभग ६० मील पूर्व-दक्षिण कोण में, स्थित है।

मगध

'गिरिव्रज' का इतिहास बहुत पुराना है। 'वाल्मीकीय रामायण' में लिखा है कि इसे राजा 'वसु' ने बसाया था, इसलिए इसका नाम 'वसुमती' नगरी भी है। गिरिव्रज पाँच शैलशिखरों के बीच शोभायमान है। यहाँ सुमागधी नाम की नदी बहती है, जिससे यहाँ के बाशिन्दे मागध कहलाते हैं, जो सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। यह पाँच पर्वतों के बीच में माला की तरह मनोहर लगती है। हे राम! यह 'वसु' महात्मा की वही मागधी है, जो हरे-भरे शस्यों से युक्त खेतोंवाली है—

चक्रे पुरवरं राजा वसुर्नाम गिरिव्रजम्।
एषा वसुमती नाम वसोस्तस्य महात्मनः।
एते शैलवराः पञ्च प्रकाशन्ते समन्ततः॥
सुमागधी नदी रम्या मागधान्विश्रुता यया।
पञ्चानां शैलमुख्यानां मध्ये मालेव शोभते॥
सैषा हि मागधी राम! वसोस्तस्य महात्मनः।
पूर्वाभिचारिता राम! सुक्षेत्रा शस्यमालिनी॥

वाल्मीकीय रामायण, बा० का०, अ० ३२, श्लो० ७—१५

महाभारत-काल में राजगृह का राजा 'बृहद्रथ' था, जो इसी वसु-वंश का था। 'महाभारत' के सभापर्व में राजगृह का अतीव सुन्दर वर्णन मिलता है। इसके अनुसार 'जरासंध' इसी बृहद्रथ का पुत्र था[१]। इसी बृहद्रथ के नाम पर 'बार्हद्रथ' वंश की स्थापना हुई थी। 'जरासंध' प्रबल पराक्रमी राजा हुआ, जिसने कृष्ण को हराकर मथुरा से द्वारका भाग जाने के लिए विवश किया था। इसके राज्य की सीमा 'मथुरा' तक फैली थी। मथुरा का राजा 'कंस' इसका जामाता था। चेदिराज 'शिशुपाल' ने जरासंध का सेनापतित्व स्वीकार कर लिया था[२]। करुष के राजा 'दन्तवक्र' ने तो अधीनता ही स्वीकार कर ली थी। दक्षिण-भारत के प्रायः सभी राजा इसके मित्र बन गये थे और कोसल आदि उत्तर-भारत के राजा इसके डर से दक्षिण-भारत भाग गये थे[३]। इसके समय में मगध सर्वशक्ति-सम्पन्न हो गया था। मगध में एकराट् राज्य की नींव देनेवाला यह प्रथम सम्राट् था।

महाभारत में 'राजगृह' का वर्णन जो कृष्ण ने किया है, वह अत्यन्त मनोरम और पठनीय है। इसमें पंच पर्वतों, गौतम ऋषि, उनके वंश तथा प्रताप और नागों से गिरिव्रज की रक्षा किस तरह होती है आदि का वर्णन है—

एष पार्थ महान् भाति पशुमान्नित्यमम्बुमान्।
निरामयः सुवेश्माढ्यो निवेशो मागधः शुभः॥
वैहारो विपुलः शैलो वराहो वृषभस्तथा।
तथा ऋषिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यकपञ्चमाः॥
एते पञ्च महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः॥
रक्षन्तीवाभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम्।
पुष्पवेष्टितशाखाग्रैर्गन्धवद्भिर्मनोहरैः।
निगूढा इव लोध्राणां वनैः कामिजनप्रियैः॥
शूद्रायां गौतमो यत्र महात्मा संशितव्रतः।
औशीनर्यामजनयत् काक्षीवाद्यान्सुतान् मुनिः॥
गौतमस्य क्षयात्तस्माद्यथासौ तत्र सद्मनि।
भजते मागधं वंशं स नृपाणामनुग्रहः॥
अङ्गवङ्गादयश्चैव राजानः सुमहाबलाः।
गौतमक्षयमभ्येत्य रमन्ते स्म पुरार्जुन॥
वनराजीस्तु पश्येमाः पिप्पलानां मनोरमाः।
लोध्राणां च शुभाः पार्थ गौतमौकः समीपजाः॥

---

१. कृतकाद्युपरिचरो वसुः। बृहद्रथप्रत्यग्रकुशाम्बकुचेलमात्स्यप्रमुखा वसोः पुत्राः सप्त जायन्ते। बृहद्रथाच्चान्यशकलद्वयजन्मा जरया संहितो 'जरासन्ध' नामा।—विष्णुपुराण ४।१९।८२ और ८३

२. राजन् सेनापतिर्जातः शिशुपालः प्रतापवान्।—महा० सभापर्व, अ० १४, श्लोक ११

३. महाभारत, सभापर्व, अ० १४ देखिए।

अर्बुदः शक्रवापी च पन्नगौ शत्रुतापनौ।
स्वस्तिकस्यालयश्चात्र मणिनागस्य चोत्तमः॥
अपरिहार्या मेघानां मागधा मनुना कृताः।
कौशिको मणिमांश्चैव चक्राते चाप्यनुग्रहम्॥

—महाभारत, सभापर्व, अ० २१, श्लो० १-१०

अर्थात्—"हे पार्थ ! यह मगध की राजधानी 'गिरिव्रज' कैसा शोभ रहा है ! अनेक प्रकार के पशुओं से भरा है। यहाँ के जलाशय सर्वदा भरे रहते हैं। यह रोगरहित, बड़े-बड़े महलों से युक्त तथा शुभ है। वैहार, वराह, वृषभ[1], ऋषिगिरि और चैत्यक नाम के प्रशस्त पाँच पर्वत, जिनके ऊपर घने वृक्ष छाया कर रहे हैं, मानों एक साथ मिल-जुलकर गिरिव्रज की रक्षा करते हैं। वृक्षों की शाखाएँ पुष्पों से लदी हैं, जो मन को हरण करनेवाली सुगन्धों से भरी हैं। प्रणयीजन जहाँ सर्वदा विहार करते हैं, ऐसे लोध्र के जंगलों से ये पर्वत घिरे रहते हैं। यहाँ 'गौतम' नाम के महात्मा ने 'उशीनर' राजा की शूद्रा कन्या से काक्षिवान् आदि पुत्रों को जन्म दिया। गौतम के वंशधर होने तथा उनके भवन में पलने के कारण, वे क्षत्रिय कहलाये और मागधवंशी नाम से विख्यात हुए। हे अर्जुन, पुराकाल में अङ्ग, वङ्ग आदि राजा गौतम के आश्रम में आकर सुखपूर्वक वास करते थे। हे अर्जुन, इस वनराजि को तो देखो। ये पीपल और लोध्र के वन जो दिखाई पड़ते हैं, गौतम-आश्रम के पास में ही हैं। यहाँ शत्रुओं को दमन करनेवाले 'अर्बुद' और 'शक्रवापी' नाम के दो सर्पराज रहते हैं। यहीं पर स्वस्तिक और मणिनाग नामक नागों का निवास है। मनु ने इसे ऐसा बनाया है कि कभी यहाँ से मेघ हटते नहीं, बराबर जल-वर्षा करते रहते हैं। कौशिक ऋषि और मणिमान् नामक नाग ने भी इस प्रदेश पर कृपा की है।"

उपर्युक्त पाँच पर्वतों का वर्णन वाल्मीकि ने भी किया है, जिसका उल्लेख हो चुका है। इन पहाड़ों की चर्चा बौद्धग्रन्थों में भी सर्वत्र मिलती है। गौतम ऋषि के वंश की चर्चा विचारणीय है। गिरिव्रज के नागों का उल्लेख भी सब जगह मिलता है। मणिनाग के नाम पर ही आज का 'मनिआर-मठ' वर्त्तमान है। यहाँ की वनपंक्तियों और शस्य-परिपूर्ण खेतों की चर्चा बौद्ध-साहित्य में भी भरी पड़ी है। भगवान् बुद्ध ने 'मगध' के पंक्तिबद्ध खेतों को दिखाते हुए आनन्द से चीवर बनाने को कहा था[2]।

पुराणों के अनुसार ईसा से लगभग ७०० वर्ष पहले राजगृह में 'शिशुनाग' नामक राजा हुआ, जिसके नाम पर शैशुनाग वंश की नींव पड़ी। इसी शिशुनाग की पाँचवीं पीढ़ी

१. इसी पर्वत पर बृहद्रथ ने एक विशाल गैंडा अपने हाथों से मारा था, जिसके चमड़े से दो नगाड़े मढ़वाये थे। वे विशेष अवसर पर ही बजाये जाते थे।—महा०,सभा०, अ० २१

२. दिस्वान आयस्मन्तं आनन्दं आमन्तेसि—पस्ससि नु खो त्वं आनन्द, मगधखेत्तं अच्चिबन्धं, पालिबन्धं, मरियादबन्धं, सिङ्घाटकबन्धं'ति। एवं भन्ते। उस्सहसि त्वं आनन्द, भिक्खूनं एवरूपानि चीवरानि संविदहितुं'ति।—महावग्गो, चीवर खन्धको, दुत्तियं विसाखा, भाणवारं, ६, १

में बिम्बिसार नामक अत्यन्त प्रतापी राजा हुआ, जो भगवान् बुद्ध का समकालीन था। इसने पश्चिम में काशी तक का प्रदेश ले लिया था। पूर्व में सारा अंग और अंगुत्तराप-प्रदेश भी इसके अधीन हो गया था। कोसल के राजा महाकोसल और वैशाली के चेटक ने अपनी-अपनी कन्या इस से ब्याह कर मित्रता स्थापित कर ली थी। बिम्बिसार अत्यन्त उदार था और सभी तरह की धर्म-भावना के प्रति आदर रखता था। यह एकतंत्र राजा होते हुए भी प्रजा के प्रति पूर्ण सहिष्णु था। इसके राज्य में जिस तरह यज्ञादि क्रियाओं के प्रति श्रद्धा थी[1], उसी तरह श्रमणों तथा परिव्राजकों के लिए भी सम्मान था। यह श्रमणों के निर्वाह तथा निवास की समुचित व्यवस्था करता था। इसकी राजधानी के आस-पास ही अनेक सम्प्रदाय के ऋषि-मुनि तथा विभिन्न प्रकार के श्रमण संघ सुखपूर्वक निवास करते थे।[2] इसके अतिरिक्त यह सभी तरह के योग्य व्यक्तियों का समुचित सम्मान करता था। सिद्धार्थ ने जब प्रथम-प्रथम राजगृह में भिक्षापात्र उठाया, बिम्बिसार उस समय सिद्धार्थ गौतम से जाकर स्वयं मिला था। सिद्धार्थ के कुल-गौरव की बात जानकर उसने अपनी सेना में उन्हें एक अच्छा पद देना चाहा था। इसके बाद सिद्धार्थ गौतम जब बुद्धत्व प्राप्त कर फिर राजगृह लौटे, तब बिम्बिसार ने उनका बड़ा भारी सत्कार किया। इसने बुद्धसंघ के निवास के लिए अपना 'वेणुवन' दान में दे दिया था। तपस्वियों और श्रमणों के प्रति बिम्बिसार की ऐसी उदारनीति की कीर्त्ति सर्वत्र विश्रुत थी।

राजगृह प्राचीन काल से ही ऋषि, ज्ञानी और तपस्वियों के निवास के कारण परम-पवित्र स्थान था। महाभारत के उल्लेख से ही हमने देखा कि यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल में ही गौतम ऋषि का आश्रम था। वाल्मीकि-रामायण और महाभारत—दोनों से पता चलता है कि ऋषि विश्वामित्र यहाँ बराबर आते-जाते थे। राजगृह के कौन-कौन स्थान ऋषियों की तपस्या से पूत हो गये थे और भगवान् बुद्ध से पहले यहाँ कितने तपस्वी निवास कर चुके थे, इसकी एक लम्बी तालिका मज्झिम निकाय (३,२,६) के 'इसिगिलिसुत्तंत' में मिलती है। इसमें बुद्ध ने स्वयं अपने पूर्व के ऋषि-मुनियों के नाम गिनाये हैं। इसके अतिरिक्त बुद्धकाल में भी तपस्वी, ऋषि, श्रमण-संघ तथा अनेक सम्प्रदायों का कैसा जमघट वहाँ लगा रहता था, इसकी चर्चा पहले ही कुछ की गई है। इन सारी बातों से मगध की राजधानी राजगृह की विशेषता स्पष्ट है। स्वयं बुद्ध ने आनन्द से कहा था[3]—'राजगृह रमणीय है। गृध्रकूट पर्वत रमणीय है—आनन्द !'

हमने पहले कहा है कि मगध एकतंत्र राज्य था और वज्जिसंघ गणतंत्र था। किन्तु गणतंत्र वज्जिसंघ चारों तरफ से एकतंत्रात्मक राज्यों से घिरा था। उस समय उसकी अवस्था

---

१. सोणदण्डसुत्त (दीघ निकाय)—१,४

२. सकुलुदायिसुत्तंत (मज्झिम निकाय)—२,३,६ और सामञ्ञफल सुत्त (दीघ निकाय)

३. दीघ निकाय २,३ (महापरिनिब्बाणसुत्त)

बत्तीस दाँतों के बीच में जीभ-जैसी थी। एकतंत्रात्मक सत्ता का विकास अपनी उठान पर था। उनमें भी मगध का एकतंत्र, शक्ति और श्रद्धा—दोनों के सम्मिलन से अपने गौरव के चूड़ान्त पर था। ऐसा गौरव कि कुछ काल बाद इसने वैशाली को तो हड़प ही लिया, साथ ही प्रसेनजित् और उसके लड़के विडूडभ के बाद समस्त कोसल को भी अधिकृत कर लिया। किन्तु सिद्धार्थ गौतम के समय बिहार के दोनों राज्य (वैशाली और मगध) क्षत्रिय-कुल के थे। वैशाली-कुल से सिद्धार्थ के कुल का सम्बन्ध तो अच्छा था ही, मगध के राजा बिम्बिसार की श्रद्धामूलक उदारनीति अपने-आप में पूर्ण प्रसिद्ध हो गई थी। एक बात और थी, जो एकतंत्रात्मक राज्य की तरह गणतंत्र में नहीं थी। उस गणतंत्र राज्य के नेताओं से जनता तक की प्रवृत्ति अत्यन्त समालोचनात्मक हो गई थी। वे जहाँ भी बैठते, प्रत्येक बात के लिए तर्क करते और किसी की भी आलोचना करते थे। बुद्धि ने श्रद्धा को बिलकुल अपदस्थ कर दिया था। गणतंत्रात्मक राज्य बड़े-बड़े तपस्वियों की खिल्ली उड़ाते थे और ब्राह्मणों का उन्होंने बिलकुल बहिष्कार कर दिया था। इसका प्रमाण तो हमें 'दीघ निकाय' के 'अम्बट्ठ सुत्त' में मिलता है, जिसमें 'अम्बट्ठ' ने गणतन्त्रात्मक पद्धति को माननेवाले बुद्ध के शाक्य-कुल पर ब्राह्मणों का निरादर करने का दोष लगाया था। अपने इसी तार्किक संस्कार तथा गणतंत्रात्मक स्वभाव के कारण वैशालीवालों ने प्राचीन विनयधरों का विरोध किया और बुद्ध-वचनों की अवहेलना की। फलतः, वैशाली में द्वितीय संगीति हुई और बौद्धधर्म में गहरी दरार पड़ गई।

एकतंत्रात्मक सत्ता में ऐसी बात नहीं थी। उधर कोसल के राजा प्रसेनजित् और इधर मगध के बिम्बिसार—दोनों के यहाँ सभी धर्मों का समादर था। मगध के पूर्वीय भाग चम्पा में 'सोणदण्ड' को और खास 'मगध' में 'कूटदन्त' को हम यज्ञक्रिया में रत देखते हैं। खास राजगृह में हम छह शास्ताओं के संघ का उल्लेख पाते हैं, जिनमें तीर्थंकर महावीर भी सम्मिलित थे। इनके अतिरिक्त गया-शीर्ष में अग्निहोत्री काश्यप-बन्धुओं को भी हम पाते हैं और अनेक तरह के श्रमण तथा परिव्राजक भी मिलते हैं। इसी तरह कोसल के प्रसेनजित् के राज्य में भी 'जानुश्रोणि', वासिष्ठ आदि ब्राह्मणों के साथ ही 'विशाखा' की कहानी में जैनों की पूरी धाक देखते हैं। बुद्ध के प्रति स्वयं प्रसेनजित् और अनाथपिण्डक की श्रद्धा की बात तो पूछना ही बेकार है। धर्म के प्रति एकतन्त्रात्मक राज्य के सर्वसत्तासम्पन्न सम्राट् बिम्बिसार की कैसी अभिरुचि थी, इसका एक ज्वलन्त प्रमाण 'महावग्ग' में मिलता है। भगवान् बुद्ध जब बुद्धत्व प्राप्त कर दूसरी बार राजगृह आये, तब बिम्बिसार ने बुद्ध से जो कुछ कहा, उससे बिहार-प्रदेश के राजा होने के नाते 'बिहार' के गौरव में चार चाँद लग जाते हैं। बिम्बिसार ने कहा था—

"पुब्बे मे भन्ते, कुमारस्स सतो एतद'होसि—अहो वत मं रज्जे अभिसिञ्चेय्यु'ति। अयं खो मे भन्ते, पठमो अस्सासको अहोसि, सो मे एतरहि समिद्धो। तस्स च मे विजितं अरहं सम्मासम्बुद्धो ओक्कमेय्या' ति। अयं खो मे भन्ते, दुतियो

अस्सासको अहोसि, सो मे एतरहि समिद्धो। तञ्चाहं भगवन्तं पयिरुपासेय्यं'ति। अयं खो मे भन्ते, ततियो अस्सासको अहोसि, सो मे एतरहि समिद्धो। सो च मे भगवा धम्मं देसेय्या'ति। अयं खो मे भन्ते, चतुत्थो अस्सासको अहोसि, सो मे एतरहि समिद्धो। तस्स चा'हं भगवतो धम्मं आजानेय्यं'ति। अयं खो मे भन्ते, पञ्चमो अस्सासको अहोसि, सो मे एतरहि समिद्धो। पुब्बे मे भन्ते, कुमारस्स सतो इमे पञ्च अस्सासको अहेसुं, ते मे एतरहि समिद्धा।" —महावग्गो १, ४, १, ८

अर्थात् "हे भगवन्! कुमार अवस्था में मेरी पाँच अभिलाषाएँ थीं, जो अब सब पूरी हो गईं। कुमार अवस्था में सोचता था, यदि मेरा अभिषेक हो जाता, तो कितना अच्छा होता, वह अभिलाषा पूरी हो गई। मेरे मन में दूसरी अभिलाषा थी कि मेरे राज्य में यथार्थ बुद्ध आते, सो भी पूरी हो गई। तीसरी अभिलाषा थी कि बुद्ध के आने पर मैं उनकी सेवा करता, आपकी कृपा से वह अभिलाषा भी पूरी हुई। चौथी अभिलाषा थी कि भगवान् मुझे धर्म का उपदेश करते, वह भी पूरी हुई। पाँचवीं मेरी अभिलाषा थी कि मैं भगवान् बुद्ध को जान पाता, सो अब वह भी पूरी हो गई। आश्चर्य है, हे भगवन्! कि मेरी पाँचों अभिलाषाएँ पूरी हो गईं। अब मेरी कोई अभिलाषा शेष नहीं रही।"

एक सम्राट् की अभिलाषाओं को देखिए और सोचिए कि विहार का वह कैसा सम्राट् था, जिसके मन में ऐसी अभिलाषाएँ उठी थीं। इनमें एक पहली ही अभिलाषा ऐसी है, जो स्वार्थ से भरी है, किन्तु चार अभिलाषाएँ विशुद्ध धर्म-भावना की हैं, जो संसार के अन्य सम्राटों में से बहुत कम को हुई होंगी। इस तरह एकतंत्रात्मक राजा श्रद्धामूलक धर्म-भावना से पूर्ण ओत-प्रोत दिखाई देते थे। इन दो सबल शक्तियों (मगध और कोसल) के सहारे भगवान् बुद्ध ने अपने धर्म का सुव्यवस्थित विस्तार किया। इस एकतंत्र राज्य की महत्ता को सिद्धार्थ ने, प्रव्रज्या ग्रहण करने के पहले ही, आँक लिया था, जिससे प्रथम-प्रथम मगध का पल्ला पकड़ा।

समाज की धार्मिक प्रवृत्ति

यह पहले कहा गया है कि वैदिक काल में तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल में और उसके बाद रामायण तथा महाभारत के समय में भी इस पूर्वीय भाग पर ब्राह्मणवाद का प्रभुत्व कायम नहीं हो सका था। इसका प्रधान कारण यह था कि सर्वदा स्वयं ब्राह्मण इस भाग को हीन बतलाकर इधर आना भी पाप मानते थे। इस भाग में धर्म, ज्ञान और आचार का जितना भी प्रचार हुआ था, उसका अधिकांश श्रेय क्षत्रिय ऋषियों और ज्ञानियों को था। गिरिव्रज के गौतम, सिद्धाश्रम के विश्वामित्र, मिथिला के जनक, अंग के अधिरथ, गया के 'अमूर्त्तरय गय'[१]—सभी-के-सभी क्षत्रिय राजा और ज्ञानी थे। जो ब्राह्मण ऋषि भी आये, क्षत्रियों के प्रभाव से बच नहीं सके। वे किसी-न-किसी तरह क्षत्रियों के सामर्थ्य

१. तस्यां गिरिवरः पुण्यो गयो राजर्षिसत्कृतः। —महा०, वनपर्व, अध्याय ८८, श्लो० ८

में उलझ गये। करुष में 'दीर्घतमा' नामक ऋषि ने 'बलि' राजा की स्त्री 'सुदेष्णा' में अंग, वंग, कलिंग, पुण्ड्र और सुह्म नामक पाँच क्षत्रिय पुत्रों को उत्पन्न किया[१]। 'विभाण्डक' ऋषि का लड़का ऋष्यशृंग था, जिसने कभी नारी-जाति को देखा तक नहीं था, और तपस्या में रत होकर 'वनचर[२]' का जीवन व्यतीत करता था। अंग के राजा 'रोमपाद' ने इसकी तपस्विता से प्रभावित होकर अपनी पोष्यपुत्री 'शान्ता' को देना चाहा। उसने अनेक रूपवती नृत्य-गीतप्रवीण गणिकाओं को भेजकर, जिस तरह भी हो सके, ऋष्यशृंग को मोह-जाल में फँसाकर लाने के लिए कहा[३]। अन्त में 'रोमपाद' को सफलता मिली और ऋष्यशृंग ने उस क्षत्रिय-कन्या से विवाह कर लिया। किन्तु महाभारत-युद्ध के बाद देश में ऐसी क्रान्ति मची कि इस प्रबल आँधी के झोंके से मानव-वर्ग भुस्से की तरह कहीं-का-कहीं उड़ गया। इस विपत्ति-काल में सभी विहित-अविहित स्थान सबके लिए बराबर हो गये और जिसे जहाँ पनाह मिली, वहीं बस गया। यही कारण था कि ईसा-पूर्व छठी सदी में मगध में भी ब्राह्मणों का बसेरा जमने लगा और इस पूर्वीय भाग में भी ब्राह्मण-धर्म अपना पंजा फैलाने लगा। इधर भी यज्ञ-यागादि विधि-क्रियाओं का उदय हुआ। इस भाग में भी ब्राह्मण धीरे-धीरे विद्या और धन—दोनों पर कब्जा करने लग गये थे। किन्तु, 'महाभारत' के युद्ध ने मानव-मात्र के नैतिक स्तर को गिरा दिया था। धन और जीविका के लिए कोई भी वर्ण किसी पेशे के करने में हिचकता नहीं था। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार पेशा अपनाने को लोगों ने पैरों से ठुकरा दिया था। यहाँ तक कि चोरी, डाका, रहजनी, जूआ आदि से भी धन-संग्रह होने लगा था। भूत-प्रेत और जादू-टोने में लोगों की आस्था जम गई थी। स्त्रियों की हालत और भी खराब हो गई थी। व्यभिचार बढ़ गया था। स्त्रियाँ बेची और खरीदी जाती थीं। बौद्धग्रन्थों में इन सारी बातों का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। खासकर जातक-कहानियों में तो इसकी भरपूर चर्चा है।

यही बात यज्ञ-यागादि की कियाओं में भी हुई। अब यज्ञ-यागादि कियाओं में गाय, भेंड़, बाछा-बाछी अनेक तरह के पशु बलि में दिये जाने लगे[४]। इस पूर्वभाग में ब्राह्मणों ने जब यज्ञ-यागादि की किया आरंभ की, तब हिंसा का जोर बहुत बढ़ गया, जो महाभारत-युद्ध के परिणाम-स्वरूप स्वाभाविक था। ब्राह्मण-धर्म के प्रभाव के विस्तार में एक यह बहुत बड़ा रहस्य था कि ब्राह्मण केवल ज्ञान और तपस्या अर्जित करके वे स्वयं मोक्ष के भागी नहीं बनते थे;

---

१. वायुपुराण (उत्तरार्द्ध) —अ०, ४, श्लो० २८

२. ऋष्यशृङ्गो वनचरस्तपःस्वाध्यायसंयुतः। —वाल्मीकीय रामायण, बाल०, सर्ग १०, श्लो० ३

३. गणिकास्तत्र गच्छन्तु रूपवत्यः स्वलङ्कृताः।
प्रलोभ्य विविधोपायैरानेष्यन्तीह सत्कृताः॥—वाल्मीकीय रामा०, बाल०, सर्ग १०, श्लो० ५
महाभारत, वनपर्व, अध्याय ११० भी द्रष्टव्य।

४. दीघ निकाय—१, ५ (कूटदन्त सुत्त)

बल्कि अपनी विधिक्रियाओं के द्वारा जनता को भी मोक्ष के भागी बनाते थे, जिसका असर सम्पूर्ण समाज पर शीघ्र पड़ता था। वे धन पैदा करके स्वयं दान देते थे और दान करने की प्रवृत्ति जगाते थे। इस तरह विद्या और वैभव का दान लेकर और देकर—दोनों तरह से ब्राह्मणवाद का विस्तार करते थे और तुरत समाज पर जादू की तरह छा जाते थे। ये सारी प्रवृत्तियाँ देश के पूर्व-भाग में बढ़ रही थीं, जिनसे क्षत्रियों के उत्कर्ष पर बहुत बड़ा धक्का लगनेवाला था, जिसे वैशाली-कुल के वर्द्धमान और शाक्य-कुल के सिद्धार्थ गौतम ने भाँप लिया था।

सिद्धार्थ गौतम के समय में, इस पूर्वीय भाग में, ब्राह्मणों का जोर बढ़ रहा था, इस का प्रमाण हमें बौद्धग्रन्थों से ही मिलता है। ये ब्राह्मण अब बड़े-बड़े धनवान् तथा विद्वान् हो गये थे। उस काल में इनकी विद्वत्ता और प्रतिष्ठा की धाक इसी से समझी जा सकती है कि स्वयं बुद्धदेव को अपने धर्म-प्रचार के लिए इनका सहारा लेना पड़ा। यद्यपि बुद्ध ब्राह्मणों और ब्राह्मणधर्म के विरोधी थे, तथापि बौद्धधर्म के उन्नयन में ये ब्राह्मण ही अग्रणी हुए, जिनमें सारिपुत्र, महामौद्गल्यायन, महाकाश्यप, रेवत, मोग्गलिपुत्र तिष्य, नागसेन, नागार्जुन, अश्वघोष, असंग, वसुबन्धु, बुद्धघोष आदि प्रमुख थे। देश के इस पूर्वीय भाग में महाशाल और विद्वान् ब्राह्मण किस तरह बढ़ रहे थे, इसके सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थों पर हमें थोड़ा दृष्टिपात करना चाहिए। मज्झिम निकाय (२। ५। ३) के 'अस्सलायनसुत्तन्त' से ज्ञात होता है कि एक समय जब भगवान् बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन में थे, तब वहाँ देश के अनेक भागों से पाँच सौ चुने हुए ब्राह्मणों का जत्था आया था। उसमें 'आश्वलायन' नामक एक ऐसा ब्राह्मण था, जो तीनों वेद, निघंटु, कल्प, इतिहास, काव्य, व्याकरण, लोकायत-शास्त्र, सामुद्रिक आदि अनेक विद्याओं का ज्ञाता था; यद्यपि अभी वह विद्यार्थी था[1]। उसने भगवान् बुद्ध के पास जाकर घोर वाद-विवाद किया। उसी श्रावस्ती में 'जानुश्रोणि' ब्राह्मण था, जो नित्य शाम को श्वेत घोड़ों से जुते रथ पर चढ़कर, राजा की तरह, शान से, हवाखोरी में निकलता था। वह राजा प्रसेनजित् का पुरोहित भी था। इसके अतिरिक्त प्रसेनजित् की पत्नी 'मल्लिका' ने 'प्रोष्ठपाद' नामक ब्राह्मण को अपना निजी बगीचा दान कर दिया था, जिसमें वह नित्यप्रति एक भारी परिषद् के बीच बैठकर अनेक प्रकार की कथाएँ सुनाता था[2]। इस 'पोपाद सुत्त' में जिन कथाओं की तालिका है, उससे प्राचीन कथा-साहित्य पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। फिर 'अम्बट्ठसुत्त'[3] से ब्राह्मणों के वेद-विद्या-ज्ञान का पता हमें अच्छी तरह चलता है। मगध में भी भगवान् बुद्ध जब धर्मचक्र-प्रवर्त्तन करके आये, तब हम देखते हैं कि बिम्बिसार अपने साथ ब्राह्मणों का एक झुण्ड लेकर ही बुद्ध से मिला था[4]। काश्यप-बन्धुओं का जो अग्निहोत्र-कर्म गया में चलता था, वह एक प्रकार की यज्ञक्रिया ही था, जिसमें अंग-मगध के

१. इसी ने 'आश्वलायन गृह्यसूत्र' की रचना की।
२. दीघ निकाय—१, ६ (पोट्ठपाद सुत्त)
३. दीघ निकाय—१, ३
४. महावग्गो—१,३,१,२७

धनी लोग बहगी पर हवन और भोजन की सामग्री लेकर पहुँचते थे[1]। मगध में 'खाणुमत' नाम का ब्राह्मणों का एक प्रसिद्ध ग्राम था, जहाँ 'कूटदन्त' नामक ब्राह्मण यज्ञ कराता था। वह बिम्बिसार से बराबर सहायता पाता था और वह उससे आज्ञा प्राप्तकर उस इलाके का मालिक हो गया था। जिस समय बुद्ध 'खाणुमत' ग्राम में गये थे, कूटदन्त की यज्ञ-क्रिया में बलि-कर्म के लिए १०० बैल, ७०० बछड़े, ७०० बाछियाँ, ७०० बकरियाँ, और ७०० भेड़ें स्थूण-स्तम्भ में बँधी हुई थीं[2]। 'सुत्तनिपात' के 'कसिभारद्वाजसुत्त' में लिखा है कि भगवान् चारिका करते हुए जब दक्षिण-मगध के 'एकनाला' नामक ग्राम में गये, तब वहाँ कृषिभारद्वाज नामक ब्राह्मण कुमारिकाओं का एक बहुत बड़ा उत्सव मना रहा था। वह स्वयं ५०० हलों से खेती करता था[3]। मगध के ही 'महातीर्थ' ग्राम में 'पिप्पली' नाम का ब्राह्मण था, जिसके खजाने में मुहरों के ६० चहबच्चे थे। यह १४ बड़े-बड़े ग्रामों का मालिक था। इसकी गृहस्थी के खेत १२ योजन में फैले थे। इसके शरीर में जो स्नान-चूर्ण लगाये जाते थे, उससे बाहर की नालियाँ भर जाती थीं[4]। यह स्वयं ब्रह्मविद्या और ब्राह्मण-ग्रन्थों का धुरन्धर विद्वान् था। यही 'पिप्पली' पीछे चलकर बुद्ध के प्रधान शिष्यों में 'महाकाश्यप' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बिम्बिसार के राज्य में ही अंगदेश के 'आपण' नामक निगम में हमें 'केणिय' जटिल की कथा मिलती है[5], जो अत्यन्त ब्राह्मण-भक्त था। उसके यहाँ 'सेल' नामक ब्राह्मण था, जो ३०० विद्यार्थियों को लेकर वेद, निघंटु, कल्प, निरुक्त, इतिहास, काव्य, व्याकरण, लोकायतशास्त्र आदि की शिक्षा देता था। केणिय ने जब भगवान् बुद्ध को भोजन के लिए आमंत्रित किया, तब बुद्ध ने व्यङ्ग्य किया कि तुम तो ब्राह्मणों के भक्त हो, मेरे पास १२५० भिक्षु हैं, कैसे आमंत्रित करते हो[6]? इसके अतिरिक्त 'महासकुलदायि' की कथा में भी हम पाते हैं, कि वह परिव्राजक एक बहुत बड़ी परिषद् के साथ राजगृह से कुछ ही दूर पर 'मोर निवाप' में रहता था। वह पाँच सौ विद्यार्थियों को विविध विद्याओं का दान करता था, जिसे भगवान् बुद्ध अपने धर्म में लाना चाहते थे। अन्त में उसकी परिषद् ने उसे बुद्धमत मानने से रोक ही दिया[7]। ब्राह्मणों के प्रभुत्व का इससे भी बड़ा प्रमाण हमें मिलता है कि चम्पा को जीतकर

---

१. महावग्गो—१,३,१,१५

२. दीघ निकाय–१, ५

३. एकं समयं भगवा मगधेसु विहरति दक्खिणागिरिस्मिं एकनालायं ब्राह्मणगामे। तेन खो पन समयेन कसिभारद्वाजस्स ब्राह्मणस्स पञ्चमत्तानि नङ्गलसतानि पयुत्तानि होन्ति वप्पकाले।

—सुत्तनिपात (कसिभारद्वाजसुत्त–४)

४. अंगुत्तर निकाय, अट्ठकथा–१, १, ४

५. सुत्तनिपात (सेलसुत्त)–३३

६. महा खो केणिय भिक्खुसङ्घो अड्ढतेलसानि भिक्खुसतानि, त्वं च खो ब्राह्मणेसु अभिप्पसन्नोति।

—सुत्तनिपात, ३३

७. मज्झिम निकाय–२,३,९

वहाँ अपनी ओर से अधिकार देकर 'सोणदण्ड' नामक ब्राह्मण को बिम्बिसार ने शासन-व्यवस्था के लिए बैठा दिया था। वह यज्ञ-क्रिया और अध्यापन-कार्य के द्वारा ब्राह्मणवाद का जोरों से प्रचार कर रहा था। ब्राह्मण-धर्म इस पूर्वी भाग में बढ़ रहा था, इन सारी बातों से इसकी एक झलक तो हमें मिल ही जाती है।

दान देने की परम्परा जो वैदिक काल से ही चली आ रही थी, वह भगवान् बुद्ध के समय में भी खूब प्रचलित थी। अंग-देश के राजा कर्ण ने दान की महत्ता को आसमान पर चढ़ा दिया था और त्याग को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया था, जिसकी महिमा अंग और मगध में बनी हुई थी। मगध का बिम्बिसार स्वयं दानी था, और ब्राह्मणों, जटिलों, परिव्राजकों को खूब दान तथा सम्मान देकर आदर का पात्र बना हुआ था। यह कहा गया है कि बिम्बिसार की इस उदारता के चलते ही राजगृह के आसपास अनेक सम्प्रदाय के ऋषि-मुनियों की भीड़ लगी रहती थी, जिनके संत मगध के अन्य धनी-मानियों के दिये दान से संघ का संचालन करते थे। उस समय देश के नगरों में बड़े-बड़े धनकुबेर सेठ भी थे, जो दान देने में राजाओं से होड़ लगाते थे। राजा को सदा चिन्ता बनी रहती थी कि कोई श्रेष्ठी हमसे ज्यादा दान देकर यश न अर्जित कर ले। ऐसे ही दानियों में मगध के सुमन, चित्र, विशाख, सिगाल; वैशाली के उग्र गृहपति तथा अंग के 'सोणकोटिविंश' एवं भद्दिया (भागलपुर ज़िला) के 'मेंढक' श्रेष्ठी थे। बौद्धधर्म के विकास में इन श्रेष्ठियों के दान की महत्ता का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। भगवान् बुद्ध के समय में सबसे बड़ा दायक श्रावस्ती का 'अनाथपिण्डक' सेठ था, वह मगध के राजगृह नगर के सेठ का ही बहनोई था[१]। मगध के इन धनी-मानियों के दान से ही अब ब्राह्मणवर्ग ब्राह्मणधर्म को दृढ़ करने पर लगा था, जिसके फलस्वरूप यज्ञादि क्रियाओं का प्रचलन इस भाग में भी हो गया था। भगवान् बुद्ध ने यद्यपि रुपये-पैसे को लेना वर्जित कर दिया था, तथापि बौद्धसंघ के लिए दान देने का विधान तो किया ही था। भगवान् बुद्ध ने संघ की महिमा स्थापित कर ब्राह्मणों को दिये जानेवाले दान को अपनी ओर मोड़ा तथा उपासकों के लिए कहा कि उपासक भिक्खु के लिए विहार, अड्ढयोग, पासाद, हम्मिय, गुहा, परिवेण, कोट्ठक, उपट्ठानसाला, अग्गिसाला, कप्पियकुटि, वच्चकुटि, चंकम, चंकमसाला, उदपान, उदपानसाला, जन्ताघर, जन्ताघरसाला, पोक्खरिणी, मण्डप, आराम और आरामवत्थु का निर्माण करायें[२]। इस तरह छोटे छोटे धनी-मानी भी मगध में दान की विधि और श्रद्धा से पूरित थे, जिन्हें सिद्धार्थ गौतम अच्छी तरह जानते थे।

सिद्धार्थ गौतम एक तरफ जहाँ मगध के ब्राह्मण-क्षत्रियों के ज्ञान, विद्या और दान की महत्ता से अवगत थे वहीं दूसरी ओर वे मगध की अशिक्षित और गरीब जनता की भावना को भी समझते थे। अपनी अविद्या और उच्चवर्ग के सत्संग के अभाव के कारण मगध की गरीब

---

१. चुल्लवग्गो–६, ३, १

२. महावग्गो (वस्सूपनायिकक्खन्धको)—१, २, ३, ३

जनता अपनी सांस्कृतिक भूख को, भूत-प्रेतों की पूजा तथा उत्सवों में, उनके प्रति श्रद्धा के फूल चढ़ाकर, मिटाती थी। ये गरीब लोग इन्हीं विधि-क्रियाओं के द्वारा अपने उद्धार के लिए मार्ग प्रशस्त करते थे, जिसे अपनाकर बुद्ध ने गरीबों के मन में भी अपनापन की भावना को जगाया और बौद्धधर्म को सर्वसाधारण के लिए भी सुलभ बना दिया। ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करनेवाले बुद्ध ने भूत-प्रेत-यक्षादि का जो अस्तित्व स्वीकार किया, वह लोक-भावना की अपेक्षा को ध्यान में रखकर ही किया होगा, यह निश्चित है।

प्राकृतिक दृश्य और तपोयुक्त भूमि

उपर्युक्त सारी बातों के अतिरिक्त बिहार-प्रदेश की प्राकृतिक दृश्यावलियाँ भी कम आह्लादक नहीं थीं और यहाँ की तपोयुक्त भूमि भी पूर्ण हृदयग्राहिणी थी। प्राचीनकाल में विश्वामित्र की तपस्या की भूमि यहीं पाते हैं। महाभारत के अनुसार गौतम ऋषि की तपस्या-भूमि गिरिव्रज ही थी, जिसकी चर्चा पहले ही की गई है। ऋष्यशृंग की तपस्या अंग-प्रदेश के जंगलों में देखते ही हैं। मिथिला में जनक और याज्ञवल्क्य की ज्ञानभूमि की बात हम सभी जानते हैं। बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में 'च्यवनाश्रम' की चर्चा शोणभद्र के पूर्वी किनारे पाते हैं। गया में 'अमूर्त्तरय गय' की यज्ञ-प्रशंसा हम सुनते ही हैं, जहाँ युधिष्ठिर ने आकर चातुर्मास्य यज्ञ किया था। गंगा के उत्तरी भाग में अहल्योद्धार का स्थान और गज-ग्राह के युद्ध का स्थल भी हमें मिलते हैं। नागों की सिद्धि के पवित्र स्थल भी बिहार-प्रदेश के दक्षिणी जंगलों में दर्शनीय हैं। इन सम्पूर्ण विषयों के अतिरिक्त मगध के रमणीय पर्वतीय भू-भाग, निर्मल जलवाहिनी नदियाँ, सघन कमलदलों से आच्छादित सरोवर, चित्ताह्लादक उपवन, सुविस्तृत बालुकाराशिमय सरित्-तट, विभिन्न मनःप्रसादक दृश्यावलियाँ आदि सिद्धार्थ गौतम के लिए कम आकर्षक नहीं थे। निरंजना नदी के सम्बन्ध में बुद्ध ने खुद सोचा है—

अनेकसं बोधिसत्त-सतसहस्सानं अभिसम्बुज्झन-दिवसे ओतरित्वा नहानट्ठानं सुप्पतिट्ठित तित्थं नाम अत्थि[1]।

अर्थात्, "सैकड़ों हजार बुद्धों के बुद्धत्व-प्राप्ति के दिन उतरकर नहाने योग्य यह सुप्रतिष्ठित नदी-तीर्थ है।" इसी तरह बुद्धगया की वज्रासन-भूमि के सम्बन्ध में भी उन्होंने कहा है—

पुरत्थिम दिसाभागेपन सब्ब बुद्धानं पल्लङ्कट्ठानं तं नेवच्छम्भति न कम्पति। महासत्तो इदं सब्ब बुद्धानं अविजहित अचलट्ठानं किलेस पञ्जरविद्ध संसनट्ठानन्ति[2]।

अर्थात्, "यह पूर्व दिशा की भूमि सभी बुद्धों के बैठने योग्य स्थान है, इसीलिए यह न हिलती है, न काँपती है। यह सभी बुद्धों से अपरित्यक्त स्थान है। यही सर्व-क्लेशों के विध्वंसन का असली स्थान है।" भगवान् बुद्ध ने 'सुंसुमार गिरि' पर विहार करते समय अवन्ति के राजा चण्डप्रद्योत के पुत्र 'बोधिराजकुमार' से उरुवेला-प्रदेश के तपोयुक्त

१. जातकट्ठ-कथा (अविदूरे निदानं)—५५, पृ० ५२

२. तत्रैव—५६, पृ० ५३

रमणीय भू-भाग की प्रशंसा करते हुए कहा था[1]— "हे राजकुमार ! 'क्या अच्छा है' की खोज करते-करते मैं उरुवेला के सेनानिग्राम में पहुँचा। वहाँ मैंने रमणीय भूमि-भाग, सुन्दर वन-खण्ड, स्वच्छ बहती नदी, श्वेत...सुप्रतिष्ठित, चारों ओर रमणीय गोचर ग्राम देखा। हे राजकुमार, तब मुझे ऐसा हुआ—रमणीय है यह भूमि-भाग। प्रधान इच्छुक कुलपुत्र के लिए यही स्थान उपयुक्त है।" इसलिए हिमालय की उपत्यका की रमणीयता से कम आकर्षक मगध की भूमि नहीं थी, जिससे कहा जाय कि यहाँ सिद्धार्थ नहीं आते।

अन्तिम निष्कर्ष

यहाँ हमने अच्छी तरह देखा कि

(१) बुद्धपूर्व बिहार की सांस्कृतिक आदि स्थितियों में क्षत्रियों की प्रधानता थी, जो शाक्य-कुलपुत्र सिद्धार्थ के लिए अत्यन्त ही अनुकूल जँची।

(२) ब्राह्मणों के द्वारा मगध (कीकट) उपेक्षित और हीन स्थान था तथा किस तरह यहाँ अशुद्ध चित्तवालों से विचारित धर्म फैला था, इसे हमने पहले भली भाँति देखा है। इसलिए, बुद्ध का धर्म यहाँ आसानी से फूल-फल सकता था।

(३) तात्कालिक सांस्कृतिक वातावरण में भी अनेक ऋषि-ज्ञानी, श्रमण-परिव्राजक, गणी, गणाचार्य और संघ विद्यमान थे, जो राजाओं और दानियों के दान से युक्त होकर अपने-अपने धर्म में विचरण कर रहे थे। इनके द्वारा विभिन्न नये-नये क्रान्तिकारी सिद्धान्त यद्यपि ब्राह्मण-धर्म के ऊपर प्रहार कर रहे थे, तथापि ब्राह्मण-धर्म जोर पकड़ता ही जा रहा था। फिर भी, इनके नवीन विचारों ने मगध में ज्ञान, व्रत-तपस्या और उच्छेद-धर्म का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। बिहार-प्रान्त के ऐसे दार्शनिक विचार अनेक सम्प्रदायों में बँटकर दूर-दूर तक फैल गये थे तथा देश के बड़े-बड़े राजकुल इनके अनुयायी बन गये थे। फलस्वरूप, हमने पहले ही देखा है कि 'अजितकेशकम्बल' के उच्छेदवादी सिद्धान्त का पोषक वत्स-देश का तात्कालिक राजा 'उदयन' हो गया था। 'पुरणकस्सप' के अक्रियावाद का समर्थक 'अवन्ती' का राजा प्रद्योतकुल भी था। इसके साथ ही जैनधर्म, जो नित्य वर्द्धनशील था, उसका मुख्य केन्द्र राजगृह और वैशाली—दोनों राजधानियों में था। जैनधर्म का स्रोत यद्यपि मगध में प्रवाहित हुआ था, तथापि उसका प्रवाह सम्पूर्ण मध्यदेश में प्रखर प्रतीत हो रहा था।

(४) इसके अतिरिक्त गणतन्त्रात्मक और राजतन्त्रात्मक—दोनों तरह के राज्य बिहार में थे। मगध का बिम्बिसार अत्यन्त शक्तिशाली राजा होता जा रहा था, जिसका पल्ला पकड़ना धर्म-विस्तार के लिए लाभदायक सिद्ध होता।

(५) समाज में धर्म के प्रति अभिरुचि खूब थी और दान देने की प्रवृत्ति भी मगध में अंगराज 'कर्ण' के समय से ही प्रतिष्ठित थी। इसके सहारे उस समय ब्राह्मण-धर्म

१. मज्झिम निकाय (बोधिराजकुमार सुत्तन्त)—२, ४, ५

क्षत्रियों की उत्कर्ष-भूमि में भी अपनी श्रेष्ठता के पैर फैला रहा था, जिसे उखाड़ फेंकना बुद्ध के लिए आवश्यक था। धर्म-क्रिया में भी ब्राह्मणों की वैदिकी हिंसा ने अति का रूप ले लिया था और विधि-क्रियाओं को अत्यन्त खर्चीली बनाकर एकमात्र राजाओं और श्रेष्ठियों के लिए ही छोड़ रखा था। इस प्रकार, गरीब जनता के लिए मोक्ष का द्वार बन्द-सा हो गया था। इसी हेतु नये-नये क्रान्तिकारी ज्ञान के मार्ग उग आये थे।

इन सभी बातों के लिए उस समय एक ऐसे महापुरुष की तथा एक ऐसे धर्म-सिद्धान्त की आवश्यकता हो गई थी, जो बिहार की गरीब जनता की प्रकृति के अनुकूल प्रमाणित हो। इन सभी तथ्यों ने अपने मनोहर वातावरण में सिद्धार्थ गौतम को अपनी ओर आकृष्ट किया और सिद्धार्थ सम्पूर्ण बन्धन-विच्छेद कर सम्यक्-सम्बोधि के लिए बिहार-प्रदेश की ओर उन्मुख हो पड़े।

दूसरा परिच्छेद

बुद्धत्व की प्राप्ति में योगदान

बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त के आधार-ग्रन्थ

ईसा से ६२३ साल पूर्व जन्म लेनेवाले भगवान् बुद्ध के जीवन-वृत्तान्तों की थोड़ी चर्चा यहाँ करना आवश्यक है, जिससे घटनाओं के तारतम्य का ज्ञान होगा और हमारे प्रतिपाद्य विषय को समझने में सहारा मिलेगा।

बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त के लिए जो हमें पाँच आधार-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वे हैं— (१) महावस्तु, (२) ललित-विस्तर, (३) अभिनिष्क्रमणसूत्र, (४) जातकट्ठ-कथा और (५) बुद्धचरित। इनके अतिरिक्त भी कुछ छिट-पुट साहित्य प्राप्त होते हैं, जिनसे बुद्ध के जीवन पर विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

(१) महावस्तु—महासंघिकों[1] की लोकोत्तरवादी शाखा का 'विनय-पिटक' है। महासंघिक-सम्प्रदाय 'नन्दिवर्द्धन' के समय में वैशाली में होनेवाली द्वितीय संगीति के अवसर पर, थेरवादियों के विरोध में, कायम हुआ था। 'महावस्तु' मिश्रित संस्कृत-भाषा का ग्रन्थ है। इसमें भगवान् बुद्ध का जीवन-चरित, उनके पूर्वजीवन की कहानियों के आधार पर लिखा गया है। जीवन-चरित की जो घटनाएँ इसमें वर्णित हैं, उनमें पारस्परिक तारतम्य का बिलकुल अभाव है। वर्णन अत्यन्त प्राचीन शैली में किया गया है। विद्वानों की राय में इसमें वर्णित ऐतिहासिक तथ्यों में काल्पनिक कथाओं की भरपूर संकरता है।

महावस्तु में वर्णित जीवन-चरित के तीन खण्ड हैं। पहले खण्ड में चार चर्याएँ हैं, जिनमें बुद्ध भगवान् के उपयुक्त जीवन धारण करने के लिए पूर्वजन्मों के संघर्ष का वर्णन है। दूसरे खण्ड में बुद्ध के वास्तविक जीवन-चरित का वर्णन है। बाद के तीसरे खण्ड में महाकाश्यप, सारिपुत्र, महामौद्गल्यायन, शुद्धोदन, महाप्रजापति गौतमी, यशोधरा, राहुल तथा उपालि-सहित शाक्य-युवकों की शिक्षा-कथा कही गई है। अन्त में बिम्बिसार राजा की दीक्षा की कहानी भी दी गई है। आद्योपान्त ग्रन्थ पढ़ जाने पर स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थ में समय-समय पर घटनाएँ और कथाएँ जैसे-तैसे ही जोड़कर ग्रन्थ को विस्तृत किया गया है[2]। किन्तु इस ग्रन्थ की प्राचीनता का दावा अवश्य ही मान्य है।

---

१. बौद्ध सम्प्रदायों के विभेद की तालिका के लिए तीसरा परिच्छेद द्रष्टव्य।

२. बौद्ध-धर्म-दर्शन (आचार्य नरेन्द्रदेव)—पृ० १३१

(२) *ललित-विस्तर*—पूर्ण व्यवस्थित और ललित शैली में लिखा गया जीवन-चरितविषयक हृदय-ग्राह्य ग्रन्थ है। इसमें गद्य-पद्य की गंगा-यमुनी बहाई गई है और वह भी संस्कृत-भाषा में। ग्रन्थ की सुबोध शैली भगवान् बुद्ध के जीवन-चरित के वर्णन की ओर पाठकों को बरबस आकृष्ट करती है। सम्पूर्ण ग्रन्थ कई अध्यायों में विभक्त है, जिस पर संस्कृत-काव्यों की स्पष्ट छाप है।

(३) *अभिनिष्क्रमणसूत्र*—के लेखक 'धर्मगुप्त' हैं। मूल ग्रन्थ तो प्राप्त नहीं है, अतः उसके सम्बन्ध में विशेष कुछ टिप्पणी लिखना उचित नहीं। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में—"डॉ॰ बील ने जो उसका संक्षिप्त अँगरेजी-अनुवाद प्रस्तुत किया है, उससे पता चलता है कि यह ग्रन्थ 'ललित-विस्तर' की कथा पर आधारित है। किन्तु इसका प्रारम्भ 'महावस्तु' के आधार पर होकर अन्त 'ललित-विस्तर' के आधार पर होता है।" इससे पता चलता है कि 'महावस्तु' और 'ललित-विस्तर'—इन दोनों के बाद की रचना 'अभिनिष्क्रमणसूत्र' है और इसकी रचना में उपर्युक्त दोनों पुस्तकों से साहाय्य लिया गया है।

(४) *जातकट्ठ-कथा*—का अपना एक अलग ही ढंग है। इसमें चार बुद्धों की विस्तृत घटनाओं का चित्रण है, जिनके जीवन-काल में ही बोधिसत्त्व ने विभिन्न रूप धारण करके बुद्धत्व के लिए योग्यता अर्जित कर ली थी। यह पुस्तक जातक-कथाओं की भूमिका है और पालि-भाषा में लिपिबद्ध है। यह बुद्धघोष-रचित मानी गई है। किन्तु कोई-कोई इसे सिंहली विद्वान् की कृति मानते हैं[१]। इसमें वर्णित जीवन-चरित में भी अतिरंजना खूब है। कल्पना का रंग काफी गाढ़ा है—देवत्व की कल्पना से कथा भरी-पूरी है।

(५) *बुद्धचरित*—जीवन-चरितविषयक संस्कृत-भाषा का काव्य-ग्रन्थ है। यह 'अश्वघोष' की रचना है। यह उपर्युक्त सभी ग्रन्थों से व्यवस्थित और आकर्षक शैली में लिखित है। इसमें भगवान् बुद्ध के जीवन-चरित के अतिरिक्त किसी भी बाहरी कथा का समावेश नहीं है। इसके व्यवस्थित वर्णनों में बुद्ध एक साधारण मानव से ऊपर उठकर देवत्व का स्थान ग्रहण कर लेते हैं, जो पाठकों को यथार्थता की ओर बड़ी ही आकर्षक शैली में आकृष्ट कर लेता है, अतः बुद्धि-गम्य और हृदय-ग्राह्य है। इसकी शैली में रामायण, महाभारत तथा कालिदास की कृतियों की छाप स्पष्ट है।

उपर्युक्त पाँच आधार-ग्रन्थों के अतिरिक्त भगवान् बुद्ध की जीवन-विषयक घटनाओं की बहुत-कुछ सामग्री हमें पालिग्रन्थों के 'विनय' और 'निकायों' से भी प्राप्त होती है। ऐसी सामग्री में 'महावदान सुत्त', 'अरियपरियेसन सुत्त' और 'महापरिनिब्बाण सुत्त' मुख्य हैं। 'बोधिराजकुमार सुत्तन्त' में भी कुछ सामग्री मिलती है। उसके बाद बुद्ध की जीवन-विषयक कुछ घटनाएँ 'सुत्त निपात', तथा 'महावंस' से भी उपलब्ध हो जाती हैं। यहाँ मैं उन्हीं घटनाओं का उल्लेख करूँगा, जिनका सम्बन्ध मेरे प्रतिपाद्य विषय से है।

---

१. पालि-साहित्य का इतिहास—पृ॰ २८१

जन्म-यौवन-प्रव्रज्या

बिहार-प्रदेश की उत्तर-पश्चिम दिशा में, नेपाल की तराई में, शाक्य-क्षत्रियों का 'कपिलवस्तु' नामक नगर था। आजकल इस स्थान को 'तिलौरा कोट' कहते हैं। यह शाक्य-गणतंत्र पहले तो वज्जिसंघ के अधीन था, पर बाद में कोसल-राज्य के अधीन अर्द्धस्वतंत्र राज्य था। सिद्धार्थ गौतम ने जब प्रव्रज्या ली, तब यह कोसल-राज्य में ही था[1]। कपिलवस्तु में 'शुद्धोदन' नाम के एक समृद्ध कृषकपति रहते थे[2]। उनकी प्रजापति और मायादेवी नाम की दो पत्नियाँ थीं। मायादेवी से एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सिद्धार्थ रखा गया। बाद में चलकर सिद्धार्थ ही बुद्धत्व प्राप्त करके भगवान् बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार सिद्धार्थ का जन्म ईसा से ५६३ वर्ष पूर्व हुआ था। किन्तु नवीन अन्वेषणों के अनुसार सिद्धार्थ का जन्म ईसा से ६२३ वर्ष पूर्व और परिनिर्वाण ५४३ वर्ष ईसा-पूर्व हुआ[3]। किन्तु 'ललित-विस्तर' के १४वें अध्याय में सिद्धार्थ के जन्म-वर्ष के सम्बन्ध में लिखा है—

बुद्धः कपिलवस्तुनगरे कलेश्चतुःशतषडशीत्यधिकद्विसहस्रमितेषु शुक्रवासरे सुरद्विषां सम्मोहनाय साक्षात् विवेकमूर्त्तिः स्वेच्छाविग्रहेण प्रादुर्बभूव।

अर्थात्, बुद्ध २४८६ कलि-संवत् व्यतीत होने पर, शुक्रवार को, देवशत्रुओं को मोहने के लिए, साक्षात् विवेक-मूर्त्ति के रूप में स्वेच्छा-शरीर धारण करके कपिलवस्तु नगर में उत्पन्न हुए। कलि-संवत् के सम्बन्ध में 'शब्द-कल्पद्रुम' (काण्ड २, पृ० ६०-६१) में लिखा है कि कलि-संवत् ६५३ में युधिष्ठिरादि का जन्म हुआ, कलि-संवत् ३०४४ में विक्रमाब्द आरंभ हुआ, कलि-संवत् ३१७६ में शकाब्द प्रारंभ हुआ और कलि-संवत् ३१०१ में खिष्टाब्द का प्रादुर्भाव हुआ। तब यदि हम 'ललित-विस्तर' की उक्ति को मानें, तो सिद्धार्थ का जन्म ईसा से ६१५ वर्ष पूर्व हुआ होगा; किन्तु आधुनिक अन्वेषणों से विद्वानों ने ६२३ वर्ष पूर्व माना है, जिसमें ८ वर्ष का अन्तर पड़ जाता है और इस हिसाब से कलि-संवत् २४७८ होना चाहिए। सच पूछिए, तो इतनी प्राचीन तिथि को निश्चित करने में ८ वर्षों का अन्तर नगण्य-सा है, फिर भी विचारणीय तो है ही।

---

१. हिमालय की तराई में स्थित कोसलदेश में एक जानपद राजा है। वह राजा धन और वीर्य से युक्त ऋजु है, जो सूर्यवंशी है और जिसकी जाति शाक्य है। मैं उसी कुल से प्रव्रजित हुआ हूँ।

—सुत्तनिपात (पव्ज्यासुत्त)—१८-१९

२. सिद्धार्थ के समय में कपिलवस्तु के राजा का नाम 'महानाम' था, जिसकी रखेली से एक कन्या उत्पन्न हुई थी, जिसे शाक्यों ने छल करके कोसलराज प्रसेनजित् से ब्याह दिया था। उसी से उत्पन्न 'विडूडभ' था, जिसने इस अपमान का बदला शाक्यों को समूल नष्ट करके लिया।

—बुद्धचर्या—पृ० ४७६

इससे ज्ञात होता है कि उस समय कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन नहीं थे; बल्कि उस वंश के एक सम्पन्न गृहस्थ थे। —ले०

३. अर्ली हिस्ट्री ऑफ् इंडिया (वी० ए० स्मिथ, ऑक्सफोर्ड, १९२४ ई०)—पृ० ४९-५०

माया देवी पुत्र-प्रसव के लिए अपने मायके जा रही थीं कि रास्ते में ही लुम्बिनी-वन में सिद्धार्थ का जन्म हो गया[1]। इसीलिए, लुम्बनी बौद्धों का तीर्थस्थान है। सिद्धार्थ के जन्म लेने के सात दिन के बाद ही उनकी माता की मृत्यु हो गई। ज्योतिषियों ने उस काल की ग्रहस्थिति देखकर बतलाया—

इमेहि लक्खणेहि समन्नागतो अगारं अज्झावसमानो राजा होति चक्कवत्ती, पब्बजमानो बुद्धो[2]।

अर्थात्, 'ऐसे लक्षणोंवाला यदि गृही हो, तो चक्रवर्त्ती राजा होगा और यदि प्रव्रजित हुआ, तो बुद्ध होगा।' ज्योतिषियों की भविष्यवाणी सुनकर चिन्ताशील शुद्धोदन ने पुत्र की सुख-सुविधा, भोग-विलास और राग-रंग के लिए समुचित प्रबन्ध कर दिया। शुद्धोदन ने अपने श्वशुर-कुल की ही कन्या, परमसुन्दरी यशोधरा से, सिद्धार्थ का विवाह कराया। इतने पर भी सिद्धार्थ का मन वैभव-विलास में नहीं रमा। वे निरन्तर मनुष्यमात्र के क्लेशों के सम्बन्ध में ही सोचते रहते थे। एक दिन भ्रमण के समय उन्होंने क्रमशः एक रोगी, एक जराजीर्ण वृद्ध और मृतक को देखा। उसके बाद उन्होंने एक संन्यासी को भी देखा। वे सोचने लगे—'मनुष्य रोगी होता है, वृद्ध होता है और मर जाता है। इससे तो अच्छा यह संन्यासी ही है, जिसे कोई चिन्ता नहीं, यह संसार के दुःखों से मुक्त है।' इसलिए उनके मन में वैराग्य प्रबल हो उठा। संसार के क्लेशों से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने वैराग्य का ही रास्ता पसन्द किया।

किन्तु, वास्तविक बात यह है कि कपिलवस्तु में 'भरण्डु कालाम' नाम का एक संन्यासी आश्रम बनाकर रहता था[3], जिसके सहवास से ही सिद्धार्थ के मन में वैराग्य की इच्छा उत्पन्न हुई। जिस संन्यासी को देखकर उनके मन में वैराग्य प्रबल हो उठा, वह निश्चित रूप से 'भरण्डु कालाम' ही था। इसके सम्बन्ध में पहले कहा गया है[4] कि उक्त संन्यासी के साथ सिद्धार्थ का कैसा सम्बन्ध था।

सिद्धार्थ ने अपनी २९ वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण किया। इसी बीच उनके एक पुत्ररत्न भी उत्पन्न हो गया था। कहते हैं कि जिस समय सेवक ने सिद्धार्थ के पास आकर कहा कि आप को पुत्र-लाभ हुआ, उस समय सिद्धार्थ के मुँह से निकल पड़ा—'राहु जातो, बन्धनं जातन्ति।' यानी राहु पैदा हुआ, बन्धन पैदा हुआ। शुद्धोदन ने जब सुना कि सिद्धार्थ ने ऐसा कहा है, तब उन्होंने कहा—'ठीक है, मेरे पोते का नाम राहुल ही होगा।' इसीलिए, सिद्धार्थ के पुत्र का नाम राहुल पड़ा। पुत्रोत्पत्ति के बाद सिद्धार्थ सोचने लगे कि मेरा सांसारिक बन्धन और भी कठिन होता जा रहा है,

---

१. अंशावतारों का जन्म मातृ-गर्भ से उत्पन्न नहीं दिखाया जाता है, इसलिए मूर्त्तियों या चित्रों में बुद्ध को मायादेवी की दाहिनी कोख की ओर से फिसलते हुए दिखाया गया है। —ले०

२. जातकट्ठ-कथा (अविदूरे निदानं)—३१, पृ० ४१

३. अंगुत्तर निकाय (अट्ठकथा)—२, ४, ५

४. पृष्ठ १४ देखिए।

जल्दी इसे काट फेंकना चाहिए। बस, एक रात को पत्नी और पुत्र को सोते छोड़कर और सेवक 'छन्दक' के साथ 'कन्थक' घोड़े पर सवार होकर चुपके, संसार का बन्धन काट, वे वैराग्य के लिए निकल पड़े। प्रव्रज्या के समय सिद्धार्थ ने कोसल-देश में आकर 'अनोमा' नदी के किनारे अपने लम्बे-लम्बे बाल काट दिये, ठाट-बाटवाले वस्त्र उतारकर काषाय-वस्त्र धारण कर लिया। सिद्धार्थ गौतम अब भिक्षु सिद्धार्थ हो गये, भिक्षु सिद्धार्थ के सामने सबसे बड़ी समस्या थी—'क्लेशों से छुटकारा पाने के लिए ज्ञान-प्राप्ति।' इस समय सिद्धार्थ की अवस्था २६ वर्ष की थी।

उपर्युक्त घटनाओं के सम्बन्ध में कुछ विचारणीय प्रश्न हैं। ऊपर की घटना में बतलाया गया है कि सिद्धार्थ पत्नी-पुत्र को सोते छोड़कर, छन्दक के साथ कन्थक पर सवार होकर रात में चुपके घर से भाग गये और अनोमा नदी के तट से कन्थक के साथ छन्दक को लौटा दिया। यह घटना 'निदान-कथा', 'ललित-विस्तर' और 'बुद्ध-चरित' में वर्णित है, जो काव्यमय धर्म-ग्रन्थ हैं। किन्तु अपने गृहत्याग के विषय में भगवान् बुद्ध ने तीन-तीन जगहों—'अरियपरियेसन सुत्तन्त', 'महासच्चक सुत्तन्त' तथा 'बोधिराजकुमार सुत्तन्त'—में स्वयं इससे भिन्न प्रकार की घटना का वर्णन किया है। ये तीनों सुत्तन्त बुद्धवाक्य हैं, जिन्हें प्रथम संगीति के अवसर पर 'आनन्द' ने दुहराया था। बुद्ध ने गृहत्याग की घटना का वर्णन इस प्रकार किया है—

सो खो अहं भिक्खवे, अपरेन समयेन दहरो व समानो सुसु कालकेसो भद्रेन योब्बनेन समन्नागतो पठमेन वयसा अकामकानं मातापितुन्नं अस्सुमुखानं रुदन्तानं केसमस्सुं ओहारेत्वा कासावानि वत्थानि अच्छादेत्वा अगारस्मा अनगारियं पब्बजिं[1]।

अर्थात्, "हे भिक्षुओ! समय पाकर, यद्यपि मैं उस समय पूर्ण युवक था, मेरे माथे का एक भी बाल नहीं पका था तथा मेरे माता-पिता संन्यास लेने का आदेश नहीं दे रहे थे, तथापि मैंने उन्हें रोते-कलपते छोड़कर काषाय-वस्त्र धारण कर लिया और माथे के बाल तथा दाढ़ी-मूँछ कटवाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।"

इस वाक्य से पता चलता है कि सिद्धार्थ न तो चुपके रात में भागे या न उन्होंने अनोमा नदी के तीर पर बाल काटकर काषाय-वस्त्र धारण किया। बल्कि माता-पिता के देखते-देखते घर पर ही माथे के बाल और दाढ़ी-मूँछ कटवाकर कषाय-वस्त्र धारण किया, और वहीं संन्यास ग्रहण कर घर से वे निकल पड़े। ज्ञात होता है कि गुप्त रीतिवाली गृहत्याग की पहली कथा की प्रसिद्धि इसलिए अधिक हुई कि उस कथा के आधार-भूत 'निदान-कथा', 'ललित-विस्तर' और 'बुद्ध-चरित' जैसे तीन-तीन हृदय-ग्राह्य और आकर्षक काव्य-ग्रन्थ थे।

कपिलवस्तु में ही सिद्धार्थ ने 'भरण्डु कालाम' से 'आराद कालाम' का नाम सुना था; क्योंकि भरण्डु 'आराद' के मत का ही अनुयायी था। अतः, ज्ञान के पिपासु सिद्धार्थ सच्चे

१. मज्झिम निकाय—२, ४, ५ (बोधिराजकुमार सुत्तन्त)

ज्ञान-लाभ के लिए 'आराद कालाम' के आश्रम में आये। आराद कालाम का आश्रम बिहार-प्रदेश में ही था, जिसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है। आराद कालाम ने जितनी शिक्षा सिद्धार्थ को दी, उसमें अधिकांश शिक्षा सिद्धार्थ ने 'भरण्डु' से पहले ही प्राप्त कर ली थी। जब भिक्षु सिद्धार्थ ने अपने ज्ञान की बात 'आराद कालाम' से कही, तब उसने उन्हें 'आकिंचन्यायतन' समाधि की शिक्षा दी। सिद्धार्थ ने समाधि की इस क्रियापद्धति को भी बहुत शीघ्र ही जान लिया और आगे ज्ञान की शिक्षा माँगी। इस पर 'आराद कालाम' ने कहा—'आवुस, इससे अधिक मैं नहीं जानता'।' तब भिक्षु सिद्धार्थ वहाँ से चलकर 'उद्दकरामपुत्र' के आश्रम में आये। 'आराद कालाम' और 'उद्दकराम पुत्र' एक ही सम्प्रदाय के दार्शनिक थे[2]। अन्तर केवल इतना ही था कि 'आराद कालाम' समाधि के सात सोपानों का उपदेश करते थे और 'उद्दकरामपुत्र' समाधि के आठ सोपानों का। 'उद्दकरामपुत्र' के यहाँ सिद्धार्थ ने जो विशेष शिक्षा प्राप्त की, वह थी—'नैवसंज्ञा-नासंज्ञायतन' नामक समाधि की शिक्षा[3]। किन्तु भिक्षु सिद्धार्थ ने जिस ज्ञान की खोज के लिए अभिनिष्क्रमण किया था, वह इन दोनों जगहों में नहीं मिला और तब वे आगे बढ़े।

आराद कालाम और उद्दकरामपुत्र के आश्रम में

यह पहले कहा गया है कि राजगृह नगर के आस-पास अनेक तपस्वी और दार्शनिक निवास करते थे। उनकी तपस्या और ज्ञान की ख्याति सर्वत्र फैली थी। तप के योग्य उपयुक्त भूमि जानकर भिक्षु सिद्धार्थ राजगृह के पर्वतीय भू-भाग में पधारे। इसके अतिरिक्त जैनधर्म के २४वें तीर्थंकर निगंठनाथपुत्त के धर्म-प्रचार का तो केन्द्रस्थान ही राजगृह का प्रदेश था, जिसे भिक्षु सिद्धार्थ भली भाँति जानते थे। राजगृह के 'जेतवन' के पीछे ही 'मक्खलि गोसाल' सम्प्रदाय का आश्रम था, जिसमें आजीवक लोग विभिन्न प्रकार की कठिन तपस्या करते थे। इन सारी बातों को ध्यान में रखकर ही भिक्षु सिद्धार्थ राजगृह में आये और निश्चित रूप से इन तपस्वियों के बीच कुछ दिन रहकर ध्यान, योग तथा तपस्या करते रहे। यही कारण था कि 'उरुवेला'-प्रदेश में जाकर छह वर्षों तक राजगृहवासी तपस्वियों के द्वारा आचरित कठिन तपस्याओं में वे लीन रहे।

राजगृह में

एक दिन पिंडपात के लिए, जब 'आकीर्णवरलक्षण'[4] वाले भिक्षु सिद्धार्थ, पात्र लेकर मगध की राजधानी राजगृह में निकले[5], तब अपने प्रासाद-कक्ष से मगध के राजा बिम्बिसार ने उन्हें देखा। भिक्षु सिद्धार्थ की प्रभापूर्ण, गंभीर एवं शुभ लक्षणों से युक्त

---

१. मज्झिम निकाय (बोधिराजकुमार सुत्तन्त)—२,४,५
२. बौद्धधर्म-दर्शन—पृ० ६
३. बुद्धचर्या—पृ० ४१४
४. 'सुत्तनिपात' के इस शब्द का अर्थ है—श्रेष्ठ पुरुष के लक्षणों की प्रभा से युक्त।—ले०
५. अगमा राजगहं बुद्धो मगधानं गिरिब्बजं।
पिण्डाय अभिहारेसि आकिण्णवरलक्खणो ॥—सुत्तनिपात-२७,४

आकृति को देखकर राजा अत्यन्त प्रभावित हुआ और उनसे 'पाण्डव गिरि' पर जाकर स्वयं मिला। दो महान् पुरुषों के मिलने पर यथोचित कुशल-मंगल पूछने के बाद राजा बिम्बिसारने सिद्धार्थ से कहा—"आप नवयुवक हैं, प्रथम अवस्थाप्राप्त तरुण हैं। आप रूप तथा प्रभाव से युक्त कुलीन क्षत्रिय-कुल के जान पड़ते हैं। कृपया सच-सच बतावें कि आप किस जाति के हैं?" राजा के इस प्रश्न पर सिद्धार्थ गौतम ने कहा—

उजुं जानपदो राजा, हिमवन्तस्स परसतो।
धनविरियेन सम्पन्नो, कोसलेसु निकेतिनो॥
आदिच्चा नाम गोत्तेन, साकिया नाम जातिया।
तम्हा कुला पब्बजितो (म्हि राज) न कामे अभिपत्थयं॥

—सुत्तनिपात, २७,१८-१९

अर्थात्, "हिमालय के पार्श्वभाग में कोसल-देश है[1], वहाँ धन-वीर्य से सम्पन्न कोमल स्वभाव का जानपद राजा[2] है, जिसका गोत्र आदित्य है और जाति शाक्य है। मैं उसी कुल से प्रव्रजित हुआ हूँ, मुझे किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं है।" सिद्धार्थ की ऐसी उच्च जाति जानकर बिम्बिसार ने उन्हें समझा-बुझाकर अपनी सेना में कोई उच्च पद देना चाहा; पर भिक्षु सिद्धार्थ ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि महाराज! मुझे न वस्तु-कामना है, न भोग की इच्छा है। मैं ज्ञान के लिए प्रव्रजित हुआ हूँ, मैं बुद्ध होऊँगा। इसपर राजा

१. कोसल-देश के निवासी कहने से स्पष्ट पता चलता है कि उस समय शाक्य जाति कोसल-देश के अधीन थी।—ले०

२. 'जानपद' एक ऐसी संस्था थी, जहाँ से कई जनपदों की देख-रेख की व्यवस्था होती थी। हमारा अनुमान है कि यह 'जानपद' आजकल के परगने या थाने की तरह था। भेद केवल यह था कि परगने या थाने के अधिकारी ऊपर से नियुक्त किये जाते थे; पर जानपद-संस्था के सदस्यों का चुनाव होता था और ये सदस्य ही अपने जानपद-मुख्य (अधिकारी) का चुनाव करते थे। भगवान् बुद्ध का निवासस्थान कपिलवस्तु ऐसा ही एक जानपद था और उनके पिता शायद इसी जानपद के कभी मुख्य थे। इस संस्था के सदस्यों को भी जानपद कहा जाता था।—ले०

जानपद के सम्बन्ध में 'म० म० काशीप्रसाद जायसवाल' ने सम्राट् अशोक के गिरनार-शिलालेख के आधार पर एक जगह लिखा है—"बोधगया की यात्रा के उपरान्त अशोक ने जानपद संस्था से अपने नये धर्म के सम्बन्ध में वाद-विवाद किया था।" वे दूसरी जगह लिखते हैं—"जिस प्रकार पौर संस्था राजधानी में दरिद्रों और अनाथों की सेवा करती थी, उसी प्रकार जानपद संस्था भी अपनी सीमा के अन्दर उनकी सेवा करती थी।" फिर तीसरे स्थान पर वे लिखते हैं—"जब राजा अपने मंत्रियों की सभा में राज्य की नीति या मंत्र के सम्बन्ध में वाद-विवाद करता था, तब वे निश्चय राष्ट्र, अर्थात् जानपद के समक्ष उनकी सम्मति के लिए उपस्थित किये जाते थे।" —हिन्दू-राज्यतंत्र; दूसरा खंड [नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी); संवत् १९९१ वि०],

—पृ० १८२,१८६ और १६२

बिम्बिसार ने कहा—'अच्छा महाराज, जाओ! मगर जब बुद्ध हो जाओगे, तब मुझसे भी मिलोगे।' भिक्षु सिद्धार्थ ने उत्तर में कहा—'जरूर मिलूँगा।'

ज्ञात होता है कि राजगृह के पार्श्ववर्त्ती श्रमणों, परिव्राजकों तथा अन्य तपस्वियों के सिद्धान्त तथा तप से भिक्षु सिद्धार्थ सन्तुष्ट नहीं हो सके और महान् ज्ञान की खोज में, अपने पराक्रम का भरोसा कर राजगृह छोड़ 'गया' की ओर चल पड़े।

जिस तरह बिहार-प्रदेश और मगध की राजधानी राजगृह में, गौतम सिद्धार्थ के आने की कारण-रूप तत्कालीन सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि काम

गया क्षेत्र में ही क्यों?

कर रही थी, उसी तरह उनके गया-क्षेत्र में जाने का विशिष्ट कारण यह था कि उस क्षेत्र की भूमि अपनी पवित्रता और महत्ता के लिए परम प्रसिद्ध थी। सिद्धार्थ गौतम के समय तक गया-क्षेत्र की एक-एक इंच भूमि प्राचीन ऋषि-महर्षियों से सेवित होकर यज्ञ-वेदियों और होम-कुण्डों से पूत हो चुकी थी और जिसे सिद्धार्थ ने अपनी तपस्या तथा बुद्धत्व-लाभ द्वारा और भी महिमान्वित किया। इस क्षेत्र के अक्षयवट, महानदी (जिसका नाम सरस्वती भी है और जो आजकल 'मोहना' कहलाती है), ब्रह्मसर, धर्मारण्य और मतंगाश्रम (बोधगया के सामने निरंजना नदी से पूर्व), धेनुतीर्थ (गया-जेल के पास की पहाड़ी), गृद्धवट, उदयगिरि,जहाँ सावित्री के पद-चिह्न हैं, योनिद्वार (ब्रह्मयोनि पर्वत), फल्गु-नदी (निरंजना और मोहना जब मिलकर आगे बढ़ती है, तब वही फल्गु कहलाती है), धमप्रस्थ, ब्रह्मस्थान आदि ऐसे भूमि-भाग हैं, जिनकी पवित्रता और महत्ता प्रायः सभी पुराणों में वर्णित है। पुराणों के अतिरिक्त इन स्थानों की कीर्त्ति-कथा 'महाभारत' के वन-पर्व में भी कही गई है [1], जिसमें हमारा गौरव भरा हुआ है। वहाँ 'ब्रह्मसर' के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह अनेक देवता और ऋषियों से सेवित और कल्याणमय सरोवर है—

शिवं ब्रह्मसरो यत्र सेवितं त्रिदशर्षिभिः।

—महा०, वन०, अध्या० ८८, श्लो० ८

वहीं इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि यदि किसी का एक पुत्र भी 'गया' जाय, तो अपने पूर्व और पश्चात् की दस पीढ़ियों तक के वंश का उद्धार कर देता है। यही कारण था कि सिद्धार्थ गौतम के पितामह भी गया में अपने पितरों के उद्धार के लिए गये थे, जिनके सम्बन्ध में यथास्थान उल्लेख किया जायगा। 'गया के अक्षयवट का मूल कभी किसी काल में नष्ट नहीं होता और जिसकी अक्षयता के गीत सर्वदा ब्राह्मणगण गाता रहता है! इस वृक्ष के पास पितरों के लिए दिये गये अन्न का कभी नाश नहीं होता [2]।' यही कारण था कि गया की पुण्यभूमि की महिमा सुनकर ही युधिष्ठिर भी अपने भाइयों के साथ यहाँ आये। पाण्डव जब गया-क्षेत्र में आये, तब गया-निवासी 'शमठ' नामक ब्राह्मण ने इस

१. महाभारत, वनपर्व, अध्या० ८४, श्लोक ८२ से १०३ तक।
२. यत्रासौ कीर्त्यते विप्रै रक्षय्यकरणो वटः।
यत्र दत्तं पितृभ्योऽन्नं क्षयं न भवति प्रभो!—महा०, वन०, अध्या० ८८, ११

स्थान के 'अमूर्त्तरय गय' नामक राजर्षि की कथा उन्हें सुनाई थी[1]। 'शमठ' ने गय के यज्ञ की प्रशंसा करते हुए कहा—"हे पुरुषोत्तम, गय के यज्ञ में अन्नों के पर्वत लग गये थे, घी के सैकड़ों कुण्ड बन गये थे, दही की नदियाँ बह गई थीं और विविध व्यंजनों की तो बाढ़ आ गई थी। उस यज्ञ में ब्राह्मणों को दक्षिणा देते समय वेदमंत्रों की जो ध्वनि होती थी, वह स्वर्ग-लोक तक गूँजती थी। उस ध्वनि में सभी प्रकार के शब्द विलीन हो गये थे। यज्ञ में उच्चरित पुण्यमय शब्दों से सारी पृथ्वी, सम्पूर्ण दिशाएं और आकाश भर गये थे। हे राजन्! जिस तरह संसार-भर की बालुका-राशि के कणों, आकाश के तारों और बरसते हुए बादलों की धारा-बूँदों की कोई गणना नहीं कर सकता, उसी तरह 'अमूर्त्तरय गय' के यज्ञ में दी जानेवाली दक्षिणा की भी कोई गिनती नहीं बतला सकता—

सिकता वा तथा लोके तथा वा दिवि तारकाः।
यथा वा वर्षतो धाराः असंख्येयाः स्म केनचित्।
तथा गणयितुं शक्याः गय-यज्ञे च दक्षिणाः॥

—महा०, वन०, अध्या० ९५, २०

इतना ही नहीं, उस यज्ञ की कीर्त्ति के आधार पर एक कहावत बन गई थी, जिसे लोग समय-समय पर गाते हैं—

गयस्य यज्ञे के त्वद्य प्राणिनो भोक्तुमीप्सवः।

अर्थात्, संसार का कौन ऐसा प्राणी बच गया है, जो भोजन करना चाहता है, यानी कोई ऐसा नहीं था, जो भोजन कर संतुष्ट न हो गया था। हे राजन्, इतने पर भी यज्ञ में अवशिष्ट अन्नों के पचीस पर्वत शेष रह गये थे—

तत्र भोजनशिष्टस्य पर्वताः पञ्चविंशतिः।

—तत्रैव, अध्या० ९५, २५

गया की ऐसी महिमा जानकर ही पाण्डवों ने वहाँ चार महीने तक वास करके 'चातुर्मास्य' यज्ञ किया था, जिससे इस क्षेत्र की महिमा और बढ़ गई थी। युधिष्ठिर के यज्ञस्थान का ही नाम 'धर्मारण्य' है, ऐसा कहा जाता है।

गया-क्षेत्र में सनातन धर्मराज निवास करते हैं और वहाँ सम्पूर्ण पवित्र नदियाँ प्रकट होती हैं[2]। यहीं ब्रह्म-सरोवर के पास 'अगस्त्य ऋषि' वैवस्वत यम से मिले थे[3]। इसीलिए स्वयं सिद्धार्थ जब बोधिवृक्ष के नीचे वज्रासन पर बैठे, तब उन्होंने भी यही कहा—

महासत्तो इदं सब्बबुद्धानं अविजहितं अचलट्ठानं किलेस पञ्जरविद्धं सनट्ठानन्ति अत्वा।...इमं पल्लंकं भिन्दिस्सामीति।

---

१. महा०, वन०, अध्या० ९५

२. उवास च स्वयं तत्र धर्मराजः सनातनः।
सर्वासां सरितां चैव समुद्भेदो विशाम्पते॥—महा०, वन, ९५, १२

३. अगस्त्यो भगवान् यत्र गतो वैवस्वतं प्रति।—तत्रैव ९५, ११

अर्थात् "सभी बुद्धों (ज्ञानियों) से अपरित्यक्त महासत्त्वमय यह स्थान है, यही दुःख-पंजर-विध्वंसन स्थान है। ऐसा मैं मानता हूँ। ज्ञान प्राप्त किये बिना इस आसन को नहीं छोड़ूँगा।" और, उन्होंने सचमुच इस पवित्र भूमि के प्रसाद से बुद्धत्व प्राप्त कर ही लिया।

हम देखते हैं कि सिद्धार्थ के समय में भी इस क्षेत्र में 'उरुविल्व काश्यप', 'नदी काश्यप' और 'गया काश्यप'—तीन-तीन अग्निहोत्री यज्ञक्रिया में ऐसे दत्तचित्त थे कि जिनकी यज्ञ-कीर्त्ति समस्त अंग और मगध तक फैली थी। स्वयं सिद्धार्थ के पितामह इस पवित्र भूमि में तीर्थ करने आये थे, जिसे सिद्धार्थ ने अवश्य सुना होगा। इन सारी बातों को ध्यान में रखकर ही राजगृह से अतृप्त सिद्धार्थ, तपस्या और ज्ञान-प्राप्ति के लिए, गया-क्षेत्र की ओर उन्मुख हुए थे।

अब सिद्धार्थ भ्रमण करते तथा गया जिले के 'कुर्किहार' नामक स्थान से होते हुए उरुवेला (बोधगया) पहुँचे। उरुवेला के पास ही 'सेनानिग्राम' नामक एक स्थान था।

उरुवेला में

भिक्षु सिद्धार्थ को यह स्थान अपनी तपस्या और समाधि के लिए बहुत ही उपयुक्त प्रतीत हुआ। इस स्थान के प्राकृतिक सौन्दर्य और पवित्रता का बखान बुद्ध ने अपने मुख से किया है। वे कहते हैं—"यह स्थान अनेक रंग-विरंगे वृक्षों और पुष्पों से आच्छादित था। निरंजना नदी की स्वच्छ जलधारा मन्द-मन्द गति से बह रही थी। नदी के दोनों तट-प्रदेश में सुविस्तृत चमकीला बालुकाराशिमय मैदान था। वहाँ मन्द-मन्द बहनेवाला सुखद समीर चित्तप्रसादक था। वह मैदान भ्रमण के लिए आह्लादक था। भिक्षाटन के लिए चारों ओर ग्राम सुलभ थे[1]।"

भिक्षु सिद्धार्थ ने अपनी तपस्या के लिए इसी स्थान को चुना। बिहार-प्रदेश के इस पवित्र स्थान में 'मोहना' और 'निरंजना' नामक नदियों के संगम पर, नदी के पूर्व, मुंडेश्वरी नामक एक छोटा-सा पर्वत है। यहीं सिद्धार्थ ने कई वर्षों तक कठिन और घोर तपस्या की। मुंडेश्वरी-पर्वत के साथ भगवान् बुद्ध का एक प्राचीन ऐतिहासिक सम्बन्ध भी था, जिसका उल्लेख 'बोधगया इतिकथा' नामक पुस्तिका[2] में है। इस ऐतिहासिक कथा के दृश्य बोधगया मंदिर की वेष्टन-वेदिका (रेलिंग) पर भी उत्कीर्ण हैं। वेष्टन-वेदिका की दक्षिण और थोड़ा पूर्व हटकर यह आज भी वर्त्तमान है। इस दृश्य की विवरण-कथा के आधार पर ही उक्त पुस्तिका में निम्नलिखित वर्णन किया गया है जिसका सारांश इस प्रकार है —

'मुंडेश्वरी'-पर्वत का नाम पुराणों में 'मुण्डपृष्ठ' है। आजकल इसे डुंगेश्वरी-पहाड़ भी कहा जाता है। इस पर्वत के साथ सिद्धार्थ के सम्बन्ध के विषय में कहा गया है

---

१. अरियपरियेसन सुत्तन्त (मज्झिम निकाय—१, ३, ६)

२. लेखक—जगन्नाथदास; प्रकाशक—भगवानदास, बोधगया, सन् १९५६ ई०।
भगवानदास के पिता का नाम जगन्नाथदास था। हम बोधगया में भगवानदास से मिले थे। इन्होंने यह पुस्तिका हमें भेंट में दी थी। इनके कथनानुसार सम्राट् अशोक के काल से इनका वंश बोधगया-मन्दिर में गाइड (निर्देशक) का काम करता रहा है। —ले०

कि सिद्धार्थ के पितामह 'अयोधन' जब गया-तीर्थ में आये, तब वे भ्रमणार्थ एक संध्या को घोड़े पर सवार होकर फल्गु नदी को पार करके 'मु`डेश्वरी'-पहाड़ी की उपत्यका में चले गये। वहाँ अकेले में उन्होंने एक आवाज सुनी और एक अद्भुत आकृतिवाली नारी-मूर्त्ति देखी। उसका मुँह तो अश्व-जैसा था; पर सारा शरीर एक सुन्दरी नारी का था। वस्तुतः, वह एक किन्नरी थी। अपनी भाषा में वह कुछ बोल रही थी, जिसे 'अयोधन' समझ नहीं पा रहे थे, किन्तु उसके हाव-भाव से उन्होंने समझा कि वह मेरे साथ रमण करना चाहती है। अयोधन डर से काँपने लगे। उनकी आवाज बन्द हो गई। उन्हें कुछ सूझ नहीं रहा था कि इतने में उन्होंने उस नारी-मूर्त्ति से कुछ मिलती-जुलती एक पुरुष-मूर्त्ति भी देखी, जो कुछ गज की दूरी पर सामने खड़ी थी। उसकी आकृति भी अजीब थी। उसका मुँह तो पुरुष का था, पर सारा शरीर घोड़े के शरीर-जैसा था। इसके पैर भी घोड़े के थे। वह पुरुष-आकृति अपनी भयंकर वाणी से सम्पूर्ण वन्य-प्रदेश को कँपाती-सी बोल रही थी, जिसे अयोधन ने सुना। पर, इस बार भी वे कुछ समझ न सके। उनके शरीर से पसीना छूटने लगा। इतने में 'अयोधन' ने देखा कि पुरुष-मूर्त्ति की आवाज सुनते ही वह नारी-मूर्त्ति जंगल में चली गई और बाद में वह पुरुष भी गायब हो गया। इसके बाद 'अयोधन' वहाँ से लौट आये। बोधगया की वेष्टन-वेदिका पर किन्नरी के साथ 'अयोधन' को दिखाया गया है और दूसरी जगह किन्नर को दिखाया गया है।

उक्त घटना की विशेषता उस समय 'अयोधन' कुछ नहीं समझ सके; किन्तु बाद में उन्हें मालूम हुआ कि मेरे वंश में कोई स्वर्गदेवता जन्म लेगा, जो इस पहाड़ी पर आकर तपस्या करेगा।

'मज्झिम निकाय' के 'सिंहनाद सुत्तन्त' में भगवान् बुद्ध ने मु`डेश्वरी-पर्वत की अपनी कठिन तपस्या के सम्बन्ध में अपने सर्वश्रेष्ठ शिष्य 'सारिपुत्र' से कहा था—"मैं उस कठिन तपश्चर्या में इस तरह रत हुआ की शरीर पर का सारा वस्त्र उतार फेंका। मैं बिलकुल नंगा रहने लगा। लौकिक आचार-विचार सभी त्याग दिये। किसी भी व्यक्ति का निमंत्रण नहीं स्वीकार करता। एक घर से सात घर तक घूम-घूमकर केवल एक-एक ग्रास माँग कर लाता और उसी पर जीवन-निर्वाह करता। पीछे चलकर इसे भी छोड़ दिया और शाक, साँवा, तथा धान खाने लगा। बाद में इसे भी त्यागा और जला हुआ अन्न, रास्ते पर फेंका चमड़ा, गाय का गोबर, बकरियों की मींगी (लेंड़ी) आदि मेरे आहार हो गये। पटुआ, मृगचर्म, टाट, और मनुष्यों के बाल का बना कम्बल मैंने वस्त्र के रूप में स्वीकार किया। मैं दाढ़ी और मूँछ के बालों को हाथों से नोच देता था। उकड़ू बैठकर तपस्या करता तथा काँटों पर सो जाता था। यह सब मेरी तपस्या की ही पद्धति थी। हे सारिपुत्र, मेरी अवस्था ऐसी हो गई कि मैं उठ-बैठ नहीं सकता था। उठने का प्रयास करने पर बार-बार गिर पड़ता था। मेरे मल-मूत्र बिलकुल रुक गये। फिर भी इन सारी कठिन तपस्याओं से कुछ भी लाभ नहीं हुआ।" भिक्षु सिद्धार्थ ज्ञान के भूखे रह ही गये।

उपर्युक्त वर्णनों में भगवान् बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य 'सारिपुत्र' से यही कहा है कि शरीर को व्यर्थ कष्ट देनेवाले ये सारे तप निष्प्रयोजन हैं, इनसे कोई लाभ नहीं होने का। उन्होंने इस वर्णन के द्वारा इस बात की ओर भी इंगित किया है कि राजगृह में इस तरह की तपस्या करनेवाले जितने तपस्वी थे, वे व्यर्थ ही शरीर को कष्ट देते थे। साथ ही इससे यह भी पता चलता है कि यह कठिन तपस्या बुद्ध ने राजगृह के तपस्वियों की देखा-देखी ही की थी, जिससे उन्हें कोई लाभ होता नहीं दिखाई दिया। भिक्षु सिद्धार्थ अन्त में इन सारी तपस्याओं को भंग करके यथावत् मनुष्य की स्थिति में रहने लगे और इसी अवस्था में समाधि साधने लगे।

थोड़े दिनों के बाद ही बिहार-प्रदेश की इस पवित्र भूमि में सिद्धार्थ के साथ दो घटनाएँ ऐसी घटीं, जिनसे सिद्धार्थ को महान् ज्ञान (बुद्धत्व) का लाभ हो गया। इनमें एक घटना तो थी सेनानिग्राम के कृषकपति की कन्या सुजाता का पायस-भोजन-दान और दूसरी घटना थी 'श्रोत्रिय' नामक घसियारे का आठ मुट्ठी तृण-दान। भिक्षु सिद्धार्थ के कठिन तपःकाल में पाँच भिक्षुक इनकी सेवा में इसलिए लगे रहते थे कि सिद्धार्थ अब शीघ्र महाज्ञान प्राप्त कर लेगा और तब हमलोग भी ज्ञान-लाभ कर लेंगे। पर, जब उन्होंने देखा कि सिद्धार्थ ने तपोभंग कर दिया और भिक्षाटन करके अपना जीवन-यापन करने लगा, तब उन्होंने सिद्धार्थ को तपोभ्रष्ट जानकर उनका साथ छोड़ दिया। वे पाँचों भिक्षु तपस्या करने के लिए ऋषिपत्तन मृगदाव (सारनाथ के जंगल) में चले गये। इसी समय सेनानिग्राम के कृषकपति की कन्या 'सुजाता' ने अपनी मनौती उतारने के लिए पायस का निर्माण कराया। सुजाता ने ग्रामदेवता के रूप में अपने ग्राम के पुराने वट-वृक्ष की मनौती मानी थी कि "हे वट-देव! यदि मेरे प्रथम गर्भ से पुत्र पैदा होगा, तो तुम्हें एक लाख के खर्च से एक विशेष प्रकार का पायस तैयार कराके चढ़ाऊँगी[1]।" इस मनौती के अनुसार 'सुजाता' का मनोरथ उस समय तक पूरा हो गया था। उसने अपने बलिकर्म के लिए—"पहले हजार गायों को यष्टिमधु वन में चरवाकर उनका दूध दूसरी पाँच सौ गायों को पिलवाया। फिर, उनका दूध ढाई सौ गायों को, इस तरह एक का दूध दूसरे को पिलाते, सोलह गायों का दूध आठ गायों को पिलवाया। इस प्रकार, दूध का गाढ़ापन, मधुरता और ओज बढ़ाने के लिए उसे क्षीर रूप में परिवर्त्तित किया। उसने वैशाख-पूर्णिमा के प्रातः ही बलिकर्म करने की इच्छा से प्रभात में ही उठकर उन आठ गायों को दुहवाया। बछड़ों ने गायों के थनों में मुँह नहीं लगाया। थनों के पास नवीन बरतनों को लाते ही क्षीर-धारा अपने-आप निकलने लगी। उस आश्चर्य को देख, सुजाता ने अपने ही हाथों दूध को लेकर नवीन बरतन में डाल, अपने ही हाथों से आग जलाकर पायस पकाना आरम्भ किया। उस खीर के पकते समय उसमें

---

१. सचे समजातिकं कुलघरं गन्त्वा पठमगब्भे पुत्तं लभिस्सामि अनुसंवच्छरं ते सतसहस्सपरिच्चागेन बलिकम्मं करिस्सामीति। —जातकट्ठ-कथा, ५४, पृ० ५१

बड़े-बड़े बुलबुले उठकर दक्षिण की ओर संचार करते थे। एक बुलबुला भी बाहर नहीं गिरता था[१]।"

इस प्रकार सुजाता ने जिस दिन पायस तैयार किया, उस दिन वैशाख मास की पूर्णिमा तिथि थी। उस दिन अति प्रभात में ही भिक्षु सिद्धार्थ उसी वट-वृक्ष के नीचे समाधि के लिए आकर बैठे। सुजाता ने बलिकर्म चढ़ाने के पहले अपनी दासी 'पूर्णा' को वट-देव के मूल-भाग को साफ-सुथरा करने के लिए भेजा। पूर्णा जब वट के मूल को साफ करने वहाँ आई, तब वट-मूल में भिक्षु को ध्यानमग्न देखकर वह आश्चर्य में पड़ गई। उसने समझा कि मेरी मालकिन से प्राप्त होनेवाली बलि को लेने के लिए साक्षात् वट-देवता साकार रूप धारण कर बैठे हुए हैं। पूर्णा ने दौड़कर सुजाता को यह समाचार दिया कि आज आपकी बलि लेने के लिए साक्षात् देवता प्रकट हो गये हैं। दासी की बात सुनकर जल्दी-जल्दी सुजाता स्वर्ण-थाल में पायस भरकर सौभाग्यवती कुल-वधू की वेश-भूषा में सखियों के साथ वट-देवता के पास आई और देवता के आगे पायस-थाल रखकर पायस-भोजन के लिए प्रार्थना करने लगी। भिक्षु सिद्धार्थ ने समाधि से अपने मन को हटाकर उसकी प्रार्थना के अनुसार पायस-थाल ग्रहण कर लिया। वे पायस-थाल लेकर निरंजना नदी के तट पर चले गये और वहाँ पूर्वाभिमुख होकर पायस का ४६ ग्रास भोजन किया तथा स्वर्ण-थाल को नदी की धारा में फेंक दिया। कहते हैं कि इस पायस के भोजन करते ही सिद्धार्थ को एक अद्भुत तेज, शक्ति तथा स्फूर्त्ति प्राप्त हुई।

सिद्धार्थ ने सुजाता का पायस-भोजन, ईसा के जन्म-काल से ५८८ वर्ष पहले वैशाख-पूर्णिमा के दिन की प्रथम वेला में किया[२]। तपस्वी सिद्धार्थ ने सेनानिग्राम से चलकर उरुबिल्व में 'श्रोत्रिय' नामक घसियारे से बैठने के लिए उसी दिन की संध्या में आठ मुट्ठी तृण-दान लिया। समाधि के लिए उपयुक्त स्थान को खोजते और तृण लिये, भिक्षु सिद्धार्थ उस संध्या को, बोधि-वृक्ष (पीपल-वृक्ष) के नीचे गये। वे उस स्थान को उचित जानकर 'श्रोत्रिय' घसियारे के दिये तृण को बिछाकर वृक्ष के नीचे बैठ गये। उस समय सिद्धार्थ ने संकल्प किया—"यह सभी बुद्धों से अपरित्यक्त स्थान है। यही दुःख-पंजर के विध्वंसन का स्थान है। चाहे मेरा चर्म, हड्डी, नसें क्यों न शेष रह जायँ, मेरा मांस-रक्त ही क्यों न सूख जाय; पर बिना सम्यक् सम्बोधि प्राप्त किये इस आसन को नहीं छोड़ूँगा।" इसी स्थान को बौद्धग्रन्थों में 'वज्रासन' कहा गया है।

बिहार-प्रदेश के इस पवित्र स्थान के सम्बन्ध में चीनी यात्री 'ह्वेनसांग' ने लिखा है—"यह स्थान विश्व के मध्यभाग में स्थित है। इसका मूलभाग पृथ्वी के मध्य में सोने के एक चक्के से ढँक गया है। सृष्टि के आरम्भ में इसकी रचना भद्रकल्प में होती है। इसे वज्रासन,

१. जातकनिदान-कथा (अनुवादक—भदन्त आनन्द कौसल्यायन) —पृ० ८६

२. इस समय का निर्धारण प्रामाणिक ग्रन्थों में उल्लिखित बुद्ध-जन्म-तिथि, महाभिनिष्क्रमण-तिथि और बुद्धत्व-प्राप्ति-तिथि के अनुसार किया गया है।—ले०

इस हेतु कहते हैं कि यह ध्रुव है, नाश-रहित है और सारी पृथ्वी का भार इस पर है। यदि यह न होता, तो पृथ्वी स्थिर नहीं रह सकती। वज्रासन के अतिरिक्त संसार में दूसरा कोई आधार नहीं है, जो वज्रसमाधिस्थ को धारण कर सके[1]।"

बिहार-प्रदेश के इस वज्रासन की महिमा जातक—४७६ में भी वर्णित है। उसके अनुसार एक बार 'महामौद्गल्यायन' के द्वारा 'बोधगया' से लाया गया बोधि-वृक्ष का बीज, श्रावस्ती में लगाया गया। जब वह बीज वृक्ष-रूप में परिणत हुआ, तब 'आनन्द' ने तथागत बुद्ध से कहा—'भन्ते! आपने बोधिवृक्ष के नीचे जो ध्यान लगाया था, वही ध्यान जनता के हित के लिए इस श्रावस्तीवाले बोधि-वृक्ष के नीचे लगावें।'

तथागत ने आश्चर्य के साथ कहा—'क्या कहता है आनन्द! वही ध्यान लगाकर बैठने पर अन्य कोई भी प्रदेश उस ध्यान का सहन नहीं कर सकेगा।'

इससे बढ़कर वज्रासन की महिमा का वर्णन और क्या हो सकता है, जिसके सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध ने स्वयं ऐसा कहा है।

इसी तरह एक दूसरे प्रसंग में कहा गया है कि एक बार 'चूल कालिंग' का पुत्र, जिसकी राजधानी दन्तपुर (उड़ीसा) में थी, बड़े ठाट-बाट से अपने परिजनों और गुरुजनों के साथ हाथी पर चढ़कर अपने पिता से मिलने जा रहा था। उसका पिता साधु होकर कहीं गंगा के किनारे (काशी से पश्चिम) रहता था। यह रास्ता उड़ीसा से 'बोधगया' होता हुआ 'अवन्ती' की ओर जाता था[2]। इस रास्ते से जब उस राजा का हाथी बोधिमंडप के पास पहुँचा, तब वह लाख प्रयास के बाद भी बोधिमंडप की भूमि से होकर नहीं पार कर सका। वह वहीं रुक गया। अंकुश की मार से भी वह टस-से-मस नहीं हुआ। इसके बाद राजा का 'कलिंग भारद्वाज' नामक पुरोहित, उस स्थान की परीक्षा करने, अपनी सवारी से उतरा। इधर-उधर निरीक्षण करने के बाद उसने देखा कि मंडप के बीच भाग में घास नहीं जमी है और वहाँ चाँदी के तख्ते की तरह चमचमाती बालुका-राशि बिखरी हुई है। उस स्थान के चारों ओर वनस्पतियाँ प्रदक्षिणा करती हुई हाथ जोड़े झुकी हैं। पुरोहित ने तुरत समझ लिया कि यह स्थान सभी बुद्धों से सेवित और क्लेशों का नाश करनेवाला है। हाथी तो क्या, शक्र आदि देवता भी इसके ऊपर से नहीं जा सकते हैं।

पुरोहित ने राजा से हाथ जोड़कर कहा—'महाराज, हाथी से उतरें। यह वह सर्वप्रशंसित भूमिभाग है, जहाँ बैठकर ऋषियों ने प्रकाश प्राप्त किया है। इस मंडप की प्रदक्षिणा करती हुई-सी तृण-लताएँ घेर कर खड़ी हैं। महाराज, हाथी से उतरकर इस

१. सुयेनच्वांग : (जगन्मोहन वर्मा, प्र० सं० १९८० वि०)—पृ० १३०
२. उड़ीसा के दो व्यापारी, जिनका नाम 'तपस्सु' और 'भल्लिक' था, इसी मार्ग से पश्चिम की ओर जा रहे थे, जिनकी भेंट 'उरुविल्व' में बुद्ध से हुई और वे उनके शिष्य हो गये। इसके अतिरिक्त इसी महापथ से 'खारवेल' ने उड़ीसा से चलकर 'गोरथगिरि' (गुरुपादगिरि = गुरुपा पहाड़) होते हुए पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया था।—ले०

भूमि को नमस्कार करें। जो उत्तम वंश के हाथी होंगे, वे इसके ऊपर से कदापि नहीं जा सकेंगे। क्या आपने यह नहीं सुना है कि सर्वभूतों को धारण करनेवाली और सागर-पर्यन्त विस्तृत मेदिनी का यह स्थान, मण्डपस्थान है? अतः राजगज से उतरकर इसके आगे श्रीमान् मस्तक झुकावें।'

इतना सुनकर उस स्थान की परीक्षा लेने के लिए राजा ने फिर हाथी को अंकुश मारना शुरू किया। वह हाथी वज्र-अंकुश की मार खाते-खाते, अन्त में, चिग्घाड़ मारकर वहीं गिर गया और मर गया; पर आगे एक डग नहीं बढ़ा। तब राजा ने उस स्थान की महिमा जानी और उतरकर उसकी अर्चा-पूजा की[1]। अतः अपनी सिद्धि के लिए सिद्धार्थ का, ऐसे महिमामण्डित भूमि-भाग का, चुनाव करना उनकी दूरदर्शिता का परिचायक था।

ऐसे बोधिवृक्ष के नीचे सिद्धार्थ जब आसन जमाकर समाधिस्थ हुए, तब उनके शरीर से मार के लोक को आलोकित करनेवाला आलोकपुंज विकीर्ण होने लगा, जिसकी प्रखर किरणें मार का स्पर्श करने लगीं। उन किरणों के स्पर्शमात्र से मार व्याकुल हो उठा।

मार-युद्ध

उसने तत्काल अपने सेनापतियों का आह्वान किया। मार के स्मरण करते ही भयंकर-भयंकर आकृतिवाले यक्ष, राक्षस, पिशाच, कुमांड और उरग उपस्थित हो गये। मार ने उन्हें समाधिस्थ गौतम को परास्त करके समाधि-भंग कर देने की आज्ञा दी। अपनी सारी सेना को साथ लेकर, सिद्धार्थ गौतम से युद्ध करने के लिए, उनके सामने वह स्वयं उपस्थित हो गया। उसने गौतम के साथ घनघोर युद्ध आरंभ कर दिया, किन्तु गौतम अपनी समाधि में लीन ही रहे, जरा भी विचलित नहीं हुए। मार के सेनापति—हड्डी; पाषाण और भिन्न-भिन्न तरह के शस्त्रास्त्र फेंकने लगे। उनके द्वारा फेंके गये भारी-भारी शिला-खण्ड बोधिवृक्ष की शाखाओं पर झूल जाते, और एक भी गौतम के शरीर का स्पर्श नहीं कर पाता। बल्कि मार और उसके सेनापतियों द्वारा अस्त्र-शस्त्र फूल बनकर गौतम पर बरसने लगे। मार के सारे उपद्रव विफल हो गये। गौतम समाधि में अन्त तक लीन ही रहे। अपने युद्ध के सारे प्रयत्न विफल देखकर मार ने अनेक सुन्दरी अप्सराओं को स्मरण करके बुलाया और गौतम को रिझाकर ध्यान-भंग करने के लिए कहा। वे षोडशी अप्सराएँ अपने नाना विलास-विभ्रमों से गौतम को रिझाने का प्रयास करने लगीं और उन्होंने नृत्य-गीत प्रारम्भ किया। किन्तु उन रूपवती अप्सराओं की भी मधुर स्वर-लहरी, मीठे वाक्य और नृत्य विफल हो गये। अपने नाना विलास-विभ्रमों को व्यर्थ होते देखकर वे अत्यन्त परेशान होने लगीं। उन्हें परेशान देखकर गौतम ने समझाया—'इन्द्रिय-भोगों का दुष्परिणाम और भयंकर होता है। ये सारे सांसारिक सुख क्षणिक हैं और ये ही सुख बार-बार जन्म धारण करने और दुःख भोगने के कारण हैं।'

अन्त में वे अप्सराएँ अपनी गलती स्वीकार कर, गौतम का अभिवादन कर लौट

१. कालिंगबोधि जातक—४७९

गई। मार भी हारकर सिद्धार्थ गौतम के चरणों पर गिरता हुआ क्षमा-प्रार्थी हुआ। तभी से भगवान् बुद्ध का नाम 'मारजित्' और 'लोकजित्' पड़ा।

मार-युद्ध एक प्रतीक है। इसका तात्पर्य है कि भगवान् बुद्ध को काम-वासना, भय, विविध तृष्णाएँ उस समय सताने लगीं; पर उन सबपर उन्होंने विजय पाई—अपने उद्देश्य से वे विचलित नहीं हो सके। इसलिए कला में तपस्या-रत बुद्ध के आगे क्रुद्ध राक्षसों को और नृत्य-रत अप्सराओं को तथा विकार-रहित आकृति के साथ अविचलित भाव में तपस्यालीन बुद्ध को बैठे दिखलाया गया है।

मार-विजय के बाद सिद्धार्थ गौतम ने इसी स्थान पर, रात के तीन यामों में से प्रथम तृतीयांश में अपने पूर्वजन्मों का ज्ञान अर्जित किया, मध्यम याम में दिव्य-चक्षु प्राप्त किया और अन्तिम याम में 'प्रतीत्य-समुत्पाद' का ज्ञान लाभ कर लिया। प्रतीत्य-समुत्पाद का ज्ञान ही परम ज्ञानवाला मोक्ष-ज्ञान है, जिसके लिए सिद्धार्थ प्रव्रजित हुए थे और जिसके पीछे दर-दर की खाक छानते फिरते थे। प्रथम अभिसम्बोधि की प्राप्त कर लेने पर वे उस पवित्र बोधिवृक्ष के नीचे सप्ताह-भर बैठकर मोक्ष-ज्ञान का आनन्द लेते रहे[1]। रात को फिर 'प्रतीत्य-समुत्पाद' को अनुलोम-विलोम करके उन्होंने चार 'आर्यसत्य' को जान लिया। बौद्ध-साहित्य में ये चार आर्यसत्य इस प्रकार हैं—(१) तृष्णा-जनित दुःख है, अतः दुःख सहेतुक है; (२) जबतक दुःख का हेतु रहेगा, दुःख होगा ही; (३) हेतुरूपी तृष्णा के नाश होने पर समुदय-जनित सारे क्लेश भी नष्ट हो जायँगे और (४) तृष्णा-रूपी हेतु के नाश के उपाय अष्टांङ्गिक मार्ग हैं, जिनके अभ्यास तथा आचरण से हेतु का नाश अवश्यंभावी है।

बुद्धत्व-प्राप्ति

उपर्युक्त अष्टाङ्गिक मार्गों के नाम इस प्रकार हैं—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् जीवन, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि[2]। इसी वस्तु के ज्ञान का नाम मध्य-मार्ग है और इसी मध्य-मार्ग का उपदेश भगवान् बुद्ध ने अपने पंचवर्गीय शिष्यों को प्रथम-प्रथम 'ऋषि-पत्तन' में दिया था, जिसे सारा संसार 'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन' के नाम से जानता है।

इस प्रकार, सिद्धार्थ गौतम ने बिहार-प्रदेश के 'उरुबेला' की पवित्र भूमि में, उस बोधिवृक्ष के नीचे, बिहार की कृषक-कन्या का पायस खाकर और 'श्रोत्रिय' घसियारे के दिये तृण पर बैठकर वैशाख-पूर्णिमा की चाँदनी में, बुद्धत्व प्राप्त कर लिया। उस रात को सिद्धार्थ गौतम के जन्म-जन्मान्तर की तृष्णा का छेदन हो गया, उनके सारे चित्त-कल्मष का एक ही झटके में प्रक्षालन हो गया और उन्होंने **भगवान् बुद्ध के रूप में** परमज्योतिःस्वरूप नवीन जन्म धारण किया। शाक्यकुलोत्पन्न सिद्धार्थ गौतम का जन्म भले ही लुम्बिनी की भूमि में हुआ;

---

१. अथ खो भगवा बोधिरुक्खमूले सत्ताहं एकपल्लङ्केन निसीदि, विमुत्तिसुखं पटिसंवेदी।

—महावग्गो (महाखन्धक) १,१,१

२. द्रष्टव्य—सच्च-संयुत्तवग्ग—२; और ललित-विस्तर —अ० २६

किन्तु भगवान् बुद्ध का जन्म तो बिहार की पवित्र भूमि 'बोधगया' में ही हुआ[१], जिसका प्रकाश आज भी सम्पूर्ण संसार को अपने अखण्ड-ज्योतिःपुंज से उद्भासित कर रहा है। धन्य है वह भूमि, जहाँ ऐसा ज्ञान-दीप जला और जिसका प्रकाश कभी बुझनेवाला नहीं है।

'विनय-पिटक' के 'महावग्गो' के प्रथम भाणवार में ही लिखा है कि भगवान् बुद्ध सप्ताह-भर बोधि-वृक्ष के नीचे ही महाज्ञान-प्राप्ति के द्वारा उपलब्ध विमुक्ति का आनन्द लेते रहे। आठवें दिन वहाँ से उठकर, बोधि-वृक्ष से कुछ दूर, थोड़ी उत्तर दिशा को लिये पूर्व दिशा में खड़े होकर, निर्निमेष नेत्रों से सप्ताह-भर उस बोधि-वृक्ष और वज्रासन को निहारते रहे तथा विमुक्ति के आनन्द में डूबे रहे। भगवान् बुद्ध जिस स्थान पर खड़े होकर बोधि-वृक्ष को देखते रहे, उस स्थान का नाम 'अनिमेष चैत्य' पड़ा। तीसरे सप्ताह का प्रारंभ होने पर भगवान् ने उस अनिमेष चैत्य और वज्रासन के बीच, पूर्व से पश्चिम की ओर, टहलते-टहलते विमुक्ति का आनन्द लेते हुए सप्ताह बिताया। इसलिए उस स्थान का नाम 'रत्नचंक्रम चैत्य' पड़ा। इसी समय मार ने भगवान् के सामने उपस्थित होकर प्रार्थना की कि भगवन्, आप अब महाकाल को प्राप्त कर जायँ। इसपर बुद्ध भगवान् ने कहा—'नहीं, अपना ज्ञान मुझे अभी अपने शिष्यों को भी देना है।' ऐसा उत्तर सुन बेचारा मार अत्यन्त खिन्न होकर लौट गया। चौथे सप्ताह में देवताओं ने 'रत्नचंक्रम चैत्य' से पश्चिम रत्नगृह बनवाया, जहाँ भगवान् सप्ताह-भर बैठकर अभिधर्म पर विचार करते रहे। उसी समय से वह स्थान 'रत्नघर चैत्य' नाम से अभिहित हुआ[२]।

सात सप्ताह तक विमुक्ति का आनन्द

इस प्रकार भगवान् बुद्ध चार सप्ताह तक विमुक्ति का आनन्द लेकर, पाँचवें सप्ताह में उस 'अजपाल' वट वृक्ष के नीचे पुनः विमुक्ति-आनन्द लेने के लिए पहुँचे, जहाँ सुजाता ने उन्हें पायस का भोजन कराया था। यहाँ एक ही आसन पर बैठे रहकर बुद्ध विमुक्ति का आनन्द लेते रहे। इसी समय एक अभिमानी ब्राह्मण ने बुद्ध से ब्राह्मण बनानेवाले धर्म का प्रश्न पूछा था। पाँचवें सप्ताह के बीतने पर भगवान् विमुक्ति के आनन्द के लिए 'मुचलिन्द' वृक्ष के नीचे गये और वहाँ भी बैठकर मोक्ष का आनन्द उन्होंने लिया। इसी मुचलिन्द के नीचे भगवान् बुद्ध को भयंकर आँधी-पानी का सामना करना पड़ा, जहाँ एक नागराज ने, अपने फण को तानकर, बुद्ध की रक्षा की। नागराज वहीं एक पुष्करिणी में निवास करता था। छठा सप्ताह 'मुचलिन्द' वृक्ष के नीचे व्यतीत कर भगवान् बुद्ध 'राजायतन' वृक्ष के नीचे गये और यहाँ भी एक आसन पर बैठकर सप्ताह-भर विमुक्ति का आनन्द लेते रहे। इस प्रकार सात सप्ताह विमुक्ति का आनन्द लेते हुए उन्होंने बोध-गया (उरुबिल्व) की इंच-इंच भूमि को पवित्र किया।

---

१. ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीकटेषु भविष्यति॥—श्रीमद्भागवत–१,३,२४

२. 'अट्ठकथा'—द्रष्टव्य 'विनयपिटक' (म० पं० राहुल सांकृत्यान)—पृ० ७७ की टिप्पणी।

अजपाल वृक्ष के नीचे बकरी (अजा) पालनेवाले (चरानेवाले) अजा लेकर बैठते थे, इससे उस वटवृक्ष का नाम अजपाल पड़ा था। यह बोधिवृक्ष से पूर्व दिशा में था। बोधिवृक्ष से पूर्व-दक्षिण कोण में मुचलिन्द वृक्ष था और उससे दक्षिण दिशा में स्थित राजायतन वृक्ष था, जहाँ एक पुष्करिणी थी[1]। इस पुष्करिणी का वर्णन 'ह्वेनसांग' ने भी किया है।

इस प्रकार, भगवान् बुद्ध ने बोधगया की चप्पा-चप्पा भूमि का पर्यटन करके अथवा बैठ करके पवित्र बनाया और स्वयं वहाँ विमुक्ति का महा आनन्द उठाया। बिहार-प्रदेश के उस बोधिवृक्ष तथा वज्रासन की महिमा इसी से समझना चाहिए, जिसे भगवान् बुद्ध दूर पर खड़े होकर, एक सप्ताह तक, एकटक निहारते रह गये थे और उन्हें देखते हुए महा आनन्द प्राप्त करते रहे थे। इसी स्थान पर 'अनिमेष मन्दिर' का निर्माण अशोक की रानी 'कारुवकी' ने कराया था, जिस स्थान पर अब भी एक मंदिर खड़ा है।

राजायतन वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध जब विमुक्ति का आनन्द ले रहे थे, तभी बिहार-प्रदेश की भूमि के अनुकूल एक और ऐसी घटना घटी, जो संसार को दुर्लभ रही। 'महावग्गो' में मिलता है कि जब बुद्ध राजायतन वृक्ष के नीचे थे, तभी उड़ीसा-प्रदेश के दो सार्थवाह, जिनका नाम 'तपस्सु' और 'भल्लिक' था, वहाँ आये। उन्होंने भगवान् बुद्ध को मट्ठा और गुड़ के लड्डू खाने के लिये दिये। भोजन के बाद भगवान् बुद्ध को प्रसन्न देख कर सार्थवाहों ने प्रार्थना की—'भगवन्, हम दोनों ही भगवान् तथा धर्म की शरण में आना चाहते हैं।' भगवान् ने उसी समय उन दोनों को अपनी और धर्म की शरण में ले लिया। संसार में यही दोनों दो वचनों से प्रथम उपासक हुए[2]। पीछे चलकर इन दोनों शिष्यों की गणना भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्यों में हुई[3]। इस बात से सिद्ध है कि बुद्ध ने इसी बिहार की भूमि में सर्वप्रथम धर्म का उपदेश किया और शिष्य भी बनाया। इस तरह प्रथम धर्मचक्र का प्रवर्त्तन भी 'उरुबेला' में ही हुआ था।

उरुबेला की एक और घटना ऐसी है जो महत्त्व की है और बिहार की विशेषता सिद्ध करनेवाली है। भगवान् बुद्ध जब 'अजपाल' वृक्ष के नीचे बैठकर विमुक्ति का आनन्द ले रहे थे, तब उनके मन में आया था कि 'बड़े कष्ट और घोर तपस्या के बाद जिस ज्ञान का अर्जन मैंने किया है, उसका आनन्द मैं अकेले ही क्यों न उठाऊँ? उपदेश देने की झंझट अपने सर पर क्यों लूँ?' ठीक उसी समय उस प्रदेश का एक बूढ़ा ब्राह्मण भगवान् बुद्ध के पास आया और जगत् के कल्याण के निमित्त, उन्हें अर्जित ज्ञान का उपदेश देने के लिए, उसने समझाया। उसी ब्राह्मण की प्रेरणा से बुद्ध ने ज्ञान-प्रचार करने का संकल्प किया। बौद्ध-ग्रन्थों में उस ब्राह्मण को साक्षात् ब्रह्मा कहा गया है और 'सहापति' नाम से वह अभिहित हुआ है। पर ऐसी कल्पना बुद्ध-भक्तों की है, जिसे ब्रह्मा बतलाकर बुद्ध की महिमा बढ़ाई

१. विनय-पिटक—तत्रैव, पृ० ८७ की टिप्पणी।
२. ते व लोके पठमं उपासका अहेसुं द्वे वाचिका।—महावग्गो १, १, ४, ५
३. अंगुत्तर-निकाय—१, २, ?—७

गई है। वस्तुतः तो वह बूढ़ा ब्राह्मण उरुबेला (बोधगया) अंचल का निवासी रहा होगा, जिसकी जन्मभूमि का श्रेय बिहार-प्रदेश को है।

ब्राह्मण की प्रार्थना के बाद भगवान् बुद्ध ने प्रथम ज्ञान देने का उपयुक्त पात्र 'आराद-कालाम' और 'उद्दक रामपुत्र' को समझा। पर उसी ब्राह्मण ने यह भी उन्हें बतलाया कि वे दोनों दार्शनिक संसार से विदा हो गये। इसके बाद भगवान् बुद्ध ने अपने उन पाँच शिष्यों को उपदेश देने की ठानी, जिन्होंने उन्हें तपोभ्रष्ट जानकर छोड़ दिया था और पाँचों ऋषिपत्तन (सारनाथ) के जंगल में तपस्या करने चले गये थे। इन पाँचों के नाम 'महावग्गो' में इस प्रकार दिये गये हैं—कौण्डिन्य, वाप्य, भद्रिक, महानाम और अश्वजित्।

त्रिपिटकों में 'सुत्तपिटक' के पाँचवें निकाय का नाम 'खुद्दक निकाय' है। 'खुद्दक निकाय' में १५ ग्रन्थ हैं, जिनमें एक का नाम 'थेरीगाथा' है। 'थेरीगाथा' में तिहत्तर भिक्षुणियों के उद्गार हैं। इन भिक्षुणियों में 'चापा' नामक एक भिक्षुणी का वृत्तान्त मिलता है। इसमें वर्णित घटना के अनुसार 'ऋषिपत्तन' जाते समय भगवान् बुद्ध को रास्ते में 'वंकहार' प्रदेश मिला था, जहाँ 'उपक' नाम के एक आजीवक से उनकी भेंट हुई। 'उपक' ने भगवान् बुद्ध को संन्यासी-वेश में देखकर पूछा—'तुम्हारा गुरु कौन है? तुम किसके उपदेश में आस्था रखते हो?' बुद्ध ने उत्तर दिया—'मेरा गुरु कोई नहीं है। मैं सर्व-विजयी और सर्वज्ञानी हूँ। मैं धर्मचक्र-प्रवर्त्तन करने वाराणसी जा रहा हूँ।' बुद्ध की ऐसी गर्व-भरी वाणी सुनकर आजीवक 'उपक' ने ताना मारते हुए कहा—'होओगे आवुस[1]। अच्छी बात है। जाते हो तो जाओ।' इतना कहने के बाद उपक 'वंकहार' जनपद की ओर चला गया। वहाँ इसने एक व्याध-सरदार की 'चापा' नामक कन्या से विवाह कर लिया। पीछे दोनों (पति-पत्नी) बौद्धधर्म में प्रव्रजित हुए। 'चापा' एक प्रसिद्ध भिक्षुणी हुई।

ऋषिपत्तन की ओर

'ललित-विस्तर' ग्रन्थ के १६वें अध्याय में उल्लिखित वर्णन से पता चलता है कि 'बोधगया' से 'ऋषिपत्तन' जाते समय भगवान् बुद्ध गया, नाहाल, बुन्दद्विर, लोहितवस्तु[2], गन्धपुर और सारथिपुर होते वाराणसी गये। मेरी समझ में ये स्थान बिहार-प्रान्त के गया और शाहाबाद जिले में होंगे। इस ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए। क्योंकि, सारनाथ बिहार की पश्चिमी सीमा से कुछ ही दूर है और जातकट्ठ-कथा में उल्लिखित १८ योजन में से लगभग १६ योजन का मार्ग बिहार के उक्त दो जिलों में ही पड़ता है।

'महावग्गो' इस बात का स्पष्ट उल्लेख करता है[3] कि 'उपक' से भगवान् बुद्ध की मुला-

१. बौद्ध ग्रन्थों में 'आवुस' सम्बोधन श्रेष्ठ जनों के लिए है।—ले०

२. 'वेणीमाधव बरुआ' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'गया एण्ड बोधगया,' (पृ० ११६) में इस स्थान को 'रोहितास्वगढ़' बतलाया है, जो संदेहास्पद है। इन्होंने नाहाल को 'बसाला', बुन्दद्विर को 'बुन्दद्वीला' और लोहितवस्तु को 'रोहितवस्तुका' लिखा है।—ले०

३. महावग्गो—१, १, ६, ४ (प्रथम भाग, प्रकाशक—बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई-१, सन् १९४४ ई०)

कात 'गया' और 'बोधगया' के बीच में हुई थी। किन्तु इसमें 'बंकहार' प्रदेश की चर्चा नहीं है। 'थेरीगाथा' में 'उपक' की मिलनवाली घटना की चर्चा 'बंकहार' प्रदेश के साथ की गई है। मेरी समझ में 'बंकहार' प्रदेश शाहाबाद का वह भाग है, जो सोन नदी के किनारे आज 'बाँक' ग्राम के नाम से प्रसिद्ध है। 'थेरीगाथा' के चापा भिक्षुणीवाले उद्गार में एक शब्द 'तकारी' मिलता है जो हरी सब्जी के लिए आया है। आज भी शाहाबाद के उस भाग में हरी सब्जी को 'तरकारी' कहते हैं।

इसके अतिरिक्त 'जातकट्ठ-कथा' के 'सन्तिके-निदान' में 'बुद्धघोष' ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है कि भगवान् बुद्ध आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी के भोर में ही बोधगया से चले और अठारह योजन का मार्ग तय करके पूर्णमासी की शाम को ऋषिपत्तन पहुँचे। जिस दिन सुबह में उनकी 'उपक' से भेंट हुई, उसी शाम को ऋषिपत्तन पहुँचे। इससे स्पष्ट है कि बोधगया से सारनाथ पहुँचने में उन्हें दो दिनों का समय लगा। अर्थात्, अठारह योजन का मार्ग उन्होंने दो दिनों में पूरा किया। यदि चतुर्दशी की भोर में बोधगया से चले, तो महावग्गो के अनुसार उसी सुबह को उनकी भेंट 'उपक' से बोधगया और गया के बीच होनी चाहिए और उसी शाम को पहुँचने का अर्थ है कि चतुर्दशी की शाम को ही वे पहुँचे, जो १८ योजन मार्ग एक दिन में तय करना असंभव है। इससे स्पष्ट है कि बुद्धघोष ने महावग्गो और थेरीगाथा दोनों के इस अंश को पढ़कर तथा अच्छी तरह छानबीन कर लिखा है। इस तरह बुद्ध ने पहला दिन बोधगया से शोणभद्र नद के पश्चिमी तट तक का रास्ता तय किया और दूसरे दिन वे वहाँ से सारनाथ पहुँचे। इसी दूसरे दिन की सुबह में ही उनकी भेंट 'उपक' से हुई होगी, जो बंकहार प्रदेश में घटी थी।

किन्तु, हमारे विचार से बुद्ध के 'उरुबिल्व' से चलकर वाराणसी पहुँचने में जितने समय का उल्लेख ऊपर किया गया है, वह अतिशयोक्ति-पूर्ण और असंगत प्रतीत होता है। क्योंकि, भगवान् बुद्ध ने वैशाख-पूर्णिमा को ज्ञान प्राप्त किया और आषाढ़पूर्णिमा को ऋषिपत्तन मृगदाव में धर्मचक्र-प्रवर्त्तन किया। बीच के दो मास में वे सात सप्ताह तक विमुक्ति का आनन्द लेते 'उरुबिल्व' में ही विहरते रहे। बाकी ग्यारह दिनों में, बुद्धघोष के अनुसार, दो दिन ऋषिपत्तन पहुँचने में लगे; किन्तु शेष नौ दिन उन्होंने कहाँ बिताये, इस सम्बन्ध में पालि-साहित्य बिलकुल मौन है। इस सम्बन्ध में किसी ने कुछ नहीं कहा, जो विचारणीय है। अतः हमारे विचार से वैशाख-पूर्णिमा के सात सप्ताह बाद ही (जैसा महावग्गो में उल्लिखित भी है) भगवान् बुद्ध बोधगया से वाराणसी के लिए चले और दस दिनों में वाराणसी पहुँचे तथा ग्यारहवें दिन उन्होंने धर्मचक्र-प्रवर्त्तन किया।

बुद्ध के जीवन-काल में धर्म के सहायक व्यक्ति

जिस तरह भगवान् बुद्ध की बुद्धत्व-प्राप्ति में बिहार-प्रदेश के दार्शनिक, तपस्वी, पवित्र भूमि एवं प्राकृतिक सौन्दर्य सहायक हुए, उसी तरह उनके जीवन-काल में ही यहाँ के अनेक भू-भाग, विद्वान्, राजा, श्रेष्ठी, ब्राह्मण, श्रमण, परिव्राजक आदि भी बौद्धधर्म के विकास में सहायक हुए। इन धर्मार्थियों ने बौद्धधर्म के भांडार को विविध प्रकार के दान और ज्ञान-रत्नों से भरपूर समृद्ध किया है। भगवान् बुद्ध ने भी, अपनी शिष्य-मंडली के साथ, बिहार-प्रदेश के सम्पूर्ण भूमि-भाग में भ्रमण कर ज्ञानोपदेश का कार्य किया, जिससे यहाँ के हजारों गृहस्थों ने भी 'आर्य-सत्यों' से लाभान्वित होकर तथा धर्म के उपासक बनकर बौद्धधर्म के संवर्द्धन में पूरा हाथ बँटाया। बिहार-प्रदेश के किन महाप्रज्ञों, धनी-मानियों, राजकुलों, नारी-रत्नों तथा किन भूमि-भागों ने, भगवान् के जीवन-काल में, धर्म-संवर्द्धनार्थ भिन्न-भिन्न तरह का सहयोग दिया, इन सभी बातों का संक्षिप्त एवं सोदाहरण मूल्यांकन यहाँ हमारा अभिप्रेत है।

भगवान् बुद्ध ने 'ऋषिपत्तन' (सारनाथ) पहुँचकर अपने पंचवर्गीय भिक्षुओं को, चार 'आर्य-सत्य' और 'अष्टांगिक मार्ग' का उपदेश करके धर्मचक्र-प्रवर्त्तन किया। उसके बाद वाराणसी के 'यश' नामक श्रेष्ठी-पुत्र को भी, उसके मित्रों के साथ, धर्म में प्रतिष्ठित किया। तत्पश्चात् भगवान् स्वयं धर्म के प्रचार के लिए 'उरुबेला' (बोधगया, बिहार) प्रदेश में लौटे। यह ध्यान रहे कि सारनाथ में धर्मचक्र-प्रवर्त्तन के बाद भगवान् ने भिन्न-भिन्न प्रदेशों में धर्मोपदेश के लिए अपने शिष्यों को भेजा; पर बिहार-प्रदेश की भूमि में वे स्वयं पधारे। बिहार के लिए यह भी कम गौरव की बात नहीं है। ज्ञात होता है कि बिहार-प्रदेश के विद्वान् ऋषि-तपस्वियों को देखते हुए, उनसे टक्कर लेने के लिए, अपने शिष्यों को यहाँ भेजना उन्होंने उचित नहीं समझा और इसलिए बिहार को उन्होंने स्वयं अपने हाथों में लिया। सचमुच जिस तरह एक राजा अपनी दिग्विजय का कार्यक्रम एक सुनिश्चित योजना और अपने नीति-नैपुण्य के अनुसार अपनाता है, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने भी धर्म-विजय के लिए एक सुनिश्चित योजना के अनुसार अपना कार्यक्रम चलाया। वे धर्म-विजय के लिए कैसे-कैसे लोगों को प्रभावित करना आवश्यक समझते थे, किस प्रकार किन लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करते थे, आदि बातों पर अच्छी तरह विचार करने से उपर्युक्त बातों की सत्यता स्पष्ट प्रतिपादित हो जाती है। आगे की घटनाओं पर, इन बातों को ध्यान में रखकर, आप विचार करेंगे, तो हमारा ऐसा कथन तर्क-संगत जँचेगा।

ऋषिपत्तन से लौटते हुए भगवान् बुद्ध को 'उरुबेला' के मार्ग में 'कपासिय' वन मिला। वहाँ तीस 'भद्रवर्गीय क्षत्रिय' अपनी-अपनी पत्नियों को लेकर वन-विहार कर रहे थे। उनमें एक क्षत्रिय-कुमार ऐसा था जिसे अपनी पत्नी नहीं थी और वह विहार के लिए

अपने साथ एक वेश्या को लाया था। वह वेश्या मौका पाकर उस कुमार की सम्पत्ति लेकर भाग गई थी। अब सभी क्षत्रिय-कुमार उसी वेश्या को, उस समय, उस वन में, ढूँढ रहे थे। भगवान् बुद्ध रास्ते की थकावट एक पेड़ की छाया में बैठकर मिटा रहे थे। भद्रवर्गीय क्षत्रियों ने जब भगवान् बुद्ध को देखा, तब उन्होंने भागी हुई वेश्या के संबंध में पूछा। भगवान् बुद्ध ने जब उनकी सारी कहानी जान ली और उन्हें दुःखित देखा, तब उनकी विह्वलता दूर करने के लिए धर्मोपदेश किया। बुद्ध के धर्मोपदेश से उन क्षत्रिय-कुमारों को पूर्ण शान्ति प्राप्त हुई और उन्हें धैर्य मिला। 'जातकट्ठ-कथा' से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध ने उन तीन क्षत्रिय-कुमारों को अपने धर्म में वहीं प्रतिष्ठित किया।

भद्रवर्गीयों की दीक्षा और उनका स्थान

यह 'कपासिय' वन कहाँ था, इस बात की ओर आज तक किसी ने ध्यान नहीं दिया। इतना ही पता चलता है कि यह ऋषिपत्तन और उरुवेला के रास्ते में था। पर हमने जो इसकी छान-बीन की है, उससे पता चला है कि यह 'कपासिय' वन सासाराम के पास था और जिसके नाम की स्मृति आज भी *'कपसिया'* ग्राम के रूप में सुरक्षित है। जान पड़ता है, इन्हीं भद्रवर्गीय क्षत्रियों की दीक्षा-भूमि की यादगार में अशोक ने भी सासाराम नगर के पास पहाड़ी पर वह अपना लघु-लेख खुदवाया था, जो वहाँ आज भी विद्यमान है। यह स्थान आज 'पीरपहाड़ी' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पहाड़ी पर अशोक-स्तम्भ का एक टूटा अंश आज भी प्राप्त है। स्थान की इस पवित्रता के कारण ही बाद में यहाँ बौद्धों के अनेक आराम (मठ) बने थे, जिससे शायद इसका नाम 'सहस्रांराम' पड़ा। इसके पास की पहाड़ियों में अनेक प्राकृतिक तथा कृत्रिम गुफाएँ आज भी वर्त्तमान हैं, जो बौद्ध भिक्षुओं के तपोगृह होने की सूचना दे रही हैं। 'काव' नदी के पार की पहाड़ी की एक गुफा में अंकित तस्वीरों (पेंटिंग) की धुँधली छाया आज भी मिलती है।

सासाराम की दक्षिण पहाड़ी के 'सतास' नामक ग्राम में अनेक प्राचीन बौद्ध तथा हिन्दू-मूर्त्तियाँ आज भी बिखरी पड़ी हैं। वहाँ आज एक टूटा स्तम्भ है, जिसे शिवलिंग के नाम पर लोग पूजते हैं। एक बार गाँववालों ने उसकी खुदाई भी की थी, जिसमें देखा गया कि नीचे स्तम्भ-चौकी बनी हुई है। वहाँ के एक व्यक्ति ने तो बताया कि एक बार की खुदाई में नीचे घर की छत और द्वार मिले थे।

इस पहाड़ी के आस-पास अनेक हवन-कुंड तथा यज्ञवेदियाँ हैं। 'ताराचण्डी' नामक देवी, जो एक कन्दरा में हैं, बौद्धों की तारा देवी ही हैं। इसमें 'प्रतापधवल' नामक राजा का एक लेख भी खुदा है। इसके ऊपर मस्जिद बनी है। हिन्दू और मुस्लिम धर्म का ऐसा सम्मिश्रण संसार में अकेला है। ये सारी विशेषताएँ बुद्ध के स्थान होने के कारण ही सासाराम में दिखाई पड़ती हैं, जिसके पास बुद्ध ने भद्रवर्गीयों को दीक्षा दी थी तथा जिसे अशोक ने महिमामंडित किया था।

भद्रवर्गीयों को दीक्षा देने के बाद भगवान् बुद्ध 'उरुवेला' में आये और 'उरुवेल

काश्यप' नामक अग्निहोत्री के आश्रम में पहुँचे। उस क्षेत्र में उरुबेल काश्यप, *नदी काश्यप* और *गया काश्यप*—ये तीन जटिल अग्निहोत्री बड़े ही प्रसिद्ध थे। 'उरुबेल काश्यप' पाँच सौ जटिलों का नायक था। 'नदी काश्यप' के संघ में भी सौ जटिल थे और यह उनका प्रमुख था। इसी तरह 'गया काश्यप' दो सौ जटिलों का नायक था। ये तीनों भाई थे। तीनों मगध में यज्ञ की महत्ता स्थापित करने में लगे थे। गया काश्यप, गयाशीर्ष के पास फल्गु के किनारे रहता था। उससे दक्षिण कुछ दूर पर निरंजना और मोहना नदी के संगम पर 'नदी काश्यप' का आश्रम था और 'बोधगया' के सामने निरंजना के तट पर 'उरुबेल काश्यप' का यज्ञ-मंडप था। इन तीनों में 'उरुबेल काश्यप' ही श्रेष्ठ था। भगवान् बुद्ध इसी के यज्ञ-मंडप में पहुँचे। भगवान् बुद्ध ने उरुबेल से कहा— 'हे काश्यप, यदि तुझे भारी न हो, तो मैं एक रात तेरी अग्निशाला में वास करूँ।'

अग्निहोत्री काश्यप-बन्धु

सचे ते कस्सप, अगरु, वसेय्याम एकरत्तं अग्यागारे' ति।

—महावग्गो : १,३,१,२

'उरुबेल काश्यप' ने बड़ी नम्र वाणी में बुद्ध की रक्षा के लिए यही निवेदन किया—"महाश्रमण! मुझे भारी नहीं है, लेकिन यहाँ एक बड़ा ही प्रचंड दिव्य शक्तिधारी आशीविष नागराज रहता है। वह तुम्हें कहीं हानि न पहुँचावे"—

न खो मे महासमण, गरु, चण्डे'त्थ नागराजा इद्धिमा असिविसो घोरविसो, सो तं मा विहेठेसी' ति।—तत्रैव

कारण यह था कि 'उरुबेल काश्यप' की अग्निशाला की रक्षा एक नागराज करता था। उस मंडप में प्रवेश करनेवाले किसी भी बाहरी व्यक्ति के प्राण वह हर लेता था। इसीलिए उरुबेल काश्यप ने बुद्ध से प्रार्थना की कि इस अग्निशाला में मत ठहरो। इस तरह बुद्ध ने तीन बार हठ किया कि नहीं, मैं ठहरूँगा तो इसी अग्निशाला में ही, और तीनों बार 'उरुबेल' ने मना किया। पर भगवान् बुद्ध ने जब चौथी बार हठ किया, तब उरुबेल ने कहा—'विहर महासमण, यथा सुखं'ति।' अर्थात्, नहीं मानते हो तो हे महाश्रमण, खुशी से ठहरो।

इसके बाद भगवान् बुद्ध ने अग्निशाला में प्रवेश किया और तृण बिछाकर आसन बाँध दिया तथा शरीर को सीधा कर एवं स्मृति को स्थिर करके बैठ गये। भगवान् बुद्ध के बैठते ही नागराज निकला और क्रोध से भर गया। वह फण को काढ़ कर अपने विष का प्रभाव विकीर्ण करने लगा। पहले तो विष का धुँआ निकला, बाद में आस-पास चारों ओर भयंकर ज्वाला व्याप्त होने लगी। 'नागराज' की हरकत देखकर भगवान् बुद्ध ने सोचा कि क्यों न इस नाग की शारीरिक क्षति पहुँचाये बिना ही, इसकी सारी विष-ज्वाला का हरण कर लूँ और इसे तेजोहीन कर दूँ। तब बुद्ध ने अपने योग-बल से उससे भी ज्यादा भयंकर धुँआ छोड़कर ज्वाल-जाल फैलाया। अग्निशाला के चारों ओर धुआँ और अग्नि-

ज्वाला देखकर 'उरुबेल काश्यप' चिल्लाने लगा—"हाय ! परम सुन्दर महाश्रमण नाग द्वारा मारा जा रहा है"—

अभिरूपो वत भो महासमणो नागेन विहेठिस्सती'ति।

—महावग्गो : १,३,१,३

इतने में भगवान् बुद्ध ने अपने तपस्तेज से नागराज की भयंकर विष-ज्वाला को ढँक दिया और धीरे-धीरे उसके सारे विष को हरण कर उसे बिलकुल निस्तेज बना दिया। बुद्ध ने उस भयंकर नाग को हाथ से पकड़कर एक पिटारी में रख दिया और प्रभात होने पर उसे ले जाकर 'उरुबेल काश्यप' से कहा—'हे काश्यप, यह तेरा नाग है !'

भगवान् बुद्ध के इस अलौकिक चमत्कार को देखकर 'उरुबेल काश्यप' आश्चर्य से स्तब्ध रह गया। फिर भी, 'उरुबेल काश्यप' के मन से अपनी महत्ता का अभिमान गया नहीं। किन्तु भगवान् बुद्ध ने सोच लिया था कि यदि ये अति प्रभावशाली 'काश्यप-बन्धु' अपनी मंडली के साथ मेरे धर्म में दीक्षित हो गये, तो मेरी बहुत बड़ी विजय होगी और इनके शिष्य बन जाने पर सम्पूर्ण मगध और अंग में मेरी धाक जम जायेगी ; क्योंकि ये अग्निहोत्री सम्पूर्ण मगध और अंग में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। इसीलिए भगवान् बुद्ध ने कुछ दिनों के भीतर 'उरुबेल काश्यप' को इस तरह के १५ बड़े-बड़े चमत्कार दिखलाये[1], जिससे उसके मन में बैठ गया कि भगवान् बुद्ध का योगबल अत्यन्त उच्च है तथा मैं इनके सामने अति तुच्छ हूँ। अब 'उरुबेल काश्यप' ने बुद्ध के पैरों पर गिरकर कहा—

लभेय्या हं भन्ते, भगवतो सन्तिके पब्बज्जं, लभेय्यं उपसम्पदं'ति[2]।

अर्थात्—'हे भन्ते ! भगवान् के द्वारा मुझे प्रव्रज्या प्राप्त हो, उपसम्पदा प्राप्त हो।'

पहले तो बुद्ध ने उसे उपसम्पदा देने में कुछ आना-कानी की ; पर बाद में जब उसके पाँच सौ शिष्य भी अग्नि-होत्र के सारे सामान नदी में फेंककर भगवान् बुद्ध के पास आये और अपने धर्म में प्रतिष्ठित कर लेने के लिए प्रार्थना करने लगे, तब बुद्ध भगवान् ने वहीं सबको अपने धर्म में प्रतिष्ठित कर लिया। भगवान् बुद्ध की यह सबसे बड़ी और पहली विजय थी।

इधर 'नदी काश्यप' ने अग्नि-होत्र के सारे सामान को नदी में बहते हुए देखा, तो सोचा कि मेरे बड़े भाई को शायद कुछ हो गया क्या ? वह अपनी शिष्य-मंडली के साथ 'उरुबेला' में पहुँचा। वहाँ उसने जब अपने अग्रज को बुद्ध की शरण में देखा, तब वह भी अपनी मंडली के साथ बुद्ध-धर्म में दीक्षित हो गया। 'गया काश्यप' ने जब सुना कि मेरे दोनों भाई बुद्ध-धर्म में दीक्षित हो गये, तब वह भी आकर प्रव्रजित हुआ। इस तरह तीनों 'काश्यप-बन्धुओं' को अपने धर्म में दीक्षित कर भगवान् बुद्ध ने एक बहुत बड़ी विजय प्राप्त की। इन काश्यप-अग्निहोत्रियों का सम्पूर्ण मगध और अंग में भारी प्रभाव था। यह पहले ही कहा गया है कि इनके अग्निहोत्र-कर्म में अंग और मगध के सभी धनी-मानी अग्निहोत्र के सामान और

१. विस्तृत विवरण के लिए—महावग्गो १,३ देखिए।

२. महावग्गो—१,३,१,२३

भोजन की सामग्री भेजते और यज्ञ-कर्म में उपस्थित होते थे। उरुबेल काश्यप की नागवाली घटना का दृश्य साँची-स्तूप के तोरण में भी प्रदर्शित किया गया है।

भगवान् बुद्ध को राजा बिम्बिसार से मिलना था। बुद्धत्व प्राप्त करने के पहले जब भगवान् बुद्ध राजगृह आये थे, तब उन्होंने बिम्बिसार को वचन दिया था कि बुद्धत्व प्राप्त कर लेने पर आप से मिलूँगा। अब अपनी सम्पूर्ण शिष्य-मंडली के साथ काश्यप बन्धुओं के शिष्यत्व स्वीकार कर लेने पर, भगवान् बुद्ध राजगृह की ओर चले। उन्होंने काश्यप-बन्धुओं की भारी मंडली के साथ गयाशीर्ष पर आकर 'आदित्य सुत्त' का उपदेश किया।[1] वहाँ से भगवान् बुद्ध जब राजगृह के पास आये, तब अपनी शिष्य-मंडली के साथ 'यष्टिवन' में ठहरे।[2] भिक्षुक सिद्धार्थ बुद्धत्व प्राप्त कर अपनी शिष्य-मंडली के साथ 'यष्टिवन' में आकर ठहरे हुए हैं, यह समाचार जब मगधराज बिम्बिसार को मिला, तब वह अपने समस्त श्रेष्ठ अमात्यों और ब्राह्मणों को साथ लेकर स्वयं बुद्ध से वहाँ जाकर मिला। राजा बिम्बिसार ने जब 'काश्यप-बन्धुओं' को बुद्ध के साथ देखा, तब वह तथा अन्य लोग संशय में पड़ गये कि किस ने किस का शिष्यत्व स्वीकार किया है! राजा बिम्बिसार तथा अन्य लोगों के द्वन्द्वमय मनोभाव को बुद्ध ने समझ लिया और उन लोगों के बिना पूछे ही 'उरुबेल काश्यप' से कहा—

बिम्बिसार की दीक्षा

किमे'व दिस्वा उरुवेलवासी पहासि अग्गिं किसको वदानो।
पुच्छामि तं कस्सप, एतम'त्थं कथं पहीनं तव अग्गिहुत्तं'ति।

—महावग्गो : १,४,१,५,

अर्थात्—"हे उरुबेल-निवासी काश्यप, तुम्हीं बोलो कि तुमने अपने अग्निहोत्र-कर्म को क्या देखकर त्याग किया है? तुम्हीं से पूछता हूँ, यह कैसे हुआ कि तुमने अपना अग्निहोत्र-कर्म छोड़ दिया?" इसपर भरी सभा के सामने ही काश्यप ने कहा—

रूपे च सद्दे च अथो रसे च कामित्थिया चा'भिवदन्ति यञ्ञा।
एतं मलं'ति उपधीसु ञत्वा, तस्मा न यिट्ठे न हुते अरञ्जिं'ति॥ —तत्रैव

"रूप, शब्द और रस-रूपी काम-भोगों में, स्त्रियों के रूप, शब्द और रस को हवन करते हैं। काम-भोगों के रूप, शब्द और रस में कामेष्टि-यज्ञ करते हैं। यह रागादि उपाधियाँ मल हैं, ऐसा मैंने जान लिया। इसलिए मैं यज्ञ और होम से विरक्त हुआ।" इतना कहकर 'उरुबेल काश्यप' ने, जहाँ बैठा था, वहाँ से उठकर, भगवान् बुद्ध के चरणों में अपना माथा रख दिया और कहा—'भगवान् मेरे शास्ता हैं, मैं उनका शिष्य हूँ।'

अब राजा बिम्बिसार और सभी उपस्थित समुदाय का संशय मिट गया। सबने बुद्ध के चरणों पर अपना-अपना सिर झुकाया। वहीं बिम्बिसार ने दीक्षा देने का निवेदन किया। भगवान् बुद्ध ने सबको दीक्षा दी और उसी समय, उसी जगह, सभी ने चित्त-नैर्मल्य को प्राप्त किया।

---

१. आदित्त सुत्त (संयुत्त निकाय—३४,१,३,६)
२. राजगृह के पास का 'जेठियन' गाँव।—लें०

दूसरे दिन मगधराज बिम्बिसार ने भगवान् बुद्ध को मंडली के साथ भोजन पर बुलाया और कहा कि भगवन्, आज मेरी पाँचों इच्छाएँ पूरी हो गईं[1]। मगध के उदार राजा ने संघ के निवास के लिए अपना 'वेणुवन' दान कर दिया और वहाँ विहार का निर्माण कराया।[2] बिम्बिसार की दीक्षा भगवान् बुद्ध की दूसरी धर्म-दिग्विजय थी, जिससे सम्पूर्ण मगध में उनका प्रभाव बिजली की तरह चमक उठा। इस घटना से बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में बहुत बड़ा बल प्राप्त हुआ।

यह पहले कहा गया है कि राजगृह में विक्षेपवादी सिद्धान्त के दार्शनिक 'संजय' का आश्रम था। वह अपने आश्रम में दो सौ पचास शिष्यों को अपने दर्शन की शिक्षा दे रहा था। इन्हीं शिष्यों में 'सारिपुत्र' और 'महामौद्गल्यायन' नाम के दो शिष्य भी थे। ये दोनों सहपाठी ही नहीं थे, बल्कि बचपन से ही गाढ़े दोस्त थे। दोनों की सात पीढ़ियों से, खान-पान के साथ-साथ मित्रता का सम्बन्ध चला आ रहा था। कहते हैं कि दोनों का जन्म भी एक ही दिन हुआ था। दोनों में ऐसी गहरी मित्रता थी कि दोनों एक दूसरे के घर रहते और एक दूसरे के यहाँ खान-पान करते थे। वे बराबर साथ ही खेलते और साथ ही पढ़ते थे। एक बार दोनों साथ-साथ एक पड़ोस के गाँव में मूक अभिनय (गिरग्ग-समज्जा) देखने गये। दोनों बालकों पर उस नाटक का ऐसा प्रभाव पड़ा कि दोनों संन्यासी हो गये। वे अब राजगृह में जाकर 'संजय' के आश्रम में विद्याध्ययन करने लगे। ये ऐसे अभिन्न मित्र थे कि भगवान् बुद्ध भी इनके नामों का स्मरण द्वन्द्व-समास के साथ करते थे। कहीं भी किसी काम के लिए दोनों को साथ ही भेजते थे, मानों भगवान् बुद्ध की धर्मरूपी गाड़ी को खींचनेवाले ये दो पहिये थे। यद्यपि सारिपुत्र और मौद्गल्यायन ने संजय के आश्रम में अनेक शास्त्रों को पढ़ा था और ब्राह्मण-धर्म के ग्रन्थों का पूर्ण अध्ययन किया था, तथापि वे जिस तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे, वह उन्हें नहीं मिल पाता था। इस कारण, उन लोगों के मन को संतोष नहीं प्राप्त हो रहा था।

सारिपुत्र और मौद्गल्यायन

सारिपुत्र एक दिन किसी काम से राजगृह में घूम रहे थे कि रास्ते में उन्हें 'अश्वजित्' नामक भिक्षु दिखाई पड़ा। वहाँ भिक्षु अश्वजित् की सौम्य-शान्त आकृति देखकर सारिपुत्र अत्यन्त प्रभावित हुए। अश्वजित् के पास जाकर 'सारिपुत्र' ने बड़े विनम्र भाव से पूछा—"आवुस! तेरी इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, तेरी कान्ति शुद्ध तथा उज्ज्वल है। आवुस! तुम किस गुरु के शिष्य हो, तुम्हारा शास्ता कौन है? तुम किसका धर्म मानते हो? तुम्हारे गुरु का क्या मत है? वे किस सिद्धान्त को मानते हैं?"

विप्पसन्नानि खोते आवुसो! इन्द्रियानि परिसुद्धोछविवण्णो परियोदातो।

---

१. देखिए पहला परिच्छेद, राजनीतिक स्थिति—पृ० २९-३०

२. आदित्त-परियायसुत्त और विनयपिटक—१,१,१७

कंसि त्वं आवुसो, उद्दिस्स पब्बजितो, को वा ते सत्था, कस्स वात्वं धम्मं रोचेसी'ति ?
..........किं वादी पनां'यस्मतो सत्था, किमक्खायी'ति।

—महावग्गो : १,४,२,३-४

अश्वजित् ने कहा—"मेरे शास्ता शाक्यकुल-पुत्र हैं, उसी कुल से वे प्रवजित हुए हैं। मैं उन्हीं का शिष्य हूँ। मैं थोड़े दिनों से उनके धर्म में आया हूँ। जो कुछ थोड़ा अपने शास्ता के मत को जानता हूँ, उसका सार आप से निवेदन करता हूँ। मेरे शास्ता इस तरह धर्म का उपदेश करते हैं—

ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसञ्च यो निरोधो एवं वादी महासमणो 'ति॥

अर्थात्, धर्म (दुःख) हेतु से उत्पन्न होते हैं, इसलिए मेरे शास्ता दुःख को और उसके कारण को अर्थात् दोनों को बतलाते हैं। उस हेतु के निरोध को और निरोध के उपायों को भी बतलाते हैं। मेरे शास्ता का यही मत है।"

'सारिपुत्र' ने जैसे ही इस बात को सुना कि खुशी से उनका हृदय बाँसों उछल पड़ा। उन्हें ऐसा लगा, मानों आज मैंने ज्ञान का सार-तत्त्व प्राप्त कर लिया। वे उसी दम अपने परम मित्र 'महामौद्गल्यायन' के पास गये, और अश्वजित् से सुने हुए बुद्धवाद के सिद्धान्त की चर्चा उन्होंने की। वहीं दोनों ने निश्चय किया कि चलकर हमलोग भगवान् बुद्ध से दीक्षा ले लें। दोनों मिलकर अपने गुरु 'संजय' के पास आये, और बौद्धधर्म ग्रहण करने की उन्होंने अनुमति माँगी। संजय ने उन्हें ऐसा करने से मना किया और यहाँ तक कि दोनों के बार-बार आग्रह करने पर भी 'संजय' ने अनुमति नहीं दी। तब वे दोनों गुरु के आदेश के बिना ही भगवान् बुद्ध के पास, दीक्षा लेने के लिए, चले गये। कहते हैं कि 'सारिपुत्र' और 'मौद्गल्यायन' जैसे सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थियों के चले जाने पर 'संजय' के आश्रम के सभी विद्यार्थी भगवान् बुद्ध के पास चले गये और इस शोक में ही 'संजय' की मृत्यु हो गई।

भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में ही, आगे चलकर ये दो मगध-ब्राह्मणपुत्र (सारिपुत्र-मौद्गल्यायन) बौद्धधर्म के दो बृहस्पति हुए[१]। बौद्धधर्म के महाप्रज्ञों में सारिपुत्र सर्वश्रेष्ठ हुए और ऋद्धिमानों में महामौद्गल्यायन सर्वश्रेष्ठ हुए, जिसे 'श्रावस्ती' की एक बड़ी परिषद् में भगवान् बुद्ध ने स्वयं कहा था[२]। भगवान् बुद्ध ने अन्यत्र भी कहा था—'सारिपुत्र जिस प्रदेश की ओर जाते हैं, उधर मेरे जाने की आवश्यकता नहीं रहती।' इतना ही नहीं, 'मज्झिमनिकाय'—(२,५,२) में आया है कि जब 'सेल' नामक ब्राह्मण ने भगवान् बुद्ध से प्रश्न किया कि

१. इनकी महत्ता के कारण ही दोनों की अस्थियाँ साँची-स्तूप में रखी गई थीं, जो खुदाई होने पर प्राप्त हुई हैं। जिस डिबिया में ये अस्थियाँ मिली हैं, उसपर स्पष्ट उल्लेख था कि ये अस्थियाँ सारिपुत्र-मौद्गल्यायन की हैं, जो ब्रिटिश-म्युजियम लंदन में चली गई थीं। स्वराज्य के बाद इन अस्थियों को भारत में मँगाया गया है।—ले०

२. अंगुत्तरनिकाय—१,२,१-७

'आप जब अपने को धर्म का राजा कहते हैं, और कहते हैं कि मैं धर्म का चक्र चला रहा हूँ, तब इस राजा का सेनापति कौन है ?' सेल ब्राह्मण के इस प्रश्न के उत्तर में बुद्ध ने जवाब दिया था—'तथागत का अनुजात सारिपुत्र ठीक से धर्म अनुचालित कर रहा है।' अर्थात्, मेरा सेनापति सारिपुत्र है। यही बात 'सुत्तनिपात' में भी मिलती है[1]। इसलिए सारिपुत्र का एक नाम 'धर्मसेनापति' भी था। 'अंगुत्तर निकाय' में उल्लेख मिलता है कि भगवान् बुद्ध ने संघ से कहा था कि भिक्षुओ ! सारिपुत्र को छोड़कर मैं किसी दूसरे को नहीं पाता, जो मेरे निर्वाण के बाद ठीक से मेरे धर्म को चलायेगा। सोचिए जरा कि कैसा था—मगधभूमि का वह वरदपुत्र, जिसके सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध ने ऐसा कहा था !

बौद्धधर्म और बिहार-प्रदेश के इस जाज्वल्यमान नक्षत्र की महत्ता के सम्बन्ध में थोड़ा और उल्लेख करना अनावश्यक नहीं होगा। अपने परिनिर्वाण का काल निकट जानकर जब सारिपुत्र ने भगवान् बुद्ध से अपनी जन्मभूमि में जाकर निर्वाण प्राप्त करने की आज्ञा माँगी, तब भगवान् बुद्ध, संघ के साथ, 'श्रावस्ती' में थे। सारिपुत्र का परिनिर्वाण-काल निकट आ गया है और वे अपनी जन्मभूमि जाना चाहते हैं, यह सुनकर भगवान् ने भरे हुए गले से कहा[2]—'भिक्षुओ ! अपने ज्येष्ठ भ्राता का अनुगमन करो।' उस समय श्रावस्ती की चारों परिषदें (भिक्षु-परिषद्, भिक्षुणी-परिषद्, उपासक-परिषद् और उपासिका-परिषद्) सारिपुत्र के पीछे-पीछे अनुगमन करने लगीं। सभी स्त्री-पुरुष हाथों में माला लिये, केश बिखराये, दोनों हाथों से छाती पीटते, सिर धुनते और विलाप करते अनुगमन कर रहे थे—सभी कह रहे थे—'स्थविर ! किसके हाथों में शास्ता को छोड़े जा रहे हो[3] ?'

सारिपुत्र ने अपनी जन्मभूमि नालक ग्राम[4] (पटना जिला, नालन्दा के निकट) में, अपनी माता की गोद में ही, परिनिर्वाण प्राप्त किया। परिनिर्वाण के बाद उनके शव का दाह-संकार हो गया, तब 'चुन्द' स्थविर सारिपुत्र की अस्थियों को लेकर भगवान् बुद्ध के पास श्रावस्ती पहुँचे। चुन्द स्थविर बुद्ध के शिष्यों में प्रतिष्ठित एक भिक्षु और सारिपुत्र के छोटे भाई थे। चुन्द ने जब सारिपुत्र की धातुओं (हड्डियों) को भगवान् बुद्ध को दिखलाया, तब भगवान् ने सम्मान और श्रद्धा के साथ अपनी हथेली पर उन धातुओं को लेकर भिक्षुओं को सम्बोधित किया—'देखो भिक्षुओ ! सौ हजार कल्प से भी अधिक समय तक पारमिता पूर्ण किये हुए भिक्षु की ये धातुएँ दिखाई पड़ रही हैं ! वह मेरे प्रवर्त्तित धर्मचक्र को अनुवर्त्तित करनेवाला महाप्रज्ञावान् तथा अल्पेच्छ (त्यागी) भिक्षु था।

---

१. 'मया पवत्तितं चक्कं धम्मचक्कं अनुत्तरं। सारिपुत्तो अनुवत्तेति अनुजातो तथागतं॥'
अर्थात्—मैंने अनुत्तरधर्मचक्र चलाया है, तथागत का अनुजात सारिपुत्र जिसका अनुवर्त्तन करता है।—सुत्तनिपात—३३,१०,

२. संयुत्त निकाय (अट्ठकथा)—४५,२,३

३. तत्रैव।

४. जिसका आधुनिक नाम 'बड़गाँव' या 'सारिचक' है। —ले०

वह संतुष्ट और प्रविविक्त भिक्षु था। देखो भिक्षुओ! उस महाप्रज्ञ की धातुओं को, जो पाँच सौ जन्मों तक मनोरम भोगों को छोड़कर प्रव्रजित होता रहा है। उस वीतराग-जितेन्द्रिय-निर्वाण-प्राप्त सारिपुत्र की वन्दना करो।' भगवान् जैसे-जैसे सारिपुत्र के विषय में कहते जाते थे, भिक्षु आनन्द अपने को वहाँ सँभाल नहीं पा रहे थे। 'आनन्द' शोक-विह्वल हो, एक ओर बैठे अश्रुपात कर रहे थे[1]।

धर्मसेनापति सारिपुत्र का जन्म नालन्दा के पास वर्त्तमान 'सारिचक' ग्राम में, ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उस समय इस गाँव का नाम उपतिष्य ग्राम या नालक ग्राम था। सारिपुत्र के नाम पर ही 'नालक ग्राम' का नाम पीछे सारिचक पड़ा होगा। इनके पिता का नाम 'वंगन्त' और माता का नाम 'रूपसारि' था। वंगन्त और रूपसारि के तीन लड़कियाँ और चार लड़के थे। सब में बड़े सारिपुत्र ही थे। सारिपुत्र के बाकी तीन भाइयों का नाम था—चुन्द, उपसेन और रेवत। तीनों बहनों का नाम था—चाला, उपचाला और शिशूपचाला। सारिपुत्र के बौद्धधर्म में प्रव्रजित हो जाने पर सभी भाई-बहन बौद्धधर्म में प्रव्रजित हो गये और अपने समय के सभी प्रसिद्ध भिक्षु और भिक्षुणी हुए।

'वंगन्त' अपने इलाके के प्रतिष्ठित और धनी-मानी ब्राह्मण थे। समाज में उनकी ब्राह्मणोचित प्रतिष्ठा भी अच्छी थी। किन्तु, कुछ काल बाद उनकी मृत्यु हो गई। पति के मरण और सभी सन्तानों के भिक्षु हो जाने के कारण माता रूपसारि की अवस्था पागल-जैसी हो गई थी। इनके मन में बौद्धधर्म के प्रति एक भारी विद्रोह भर गया था और ये बौद्ध भिक्षुओं से घृणा करती थीं। माता रूपसारि की आयु बड़ी लम्बी थी। इनकी गोद में ही सारिपुत्र ने परिनिर्वाण प्राप्त किया।

सारिपुत्र ब्राह्मण धर्म और दर्शन के प्रगाढ़ पंडित थे। 'संजय' के शिष्यत्व में शायद ये मीमांसा-शास्त्र का अध्ययन कर रहे थे। इसीलिए जब ये बौद्धधर्म में आये, तब इसमें भी इन्होंने प्रगाढ़ पांडित्य प्राप्त कर लिया। एक बार वैशाली नगर की चार नारियाँ, जो जैनधर्मावलम्बिनी थीं, शास्त्रार्थ में दिग्विजय करने निकली थीं। उनकी प्रतिज्ञा थी कि जो गृही हमें परास्त कर देगा, उसी से हमारा विवाह होगा और यदि कोई संन्यासी परास्त कर देगा, तो उनकी हम शिष्या हो जायँगी। वे इधर-उधर दिग्विजय करते श्रावस्ती पहुँचीं। वे झंडे के रूप में जामुन की डाल लिये चलती थीं और चौराहे पर गाड़ देती थीं कि जो शास्त्रार्थ करना चाहेगा, इसे उखाड़कर फेंक देगा। उस समय श्रावस्ती के विहार में सारिपुत्र वर्त्तमान थे। जैन विदुषियों ने विहार के द्वार पर ही जामुन की डाल गाड़ दी और श्रावस्ती नगर में घूमने चली गईं। सारिपुत्र जब कहीं से टहल-घूमकर आये, तब लोगों ने बतलाया कि इस डाल के गाड़ने का रहस्य क्या है? सारिपुत्र ने डाल को उखाड़ फेंका। चारों भिक्षुणियाँ जब आईं और सुना कि सारिपुत्र ने इसे उखाड़ा है, तब शास्त्रार्थ में भिड़ गईं। किन्तु, सारिपुत्र की विद्वत्ता के सम्बन्ध में

१. बुद्धचर्या (म० पं० राहुल सांकृत्यायन)—पृ० ५१६

क्या पूछना था ? जिसके ज्ञान की कद्र स्वयं बुद्ध करते थे, वह कोई साधारण व्यक्ति थोड़े ही होगा। चारों स्त्रियों को बात-की-बात में सारिपुत्र ने परास्त कर दिया! उसी समय चारों सारिपुत्र की शिष्या बनने को तैयार हो गईं; पर भिक्षु सारिपुत्र ने कहा—'मेरी शिष्या क्या बनोगी, मेरे शास्ता की शिष्या बनो।' कितना अल्पेच्छ सारिपुत्र का मन था!

सारिपुत्र के ज्ञान और साधु-चरित-स्वभाव को परखकर ही भगवान् बुद्ध ने अपने पुत्र 'राहुल' की दीक्षा इनसे दिलवाई थी और राहुल का ज्ञान सारिपुत्र की ही देख-रेख में बढ़ा था। सारिपुत्र-जैसा प्रभावशाली भिक्षु उस समय बौद्धसंघ में एक भी नहीं था। देवदत्त ने जब भगवान् बुद्ध से विद्रोह करके उनके संघ से वज्जिदेश के ५०० भिक्षुओं को फोड़ लिया, तब बुद्ध भगवान् बड़े ही चिन्तित हो उठे! देवदत्त के विद्रोह को दबाने के लिए, उस समय, बुद्ध की नजर में दो ही व्यक्ति जँचे—सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन। देवदत्त उन पाँच सौ भिक्षुओं को लेकर 'गयासीस' (गया के ब्रह्मयोनि पर्वत) पर चला गया था और वहाँ एक अलग संघ का निर्माण कर रहा था। भगवान् बुद्ध ने सारिपुत्र और मौद्गल्यायन को, देवदत्त के संघ को छिन्न-भिन्न करने के लिए, गयासीस पर्वत पर भेजा। दोनों शिष्य शीघ्र ही गयासीस पर्वत पर पहुँचकर अपनी प्रगाढ़ विद्वत्ता और अमित ज्ञान के बल से उन पाँच सौ भिक्षुओं को, देवदत्त के सामने ही, भगवान् बुद्ध के पक्ष में कर लिया। उस समय देवदत्त ने बौद्ध संघ में एक भारी खन्धक पैदा कर दिया था, जिसे सारिपुत्र-मौद्गल्यायन ने पाट दिया[1]।

एक बार भगवान् बुद्ध मल्लों की राजधानी 'पावा' नगर के नये संस्थागार में संघ के साथ विहार कर रहे थे। उस समय उनके संघ में भारी फूट का लक्षण दिखलाई पड़ा। संघ में ५०० भिक्षु थे। भगवान् बुद्ध ने संघ को फूट से बचाने के लिए 'सारिपुत्र' को ही योग्यतम व्यक्ति माना और उनसे संघ के सामने उपदेश करने को कहा था। सारिपुत्र की उपदेश-वाणियों में कैसा जादू का असर था, इसका प्रमाण उस उपदेश में मिलता है, जिसे 'श्रावस्ती' के 'जेतवन-विहार' में संघ के सामने उन्होंने दिया था। सारिपुत्र के उस उपदेश को सुनकर महामौद्गल्यायन ने कहा था—"अश्रद्धालु शठ, मायावी, पाखण्डी, उद्धत, चपल, मुखर, असंयत-भाषी, असंयतेन्द्रिय, भोजन की मात्रा नहीं जाननेवाले, जागरण में तत्पर नहीं रहनेवाले, धन जोड़नेवाले, कायर, आलसी, अनुद्योगी, मुषितस्मृति, विभ्रान्तचित्त, दुष्प्रज्ञ आदि लोगों के हृदय को अच्छी तरह समझकर ही, उन्हें सुमार्ग पर अग्रसर कर देनेवाले सारिपुत्र के ये उपदेश-वाक्य हैं[2]।" तब भला ऐसे उपदेशक सारिपुत्र को बुद्ध अपना सेनापति नहीं चुनते, तो किसको चुनते? भगवान् बुद्ध ने इसके पहले ही फूट का लक्षण अपने संघ में देखा था, जब वे श्रावस्ती में ठहरे हुए थे[3]। इसके अतिरिक्त कुछ दिन पहले

१. चुल्लवग्गो (संघभेदक खन्धक)—७,२,८

२. मज्झिम-निकाय (अनङ्गण सुत्तन्त)—१,१,५

३. चुल्लवग्गो (पातिमोक्खस्थापन खन्धक)—६,२,१

'निग्गंठनाथपुत्त' चौबीसवें जैन तीर्थंकर का निर्वाण हुआ था और जैनधर्म में भयंकर फूट पड़ गई थी। उसी समय जैन धर्म में श्वेताम्बर और दिगम्बर दो पंथ हो गये। इसलिए भगवान् बुद्ध को अपने संघ के लिए बहुत चिन्ता हो गई थी। उन्होंने पावा के संस्थागार में परिषद् बैठाई और सारिपुत्र को उपदेश देने के लिए कहा। सारिपुत्र ने निगंठों की फूटवाली बात को कहते हुए परस्पर फूट न करनेवाला जो उपदेश दिया, वह बौद्धधर्म की रीढ़ है। इसमें बुद्ध मंतव्यों की एक लम्बी सूची है, जिसमें दस खण्ड हैं। यह पाँच सौ भिक्षुओं की संगीति ही थी, जिसे 'पञ्च-शतिका' कहना चाहिए। इसीलिए इस सुत्त का नाम ही है—संगीतिपरियायसुत्त'[1]। ज्ञात होता है, बौद्ध संघ में जब-जब फूट के लक्षण दिखाई दिये, तब-तब इसी संगीति के अनुकरण पर ही आगे की संगीति बैठाई गई।

यह पहले कहा गया है कि धर्म-सेनापति सारिपुत्र बौद्धधर्म-दर्शन तथा ब्राह्मण-ग्रन्थ और दर्शन के अगाध विद्वान् थे। किन्तु विद्वत्ता ही इनकी विशेषता नहीं थी। इनकी सब से बड़ी विशेषता तो यह थी कि बौद्ध संघ में ऐसा उद्यमी, निरहंकार, विनयी और शीलवान् दूसरा कोई भिक्षु नहीं था। संघ में सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करने पर भी सारिपुत्र अपने हाथों से आश्रम में झाड़ू लगाते थे, आश्रम के बरतन साफ करते थे और जगह नहीं मिलने पर आश्रम के बाहर जमीन पर ही सो रहते थे। एक बार श्रावस्ती में जब थके-माँदे भिक्षुओं ने सोने के सभी स्थानों को अपना लिया, तब सारिपुत्र बाहर जाकर पेड़ के नीचे सो गये। जाड़े की रात थी। जोरों की ठंडक पड़ रही थी। रात बीतने पर ठंडक से जब वे खाँसने लगे, तब उनकी आवाज भगवान् बुद्ध को सुनाई पड़ी। बुद्ध ने नजदीक जाकर देखा। सारिपुत्र की ठिठुरती अवस्था से उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ और उन्हें उठाकर भगवान् बुद्ध आश्रम में लाये। दूसरे दिन भगवान् ने संघ के सामने यह नियम उद्घोषित कर दिया कि संघ में आगे-पीछे प्रव्रज्या के अनुसार आसन और स्थान दिया जायगा[2]।

भगवान् बुद्ध की उदारता के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। वे सारिपुत्र को कभी अपनेसे कम ज्ञानी नहीं मानते थे। यही कारण था कि सारिपुत्र ने जब-जब भगवान् बुद्ध की सेवा में उपस्थापक (पार्श्ववर्ती सेवक) होकर रहने के लिए कहा, बुद्ध ने बार-बार अस्वीकार कर दिया। सारिपुत्र कभी अपने श्रेष्ठ साथी 'अश्वजित्' को नहीं भूलते थे; क्योंकि उसी ने पहले-पहल, राजगृह में, भगवान् बुद्ध और उनके धर्म के बारे में सूचना दी थी। अश्वजित् भिक्षु जिस दिशा में रहता, सारिपुत्र उस दिशा को प्रणाम करते और उधर पैर रखकर नहीं सोते थे। संघ में किसी के प्रति भी उनका द्वेष नहीं था। देवदत्त-जैसे विरोधी व्यक्ति के गुणों की भी ये प्रशंसा करते थे। ये कृतज्ञ तो इतने थे कि कभी किसी के द्वारा किये गये छोटे उपकार को भी नहीं भूलते थे; राध नामक एक ब्राह्मण को

१. विस्तार के लिए देखिए—'दीघ निकाय'—३,१०

२. विनयपिटक (राहुल सांकृत्यायन)—पृ० ४६५-४६६ और 'बुद्धचर्या'—पृ० ७२

उन्होंने भगवान् बुद्ध से कहकर दीक्षा दिलवाई, जब सारे भिक्षु विरोध कर रहे थे; क्योंकि राध ने एक बार पिण्डपात करते हुए सारिपुत्र को एक कलछी भात दिलवाया था।

धर्म-सेनापति सारिपुत्र की उदारचित्तता की चर्चा के बिना उनकी जीवनी अधूरी ही रहेगी। राजगृह के 'तण्डलपल्ल' द्वार के समीप 'धानंजानि' नामक एक ब्राह्मण रहता था, जो सम्पन्न और प्रभावशाली व्यक्ति था। वह कभी बिम्बिसार की सहायता से अपनी जाति के लोगों को लूटता और कभी जातिवालों को मिलाकर, बिम्बिसार को भी धोखा देकर, धन हड़प लेता था। उस समय सारिपुत्र दक्षिणागिरि में चारिका करते थे। जब उन्हें धानंजानि की हरकतों का समाचार मिला, तब वे उसे समझाने के लिए दक्षिणागिरि से राजगृह चले आये। धानंजानि सारिपुत्र का पूर्व-परिचित व्यक्ति था। इतना ही नहीं, जब धानंजानि बीमार पड़ा और अपना अन्त समीप देखने लगा, तब उसने आदमी भेजकर सारिपुत्र को बुलाया। खबर पाते ही सारिपुत्र उससे मिलने आ गये। सारिपुत्र ने उसका अन्त समीप जानकर उससे पूछा—'ब्राह्मण, तुम किस योनि या लोक को पसन्द करते हो?' इस पर धानंजानि ने कहा—'ब्रह्मलोक।' ब्रह्मलोक के प्रति उसकी श्रद्धा तथा ब्राह्मण जानकर सारिपुत्र ने उसे 'ब्रह्म-सारूप्य' का उपदेश करके ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित कराया[1]। और धानंजानि ब्रह्म-सारूप्य का ज्ञान प्राप्त करके मरने पर ब्रह्मलोक चला गया। ऐसी थी सारिपुत्र की कृपालुता और धर्म-निरपेक्षता।

इसी तरह वज्जि-देश के 'पब्बजितट्ठित' ग्राम के निवासी 'महाच्छन्न' स्थविर जब गृद्धकूट पर्वत पर वास करते हुए रोग-ग्रस्त हो गये, तब सारिपुत्र और चुन्द—दोनों भाई उन्हें देखने गये। रोग की परेशानी के कारण छन्न अपने जीवन से ऊबकर आत्महत्या करने पर उतारू हो गये थे। सारिपुत्र उनकी ऐसी अवस्था देखकर अत्यन्त दयार्द्र हो गये। छन्न को उन्होंने अनेक धर्म-कथाएँ सुनाईं और बौद्धधर्मानुयायी होने के नाते अनात्मवाद का उपदेश किया। उस उपदेश से उस समय तो छन्न को शान्ति मिल गई, पर दोनों भाइयों के चले जाने पर आखिर छन्न ने आत्महत्या कर ही ली[2]।

सारिपुत्र का परिनिर्वाण भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण से केवल छह मास पहले, अपने जन्मभूमिवाले नालक ग्राम (पटना) में, हुआ था। भगवान् बुद्ध के सामने जब सारिपुत्र की धातुएँ गईं, तब भगवान् ने उन धातुओं पर श्रावस्ती में एक चैत्य बनवाया[3]। किन्तु अभी तक इस चैत्य का पता नहीं लग सका है।

बिहार-प्रदेश को अपने जन्म से गौरवान्वित करनेवाले धर्म-सेनापति सारिपुत्र के समय-समय पर जो अमृतमय उपदेश हुए थे, उनमें से कुछ के संग्रह बौद्धग्रन्थों में सूत्र के रूप में मिलते हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१. मज्झिम निकाय—२,५,७
२. मज्झिम निकाय—३,५,२
३. दीघ निकाय (अनु० राहुल सांकृत्यायन), महापरिनिब्बाणसुत्त, पृ० १२४ की टिप्पणी।

(१) सम्मादिट्ठिसुत्तन्त (मज्झिम निकाय—१।१।९) श्रावस्ती, जेतवन विहार
(२) धम्मदायादसुत्तन्त-उत्तरार्द्ध (म० नि०—१।१।३) ,, ,,
(३) अनङ्गणसुत्तन्त (म० नि०—१।१।५) ,, ,,
(४) महाहत्थिपदोपम सुत्तन्त (म० नि०—१।३।८) ,, ,,
(५) महागोसिंग सुत्तन्त (म० नि०—१।४।२) नादिका, गोसिंगसालवन-वन्श्री
(६) महावेदल्ल सुत्तन्त[1] (म० नि०—१।५।३) श्रावस्ती, जेतवन विहार
(७) गुलिस्सानिसुत्तन्त (म० नि०—२।२।९) राजगृह, कलन्दकनिवाप
(८) धानंजानिसुत्तन्त (म० नि०—२।५।७) ,, ,,
(९) सेवितब्ब-नसेवितब्बसुत्तन्त[2] (म०नि०—३।२।४) श्रावस्ती, जेतवन विहार
(१०) अनाथपिंडकोवादसुत्तन्त (म० नि०—३।५।१) श्रावस्ती, अनाथपिंड का गृह
(११) छन्नोवादसुत्तन्त (म० नि०—३।५।२) मरणोन्मुख छन्न को अनात्मवाद का उपदेश।

महामौद्गल्यायन—भगवान् बुद्ध के दूसरे प्रिय शिष्य थे। इन्होंने भी अपने मित्र सारिपुत्र के साथ ४४ वर्षों तक बौद्धधर्म और संघ की सेवा की थी। यह अत्यन्त मेधावी विद्यार्थी थे। सारिपुत्र को अर्हत्व प्राप्त करने में जहाँ इक्कीस दिनों का समय लगा था, वहाँ इन्होंने सात ही दिनों में अर्हत्व प्राप्त कर लिया था। एक बार भगवान् बुद्ध जब 'चातुमा' ग्राम में थे, तब सारिपुत्र और मौद्गल्यायन—दोनों से एक प्रश्न किया कि मैं यदि भिक्षु-संघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर लूँ, तो तुम्हें कैसा लगेगा? इस प्रश्न का उत्तर अपने-अपने विचारानुसार दोनों ने दिया; पर बुद्ध ने मौद्गल्यायन के उत्तर को ही साधुवाद दिया। सारिपुत्र के उत्तर के लिए तो बुद्ध ने यहाँ तक कहा कि तुम्हारे मन में ऐसा विचार ही कैसे आया[3]।

महामौद्गल्यायन का जन्म भी पटना जिले के नालन्दा के समीप 'कोलित'[4] नामक ग्राम में हुआ था। ये भी ब्राह्मण-पुत्र थे और सारिपुत्र के समान ही ब्राह्मण-ग्रन्थों के दिग्गज विद्वान् थे। सारिपुत्र के साथ इन्होंने भी 'संजय' के यहाँ 'मीमांसा-शास्त्र' का अध्ययन किया था। बौद्धसंघ में सारिपुत्र के बाद इनका ही स्थान था। ये संघ के ऋद्धिमानों में अग्रणी थे। सारिपुत्र ने 'राहुल' को प्रव्रज्या दी थी; पर मौद्गल्यायन ने केश काटकर काषाय वस्त्र दिया और 'शरण' में प्रतिष्ठित किया था।

महामौद्गल्यायन की मृत्यु जिस तरह हुई, वह इतिहास में एक अत्यन्त दर्दनाक

---

१. महाकोट्ठिल के प्रश्नों के उत्तर के रूप में।
२. बुद्धप्रतिपादित धर्मों की व्याख्या, भगवान् बुद्ध के सम्मुख ही।
३. मज्झिम निकाय (चातुम सुत्तन्त)—२,२,७
४. 'यह स्थान इस समय 'जगदीशपुर' कहलाता है और 'बड़गावाँ' से डेढ़ मील दक्षिण-पश्चिम में है इसका प्राचीन नाम 'कुलिका' है।'
—तपोभूमि (रामगोपाल मिश्र ; हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००७)—पृ० २१५
किन्तु, हमारी समझ में 'कोलित' आज का 'कोरई' अथवा 'ककैला' ग्राम होगा।—ले०

घटना है। सारिपुत्र की मृत्यु के ठीक पन्द्रहवें दिन, अग्रहायण कृष्ण अमावस्या की रात में, राजगृह के एक आश्रम में, धर्म-द्रोहियों ने मौद्गल्यायन की हत्या कर दी। यह घटना ऐसी लगती है कि जैसे मौद्गल्यायन ने ही, अपने अन्यतम मित्र सारिपुत्र की मृत्यु का दुःख सह्य न करने के कारण अपनी मौत को बुला लिया और ठीक पन्द्रह दिन बीतते-बीतते मृत्यु का आलिंगन कर लिया एवं काल ने मौद्गल्यायन की पुकार सुनकर अपने यमदूतों को ही हत्यारों के वेश में भेजा। जो हो, अमावस्या[1] की अंधेरी रात में हत्यारों ने मौद्गल्यायन की सूनी कुटी को घेरकर लाठियों के प्रहार से उनके मस्तक को चूर-चूर करके शव को एक झाड़ी में फेंक दिया था[2]। खैर, संसार के महामानवों का ऐसा दुःखद अन्त प्रायः देखा गया है।

मगध-देश के इन दो ब्राह्मण-भिक्षुओं का बौद्धसंघ में कितना बड़ा सम्मान था, इसका अंदाज नहीं लगाया जा सकता। भगवान् बुद्ध जिस समय 'श्रावस्ती' के जेतवन आराम में थे उस समय 'कोकालिय' नाम का भिक्षु उनसे मिलने आया[3]। उसने बुद्ध से कहा—'भगवन, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन पापेच्छुक हैं।' इतना सुनते ही बुद्ध को जैसे काठ मार गया। उन्होंने कहा—'कोकालिय' ऐसा मत कहो, ऐसा मत कहो। सारिपुत्र-मौद्गल्यायन के प्रति श्रद्धा रखो, वे बड़े ही उदार हैं।' किन्तु कोकालिय ने फिर वही बात दुहराई। इस तरह बुद्ध ने उसे तीन बार समझाया; पर बुद्ध की बातों पर उसने कुछ भी ध्यान नहीं दिया और वह हर बार सारिपुत्र और मौद्गल्यायन को पापेच्छुक कहता ही रहा। फल यह हुआ कि कोकालिय के सारे शरीर में कुष्ठ फूट गया। वह सड़-सड़ कर मरा और अन्त में 'पद्म' नरक में गया। अन्त में बुद्ध ने भिक्षुओं को बुलाकर कोकालिय की करनी बतलाई और उसके फल का भी वर्णन किया। नरक में कोकालिय कितना कष्ट पा रहा है, भिक्षुओं को बुद्ध ने यह भी बतलाया था।

अपने इन दो शिष्यरत्नों की मृत्यु से भगवान् बुद्ध को कितनी पीड़ा पहुँची होगी, इस सम्बन्ध में हम कल्पना भी नहीं कर सकते। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इनकी मृत्यु के बाद छह मास के भीतर ही बुद्ध का भी परिनिर्वाण हो गया। भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में सारिपुत्र का चैत्य बनवाकर आये ही थे कि उन्हें मौद्गल्यायन के लिए भी राजगृह में उनकी धातुओं पर चैत्य बनवाना पड़ा[4]। राजगृह से बुद्ध नालन्दा, पाटलिपुत्र होते हुए गंगा पारकर 'उक्काचेल' (सोनपुर) पहुँचे। उसी उक्काचेल की परिषद् में भगवान् बुद्ध ने मौद्गल्यायन की मृत्यु का दुःख प्रकट किया था—'भिक्षुओ! सारिपुत्र-मोग्गलान के बिना यह परिषद् सूनी लगती है। वे जिस दिशा में रहते थे, वह अपेक्षा-रहित होती थी[5]।' बुद्ध की मर्मान्तक पीड़ा का अन्दाज बहुत-कुछ इन वाक्यों से होता है।

१. बुद्धचर्या (म० प० राहुल सांकृत्यायन)—पृ० ५१६
२. मिलिन्द-प्रश्न, वर्ग ४ प्रश्न ३२
३. सुत्तनिपात—३६
४. देखिए—दीघ निकाय (म० पं० राहुल सांकृत्यायन) पृ० १२४ की टिप्पणी।
५. संयुत्त निकाय—४५,२,४

भगवान् बुद्ध ने सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के सम्बन्ध में एक बार कहा था—"भिक्षुओ ! सारिपुत्र-मौद्गल्यायन की सेवा करो। उनके समीप जाओ। भिक्षुओ! सारिपुत्र और मौद्गल्यायन पंडित हैं, सब ब्रह्मचारियों के अनुग्राहक हैं। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन आर्यसत्यों का विस्तारपूर्वक व्याख्यान कर सकते हैं, प्रकाशन कर सकते हैं। भिक्षुओ! सारिपुत्र जन्मदाता की तरह हैं और जन्म लिये हुए को पोसनेवाले की तरह मौद्गल्यायन हैं[1]।" कैसे थे ये दो महारत्न, जिनके सम्बन्ध में बिलकुल राग-मोह-शून्य बुद्ध ऐसा वाक्य उच्चारण करते थे।

भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में ही विहार-प्रदेश ने बौद्ध संघ को जो एक तीसरा नर-रत्न प्रदान किया था, उसका नाम 'महाकाश्यप' था। महाकाश्यप तीन वेदों और हिन्दू-दर्शन के प्रगाढ़ तथा अगाध विद्वान् थे[2]। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के पहले ही सारिपुत्र और मौद्गल्यायन तो चल बसे थे; पर महाकाश्यप अभी जीवित थे।

महाकाश्यप

बुद्ध के निर्वाण के बाद इसी महामानव ने बौद्ध-धर्म के झंडे को जरा भी झुकने नहीं दिया; बल्कि धर्म के झंडे के स्तम्भ-दंड को महाकाश्यप ने ऐसा स्थिर गाड़ दिया, जिससे आजतक भी बौद्धधर्म का झंडा झुका नहीं—ऊँचा ही उठता गया[3]। बुद्ध-निर्वाण के बाद यदि मगध का यह ब्राह्मण-पुत्र बौद्धसंघ में नहीं होता, तो कहा नहीं जा सकता कि बौद्धधर्म की क्या दशा होती! भगवान् बुद्ध के समय में ही बार-बार संघ-भेद दिखाई पड़े थे, जिनके चलते बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद संघ में विस्फोट होने ही वाला था, जिसे महाकाश्यप ने अपने प्रताप से जहाँ-के-तहाँ ठंडा कर दिया। आज बौद्ध-संसार बहुत कुछ महाकाश्यप का ऋणी है, जिसके प्रताप और प्रभाव के चलते मानवमात्र का कल्याण करनेवाला बौद्धधर्म-जैसा धर्म उसे प्राप्त हुआ।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के तीन महीने के अन्दर ही महाकाश्यप ने धर्म को व्यवस्थित और दृढ़ करने के लिए चुने हुए ५०० भिक्षुओं की एक सभा, राजगृह में, कराई थी, जो 'प्रथम संगीति' के नाम से प्रसिद्ध है। इस संगीति के धर्माचार्य महाकाश्यप स्वयं बने थे। इसी महासभा में बौद्धधर्म की व्यवस्थित और स्थायी नींव डाली गई। बौद्धसंघ में महाकाश्यप इतने प्रभावशाली स्थविर हुए कि बाद में इनके नाम पर बौद्धधर्म में एक 'महाकाश्यपीय' सम्प्रदाय ही बन गया था और जिसका अस्तित्व आजतक भी शेष है।

महाकाश्यप का जन्म पटना जिले के 'महातीर्थ' नामक ग्राम में हुआ था[4]। सारिपुत्र-मौद्गल्यायन की तरह यह भी ब्राह्मण-वंश के ही कुलभूषण थे। छात्रावस्था व्यतीत कर ये ब्रह्मविद्या और ब्राह्मण-शास्त्रों के पारंगत पंडित हुए। बचपन से ही गृहस्थ-कर्म में इनकी अभिरुचि नहीं थी। इनके माता-पिता जब-जब इनके विवाह की चर्चा चलाते थे, ये टाल

१. मज्झिम निकाय—३,४,१
२. देखिए—थेरगाथा (अट्ठकथा-४०) और अंगुत्तर निकाय (अट्ठकथा)—१,१,४
३. महावंस, परिच्छेद ३, श्लोक ३८।
४. देखिए—थेरगाथा (अट्ठकथा)—४० और संयुत्त निकाय (अट्ठकथा)—१५,११

जाते थे। किन्तु, अन्त में माता-पिता के रात-दिन के आग्रह पर 'महाकाश्यप' ने सम्मति देकर उनसे अपना पिण्ड छुड़ाया।

महाकाश्यप के माता-पिता ने अपनी वधू के चुनाव के लिए एक परम रमणीय सुवर्ण-प्रतिमा का निर्माण कराया और उसके अनुरूप वधू को ढूँढ़ने के लिए, प्रतिमा को साथ में देकर, ब्राह्मणों को विदा किया। ब्राह्मण उस सुवर्ण-प्रतिमा को लिये कन्या ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मद्र-देश की राजधानी 'साकल' में पहुँचे। वहाँ वे नदी के एक घाट पर प्रतिमा रख करके स्नान करने लगे। उसी समय, उसी घाट पर साकल नगर की कुछ स्त्रियाँ भी स्नान करने आई थीं। कहते हैं कि उन स्त्रियों में से एक स्त्री उस सुवर्ण-प्रतिमा के पास आकर उसके कंधे पर हाथ रखकर कहने लगी—'अरे, यह तो मेरी मालिक की कन्या है। अरी, तू यहाँ क्यों खड़ी है? चल, घर चलें।' किन्तु जब उसे मालूम हुआ कि यह तो इन आगन्तुकों की प्रतिमा है, मेरी मालकिन की कन्या नहीं, तब वह अपने भ्रम पर लज्जित होकर भाग गई। बस, अब क्या था, उन ब्राह्मणों को प्रतिमा के अनुरूप कन्या का पता लग गया। वे पता लगाकर उस कन्या के पिता के पास पहुँचे और विवाह का प्रस्ताव कर उसे राजी कर लिया। अन्त में उसी कन्या से महाकाश्यप का विवाह हुआ।

महाकाश्यप का विवाह बीस वर्ष की आयु में हुआ था। इनकी पत्नी का नाम 'भद्रा कापिलायनी' था, जो विवाह के समय सोलह वर्ष की थी और मद्र-देश के कौशिक गोत्र की कन्या थी। भद्रा कापिलायनी कैसे धनाढ्य ब्राह्मण की पुत्री थी, इसका अन्दाज आप इसी से समझ सकते हैं कि जब वह पिता के घर से पति के घर आने लगी थी, तब उसके पिता ने दहेज में ५५ हजार बैलगाड़ियों पर लादकर धन दिया था। महाकाश्यप स्वयं ही एक अति धनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके शरीर में स्नान के समय जो उद्वर्त्तन (उबटन) मले जाते थे, उसके धोने पर उसकी गन्ध से बाहर की नालियाँ भर जाती थीं। इनके खजाने में ६० बड़े-बड़े चहबच्चे थे। इनके खेत बारह योजन में थे और इनकी जमींदारी में लंका के अनुराधापुर-जैसे १४ बड़े-बड़े गाँव थे। इनके द्वार पर हाथी, घोड़े और रथ के झुंड लगे रहते थे। ऐसे वैभव-विलास में पलकर भी महाकाश्यप विवाह के बाद, कभी अपनी पत्नी की शय्या पर, मिथुन वासना से युक्त होकर नहीं सोये। इसका एक कारण यह भी कहा जाता है कि महाकाश्यप ब्राह्मण-धर्म के माननेवाले थे और इनकी पत्नी नास्तिक थीं।

महाकाश्यप नाम बौद्ध नाम है। इनका घरेलू नाम 'पिप्पली माणवक' था। इनके पिता का नाम 'कपिल' था। एक दिन पिप्पली जब अपने खेतों का निरीक्षण कर रहे थे, तब इन्होंने देखा कि कौवे केंचुएँ को मिट्टी से निकाल-निकालकर खा रहे हैं। पिप्पली ने अपने साथियों से पूछा कि इसका दोष किस पर लगेगा? लोगों ने कहा कि यह दोष तो खेत के मालिक पर ही लगेगा। ऐसा सुनकर पिप्पली को अपने सारे वैभव से विरक्ति हो गई और इन्होंने संसार-त्याग करने का निश्चय कर लिया। कहते हैं कि पिप्पली जब अपनी इतनी बड़ी सम्पत्ति को लात मारकर भगवान् बुद्ध के पास प्रव्रजित

होने चले, तब इनके आश्रित हजारों नर-नारी मार्ग में हाथ जोड़कर रोते-कलपते खड़े हो गये। वे सब अनाथ होकर बोले—"आर्य, हमलोग अनाथ हो रहे हैं, हमलोगों को किस पर छोड़े जा रहे हैं? ऐसा न कीजिए।" अपने आश्रितों की ऐसी करुण दशा देखकर भी पिप्पली रागशून्य महामानव की तरह अडिग, निश्चय और अचल विश्वासपूर्ण वाणी में बोले—"तुम में से हरएक को यदि दासता से मुक्त करने लगूँ तो एक सौ वर्षों में भी यह काम पूरा नहीं होगा। तुम सब अपने-आप सिरों को धोकर मुक्त हो जाओ।" इतना कहकर पिप्पली सब को रोते-कलपते छोड़कर अपने गन्तव्य पथ पर चल पड़े।

पिप्पली जब प्रव्रजित होने के लिए घर से निकले, तब भगवान् बुद्ध राजगृह में ही थे। उन्हें जब मालूम हुआ कि इस प्रदेश का महाप्रभावशाली ब्राह्मण पिप्पली प्रव्रजित होने आ रहा है, तब वे सारे भिक्षु-संघ को छोड़कर, अकेले ही तीन कोस आगे बढ़कर राजगृह और नालन्दा के बीच 'बहुपुत्रक'[1] नामक वट-वृक्ष के नीचे पिप्पली से मिले। इसी स्थान पर पिप्पली को भगवान् बुद्ध ने प्रव्रज्या दी और संघ की शरण में लिया। प्रव्रज्या के बाद बुद्ध ने पिप्पली को 'सम्यक् प्रहाण' चतुःसूत्री का उपदेश किया जिसके चार अंग इस प्रकार हैं—(१) वर्त्तमान पापों का नाश करना, (२) भविष्य में उनकी वृद्धि न होने देना, (३) वर्त्तमान पुण्यों की रक्षा करना और (४) यथासंभव अर्जित पुण्यों की वृद्धि करना। इसके बाद भगवान् ने विनय के नियमों की महत्ता बतलाई तथा इन्द्रियों और उनके द्वारा प्राप्त अनुभवों के नियंत्रण का भी महत्त्व कहा। उन्होंने दस कुशलों और दस अकुशलों[2] की भी शिक्षा दी तथा पिप्पली को तीन दोषों (काम, भव और अविद्या) एवं राग, द्वेष और मोह से छुटकारा दिलाया।

दीक्षा के बाद भगवान् बुद्ध ने महाकाश्यप के शरीर पर की रेशमी चादर स्वयं ले ली और अपना परम पवित्र चीवर 'महाकाश्यप' के ऊपर डाल दिया[3]। इतना बड़ा सम्मान बुद्ध की ओर से कभी किसी भिक्षुक को नहीं मिला। यही कारण था कि महामौद्गल्यायन की तरह महाकाश्यप भी सात ही दिनों की तपस्या से, तेरह अवधूतों के गुणों का लाभकर, प्रतिसंविद्-सहित अर्हत्-पद को प्राप्त कर गये। महाकाश्यप धूतवादी अर्हत् कहलाते थे। बौद्ध संघ में इनका तीसरा स्थान था।

महाकाश्यप की पत्नी भद्रा कापिलायनी यद्यपि अपने पति के साथ ही प्रव्रजित होने के लिए आईं, तथापि वे अलग एक नास्तिक सम्प्रदाय में ही रहकर साधना करती थीं। बुद्ध-संघ में वे इसलिए भी उस समय प्रवेश न कर पाईं कि संघ में स्त्रियों का प्रवेश तब निषिद्ध था। किन्तु, जब महाप्रजापति गौतमी को, अपने साथ की ५०० नारियों के साथ,

---

१. पटना जिले का 'सिलाव' नामक ग्राम ले०।–

२. चोरी, हिंसा, बुरे आचरण, असत्य भाषण, तीखा वचन, परनिंदा, असंगत भाषण, लोभ, द्वेष और कुविचार—ये १० अकुशल हैं। इनसे बचना ही १० कुशल है ले०।–

३. संयुत्त निकाय—१५,११

संघ में प्रवेश की आज्ञा मिल गई, तब 'भद्रा कापिलायनी' भी बौद्धसंघ में आ गईं। इन्होंने भी पीछे अर्हत्-पद प्राप्त किया। 'थेरीगाथा' में इनके भी उद्गार ग्रथित हैं।

बौद्धसंघ में 'महाकाश्यप' का कितना बड़ा सम्मान था, यह इसी से जाना जा सकता है कि इन्होंने 'आनन्द' जैसे विद्वान् को 'विनय' का उपदेश किया था। आनन्द कभी महाकाश्यप का नाम लेकर नहीं पुकारते थे; क्योंकि इनको वे गुरु मानते थे। इनका प्रभाव जानने के लिए इतना ही काफी होगा कि भगवान् बुद्ध को परिनिर्वाण किये सात दिन बीत गये थे; फिर भी उनका दाह-संस्कार तबतक नहीं हुआ, जबतक महाकाश्यप ने वहाँ पहुँचकर शव-शरीर का दर्शन न कर लिया। ये बौद्ध नियमों के पालन करने में अत्यन्त कट्टरपंथी थे। प्रथम-संगीति के अवसर पर इन्होंने ४९९ अर्हतों के बीच, बुद्ध के प्रिय शिष्य तथा सूत्रों के अद्वितीय ज्ञाता 'आनन्द' को बिना, अर्हत्-पद प्राप्त किये बैठने नहीं दिया[1]। इनका ऐसा ही मानधनत्व और गौरवशील व्यक्तित्व था कि एक बार आनन्द को इन्होंने 'आवुस कुमार' कहकर सम्बोधित किया। उस समय ऐसा सम्बोधन शायद आनन्द को अच्छा नहीं लगा। आनन्द ने तो कुछ नहीं कहा; पर उनके पक्ष को लेनेवाली भिक्षुणी 'थुल्लनन्दा' ने कहा—"दूसरे सम्प्रदाय में रहनेवाले[2] काश्यप ने वैदेहमुनि आर्य आनन्द को 'कुमार' कहकर नीचा दिखाने का साहस कैसे किया[3]?" महाकाश्यप को जब यह बात मालूम हुई, तब इन्होंने थुल्लनन्दा को तो कुछ नहीं कहा; पर 'आनन्द' को बुलाकर फटकारते हुए कहा—"थुल्लनन्दा ने आवेश में आकर ऐसा कहा है। आवुस आनन्द! जब से काश्यप प्रव्रजित हुआ, भगवान् बुद्ध को छोड़कर इसने किसी को शास्ता नहीं कहा[4]।" आनन्द सिर झुकाये सुनते रहे, कुछ नहीं बोल सके।

उपर्युक्त सारी बातें बतलाती हैं कि महाकाश्यप कैसे ज्ञानी, किस कोटि के प्रज्ञावान् तथा किस तरह मान के धनी थे। ये धूतवादियों में अग्रणी थे[5]। इन्हीं के प्रभाव के कारण बुद्ध का विरोधी सम्राट् 'अजातशत्रु' बौद्धधर्म का प्रेमी बना और बुद्ध की धातुओं पर चैत्य-निर्माण कराया।

---

१. महावंश, परि० ३, श्लोक २४

२. 'महाकाश्यप' धूतवादी बौद्ध थे।

३. इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'थुल्लनन्दा' के दिमाग में क्षत्रियोत्कर्ष की भावना काम कर रही थी; क्योंकि वह शाक्यकुल से आकर प्रव्रजित हुई थी और 'काश्यप' ब्राह्मण थे।—ले०

४. संयुत्त निकाय—१५,११,८

५. अंगुत्तर निकाय—१,२,१,७

बुद्ध की पर्यटन-भूमि और विभिन्न घटनाएँ

यदि भगवान् बुद्ध को बौद्धधर्म-गगन का सूर्य कहा जाय, तो सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और महाकाश्यप को उस गगन का सोम, शुक्र और बृहस्पति कहा जायगा। बिहार-प्रदेश के इन अतिशय देदीप्यमान नक्षत्रों से आज भी बौद्ध-गगनांगन उद्भासित है। इनके अतिरिक्त भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में ही बौद्धधर्म के अभ्युत्थान में बिहार-प्रान्त से जो विविध प्रकार की सहायता मिली, उसका दिग्दर्शन यहाँ करा देना आवश्यक है।

भगवान् बुद्ध ने बौद्धधर्म के स्थायित्व के लिए ४६ वर्षों तक पर्यटन और धर्म-प्रचार का प्रयत्न किया। उस पर्यटन-काल में ४६ वर्षों के वर्षावास किस तरह और कहाँ-कहाँ हुए थे, इसके स्पष्टीकरण से पाठकों को घटनाओं के क्रम समझने में बहुत-कुछ सहायता मिलेगी और विषय का प्रतिपादन भी यथातथ्य हृदयंगम होगा। यद्यपि बौद्धग्रन्थों में इन वर्षावासों के काल का व्यवस्थित रूप नहीं मिलता, तथापि 'अंगुत्तर निकाय' अट्ठकथा (२।४।५) में वर्षावास का जो क्रम उपलब्ध होता है और जिसका अनुवाद महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी 'बुद्धचर्या' (पृ० ७५) में किया है, उसकी तालिका इस प्रकार है—

१ला	वर्षावास	ऋषिपत्तन (सारनाथ) में
२रे से ४थे तक का	,,	राजगृह में
५वाँ	,,	वैशाली में
६ठा	,,	मंकुल पर्वत पर
७वाँ	,,	त्रयस्त्रिंश में
८वाँ	,,	सुंसुमारगिरि (भर्ग) पर
९वाँ	,,	कौशाम्बी में
१०वाँ	,,	पारिलेयक में
११वाँ	,,	नाला ग्राम (मगध) में
१२वाँ	,,	वैरंजा में
१३वाँ	,,	चालिय पर्वत पर
१४वाँ	,,	श्रावस्ती में
१५वाँ	,,	कपिलवस्तु में
१६वाँ	,,	आलवी में
१७वाँ	,,	राजगृह में
१८वाँ और १९वाँ	,,	चालिय पर्वत पर
२०वाँ	,,	राजगृह में

२१वें से ४५वें तक का ,, श्रावस्ती में
अन्तिम ४६वाँ [1] ,, वैशाली में

इस तरह ४६ वर्षों के धर्म-प्रचारवाले चार महीनों के वर्षावास के समय भगवान् बुद्ध ने उपर्युक्त स्थानों में बिताये। शेष प्रतिवर्ष के आठ महीनों में वे पर्यटन करके धर्म-प्रचार करते रहे। वे बिहार-प्रदेश के किस स्थान में किस वर्ष गये तथा किस वर्ष किन-किन व्यक्तियों से उनकी भेंट हुई, इसका प्रामाणिक और ठीक-ठीक समय बतलाना अति कठिन है। हाँ, बुद्धचारिका के जिन भू-भागों का उल्लेख प्राप्त होता है, उनका तथा तत्तत् भाग के व्यक्तियों का एवं घटनाओं का वर्णन हम यहाँ करेंगे, जिनसे उनकी धर्म-वृद्धि में बिहार-प्रदेश के सहयोग का मूल्यांकन स्पष्ट होगा। वर्ष-भेद से एक ही स्थान में कई घटनाएँ घटित हुईं; अतः स्थान के अनुसार घटनाओं को मिला देने से ऐतिहासिक कालक्रम की परंपरा टूट जायगी, जो उचित नहीं होगा। अतः, घटनाओं के तारतम्य में उलट-फेर स्वाभाविक है। फिर भी, प्राप्त आधारभूमि के अनुसार हम कालक्रम को ध्यान में रखकर ही विषयों का प्रतिपादन करने की चेष्टा करेंगे।

भगवान् बुद्ध जब धर्मचक्र-प्रवर्त्तन करके राजगृह में आये और सारिपुत्र-मौद्गल्यायन के साथ संजय के २५० शिष्य इनके पास जाकर प्रव्रजित हो गये, तब राजगृह में कुहराम मच गया। अब इनके प्रभाव से गृहस्थ के लड़के भी घर-द्वार छोड़कर सिर मुड़ाने लगे थे। इससे राजगृह के निवासी बहुत ही परेशान हो गये। लोग इधर-उधर बोलने लगे—"यह गौतम अपुत्र बनाने के लिए उतरा है, विधवा बनाने के लिए आया है, कुल का नाश करने के लिए पहुँचा है—"

अपुत्त कताय पटिपन्नो समणो गोतमो, वेधव्याय पटिपन्नो समणो गोतमो, कुलूपच्छेदाय पटिपन्नो समणो गोतमो। —महावग्गो : १।४।२।१५

इन निन्दा-वाक्यों को फैलाने में राजगृह के ब्राह्मणों का विशेष हाथ था। जब भिक्षुओं ने भगवान् बुद्ध से जाकर कहा कि राजगृह-निवासी इस प्रकार बोलकर हमारी निन्दा करते हैं, तब भगवान् बुद्ध ने कहा—"भिक्षुओ! इस तरह के निन्दा-वाक्य केवल एक सप्ताह-भर रहेंगे। अपने-आप एक सप्ताह बाद लुप्त हो जायेंगे।" वस्तुतः, उस तरह के निन्दा-वाक्य एक सप्ताह बाद अपने-आप समाप्त भी हो गये।

अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योत को जब यह मालूम हुआ कि सम्राट् बिम्बिसार के यहाँ बुद्ध अवतीर्ण हुए हैं, तब उसे भी चिन्ता हुई कि उस सिद्धपुरुष को मेरे राज्य में भी आना

(१) किन्तु हिसाब लगाने से बुद्ध का ४५ ही वर्षावास होना निश्चित मालूम पड़ता है; क्योंकि २९ वर्ष की अवस्था में वे संन्यासी हुए, ३५ वर्ष में बुद्धत्व-लाभ किया और ८० वर्ष की आयु में, वर्षावास से पहले, वैशाख-पूर्णिमा को, उनका परिनिर्वाण हुआ। इसलिए ४५ वर्षावास ही होते हैं, अन्तिम वर्षावास वैशाली में उनका नहीं हुआ।—ले०

चाहिए[१]। उसने अपने पुरोहित *महाकात्यायन* को बुद्ध को लाने के लिए भेजा। पर महाकात्यायन राजगृह में आकर स्वयं बौद्ध भिक्षु हो गये। इसी राजगृह में जब बुद्ध थे, तब उनके पिता 'शुद्धोदन' को मालूम हुआ कि सिद्धार्थ बुद्ध होकर 'राजगृह' में निवास करता है। उन्होंने अपने विश्वासपात्रों को सिद्धार्थ को ले आने के लिए भेजा, जिसमें *काल उदायी* नामक व्यक्ति भी था। जो भी आये, सब बुद्ध के उपदेशों से संसार छोड़ कर भिक्षु हो गये। इसी राजगृह के वेणुवन कलन्दक-निवाप में बुद्ध ने सप्तवर्षीय राहुल को *काय-कर्म*, *वचन-कर्म* और *मनःकर्म* के परिशोधन का उपदेश किया था[२]। राहुल के रहने के लिए राजगृह के पास ही, *आम्रलडिका*[३] में आश्रम बना था, जहाँ राहुल 'सारिपुत्र' के तत्त्वावधान में साधना किया करते थे।

जिस राजगृह के ब्राह्मणों ने बुद्ध के विरोध में निन्दा-वाक्य फैलाया था कि गौतम कुलहीन करने और विधवा बनाने के लिए उतरा है, उसी कुल का '*राध*' नामक ब्राह्मण बुद्ध के पास प्रव्रज्या लेने आया। राध धर्म-विरोधी कुल का है, इसे संघ में नहीं लिया जाय, इसका जोरों से प्रचार बौद्ध भिक्षुओं ने किया तथा संघ में लेने से इनकार कर दिया[४]। इस पर 'राध' ने अनशन आरम्भ कर दिया। वह दुर्बल, रूक्ष और दुर्वर्ण हो गया, उसकी हड्डी-हड्डी दिखाई पड़ने लगी[५]। जब भगवान् बुद्ध को यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने 'सारिपुत्र' को बुलाकर कहा कि 'सारिपुत्र' तुम्हें इस ब्राह्मण का कुछ किया उपकार याद है? तब सारिपुत्र ने कहा—"*इध मे भन्ते सो ब्राह्मणो राजगहे पिण्डाय चरन्तस्स कटच्छु भिक्खं दापेसि*[६]।" अर्थात्, हाँ भगवन्, मुझे राजगृह में भिक्षा के लिए घूमते समय इस ब्राह्मण ने कलछी-भर भात दिलवाया था। इस पर भगवान् बुद्ध ने कहा—'साधु सारिपुत्र! सत्पुरुष कृतज्ञ होते ही हैं।' और, उन्होंने सारिपुत्र को उसे दीक्षित करने की आज्ञा दे दी। उसी समय भगवान् बुद्ध ने सारिपुत्र को प्रव्रज्या देने की विधि भी बतलाई। संपूर्ण संघ में यही 'राध' प्रतिभाशालियों में अग्रणी हुआ और संघ में इसे ४०वाँ स्थान प्राप्त हुआ[७]।

इसी 'राजगृह' के '*शीतवन*' में जब भगवान् बुद्ध थे, तब राजगृह के श्रेष्ठी ने भगवान् को संघ के साथ भोजन के लिए निमंत्रण दिया। उसी समय 'श्रावस्ती' का 'अनाथ पिण्डक' श्रेष्ठी 'राजगृह' अपने साले के यहाँ आया था, वह राजगृह के श्रेष्ठी का बहनोई था[८]।

---

१. अंगुत्तर निकाय (अट्ठकथा)—१,१,१०
२. मज्झिम निकाय—२,२,१
३. पटना जिले का आधुनिक 'सिलाव' नामक कस्बा।—ले०
४. 'तं भिक्खू न इच्छिंसु पब्बाजेतुं।' —महावग्गो १, ५, ४, १
५. तत्रैव।
६. महावग्गो—१, ५, ५, ५
७. अंगुत्तर निकाय—१, २, १, ७
८. संयुत्त निकाय—(अट्ठकथा) १०, ८

अपने साले के घर बहुत बड़ी तैयारी देखकर उसने जाना कि बुद्ध-जैसे महात्मा के सत्कार के लिए इतनी बड़ी तैयारी हो रही है। 'अनाथपिंडक' स्वयं भगवान् बुद्ध से मिलकर धर्मदीक्षित हुआ और 'श्रावस्ती' आने के लिए उसने वहीं निमंत्रण दिया।

इसी साल राजगृह में *'पिंडोल भारद्वाज'* ने ऋद्धि-प्रातिहार्य (योगबल का चमत्कार) दिखलाया, जिस पर भगवान् ने अपने सभी शिष्यों को ऋद्धि-प्रातिहार्य दिखाने से सदा के लिए मना कर दिया; बात यह हुई कि 'राजगृह' के श्रेष्ठी ने एक कीमती चंदन की लकड़ी का पात्र बनवाकर उसे बाँस में टँगवा दिया और बाँस को आँगन में गाड़ दिया। उसने एलान कर दिया कि जो कोई ऋद्धिमान् हो, उस पात्र को उड़कर ले ले। सभी सम्प्रदाय के लोग हार मानकर चले गये। तब बुद्ध के शिष्य 'पिंडोल भारद्वाज' ने उड़कर पात्र उतार लिया। इस पर राजगृह के लोग कहने लगे, ये बुद्ध के चेले कैसे लालची हैं, जो एक लकड़ी के पात्र के लिए ऋद्धि-प्रातिहार्य दिखाते चलते हैं? भगवान् बुद्ध को जब यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने उस पात्र को तोड़वा दिया और भविष्य में गृहस्थों को न दिखाने योग्य, ऋद्धि-प्रातिहार्य करने से भिक्षुओं को बिलकुल मना कर दिया। ऋद्धि-प्रातिहार्य दिखाने का काम केवल अपने लिए सुरक्षित रखा।

राजगृह में रहते हुए ही बुद्धत्व-प्राप्ति के तीसरे वर्ष चारिका करते भगवान् बुद्ध कपिलवस्तु गये और वहाँ राहुल को दीक्षा दी तथा वहाँ से चलकर *वैशाली* आये। वहाँ वे 'कूटागारशाला' में ठहरे। उस समय वैशाली का एक *'तन्तुवाय'* भिक्षुओं के निवास के लिए स्वयं मकान बना रहा था। मकान बनाने की कला वह नहीं जानता था। उसका मकान तीन-तीन बार गिर गया। कोई उसे न उचित सलाह देता था, न सहायता करता था। भगवान् बुद्ध को जब यह ज्ञात हुआ कि दान-कर्म के लिए वह गरीब तन्तुवाय इतना परेशान है, तब उन्होंने भिक्षुओं को उसे सहायता देने के लिए भेजा। भिक्षुओं की मदद से बेचारा अन्त में सफल हुआ और उसने मकान बनाकर भगवान् बुद्ध को दान कर दिया। वैशाली की इसी शाला में भगवान् ने अपनी मौसी महाप्रजापति को, जो ५०० स्त्रियों के साथ कपिलवस्तु से चलकर वैशाली आई थीं, संघ में सम्मिलित किया था[1]। तब से संघ में स्त्रियों के लिए स्थान विहित हो गया।

भगवान् बुद्ध का जब चौथा वर्षावास राजगृह में हो रहा था, उसी समय *'राजगृह के एक मेले में'* उनके छह शिष्य गीत गाते भ्रमण कर रहे थे। भगवान् बुद्ध ने जब सुना, तब भिक्षुओं को गीत गाने और गीत सुनने से मना कर दिया[2]।

इसी राजगृह में कुछ भिक्षु उपासक ऐसे थे, जो शरीर को मल-मलकर स्नान करते, जलविहार करते, तेल मालिश करते, केश में कंघी लगाते, मुख पर पाउडर मलते, और

---

१. अंगुत्तर निकाय—८, २, १-३

२. चुल्लवग्गो—५, १, ५ और 'विनयपिटक' (अनु० राहुल सांकृत्यायन)—पृ० ४२०

शरीर में अंगराग लगाते थे। राजगृह के लोगों में शिकायत होने लगी कि ये बुद्ध के शिष्य कैसे हैं, जो विलासी की तरह शरीर का प्रसाधन करते हैं। इस पर भगवान् बुद्ध ने शरीर रगड़कर नहाने, कंघी करने, सिर में बड़े-बड़े बाल रखने, कंठसूत्र, कटिसूत्र, आभूषण, तेल-मालिश, अंगराग आदि धारण करने से भिक्षुओं को मना कर दिया[१]।

एक बार भगवान् बुद्ध कोसल से चारिका करते हुए अपने संघ के साथ 'नालन्दा' में आये।[२] 'नालन्दा' में आकर '*प्रावारिक सेठ*' के '*आम्रवन*' में ठहरे। उस साल 'नालन्दा' में अकाल पड़ा था। मगध के खेतों के पौधे सूखकर ठूँठ हो गये थे। वहाँ '*निगंठनाथपुत्त*' (महावीर तीर्थंकर) भी वास कर रहे थे। उसी समय गाँव का मुखिया, जिसका नाम '*असिकबन्धक पुत्र*' था, महावीर के आश्रम में आया। साष्टांग दण्डवत् और कुशल-समाचार के बाद 'असिकबन्धक पुत्र' ने महावीर से अकाल की चर्चा छेड़ दी। महावीर ने कहा—"इस समय तो गृहस्थों को अपना पेट भी चलाना कठिन हो रहा है, उस पर यह 'गौतम' अपने इतने बड़े भिक्षु-संघ के साथ 'नालन्दा' आ पहुँचा है। इसके खिलाने-पिलाने और दान देने से तो गृहस्थों की और भी तबाही होगी। हे असिकबन्धक पुत्र, तुम ग्राम के मुखिया हो। तुम्हें चाहिए कि जाकर गौतम से पूछो कि तुम गृहस्थों की रक्षा करना चाहते हो या उनका कुलनाश? इस पर वह तो कहेगा कि हम गृहस्थों की कुल-रक्षा करना चाहते हैं। तब तुम पूछोगे कि रक्षा करना चाहते हो, तो इतनी बड़ी जमात के साथ इस समय यहाँ पधारकर और गृहस्थों से अन्नादि का दान लेकर उनका कुलनाश क्यों करा रहे हो? तब देखना कि वह क्या उत्तर देता है।"

असिकबन्धक पुत्र जब भगवान् बुद्ध के पास पहुँचा और इस तरह का प्रश्न पूछा तो भगवान् ने कहा—"कुल का नाश दान देने से नहीं होता, दान देने से तो कुल की वृद्धि होती है। कुलनाश जिन कारणों से होता है, वे आठ उपघात इस प्रकार हैं—"राजा से, चोर से, आग से, बाढ़ से, धन गाड़ने से, अच्छी तरह खेती न करने से, कुल में कुपुत्र पैदा होने से और वस्तुओं की नश्वरता से।" फल यह हुआ कि बुद्ध के मीठे उपदेशों से असिकबन्धक पुत्र भगवान् बुद्ध का ही भक्त हो गया[३]।

'दीघ निकाय' (१।११) के 'केवट्टसुत्त' से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध 'नालन्दा' के इसी 'प्रावारिक' सेठ के आम्रवन में ठहरे हुए थे, तभी बुद्ध के उपासक गृहपति-पुत्र '*केवट्ट*' ने भगवान् से प्रार्थना की, कि 'भगवन्, यदि यहाँ आप ऋद्धिबल दिखलावें, तो अनेक नालन्दावासी आपका सम्मान करेंगे। उससे आप की बड़ी प्रतिष्ठा होगी।' किन्तु बुद्ध ने कहा—'श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थों को मैं ऋद्धिबल, अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए, नहीं दिखला सकता।' यहीं 'केवट्ट' को भगवान् बुद्ध ने ऋद्धि-प्रातिहार्य, आदेशना-प्रातिहार्य और

१. चुल्लवग्गो—५, १, १-६
२. संयुत्त निकाय—४०, ६
३. बुद्धचर्या—पृ० १०

अनुशासनीप्रातिहार्य बतलाया था। इसमें *'गान्धारी-विद्या'* और *'चिन्तामणि-विद्या'* का भी उल्लेख आया है, जो तांत्रिक पद्धति की विद्याएँ हैं।

उसी वर्ष भगवान् बुद्ध 'मगध' के 'पंचशाला'[१] नामक ब्राह्मणों के गाँव में गये। उस समय उस ग्राम में कुमारी लड़कियों का बहुत बड़ा कोई त्योहार मनाया जा रहा था, जो शायद वर्षा के निमित्त इन्द्र की प्रसन्नता के लिए आयोजित हुआ था। भगवान् बुद्ध जब चीवर पहन भिक्षा-पात्र लेकर उस गाँव में 'पिंडपात' के लिए गये, तब उन्हें सम्पूर्ण गाँव के किसी घर से एक पिण्ड भी भिक्षा के नाम पर नहीं मिला। ज्ञात होता है कि एक तो ब्राह्मणों का गाँव था, जहाँ बौद्ध भिक्षुओं को लोग पसन्द नहीं करते थे, दूसरे अकाल की स्थिति थी और तीसरे, उत्सव की धूम-धाम थी, जिससे किसी ने बुद्ध की तरफ ध्यान तक भी नहीं दिया। बुद्ध का भिक्षा-पात्र जिस स्थिति में धो-पोंछकर गया था, उसी अवस्था में वापस आ गया। 'संयुत्त निकाय' की कथा में यह बात मिलती है कि जब बुद्ध रिक्तपात्र लौट आये, तब 'मार' सामने प्रकट हुआ और उसने कहा—'भगवन्, पुनः उस गाँव में पिण्डपात के लिए चलें, इस बार हम भोजन दिलवायेंगे।' इस पर बुद्ध ने कहा—'आभास्वर देवों की भाँति हम प्रीतिरूपी भोजन के खानेवाले हैं।' इस वाक्य से स्पष्ट पता चलता है कि पंचशाला के ब्राह्मणों ने बुद्ध के साथ शिष्टता का व्यवहार नहीं किया या न कोई प्रीति-प्रदर्शन ही किया। ब्राह्मणों और बौद्धों के बीच की वह खाई दिन-दिन बढ़ती गई।

भगवान् बुद्ध का ग्यारहवाँ वर्षावास मगध के दक्षिणागिरि के *'एकनाला'* ग्राम में हुआ।[२] 'सुत्तनिपात' (सुत्त—४) के अनुसार पता चलता है कि यहाँ *'कृषि-भारद्वाज'* नाम का एक अत्यन्त धनाढ्य ब्राह्मण रहता था। अपने दान-पुण्य से बहुत बड़ा यश अर्जित किया था। वह उस क्षेत्र का अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति था। भगवान् बुद्ध ने उसे अपना शिष्य बनाने के लिए उद्योग किया। बौद्ध धर्म का स्थायित्व तथा प्रसार कैसे होगा, भगवान् बुद्ध इस नीति को अच्छी तरह जानते थे। भगवान् बुद्ध जब अपनी बृहत् शिष्य-मंडली के साथ वहाँ पधारे, तब बरसात आ गई थी। लोग कृषि-कर्म में प्रवृत्त हो रहे थे। 'कृषि-भारद्वाज' भूमि-कर्षण उत्सव मनाने जा रहा था। वह पाँच सौ हलों से जोताई का काम करा रहा था। बुद्ध उपर्युक्त अवसर देखकर एक ऊँचे टीले पर बैठकर समाधि में लीन हो गये। समाधि में स्थिर होते ही उनके शरीर से प्रभा-पुंज फैल उठा। यह चमत्कार देखकर गाँववालों की भीड़ लग गई। 'कृषि-भारद्वाज' ने कहा—"क्या भीड़ लगाये हुए हो? कोई निठल्लू होगा, जो ऋद्धि-प्रातिहार्य को जीविका का साधन बनाये हुए है। अन्यथा अपने पसीने से उपार्जन करके जीविका-निर्वाह करता।" इतना कहकर वह घर लौट गया।

दूसरे दिन दोपहर को 'कृषि-भारद्वाज' जब ब्राह्मणों को भोजन परोस रहा था,

१. संयुत्त निकाय—४, २, ८
२. अंगुत्तर निकाय (अट्ठकथा)—२, ४, २

तब भगवान् बुद्ध चीवर पहन, पात्र लेकर उसके द्वार पर जाकर चुप-चाप खड़े हो गये। इस तरह भिक्षा के लिए खड़े बुद्ध को देखकर भारद्वाज ने कहा—

अहं खो समण ! कसामि च वपामि च, कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जामि ।
त्वंऽपि समण ! कसस्सु च वपस्सु च, कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जस्सूति ॥

अर्थात्, हे श्रमण, मैं जोतता हूँ, बोता हूँ और जोताई-बोआई करके भोजन करता हूँ। तुम भी खेत जोतो और बोओ, इस तरह उपार्जन करके खाओ।

भगवान् बुद्ध ने कहा—"कृषक होने का घमण्ड क्यों करते हो? मैं भी जोताई-बोआई करनेवाला कृषक हूँ। पर मेरी जोताई-बोआई तुमसे भिन्न है। मेरी गृहस्थी इस प्रकार होती है—

सद्धा बीजं तपो वुट्ठि, पञ्ञा मे युगनंगलं ।
हिरि ईसा मनो योत्तं सति मे फाल पाचनं ॥"[1]

अर्थात्, "श्रद्धा मेरा बीज है, तप वृष्टि है, प्रज्ञा-युग जुआ और नङ्गल (हलांग) है, लज्जा नङ्गल-दण्ड है, मन खेत है, स्मृति फाल और डण्डा है।" आगे उन्होंने यह भी कहा कि "मैं सत्य से निरौनी का काम करता हूँ, निर्वाण की ओर ले जानेवाले वीर्य ही मेरे बैल हैं। मेरी खेती अमृत फल देती है। ऐसी खेती करनेवाला व्यक्ति सभी क्लेशों से छुटकारा प्राप्त कर लेता है।" इस तरह के उपदेशों को सुनकर 'कृषि-भारद्वाज' बुद्ध के चरणों पर गिर पड़ा और उनका सेवक हो गया। पीछे चलकर इसने प्रव्रज्या ले ली और भारद्वाज नाम से अर्हत् हुआ। इसी की श्रद्धा-भक्ति से प्रसन्न होकर बुद्ध ने एकनाला में चातुर्मास बिताया।

भगवान् बुद्ध वाराणसी से चारिका करते हुए जब दूसरी बार वैशाली आये, तब पुनः कूटागार-शाला में ठहरे। वैशाली से नजदीक ही 'कलन्दक' नाम का एक गाँव था। वहाँ के एक सेठ का लड़का, जिसका नाम 'सुदिन्न' था और जो अभी क्वाँरा था, किसी काम से वैशाली आया हुआ था। भगवान् बुद्ध की आयु उस समय ४७ वर्ष की थी[2]। सुदिन्न ने वैशाली में बुद्ध को अपनी परिषद् के बीच उपदेश करते देखा। उसने भगवान् से प्रव्रज्या देने के लिए प्रार्थना की। भगवान् बुद्ध ने कहा कि प्रव्रज्या के लिए अपने माता-पिता से आज्ञा माँगकर आओ। 'सुदिन्न' माता-पिता से आज्ञा लेने चला गया। उसके माता-पिता रोने-धोने लगे। सुदिन्न ने बार-बार कहा और बार-बार उसके माता-पिता ने अस्वीकार किया। अन्त में 'सुदिन्न' ने अनशन आरंभ कर दिया और प्राण देने पर उतारू हो गया। सुदिन्न के मित्रों ने भी उसे बहुत समझाया, पर उसने किसी की एक न सुनी। तब उसके मित्रों ने उसके माता-पिता को समझाया—"उसके प्राण चले जाने से तो कहीं अच्छा होगा कि उसे तुम लोग प्रव्रजित होने की आज्ञा दे दो। कम-से-कम वह जीवित

१. सुत्तनिपात—४, श्लो० २
२. देखिए—'बुद्धचर्या' पृ० १४५

तो रह सकेगा।" लाचार होकर, अन्त में, उसके माता-पिता ने आज्ञा दे दी। 'सुदिन्न' वैशाली जाकर बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में प्रतिष्ठित हो गया[1]। बाद में सुदिन्न के माता-पिता ने उसका विवाह भी कर दिया; किन्तु जब उसने विधिवत् उपसम्पदा ले ली, तब उसके थोड़े ही दिनों बाद वह अवधूत-गुणों से युक्त होकर वज्जि-प्रदेश के एक गाँव के समीप रहकर साधना करने लगा। वह ग्राम के बाहर ही रहता था और मधुकरी माँग कर भोजन करता था। चीथड़ों का बना चीवर धारण करता था और सर्वदा पर्यटन करता था।

भगवान् की बुद्धत्व-प्राप्ति के १२वें वर्ष में सुदिन्न प्रव्रजित हुआ था और जब बुद्ध अपना २०वाँ वर्षावास 'राजगृह' में बिता रहे थे, तब फिर सुदिन्न चारिका करता हुआ वैशाली आया। उस समय उसकी प्रव्रज्या का आठवाँ वर्ष बीत रहा था। उस वर्ष सम्पूर्ण वज्जि में अकाल पड़ा था। वज्जि के अकाल के निवारण के लिए भगवान् बुद्ध को लिच्छवियों ने मगध से बुलाया था और बुद्ध से बौद्ध तंत्र-मंत्रों का पाठ कराया था। वज्जि प्रदेश का यह ऐसा अकाल था कि भिखारियों को भीख नहीं मिलती थी। 'सुदिन्न' चारिका करते-करते भिक्षा के लिए अपने गाँव 'कलन्दकनिवाप' में गया और अपने पिता के द्वार पर पहुँचा। उसी समय गृहदासी बासी दाल फेंकने घर से बाहर आई। सुदिन्न अत्यन्त भूखा था। उसने कहा—'इसे फेंकती क्यों हो, मेरे भिक्षा-पात्र में दे दो।' गृहदासी बासी दाल को उसके भिक्षा-पात्र में डालकर घर में दौड़ गई। उसने सुदिन्न को पहचान लिया। घर में जाकर उसने घर के मालिक और मालकिन से सुदिन्न के आने की बात कही। वे जब बाहर आये, तबतक सुदिन्न एक दीवार की आड़ में जाकर बासी दाल खा रहा था। उसके पिता उसे समझाकर घर लाये। पिता ने अशर्फियों और स्वर्ण की राशि आँगन में रखकर पुत्र से कहा—'यह सारा धन तुम्हारी माँ का है, जो स्त्री-धन है। मेरा धन तो अभी अलग है।' सुदिन्न ने बिलकुल एक अल्पेच्छ भिक्षु की तरह उत्तर दिया—'इन्हें ले जाकर गंगा में डुबो दो। इनका संचय करके व्यर्थ क्यों कष्ट भोग रहे हो।' उसकी माँ भी बहुत रोई गिड़गिड़ाई और उसकी पत्नी ने भी बहुत ही प्रार्थना-विनती की; पर सुदिन्न पर किसी का भी कुछ असर न हुआ। अन्त में उसकी माता ने बेटे से हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि—'बेटा! घर की अपार सम्पत्ति, निस्संतान होने से लिच्छवि ले लेंगे। तुम न रहो सही, पर एक बीजक (बीज-स्वरूप) पुत्र दे दो।' अपनी माता की इस तरह बात सुनकर वह राजी हो गया, और कहा—'मैं पास के महावन में रहता हूँ। जरूरत होने पर वहीं आकर मिलना।'

समय पर सुदिन्न की स्त्री पुष्पवती हुई। सुदिन्न की माता, पतोहू को वस्त्राभूषण और विविध शृंगारों से सजाकर अपने पुत्र के पास महावन में ले गई। वहाँ पहुँचकर उसने अपने पुत्र को उसके दिये वचन का स्मरण कराया। अपने वचन के पालन के लिए और पत्नी की रूप-सज्जा पर मोहित होकर सुदिन्न ने उसके साथ तीन बार सहवास किया। सुदिन्न की माँ पतोहू को लेकर घर आई और समय पूरा होने पर पुत्र का जन्म हुआ। बीजक पुत्र होने से

१. बुद्धचर्या—पृ०१४५

उस लड़के का नाम भी 'बीजक' पड़ा। पीछे चलकर उसकी माता का नाम बीजक-माता और सुदिन्न का नाम बीजक-पिता अभिहित हुआ।

राजगृह में जब भगवान् बुद्ध को यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने दस बातों का खयाल कर 'मैथुन-पराजिक' का विधान किया[१] जिसके अनुसार सुदिन्न बौद्ध संघ से निकाल दिया गया। 'महाकाश्यप' ने जब राजगृह में प्रथम संगीति कराई, तब उपालि[२] से प्रश्न पूछने पर उसने पहले-पहल इसी पराजिक का संगायन किया था[३]। पुनः कुछ समय बाद सुदिन्न और उसकी पत्नी—दोनों प्रव्रजित हो अर्हत्-पद को प्राप्त हुए।

एक समय भगवान् बुद्ध चारिका करते पुनः वैशाली गये और वहाँ अपने प्रिय स्थान 'कूटागारशाला' में ठहरे। उसमें लिच्छवियों की परिषद् में बुद्ध के ज्ञान और संघ की बड़ी प्रशंसा हुई। वहीं *सिंह सेनापति* था, जिसने बुद्ध की विशद कीर्त्ति की चर्चा सुनी। वह एक विशिष्ट जैनधर्मावलम्बी था, जिसका खजाना जैनों के लिए सार्वजनिक कूप की तरह सर्वदा खुला रहता था। उसकी बड़ी इच्छा हुई कि मैं भगवान् बुद्ध से मिलूँ और मिलने की आज्ञा लेने वह महावीर तीर्थंकर के पास गया। तीर्थंकर ने उसे मना किया; फिर भी वह नहीं माना और भगवान् बुद्ध से मिला। वह जब मिलने चला, तब उसके साथ पाँच सौ रथों पर चढ़कर वैशाली के और लोग भी चले। जहाँ तक रथ जाने का मार्ग था, वहाँ तक तो लोग रथ पर चढ़कर गये, बाकी रास्ता पैदल चलकर उन्होंने बुद्ध भगवान् के पैर छुए। कुशल-क्षेम के बाद 'सिंह सेनापति' ने भगवान् से कहा—"भगवन्, ये जैन कहते हैं कि बुद्ध 'अक्रियावाद' का उपदेश करता है। क्या आप अक्रियावादी हैं?" इस पर भगवान् बुद्ध ने अक्रियावाद की व्याख्या की और तर्कों से स्वीकार करा दिया कि मेरा मत तो पूर्ण क्रियावादी है। भगवान् बुद्ध की विद्वत्ता और उनके सिद्धान्त को कुशल धर्म जानकर सिंह सेनापति ने बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया और दूसरे दिन उन्हें शिष्य-मंडली के साथ भोजन के लिए अपने घर बुलाया। सिंह सेनापति ने बुद्ध-मंडली के भोजन के लिए और वस्तुओं के साथ पशुओं का मांस भी पकवाया था।

वैशाली के जैनधर्मावलम्बियों ने बौद्धों के इस भोज पर उनकी खिल्ली उड़ानी शुरू कर दी। वे कहने लगे—"पहले तो श्रमण गौतम कहता था कि हमें भोजन में जो चीजें (मांस भी) मिल जाती हैं, खा लेते हैं। हिंसा का दोष हमें नहीं लगता; क्योंकि भिक्षा में मिले मांस, जिसे हम खाते हैं, हमारे निमित्त नहीं बनते हैं। पर, आज जिन पशुओं के मांस ये बौद्ध भक्षण कर आये हैं, वे पशु तो उन्हीं के निमित्त मारे गये थे। सिंह सेनापति ने तो अपने लिए इतने पशुओं का वध नहीं कराया था। बौद्धों की अहिंसा के ढोंग को तो जरा देखो।" इस बात का प्रचार जैनों ने वैशाली में खूब किया।

१. देखिए—विनयपिटक, प्रथम पराजिक।
२. भगवान् बुद्ध का शिष्य 'उपालि', जो जाति का हजाम था और कपिलवस्तु का निवासी था।
३. चुल्लवग्गो—११, १, २

उसी समय भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षुओं के लिए पाँच प्रतिबन्ध लगा दिये। बौद्ध संघ में पूर्णरूप से आ जाने पर भी सिंह सेनापति को उन्होंने कहा—"सिंह, तुम्हारा कुल दीर्घकाल से निगंठों (जैनों) के लिए प्याऊ की तरह रहा है। उनके लिए भी दान अवश्य देते रहना[1]।" ऐसी बात सुनकर सिंह सेनापति भगवान् बुद्ध के चरणों में और भी श्रद्धा से झुक गया। वह खुशी के मारे कहने लगा—'भन्ते! भगवान् तो मुझे निगंठों को भी दान देने को कहते हैं। कितने उदार हैं!' अब सिंह सेनापति बौद्धधर्म का पूर्ण अनुयायी बन गया।

बौद्धधर्म में वैशाली का जो दूसरा महान् व्यक्ति आया, उसका नाम था—*महालि*। जब भगवान् 'कूटागारशाला' में ही ठहरे हुए थे, तब लिच्छवियों का एक समुदाय महालि के नेतृत्व में बुद्ध से मिलने गया। इन लोगों से पहले ही कोसल और मगध से कुछ ब्राह्मणदूत आकर वहाँ उपस्थित थे। उस समय भगवान् बुद्ध अपनी कुटी में साधना कर रहे थे। उनका उपस्थापक (निजी सेवक) उस समय 'नागित' नामक भिक्षु था। नागित ने इन लोगों को अन्दर जाने से रोक दिया। महालि लिच्छवि-समुदाय के साथ वहीं प्रतीक्षा में बैठ गये। भगवान् बुद्ध के साथ 'महाकाश्यप' भी उस समय वैशाली में ही उपस्थित थे। सिंह सेनापति ने महाकाश्यप को महालि का परिचय दिया और प्रार्थना की कि भगवान् से इन्हें मिला दें। महाकाश्यप के प्रयत्न से बुद्ध भगवान् कुटी से बाहर आये। साधारण शिष्टाचार के बाद महालि के प्रश्नों के उत्तर में बुद्ध ने शरीर, जीव, अष्टांगिक मार्ग आदि का सम्यक् उपदेश किया। महालि 'पूरण-कश्यप' के सम्प्रदाय का अनुयायी था। वह शरीर और आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखता था। किन्तु बुद्ध के सबल तर्कयुक्त उपदेशों को सुनकर उसने भी बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया[2]।

महालि का जन्म लिच्छवि-वंश में हुआ था। इसने धनुर्विद्या की शिक्षा 'तक्ष-शिला' में पाई थी और अपने समय का अद्वितीय धनुर्धर था! शिक्षा समाप्त कर जब यह वैशाली लौटा, तब लिच्छवि-कुमारों को धनुर्विद्या सिखाने के लिए शिक्षक नियुक्त हुआ। एक समय बाण चलाने के शिक्षा-क्रम में इसने ऐसा पराक्रम दिखाया कि इसकी दोनों आँखें ही निकल गईं! फिर भी यह शिक्षक का काम करता ही रहा। वैशाली गणतंत्र की ओर से इसकी जीविका का वृहत् प्रबन्ध कर दिया गया था। इसका ओठ फटा था, इसलिए 'अर्धोष्ठ' भी कहलाता था।

वैशाली के पड़ोस में ही *वत्सगोत्रीय पुण्डरीक* नामक एक परिव्राजक रहता था। उसकी साधना की कीर्त्ति सुनकर भगवान् बुद्ध उससे मिलने के लिए स्वयं गये। पुण्डरीक ने बुद्ध के सत्कार में एक सच्चे साधु का भाव दिखलाया। मीठे बोल के द्वारा तथा, आसन देकर उनके प्रति पूर्ण आदर प्रकट किया। वह आजीवक-सम्प्रदाय का विरोधी था, जिसे

---

१. बुद्धचर्या—पृ० १४१

२. दीघ निकाय (महालिसुत्त)—१,६

बुद्ध पसन्द करते थे। पुण्डरीक परिव्राजक ने भी बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर उनके भाषण का अनुमोदन किया[1]।

भगवान् बुद्ध उस समय भी 'कूटागारशाला' में ही ठहरे हुए थे, जब लिच्छवि-पुत्र सुनक्षत्र उनसे मिलने गया[2]। सुनक्षत्र ने भगवान् बुद्ध से कहा—"भगवन्, अनेक भिक्षु निर्वाण-प्राप्ति का बखान करते हैं। वे हृदय से बखान करते हैं या चापलूसी में।" भगवान् बुद्ध ने कहा—"कुछ तो दिखावटी तौर पर बखान करते हैं और कुछ हृदय से। पर जिन्होंने दिखावटी तौर पर बखान किया है, उन्हें मैं धर्म का उपदेश करूँगा।" इसके बाद बुद्ध ने सुनक्षत्र को ध्यान-धारण और चित्त-संयम का उपदेश किया।

इस सुनक्षत्र की गिनती बुद्ध के प्रधान शिष्यों में हो गई थी और कुछ काल तक यह उनका उपस्थापक (निजी सेवक) भी रहा था। पीछे चलकर इसने बौद्धधर्म का त्याग कर दिया। सुनक्षत्र का ऐसा आचरण तात्कालिक गणतंत्रात्मक राज्य के आलोचनात्मक दृष्टिकोण का परिचायक था।

एक बार बुद्ध के साथ यह 'कुलु' जाति के लोगों के 'उत्तरका' नामक कस्बे में गया। वहाँ इसने *कोरखत्तिय कुक्कुरव्रतिक* एक अचैल संन्यासी को देखा। वह दोनों घुटनों और हाथों को जमीन पर रोपकर तथा मुँह लपकाकर भोजन करता था। उसके ऐसे आचरण को देखकर सुनक्षत्र के मन में हुआ कि यह भगवान् बुद्ध से भी बड़ा सिद्ध है।

सुनक्षत्र के सम्बन्ध में एक दूसरी कहानी भी है। बुद्ध जब कूटागारशाला में ही थे, तब वैशाली में *कोरमट्टक* नाम का एक अचैल संन्यासी बड़ा नाम और यश प्राप्त किये हुए था। उसका व्रत था कि 'मैं जीवन-भर नंगा रहूँगा, ब्रह्मचारी रहूँगा, अन्न नहीं खाऊँगा, केवल मांस और मदिरा का ही सेवन करूँगा। वैशाली में पूर्व की ओर सिर्फ उदयन चैत्य तक, दक्षिण में गोतमक चैत्य तक, पश्चिम में सप्ताम्रक चैत्य तक और उत्तर में बहुपुत्रक चैत्य तक ही जाऊँगा—आगे कहीं नहीं जाऊँगा।' इन सात व्रतों के पालन से वैशाली में उसका यश बहुत बढ़ गया था। एक दिन सुनक्षत्र उसके पास जाकर प्रश्न पूछने लगा। इससे कोरमट्टक क्रोध में उन्मत्त हो गया। उसके क्रोध को देखकर सुनक्षत्र यह सोचकर डर गया कि इस पहुँचे संन्यासी को मैंने शायद चिढ़ा दिया। पता नहीं क्या होगा? उसने बुद्ध भगवान् से जाकर अपने भय की बात कही। बुद्ध ने इसपर उसे काफी झिड़की दी—'तुम भी अपने को बौद्ध भिक्षु ही समझते हो!' उसने बुद्ध की झिड़की पाकर अशिष्ट व्यवहार किया—'आप उस महाव्रती संन्यासी से ईर्ष्या करते हैं।' अपने शिष्य की ऐसी बात पर बुद्ध को बहुत दुःख हुआ और उन्होंने शाप दिया—"जिसे तू इतना महान् पुरुष मानता है, वह अपने सारे व्रतों से च्युत हो जायगा और काम-वासना-पंक में मग्न

१. मज्झिम निकाय—२,३,१
२. मज्झिम निकाय—१,१,५

हो जायगा।" अन्त में कोरमट्टक वस्तुतः अपने सभी मतों से च्युत होकर कामिनियों का घोर उपासक हो गया और कुकर्म के आचरण से निन्दा का पात्र बना।

सुनक्षत्र के बौद्धधर्म छोड़ने के सम्बन्ध में एक तीसरी घटना भी घटी। कूटागार-शाला में *पाथिकपुत्र* नाम का एक अचेलक भी रहता था। इसने भी वैशाली में यश प्राप्त किया था। इसे अपनी विद्या और ऋद्धि का बड़ा भारी घमण्ड था। यह वैशाली के लोगों में कहता चलता था—"गौतम तपस्वी है और मैं भी तपस्वी हूँ। वह आवे और ऋद्धि-प्रदर्शन में मुझसे होड़ करे। यह कहता, मैं इधर से चलूँगा, बुद्ध उधर से आवे और बीच रास्ते में ऋद्धि-प्रदर्शन हो।" सुनक्षत्र ने जाकर पाथिकपुत्र अचेलक के द्वारा दी गई चुनौती की बात भगवान् बुद्ध से कही। भगवान् बुद्ध ने कहा—'आज भिक्षाटन के बाद भोजनोपरान्त मैं चलूँगा।' इधर सुनक्षत्र ने कई प्रभावशाली लिच्छवियों से जाकर कहा—"आज पाथिकपुत्र अचेलक और भगवान् के बीच ऋद्धि-प्रदर्शन की होड़ होगी। आप लोग पाथिकपुत्र के आश्रम में चलें।"

दोपहर के समय अचेलक के आश्रम में हजारों वैशालीवासियों की भीड़ इकट्ठी हो गई। किन्तु, इधर पाथिकपुत्र बुद्ध-आगमन की बात सुनकर पहले ही आश्रम छोड़कर भाग गया और *तिन्दुखांडु* नामक परिव्राजकों के आश्रम में चला गया। लिच्छवियों ने बुद्ध के आ जाने पर तिन्दुखाण्डु आश्रम में पाथिकपुत्र को लिवा लाने के लिए आदमी भेजा। उस व्यक्ति ने जाकर पाथिकपुत्र से चलने के लिए कहा—पर वह जहाँ-का-तहाँ बैठा रहा। उस व्यक्ति के लौटने में देर हुई, अतः एक लिच्छवि-सरदार स्वयं पाथिकपुत्र के पास गया। लिच्छवि-सरदार ने जाकर उसे बहुत ढाढ़स बँधाया कि चलिए, हमलोग आपको विजयी बना देंगे। फिर भी वह नहीं उठा। इसके बाद *दारुपत्तिक* संन्यासी का शिष्य *जालिय* भी वहाँ गया। जालिय ने पाथिकपुत्र को बहुत धिक्कारा और ललकारा। फिर भी पाथिकपुत्र टस-से-मस नहीं हुआ। अन्त में सारी सभा हैरान हो गई, पर पाथिकपुत्र न आ सका। भगवान् बुद्ध ने भीड़ के समक्ष वहीं उपदेश किया और ऐसा प्रकाश फैलाया, जो सात ताड़ ऊँचा उठकर धुँआ छोड़ता हुआ कूटागारशाला के ऊपर-ऊपर प्रकाश-पुंज फैलाकर लुप्त हो गया[१]।

'मज्झिम निकाय' (१।२।२) के 'महासिंहनाद सुत्तन्त' से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध जिस समय वैशाली के 'अश्वपुर' वनखण्ड में थे, उस समय उपर्युक्त सुनक्षत्र ने भगवान् बुद्ध के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। वह कहने लगा कि 'गौतम के पास आर्यधर्म की पराकाष्ठावाली दिव्यशक्ति (उत्तर-मनुष्य-धर्म) नहीं है। विमर्श से सोचे, अपनी प्रतिभा से जाने और तर्क से प्राप्त धर्म का ही वह उपदेश करता है। जिसके लिए वह धर्म का उपदेश करता है, वह अपने दुःख को ही प्राप्त होता है।'

सुनक्षत्र इस तरह की बातें करता चलता है, भगवान् बुद्ध को यह सारिपुत्र से

१. दीघ निकाय—३,१

ज्ञात हुआ। वह संघ तब छोड़ चुका था। बुद्ध ने कहा—सारिपुत्र, सुनक्षत्र मोघ पुरुष है; वह क्रोधी पुरुष है। इस अवसर पर भगवान् बुद्ध ने अपने तथागत-बल, वैशारद्य, चतुरंग-युक्त ब्रह्मचर्य आदि का ऐसा उपदेश किया कि 'नागसमाल' नामक भिक्षु को रोमांच हो आया। भगवान् बुद्ध जब सारिपुत्र से संलाप कर रहे थे, नागसमाल भगवान् के पीछे खड़े होकर पंखा झल रहे थे। तब नागसमाल ने पूछा—"भगवन्, इस धर्म-पर्याय का क्या नाम है? मुझे तो इसके सुनने से ही रोमांच हो आया।" इस पर भगवान् बुद्ध ने कहा—'इसे 'लोमहर्षणपर्याय' ही समझो।' सुनक्षत्र अपने बार-बार के अशिष्ट व्यवहार के कारण ही संघ से निकाला गया था।

भगवान् बुद्ध जब मल्लों के 'अनूपिया' कस्बे में थे, तब उन्होंने सुनक्षत्र के द्वारा बौद्धसंघ छोड़ने की कहानी 'भार्गवगोत्र परिव्राजक' को सुनाई थी।

भगवान् बुद्ध जब वैशाली की कूटागारशाला में विहार कर रहे थे, तब वहाँ एक और घटना घटी। वैशाली में लिच्छवियों का एक धर्म-गुरु था, जो जैनधर्म का बहुत बड़ा विद्वान् था। इसका नाम *सच्चक* था। यह ऐसे माता-पिता का पुत्र था, जो (दोनों) दस सौ विद्याओं में पारंगत थे। वे दोनों जब कुमार और कुमारी अवस्था में थे, तभी उन के बीच वैशाली में ही शास्त्रार्थ हुआ था। वैशाली के सरदारों ने वज्जि-गणतंत्र के कल्याण और प्रतिष्ठा बढ़ाने के खयाल से दोनों का विवाह करा दिया। उन्होंने विचार किया—'इस तरह के विद्वान् और विदुषी में यदि दाम्पत्य सम्बन्ध हो जायगा, तो इनकी संतानें भी इन्हीं की तरह अनेक विद्याओं में पारंगत होंगी, जिससे गणतंत्र की प्रतिष्ठा बढ़ेगी।' इन्हीं पति-पत्नी का पुत्र 'सच्चक' था, जो लिच्छवियों का गुरु भी था।

सच्चक की चार बहनें थीं, जो अपने युग की महाविदुषी नारियाँ थीं[१]। इनका नाम था—*सच्चा, लोला, अववादका* और *पटाचारा*। इन्हीं बहनों के साथ सारिपुत्र का शास्त्रार्थ श्रावस्ती में हुआ था, जिसका उल्लेख सारिपुत्र के जीवन-प्रसंग में पहले हो चुका है[२]।

उक्त चारों बहनों के भाई सच्चक ने भगवान् बुद्ध के साथ शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी, जब भगवान् कूटागारशाला में ठहरे थे।[३] वह कहने लगा—"मेरे साथ शास्त्रार्थ में आदमी को कौन कहे, देवता भी काँपने लगेंगे, उनकी काँख से पसीना निकलने लगेगा। मैं बुद्ध को ऐसा न कर दूँ, तो मेरा सच्चक नाम नहीं।"

एक दिन वैशाली नगर में सच्चक से भगवान् बुद्ध के शिष्य अश्वजित् की भेंट हो गई। सच्चक ने उससे कहा—'तुम्हारे शास्ता के साथ शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ। देखें, यह अवसर कब आता है।' फिर दूसरे दिन सच्चक लिच्छवियों की परिषद् में पहुँचा, जहाँ पाँच सौ लिच्छवि एकत्र होकर किसी विषय पर विचार-विमर्श कर रहे थे। सच्चक ने

१. जातक (चुल्लिकालिंग)—३०१

२. द्रष्टव्य—इस पुस्तक के पृ० ६६ और ६७।

३. मज्झिम निकाय (चूलसच्चक सुत्तन्त)—१,४,५

कहा—'आप लोग चलें, आज मेरा बुद्ध के साथ शास्त्रार्थ होगा। आज के शास्त्रार्थ में बड़े-बड़े लोमोंवाली भेड़ की तरह, बुद्ध के बालों को पकड़कर जिधर चाहूँगा, उधर घुमाऊँगा।' सच्चक की बात सुनकर संस्थागार में खलबली मच गई। कोई कहता—'शास्त्रार्थ की जोड़ी अच्छी रहेगी ; कोई कहता, 'हमारे धर्म-गुरु सच्चक के साथ बुद्ध क्या शास्त्रार्थ करेगा' और कोई कहता—'नहीं जी, भगवान् बुद्ध के सामने 'सच्चक' क्या खाकर टिकेगा।' बाद में सारी परिषद् के साथ सच्चक वहाँ पहुँचा, जहाँ भगवान् बुद्ध थे। प्राथमिक शिष्टाचार के बाद सारी परिषद् जम गई और शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। सच्चक ने प्रश्न किया—'हे बुद्ध! आप अपने शिष्यों को शिक्षा किस प्रकार देते हैं?' यानी सच्चक ने बुद्ध के मूल सिद्धान्तों पर प्रहार करना शुरू किया। किन्तु थोड़ी देर बाद ही वाद-प्रतिवाद के दौरान में बुद्ध ने अपने तर्कजालों में सच्चक को ऐसा फँसाया कि उलटे सच्चक को ही भेड़ की तरह जिधर चाहा, उधर घुमाया-फिराया। सच्चक की काँख से पसीना छूटने लगा। उसकी ऐसी हालत देखकर बुद्ध से लिच्छवि-कुमार *दुर्मुख* ने कहा—"भगवन्, अब बस करें। सच्चक की हालत उस केंकड़े की तरह हो गई है, जिसे पानी से निकालकर लड़कों ने उसके एक-एक चंगुल को काट दिया है, जिससे बेचारा केंकड़ा पानी में घुसने से असमर्थ हो गया है।"

सच्चक हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और कहने लगा—"हे गौतम, मतवाले हाथी से भी भिड़कर बच निकलनेवाला व्यक्ति आपसे भिड़कर कभी नहीं बच सकता। मुझे क्षमा करें। मैं आपका अनुगत हुआ। मेरे घर कल का भोजन स्वीकार करें।" परम उदार भगवान् बुद्ध ने मौन होकर उसका निमंत्रण स्वीकार कर लिया।

वैशाली के बाद भगवान् बुद्ध चारिका करते हुए *भद्दिया* (भागलपुर के पास का भदरिया) पहुँचे। उस समय उनके साथ साढ़े बारह सौ भिक्षुओं का एक भारी संघ था[१]। भद्दिया में *मेण्डक* नाम का एक श्रेष्ठी था। बिम्बिसार के राज्य में उस समय अत्यन्त वैभव-सम्पन्न पाँच[२] श्रेष्ठी थे, उनमें से मेण्डक भी एक था। वह पाँच महापुरुषों से युक्त था। उसकी प्रधान भार्या चन्द्रप्रभा, उसका पुत्र धनंजय, उसकी पतोहू सुमना, उसका दास पूर्णक और स्वयं वह—ये पाँच महापुरुष थे[३]। मेण्डक ने जब सुना कि कुलीन शाक्यपुत्र सिद्धार्थ बुद्ध हुए हैं और वे संघ के साथ मेरे नगर में आये हैं, तब वह सभी तरह आदर-सत्कार के साथ भगवान् बुद्ध से *जातिवन* में जाकर मिला[४]। इसने पहले ही भगवान् की अगवानी में अपनी पोती *विशाखा* को ५०० कन्याओं के साथ सत्कार के लिए भेजा। उस समय विशाखा की उम्र केवल सात साल की थी। विशाखा की माता का नाम सुमना था और पिता का

१. बुद्धचर्या (पं० राहुल सांकृत्यायन)—पृ० १५१
२. ज्योतिय, जटिल, मेण्डक, पूर्णक और काकवलिय-ये बिम्बिसार के राज्य के पाँच करोड़पति सेठ थे।
३. महावग्गो—६, ५, १, १
४. तत्रैव।

धनंजय। 'भद्दिया' में भगवान् बुद्ध जबतक रहे, तबतक उनके संघ का सारा खर्च मेण्डक गृहपति ने ही चलाया। भगवान् के उपदेशों से प्रभावित होकर मेण्डक का सारा परिवार बुद्ध का उपासक हो गया। विशाखा पीछे चलकर बहुत बड़ी बुद्ध की उपासिका और दायिका हुई। बौद्ध संघ को दान देने में यह अद्वितीय नारी थी।

इसी मेण्डक का पुत्र धनंजय बाद में 'प्रसेनजित्' के राज्य कोसल में चला गया और वहाँ साकेत में बसा। बात यों हुई कि प्रसेनजित् के राज्य में उस समय कोई बड़ा श्रेष्ठी नहीं था। उसने बिम्बिसार से प्रार्थना की कि अपने राज्य से एक बड़ा श्रेष्ठी दीजिए, जो हमारे राज्य को भी अलंकृत करे। बिंबिसार की सभा में प्रसेनजित् की प्रार्थना पर विचार हुआ और अन्त में निश्चय हुआ कि पाँच श्रेष्ठियों में से कोई नहीं जा सकता; पर मेण्डक के पुत्र धनंजय को भेजा जा सकता है। बिंबिसार की आज्ञा से धनंजय ने कोसल-राज्य में जाकर साकेत नगर को समलंकृत किया।

भगवान् बुद्ध जब भद्दिया से अपने साढ़े बारह सौ शिष्यों के साथ *अंगुत्तराप* (भागलपुर का उत्तरी हिस्सा और सहरसा का भाग) में चले, तब मेण्डक गृहपति—नमक, तेल, मधु, चावल और अन्य भोज्य पदार्थ बैलगाड़ियों पर लदवाकर तथा १२५० दुधार गायों को साथ लेकर, एक जंगल में पहुँच, उनसे मिला। उसने सम्पूर्ण बौद्ध संघ का गायों के ताजा दूध से सत्कार किया। उसी समय बुद्ध ने मेण्डक की प्रार्थना पर भिक्षुओं के लिए 'पंच-गोरस'[1] तथा कठिन मार्ग के लिए 'पाथेय-संचय' का विधान किया।

जातिवन से चारिका करते हुए बुद्ध अंगुत्तराप के *आपण*[2] नामक निगम में गये। वहाँ *पोत्तलिय* नामक एक गृहपति भगवान् बुद्ध से मिला।[3] अभिवादन तथा कुशल-क्षेम के बाद बुद्ध ने कहा—'आओ गृहपति, बैठो।' और आसन दिलवाया। पोत्तलिय अपना सारा वैभव पुत्र को समर्पित करके स्वयं वानप्रस्थी हो गया था, इसलिए उसे गृहपति सम्बोधन अच्छा नहीं लगा। उसे अपने उच्छेद-कर्म का पूरा अभिमान था। इस पर बुद्ध ने उसे वास्तविक उच्छेद-व्यवहार के उपयुक्त आठ[4] धर्मों की यथार्थ व्याख्या बतलाई। वह बुद्ध के ज्ञानों से प्रभावित होकर संघ की शरण में चला गया।

---

१. महावग्गो—१,५,१,२१—'अनुजानामि भिक्खवे, पञ्च गोरसे-खीरं, दधिं, तक्कं, नवनीतं, सप्पिं।'
२. हमारी समझ में यह स्थान सहरसा जिले का 'बनगाँव' और 'महिसी' ग्राम हो सकता है, जहाँ आज भी पालकालीन अनेक बौद्ध मूर्त्तियाँ हैं। बुद्ध की पर्यटन-भूमि होने के कारण ही पीछे यहाँ बौद्ध मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित की गईं। शायद इसी 'महिसी' के निवासी 'मंडन मिश्र' थे, जो बौद्धदर्शन के विद्वान् थे और जिनसे शास्त्रार्थ करने 'महिसी' में शंकराचार्य आये थे। संभव है, शंकराचार्य के आने के बाद ही इसका नाम 'माहिष्मती' पड़ा, जिसका अपभ्रंश 'महिसी' है।—ले०
३. मज्झिम-निकाय—२,१,४
४. अप्राणातिपात, अदत्तादान, मृषावाद, अपिशुन-वचन, अगृद्ध-लोभ, अक्रोध उपायास, अनिन्दा-दोष और अन-अतिमान का त्याग।—ले०

इसी आपण निगम में *केणिय* नामक एक अति प्रतापशाली जटिल निवास करताथा[1]। इसने जब सुना कि शाक्य-पुत्र गौतम बुद्धत्व प्राप्त कर हमारे निगम में आये हैं, तब उनसे मिलने का विचार किया। पर भेंट में क्या ले चलें, यह इसकी समझ में आता ही नहीं था। अन्त में उसने निश्चय किया कि पूर्व के अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भरद्वाज, वसिष्ठ, कश्यप, भृगु आदि ब्राह्मण ऋषि जो पान करते थे, वही पदार्थ बुद्ध के लिए भी मुझे ले चलना चाहिए[2]। उसने विभिन्न फलों और पत्तों का मैरेय तैयार कराया और बँहगी पर लदवाकर ले गया। बुद्ध के समीप पहुँचकर अभिवादनोत्तर इसने निवेदन किया—'भगवन्, मेरा पान ग्रहण करें।' भिक्षु उस पेय पदार्थ को मदिरा जानकर ग्रहण करने में हिचकते थे। किन्तु बुद्ध का आदेश पाकर फिर तो भिक्षुओं ने खूब छककर पान किया।

मैरेय-पान के बाद केणिय ने कल के भोजन के लिए बुद्ध को निमंत्रित किया। बुद्ध ने कहा—'केणिय, मेरा संघ तो बहुत बड़ा है, उसमें साढ़े बारह सौ भिक्षु हैं। तुम तो ब्राह्मणों में श्रद्धालु हो।' केणिय उदार दानी था। उसने कहा—'आप का संघ साढ़े बारह सौ भिक्षुओं का है, तो इससे क्या? आप मेरा भोजन स्वीकार करें।' केणिय के तीन बार प्रार्थना करने पर बुद्ध ने मौन रहकर उसका निमंत्रण स्वीकार कर लिया। केणिय जब चला गया, तब बुद्ध ने भिक्षुओं को कई फलों और पत्तों के रस पीने की छूट दे दी।

उस समय '*सेल*' नामक एक बहुत बड़ा विद्वान् ब्राह्मण आपण निगम में रहता था[3]। वह तीनों वेदों, निघंटु, कल्प, इतिहास, काव्य, व्याकरण, लोकायत-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र आदि में निपुण हो, तीन सौ विद्यार्थियों को विद्यादान देता था। केणिय जटिल 'सेल' ब्राह्मणों में अति श्रद्धावान् था। इसलिए उस दिन सेल, केणिय के यहाँ घूमता-फिरता आया। केणिय के यहाँ भोज की तैयारी देखकर 'सेल' ने पूछा कि क्या कोई बरात आनेवाली है या मगधराज 'बिंबिसार' सदलबल आ रहा है? यह किसके लिए इतनी बड़ी तैयारी हो रही है। केणिय ने कहा—'नहीं जी, मेरे यहाँ कल बुद्ध साढ़े बारह सौ शिष्यों के साथ भोजन पर आ रहे हैं।' बुद्ध शब्द सुनकर सेल को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—'क्या बुद्ध कहते हो'—*बुद्धोति भो केणिय वदेसि?* केणिय ने कहा—'हाँ, बुद्ध कह रहा हूँ'—*बुद्धोति भो सेल वदामि।*

सेल ने केणिय से पूछा—'बुद्ध अभी कहाँ ठहरे हैं?' केणिय ने वहीं से अंगुली उठाकर बतलाया—'वहाँ, जहाँ सघन नील वृक्ष-पंक्ति दिखाई पड़ती है।' सेल चुपचाप वहाँ से उठकर भगवान् बुद्ध के पास गया और उनमें सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार उसने बत्तीस

१. महावग्गो—६,५,२,१५

२. इससे पता लगता है कि हमारे प्राचीन ऋषियों की कथाएँ जिन ग्रन्थों में हैं, उन ग्रन्थों का प्रचार उस समय भी था।—ले०

३. सुत्तनिपात (सेलसुत्त)—३३

महापुरुष-लक्षणों को देखा। उसने भगवान् बुद्ध की स्तुति की और तब भगवान् ने स्वयं अपना पूर्ण परिचय दिया[१]। सेल ब्राह्मण ने प्रार्थना की कि यदि आपकी आज्ञा हो, तो मैं भी अपने ३०० शिष्यों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करूँ। उसी समय ३०० शिष्यों के साथ सेल ब्राह्मण ने सिर मुड़वाकर प्रव्रज्या प्राप्त कर ली और बुद्ध-संघ में वह दाखिल हो गया।

दूसरे दिन भगवान् बुद्ध जब अपने संघ के साथ केणिय के यहाँ भोजन करने गये, तब केणिय ने देखा कि पाँति में सिर मुड़वाकर अपने ३०० शिष्यों के साथ सेल ब्राह्मण भी बैठे हैं। सेल-जैसे विद्वान् ब्राह्मण ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया, यह देखकर केणिय की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। भोजनोपरान्त भगवान् बुद्ध ने जब आसन-ग्रहण किया, तब संघ को दान देने की महिमा का बखान किया। उन्होंने कहा—"यज्ञों में अग्निहोत्र, तेजस्वियों में सूर्य, मनुजों में राजा, नदियों में सागर, नक्षत्रों में चन्द्रमा और छन्दों में सावित्री मुख्य हैं[२]। इसी तरह पुण्य की आकांक्षा से दान देनेवालों के लिए 'संघ' ही मुख्य है[३]।" इसके बाद भगवान् बुद्ध वहाँ से उठकर चले गये।

सेल ब्राह्मण प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने पर, अप्रमत्त, प्रयत्नशील और लीनचित्त हो एकान्त में विहरता हुआ सात दिनों में ही अर्हत्व प्राप्त कर 'क्षीणास्रव' हो गया। वह आठवें दिन बुद्ध से मिला। बुद्ध ने उसकी सफलता की प्रशंसा की। वह एक अलग बौद्धपरिषद् कायम करके अंगुत्तराप प्रदेश में विहरने लगा।

भगवान् बुद्ध इसी 'आपण' निगम में, एक दिन वनखण्ड के एक भाग में जब विहार कर रहे थे, तब वहाँ आयुष्मान् 'उदायी' आये[४]। इस जगह उदायी ने एक मनोरंजक घटना भगवान् बुद्ध को सुनाई थी। उन्होंने कहा—"भगवन्, आप जब छोटी-छोटी बातों के लिए भी प्रतिबन्ध लगाते थे, तब मैं समझ नहीं पाता था कि मेरे शास्ता इन तुच्छ बातों के लिए इतनी कड़ाई क्यों करते हैं? इसी तरह जब आपने कहा—'रात का भोजन भिक्षुओं के लिए वर्जित है, तब भी मुझे कुछ अच्छा नहीं लगा था; क्योंकि गृहस्थों के यहाँ रात में ही बढ़िया भोजन तैयार होता है। किन्तु मुझे आपके कथन का तथ्य एक रात को मालूम हुआ, जब मैं उस रात को पिंडपात के लिए एक गाँव में गया। बात यों हुई कि रात अँधेरी थी, आकाश में बादल छाये हुए थे। टिप-टिप बूँदें गिर रही थीं। रास्ता दीख नहीं पड़ता था। मुझे भूख लगी थी, इसलिए मैं बगल के गाँव में पिण्डपात के लिए पहुँचा। मैं जैसे ही एक गृहस्थ के द्वार पर पहुँचा कि इतने में बिजली चमकी और बिजली के प्रकाश में मैंने देखा कि द्वार पर एक स्त्री बर्त्तन माँज रही है। पर उस स्त्री ने इतने में ही बड़े जोरों से चीत्कार किया—'अरी मरी, बचाओ-बचाओ! पिशाच-पिशाच!' उसके चीत्कार से मैं तो

१. सुत्तनिपात—३३
२. तत्रैव।
३. भगवद्गीता के दशम अध्याय में वर्णित विभूति-योग से यह प्रकरण मिलता-जुलता है।—ले०
४. मज्झिम निकाय—२,२,६

बिलकुल घबरा गया, पर शीघ्र ही कहा—'अरी बहिन, मैं पिशाच नहीं हूँ। मैं भिक्षु हूँ, भिक्षाटन के लिए यहाँ आया हूँ।' वह बहुत डर गई थी। उसने काँपते हुए स्वर में कहा—'तेरे भिक्षु के बाप मरे, माँ मरे। भिक्षु को चाहिए कि अपने ऐसे पेट को गाय काटनेवाली तेज छुरी से काट डाले, किन्तु इस तरह अँधेरे में भीख माँगता न फिरे।' मैं उस जगह से किसी तरह जान लेकर भागा। अतः, हे भगवन्! आप मेरे दुःखों के अपहर्त्ता हैं।"

इसके बाद 'महावग्ग' कहता है कि भगवान् बुद्ध आपण में यथाभिमत विहार करके अपने १२५० भिक्षुओं के संघ के साथ 'कुशीनारा' की ओर चारिका करने लौट आये[1]।

अपना तेरहवाँ वर्षावास भगवान् बुद्ध ने 'चालिय' पर्वत पर किया था, जो कहीं अंग-प्रदेश में ही है।

इसके बाद भगवान् बुद्ध को हम मगध के *खाणुमत* गाँव में चारिका करते देखते हैं। 'दीघ निकाय' में जो इस चारिका का वर्णन है, उससे यह पता नहीं चलता कि बुद्ध यहाँ कहाँ से आये। पर महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी 'बुद्धचर्या'[2] में लिखा है कि भगवान् बुद्ध अपनी ४९ वर्ष की आयु में खाणुमत में आये। यदि बुद्ध अपनी ४९ वर्ष की आयु में यहाँ आये होंगे, तो श्रावस्ती-वर्षावास के बाद पहुँचे होंगे।

भगवान् बुद्ध जब 'खाणुमत' आये, तब उनके साथ चुने हुए भिक्षुओं की संख्या केवल ५०० थी। यहाँ वे एक आम के बागीचे में ठहरे। उस समय एक सकलशास्त्र-निष्णात *कूटदन्त* नामक ब्राह्मण वहाँ निवास करता था[3]। सम्पूर्ण 'खाणुमत' ब्राह्मणों का ग्राम था। 'कूटदन्त' ब्राह्मणधर्मसेवी तथा अपनी विद्वत्ता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध था। वह ३०० विद्यार्थियों को वेद पढ़ाता था। वह वृद्ध हो चला था। खाणुमत ग्राम उसे बिंबिसार की ओर से ब्रह्मदेयरूप में मिला था, जो तृण-काष्ठ-उदक-धान्य से सम्पन्न तथा घनी आबादी-वाला था। उस गाँव का वही मालिक था। जिस समय भगवान् बुद्ध वहाँ गये थे, कूटदन्त यज्ञ करने के लिए उद्यत था। उसके यज्ञ में भाग लेने के लिए अनेक स्थानों के ब्राह्मण वहाँ आये हुए थे। उसके यज्ञ के स्थूण-स्थान पर ७०० बैल, ७०० बछड़े, ७०० बाछियाँ, ७०० बकरियाँ और ७०० भेड़ें बलिकर्म के लिए बँधी हुई थीं। उसी समय बुद्ध वहाँ पधारे।

कूटदन्त को जब मालूम हुआ कि अपने संघ के साथ बुद्ध हमारे गाँव के आम्र-वन में आकर ठहरे हुए हैं, तब उसने सोलह परिष्कारवाले यज्ञ की विधि पूछने के लिए, उनके पास जाने का विचार किया। यज्ञ में भाग लेने के लिए आये ब्राह्मणों ने विरोध किया कि 'यदि आप बुद्ध के पास जायेंगे, तो आप की लघुता सिद्ध होगी और बुद्ध का बड़प्पन प्रकट होगा।

१. 'अथ खो भगवा आपणे यथाभिरन्तं विहरित्वा येन कुसिनारा तेन चारिकं पक्कामि महता भिक्खुसङ्घेन सद्धिं अड्ढतेळसेहि भिक्खुसतेहि।'—महावग्गो : ६,५,३,१

२. बुद्धचर्या—पृ० २३२

३. दीघ निकाय (कूटदन्तसुत्त)—१,५

आप वेदज्ञाता हैं, इससे ब्राह्मण-धर्म की हीनता प्रमाणित होगी।' इस पर 'कूटदन्त' ने कहा कि आपलोग बुद्ध की महिमा नहीं पहचानते हैं। वे तीर्थंकरों में अग्रणी हैं। दूसरे बिंबिसार, प्रसेनजित् तथा पौष्करसाति-जैसे राजाओं से वे पूजित हैं। और, सब से बड़ी बात तो यह है कि जो कोई भी विशिष्ट अतिथि हमारे गाँव में आये, उसका सम्मान और यथोचित सत्कार करना हमारा धर्म है। अतिथि हमारा सत्करणीय है। इतना सुनने पर सभी ब्राह्मण राजी हो गये। अन्त में कूटदन्त सभी ब्राह्मणों को साथ लेकर भगवान् बुद्ध के पास गया और प्रणाम कर एक ओर बैठा। कूटदन्त ने हाथ जोड़कर भगवान् बुद्ध से पूछा—"भगवन्, सुनते हैं कि आप 'सोलह परिष्कार-सहित त्रिविध यज्ञ सम्पदा' को जानते हैं। मैं यह विधि नहीं जानता। मैं अभी महायज्ञ करना चाहता हूँ। कृपाकर सोलह परिष्कारवाली यज्ञ-विधि बतलाइए।"

भगवान् बुद्ध ने कूटदन्त को श्रद्धा-सम्पन्न पाया। उन्होंने सोलह परिष्कारवाले अहिंसक यज्ञ की विधि बतलाई और इस यज्ञ के करनेवाले 'महाविजित' राजा की कहानी भी कही, जिसके यज्ञ में अपने पूर्वजन्म में पुरोहित का काम स्वयं बुद्ध ने किया था। उसके बाद बुद्ध ने उसे दान-यज्ञ, त्रिशरण-यज्ञ, शिक्षापद-यज्ञ, शील-यज्ञ, समाधि-यज्ञ और प्रज्ञा-यज्ञ की व्याख्या बतलाई। इसके बाद कूटदन्त ने 'त्रिशरण' में प्रविष्ट किया और उपासक-धर्म स्वीकार कर लिया। उसने यज्ञ में बलिकर्म के लिए आये सभी पशुओं को उसी क्षण मुक्त करा दिया। दूसरे दिन बुद्ध को, संघ के साथ, भोजन पर भी बुलाया।

बुद्धचर्या[1] से ज्ञात होता है कि बुद्ध इसी वर्ष चम्पा गये और वहाँ *गर्गरा* पुष्करिणी पर ठहरे। किन्तु 'दीघ निकाय'[2] से पता चलता है कि भगवान् बुद्ध अंग देश में चारिका करते हुए चम्पा (भागलपुर) की गर्गरा-पुष्करिणी पर गये थे। जो हो, पर इतना तो स्पष्ट है कि जब वे खाणुमत ग्राम में गये थे, तब उनके साथ ५०० चुने हुए भिक्षु थे और उन्हीं पाँच सौ भिक्षुओं के साथ वे चम्पा में भी आये थे। इससे स्पष्ट है कि गर्गरा-पुष्करिणी की यात्रा इसी यात्रा के सिलसिले में हुई थी।

उस समय चम्पा नगरी का स्वामी *सोणदण्ड* नामक ब्राह्मण था। उस सोणदण्ड को राजदाय और ब्रह्मदेयस्वरूप चम्पा नगरी बिम्बिसार ने दान में दी थी। उस समय चम्पा में ५०० ब्राह्मण बहुश्रुत थे, जो अनेक स्थानों से आये हुए थे। सोणदण्ड ने नगर के नारी-नर के विशाल झुंड को देखा कि वे बुद्ध के दर्शन के लिए जा रहे हैं। उसने भी जाने का विचार किया। उन ब्राह्मणों ने पहले तो बुद्ध के पास जाने से सोणदण्ड को रोका, पर पीछे बुद्ध की महिमा बतलाने पर सभी राजी हो गये। सोणदण्ड उन पाँच सौ ब्राह्मणों के साथ गर्गरा-पुष्करिणी के तट पर जाकर भगवान् बुद्ध से मिला। वह भगवान् बुद्ध की प्रभापूर्ण आकृति देखकर ही अभिभूत हो गया। वह सोचने लगा कि कुछ पूछूँ, पर यदि ठीक से

१. बुद्धचर्या—पृ० २४१

२. दीघ निकाय (सोणदण्डसुत्त)-१,४

नहीं प्रश्न कर सका, तो मेरी परिषद् ही मुझे छोटा समझेगी। यदि मैं नहीं पूछूँ, बुद्ध ही प्रश्न करें और फिर भी यदि ठीक से उत्तर नहीं दे सका, तो भी मेरी निन्दा होगी। इसी विचार में वह आगा-पीछा कर रहा था कि भगवान् बुद्ध ने उसके मन की बात जान ली और उन्होंने उसी के धर्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया। बाद में बुद्ध जो-जो कहते गये, सभी सोणदण्ड स्वीकार करता गया। इस पर ब्राह्मणों ने सोणदण्ड से कहा—"आप यह क्या कर रहे हैं। बुद्ध जो कह रहे हैं, सब आप स्वीकार कर रहे हैं। इससे तो वर्ण-व्यवस्था, वेद-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था का आप खण्डन कर रहे हैं।" भगवान् बुद्ध ने कहा—'यदि आप लोग सोणदण्ड को अल्पज्ञ मानते हैं, तो आप ही लोग वाद करें, नहीं तो सोणदण्ड को वाद करने दें।'

सोणदण्ड ने भगवान् बुद्ध से कहा—"ठहरिए भगवन्, मैं इन लोगों का भ्रम दूर कर देता हूँ। उस समय सोणदण्ड का भानजा अंगक भी वहाँ उपस्थित था, जो मंत्रधर और वेदपाठी था। वह निघण्ड, कल्प, व्याकरण, इतिहास, काव्य, लोकायत, सामुद्रिक आदि शास्त्रों में पूर्ण निष्णात था। उसके मातृ-पितृ-कुल दोनों शुद्ध थे। सोणदण्ड ने कहा—"मेरे भानजे इस अंगक को तो आप लोग देखते हैं। यह वर्ण, जाति और मंत्र तीनों से शुद्ध है। मगर यदि यह आचार और शील छोड़कर असत्य भाषण करने लगे, प्राण हरण करने लगे, चोरी करने लगे, परस्त्री गमन करने लगे, मद्यपान करने लगे, तो वर्ण, जाति और वेद क्या करेंगे। यह तीनों से अवश्य च्युत हो जायगा। इसलिए मैं ऐसे बुद्ध-वचनों का खण्डन नहीं कर सकता हूँ।" इस पर ब्राह्मणों की परिषद् मूक हो गई। पीछे बुद्ध ने उसे शील, प्रज्ञा आदि के बारे में समझाया। सोणदण्ड भी बुद्ध का उपासक हुआ और दूसरे दिन उन्हें संघ के साथ भोजन पर आमंत्रित किया।

'दीघ निकाय' से यह भी पता चलता है कि यद्यपि सोणदण्ड बुद्ध का उपासक हुआ, तथापि उसने ब्राह्मण-धर्म को छोड़ा नहीं। ब्राह्मण-परिषद् की कड़ाई के कारण ही वह परिषद् में बैठने पर, भगवान् बुद्ध को उठकर प्रणाम नहीं करता था। केवल अभिवादन के लिए बैठे-ही-बैठे माथे की पगड़ी हटा लेता था। यदि वह रथ पर कहीं जाता था, तो उतर-कर अभिवादन नहीं करता था, केवल चाबुक उठा देता था अथवा केवल हाथ उठा देता था। बिहार-प्रान्त की इसी गर्गरा-पुष्करिणी पर 'सारिपुत्र' ने भिक्खुओं को 'दसुत्तरसुत्त' का उपदेश किया था[1]।

'अंगुत्तर निकाय'[2] से ज्ञात होता है कि जब बुद्ध इसी गर्गरा-पुष्करिणी पर निवास कर रहे थे, तब उनके साथ वज्जिदेश का 'महित' नामक गृहपति भी साथ था। महित एक दिन पास के अन्य तैर्थिकों से मिला। उसके द्वारा अपना परिचय देने पर भी तैर्थिकों ने समझा कि यही गौतम बुद्ध है, अतः वाद-विवाद के विचार से आक्षेप किया। तैर्थिकों ने

१. दीघ निकाय—३,११
२. अंगुत्तर निकाय—१०,२,५,४

कहा—'तेरा गौतम तो सिर्फ वाद का खण्डन ही करता है, कुछ प्रतिपादन तो करता नहीं।' इस पर महित ने उत्तर दिया—"नहीं जी, मेरे भगवान् तो केवल प्रतिपादन ही करते हैं, खण्डन नहीं। वे कुशल धर्मों की और अकुशल धर्मों को बतलाते हैं—यानी इतने धर्म कुशल हैं, इतने अकुशल हैं। इस तरह तो वे दोनों का भेद-प्रतिपादन करते हैं। अतः भगवान् बुद्ध सप्रश्नसिक हैं; अप्रश्नतिक नहीं।' महित का ऐसा तर्क सुनकर सभी अन्य तैर्थिक मौन हो गये। जब बुद्ध ने यह बात सुनी, तब कहा कि 'भिक्षुओ, तुम लोगों को भी महित-जैसा ही अन्य तैर्थिकों का समाधान करना चाहिए।'"

इसी स्थान पर एक दिन पेस्स नामक कुमार, जो एक हाथीवान का लड़का था, भगवान् बुद्ध से मिला[1]। उसके साथ उसका मित्र कन्दरक परिव्राजक भी था। जब ये दोनों भगवान् बुद्ध के पास गये, तब उस समय बुद्ध-परिषद् बिलकुल मौन थी। इस शान्त परिषद् को देखकर कन्दरक परिव्राजक ने बुद्ध से पूछा—'भगवन्, इतनी ही बड़ी परिषद् पहले के बुद्ध भी रखते थे और क्या बाद के बुद्ध भी रखेंगे?' भगवान् बुद्ध ने कहा—'हाँ, पहले ऐसा हुआ है और बाद में भी ऐसा होगा।' इसके बाद पेस्स और कन्दरक—दोनों ने भगवान् के साथ अनेक धर्म-संलाप किये, तथा वे पीछे उठकर चले गये। उनके जाने पर भिक्षुओं से बुद्ध ने पेस्स के ज्ञान की बड़ी बड़ाई की थी। धन्य है वह प्रदेश, जहाँ के हाथीवान के लड़के के ज्ञान की प्रशंसा बुद्ध-जैसे ज्ञानी करते थे।

भगवान् बुद्ध के इस चम्पा-प्रदेश की गगरा-पुष्करिणी पर वास करने के प्रसंग में 'महावग्ग' में एक 'चम्पेय्य खन्धक' नाम का प्रकरण ही है[2]। उसमें उल्लेख है कि जिस समय बुद्ध चम्पा में थे, उस समय काशी-प्रदेश का *काश्यप गोत्र* नामक भिक्षु, उनसे यहाँ आकर मिला। काश्यप गोत्र को कुछ भिक्षुओं ने उत्क्षेपण-दण्ड (संघ से निष्कासित करने का दण्ड) दिया था। वास्तविक दण्ड का भागी मैं हूँ कि नहीं, यही बात जानने के लिए वह भिक्षु भगवान् के पास चम्पा में गगरा-पुष्करिणी पर आया था।

काश्यप गोत्र काशी के *वासभगाम* नामक स्थान में रहता था। उसकी श्रद्धा थी कि अच्छे-अच्छे, जो कभी नहीं आये हैं, ऐसे भिक्षु मेरी कुटी में आते और मैं उनका उत्तम सत्कार करता। संयोग की बात, एक दिन बहुत-से भिक्षु आ गये। काश्यप गोत्र बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने स्नान, भोजन और शयन तथा भिक्षुओं की अन्य सुविधाओं का भी बहुत बढ़िया इन्तजाम किया। फल यह हुआ कि उसके सत्कार से पूर्ण संतुष्ट हो आगन्तुक भिक्षु पूरा आराम प्राप्त कर वहीं जम गये—जाने का नाम ही न लेते। काश्यप विचारा माँगकर लाता था। उसने सोचा, यह कितने दिनों तक चलेगा? उसने अतिथि-सत्कार बन्द कर दिया। इसी बात पर भिक्षुओं ने उसे संघ से निकालने का दण्ड दिया कि

---

१. मज्झिम निकाय—(कन्दरकसुत्तन्त)–२,१,१

२. महावग्गो (द्वितीय भाग, चम्पेय्यक्खन्धको), पृ० ३६१, (प्रकाशक—बम्बई-विश्वविद्यालय, बंबई–१; सन् १९५२ ई०)

तुमने भिक्षुसंघ का निरादर किया है। इससे ज्ञात होता है कि गुटबन्दी का अन्याय तब भी था और बहुमतवाली गणतंत्र-प्रणाली के दोष का यह एक उदाहरण है।

जब वह अपना अपराध लेकर चम्पा पहुँचा और भगवान् बुद्ध ने सुना, तब उससे कहा—'जाओ, काश्यप गोत्र, तुम वासभगाम में जाकर वास करो। तुम्हें कोई दण्ड नहीं दे सकता।' और, बुद्ध ने उन पेटू भिक्षुओं को बहुत धिक्कारा कि ये हमारे भिक्षु ऐसे अविवेकी हैं, जो आतिथ्य को आतिथेय पर भार बना देते हैं।

इसी चम्पेय्य-प्रकरण में दण्ड-कर्म, प्रतिसारणीय कर्म, वर्जनीय कर्म, संघ की महत्ता आदि का विधान है। यह कर्म और अकर्म का विस्तृत प्रकरण है।

चुल्लवग्ग[1] से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती से बुद्ध चारिका करते 'कीटागिरि' में गये। कीटागिरि काशी-प्रदेश में था[2]। कीटागिरि से 'आलवी' आये[3]। आलवी में सोलहवाँ वर्षावास किया और वहीं से राजगृह आये[4]।

आलवी के सम्बन्ध में म० पं० राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि आलवी का नाम आज 'अरवल' है, जो कानपुर से कन्नौज के रास्ते पर है[5]। पर यह बात युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होती। चुल्लवग्ग के उपरिलिखित विवरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि काशी-प्रदेश और राजगृह की ओर आते हुए बुद्ध आलवी आये। इसलिए आलवी कन्नौज-प्रदेश का अरवल नहीं हो सकता। मेरी समझ में आलवी शाहाबाद जिले का मुख्य नगर 'आरा' होगा। आरा नगर में ही कनिंघम के विचारानुसार एक यक्ष का मान-मर्दन कर बुद्ध ने उसे अपना शिष्य बनाया। उसी स्थान पर एक चैत्य का निर्माण अशोक ने कराया था, जहाँ ह्वेनसांग आरा जिले के *मसाढ़* (महाशाल) गाँव से चलकर आया था। मसाढ़ स्वयं एक बौद्ध स्थान था, जहाँ की मूर्त्तियाँ पटना-संग्रहालय में आज भी सुरक्षित हैं। यह महाशाल से छह मील पूरब था। इसी आरा के चैत्य को देखकर, सामने से गंगा पार कर ह्वेनसांग वैशाली गया था। हमारी बातों की पुष्टि 'सुत्तनिपात' से भी होती है।

ह्वेनसांग द्वारा देखा गया यह चैत्य 'आरा' नगर के दो स्थानों में से किसी एक स्थान पर संभव है। एक स्थान तो वह है, जहाँ आजकल 'जैन हाई स्कूल' है और जो आरा-नागरी-प्रचारिणी-सभा-भवन से कुछ दूर पूरब है। यद्यपि आज इस स्थान पर मकान बन गये हैं, तथापि इस भूमि की ऊँचाई स्पष्ट बतलाती है कि यह कभी एक टीला था। कहते हैं कि एक बार डॉ० घटक नामक किसी बंगाली सज्जन को घर की नींव खुदवाते समय यहाँ से एक ऐसी बुद्ध की सुवर्ण-मूर्त्ति मिली, जिसको गलवाकर डॉक्टर साहब ने एक लाख मुद्राएँ प्राप्त

१. चुल्लवग्ग—६,५,२
२. मज्झिम निकाय—२,२,१०
३. चुल्लवग्ग—६,५,४
४. तत्रैव—६,६,१
५. विनयपिटक—(म० पं० राहुल सांकृत्यायन)—पृ० ४७२ टि०

कर लीं और उसके बाद वे कलकत्ता जाकर वहीं रह गये। इसके बाद 'मॉडल हाई स्कूल' (आरा) के संस्कृत-अध्यापक पं० कमलाकान्त उपाध्याय को उस भूमि से एक खण्डित बौद्ध देवी की मूर्ति मिली है, जिसे उनके यहाँ हमने स्वयं देखी है। इसलिए हमारा पक्का विश्वास है कि वह चैत्य यहीं था। उपाध्यायजी का भी कहना है कि आरा में ह्वेनसांग द्वारा देखा गया चैत्य या तो 'जैन हाई स्कूल' अथवा 'मॉडल हाई स्कूल' की भूमि होगी। यह स्थान भी अति प्राचीन और ऊँचा है। इसी के पास 'अरण्य' देवी का स्थान है। आरा नगर को जल देनेवाली पानी-टंकी की नींव की जब खुदाई हो रही थी, तब यहाँ भी कई हिन्दू और बौद्ध मूर्त्तियाँ मिलीं।

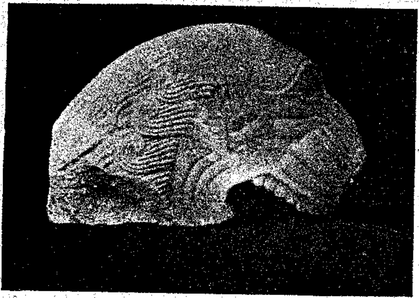
'सुत्तनिपात' के 'आलवकसुत्त' में लिखा है कि जब बुद्ध आलवी के 'आलवक' चैत्य में विहार कर रहे थे, तब आलवक यक्ष आया और उसने तीन बार भगवान् बुद्ध को घर से बाहर जाने और अन्दर आने को कहा। जब उसने फिर चौथी बार निकलने के लिए कहा, तब बुद्ध ने बाहर जाने से इनकार कर दिया। इस पर वह यक्ष क्रुद्ध होकर कहने लगा कि श्रमण, मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, नहीं तो चित्त विक्षिप्त कर दूँगा, हृदय को फाड़ दूँगा या पैरों को पकड़कर गंगा के पार फेंक दूँगा—

पञ्हं तं समण पुच्छिस्सामि सचे मे न ब्याकरिस्ससि चित्तं वा ते खिपिस्सामि, हृदयं वा ते फालेस्सामि, पादेसु वा गहेत्वा पार गंगाय खिपिस्सामीति[1]।

भगवान् बुद्ध के प्रति ठीक ऐसा प्रश्न हम खर और *सूचिलोम* यक्षों की ओर से, जो गया नगर के *टंकितमंच* पर निवास करते थे, सुनते हैं। उन्होंने भी कहा था—*पादेसु वा गहेत्वा पारगङ्गाय खिपिस्सामि*[2]। गंगा पार फेंक देने का मुहावरा आज भी शाहाबाद में प्रचलित है। गया वाला टंकितमंच और आलवी—दोनों गंगा के दक्षिण में थे, जहाँ से गंगा पार करना देश-निष्कासन-तुल्य था। आरा नगर ठीक गंगा के दक्षिणी तट पर अवस्थित था ही।

आलवक का नाम *आरवक* भी हो सकता है, जिसके कारण *आरा* और *बकरी* इन दो गाँवों का नाम पड़ा। बकरी में बड़ी-बड़ी लम्बी ईंटें पाई गई हैं, जिन पर 'त्रिपुण्ड्र' का चिह्न है और जो भार-शिवों का समय बतलाती हैं। 'बुकानन' ने अपनी शाहाबाद की रिपोर्ट में लिखा है कि 'बक' राक्षस के नाम पर ही 'बकरी' गाँव का नाम पड़ा और बक *बकरी* का ही रहनेवाला था। महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा ने भी 'आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा' से प्रकाशित पुस्तक 'आरा-पुरातत्त्व' में इसी मत का प्रतिपादन किया है। यह बक, आलवक शब्द का ही अर्द्धांश 'बक' होगा। 'महाभारत' में आये जिस यक्ष को भीम ने मारा था, वह 'आरा' नगर के पास का ही था, इस किंवदन्ती से भी इसको मिलाना चाहिए। यानी, आरा नगर प्राचीन काल से यक्षों का निवास था। इसके साथ आरा के समीप के तीन गाँवों के नामों की ओर भी हम शब्दशास्त्रियों का ध्यान आकृष्ट करते हैं।

१. सुत्तनिपात—आलवकसुत्त।
२. सुत्तनिपात—१७ (सूचिलोमसुत्त)।



सिंह-सिरा (मसाढ़, आरा) (पृ० ६७)



मिथुन दम्पती, (बोधगया-रेलिंग)

ये ग्राम हैं—'मसाढ़', 'कारीसाथ' और 'बगवाँ'। मसाढ़ की व्युत्पत्ति तीन तरह से होगी—(१) महा + शाल = मसाढ़ ; (२) महा + शस्य + आढ्य = मसाढ़ और (३) महा + शस्य + आठ (ड)। इस तीसरी व्युत्पत्ति में 'आलवक' का ही 'आल' हो सकता है। इसी तरह 'कारीसाथ' की व्युत्पत्ति होगी—करुष + हत्थ = कारीसाथ। यह हत्थ 'अंगुत्तर निकाय' (८।१।२४) का '*हत्थक आलवक*' नामक ही यक्ष होगा, जिससे 'आलवी' में बुद्ध की वार्त्ता हुई थी। ये दोनों गाँव 'आरा' से पश्चिम में हैं; पर थोड़ी दूर पर दक्षिण में बगवाँ ग्राम है। शाहाबाद में बगवाँ का 'राकस' मशहूर है, जिसकी कहानी में कहा जाता है कि बगवाँ के एक वैभव-सम्पन्न गृहस्थ ने एक राक्षस के माथे की जटा काटकर अपने घर की कोठी के अन्न में छिपाकर रख दी थी। उस दिन से गृहस्थ का वैभव कभी कम नहीं होता था और वह राक्षस उसके यहाँ बनिहारे का काम करता था। एक दिन खेत में अन्न ले जाने के लिए उस बनिहारे राक्षस ने ही अन्न की कोठी खोली और तब उसमें उसकी जटा मिल गई। जटा मिलते ही वह उसे लेकर भाग गया, जो कभी फिर नहीं आया और गृहस्थ की सम्पत्ति जाती रही। उस राक्षस के चले जाने पर सारा गाँव वैभवहीन हो गया। इस बगवाँ गाँव की व्युत्पत्ति भी यही है—बक + ग्राम = बगवाँ। इसमें भी आलवक शब्द का ही 'वक' है। उपर्युक्त किंवदन्तीवाली कहानी और आलवक के 'वक'—इन दोनों की ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त आरा नगर से उत्तर 'सारन' जिले के दक्षिणी भाग का भी जो नाम 'अल्लकप्प' है और बुद्ध के समय में जिसकी चर्चा मिलती है, वह भी इस आलवी के नाम पर ही पड़ा हो, तो आश्चर्य नहीं। सबसे तो बड़ी बात है कि आलवी काशी से राजगृह के रास्ते में था। अतः निश्चित रूप से आलवी आज का आरा नगर ही होगा। सोन नद के पूर्वी किनारे का 'अरवल' क्षेत्र भी आलवी क्षेत्र का ज्ञान कराता है। आरा और अरवल इन दोनों की दूरी भी ऐसी नहीं, जो इनका एक क्षेत्र में होना असंभव जान पड़े। 'सुत्तनिपात' में जिस अग्गलाव चैत्य की चर्चा मिलती है, वह शाहाबाद का 'अगियाँव' या गया का 'अरवल' होना चाहिए।

'सुत्तनिपात' से ज्ञात होता है कि 'आलवक' ने बुद्ध से कई प्रश्न किये, जिन सबका समुचित उत्तर बुद्ध ने दिया और उन्हें महाज्ञानी जानकर आलवक यक्ष स्वयं प्रार्थना करके भगवान् बुद्ध की शरण में चला आया।

'अंगुत्तर निकाय'[1] की कथा के अनुसार जब बुद्ध आलवी में थे, तब *हत्थक आलवक* उनके पास अपनी बड़ी परिषद् के साथ आया। जब बुद्ध ने पूछा कि इतनी बड़ी परिषद् को तुमने कैसे बनाया, तब उसने उत्तर दिया—"भगवन्, जो दान लेकर मेरी परिषद् में सम्मिलित होते हैं, उन्हें दान देकर अपना लेता हूँ, जो सम्मान चाहते हैं, उन्हें सम्मान प्रदान करके प्राप्त करता हूँ, जो पैसे से खरीदे जा सकते हैं, उन्हें प्रचुर धन देकर खरीद लेता हूँ और जो बराबरी के भाव रखने से प्रसन्न होते हैं, उन्हें बराबरी का व्यवहार करके परिषद् में

१. अंगुत्तर निकाय—८,१,१,४

मिला लेता हूँ।" हत्थक आलवक से बुद्ध भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा—'हत्थक ज्ञानी है।' मालूम होता है, यह घटना भगवान् बुद्ध जब दूसरी बार आलवी में आये, तब घटी थी।

आलवी से चारिका करते भगवान् फिर राजगृह आये। इस बार उनका सत्रहवाँ वर्षावास 'राजगृह' में ही बीता। वहाँ राजगृह के वेणुवन कलन्दक *निवाप* में भगवान् बुद्ध ठहरे। राजगृह में उस समय दुर्भिक्ष पड़ा था। संघ को गृहस्थ बड़ा भोज नहीं दे सकते थे[1]। भगवान् बुद्ध ने इसलिए संघ में उद्देश-भोज, शलाक, पाक्षिक, उपोसथिक, प्रातिपदिक का विधान किया। उसी समय बुद्ध ने संघ में शयनासन-प्रज्ञापक, भांडारिक, चीवर-प्रतिग्राहक, चीवर-भाजक, यवागू-भाजक, फल-भाजक, खाद्य-भाजक, अल्पमात्रक विसर्जक, शाटिक-ग्राहापक, आरामिक प्रेषक और श्रामणेर प्रेषक[2] का विधान किया।

कलन्दक निवाप से कुछ दूर पर *मोर निवाप* नामक एक स्थान था, जहाँ *अनुगार वरचर* और *महा सुकुलुदायि* नाम के विद्वान् परिव्राजक रहते थे। भगवान् बुद्ध एक दिन मोर निवाप आश्रम में गये। वहाँ सुकुलुदायि परिव्राजक ने बुद्ध की आव-भगत की। दोनों में धर्म-चर्चा छिड़ी[3]। धर्म-चर्चा के विषय थे—संघपति, गणी, गणाचार्य, तीर्थंकर, मक्खलि गोसाल, अजितकेसकम्बल, पकुध कच्चायन, संजय बेलट्ठिपुत्त आदि। 'सुकुलुदायि' ने बुद्ध के सिद्धान्त-प्रतिपादन का समर्थन किया और बौद्धों के उच्छेदवादी सिद्धान्त की प्रशंसा भी की। इसके बाद भगवान् बुद्ध ने बौद्ध ज्ञान-विज्ञान की बातें बतलाईं। सभी विषयों की सराहना परिव्राजक ने की, फिर भी वह बुद्ध-धर्म को ग्रहण नहीं कर सका। बुद्ध उस समय वहाँ से चुपचाप चले आये।

भगवान् बुद्ध इस परिव्राजक के पास, जब दूसरी बार राजगृह आये, तब, फिर गये। इस बार धर्म-चर्चा के प्रसंग में सुकुलुदायि बौद्ध धर्म स्वीकार ही करना चाहता था कि उसकी परिषद् बिलकुल बिगड़ गई। सारी परिषद् उन्मादिनी होकर चिल्ला पड़ी—'परिव्राजक उदायि! इससे हम तो अपने मत से नष्ट हो जायेंगे—सब धर्मविरोधी हो जायेंगे।' इस विरोध के कारण महासुकुलुदायि बौद्धधर्म नहीं ग्रहण कर सका।

उपर्युक्त घटना से यह सिद्ध है कि तब मगध में ब्राह्मण-परिव्राजकों का बहुत बड़ा सम्मान था, जिन्हें बुद्ध अपने पक्ष में करने के लिए बार-बार चेष्टा करते थे।

इसी कलन्दक निवाप आश्रम से एक दिन बुद्ध पिंडपात के लिए राजगृह जा रहे थे कि कुछ दूर जाने पर उन्हें रास्ते में गृहपति-पुत्र *सिगाल* मिला, जो प्रातःकाल ही स्नानकर भीगे वस्त्र पहने सभी दिशाओं को नमस्कार कर रहा था। बुद्ध ने जब पूछा कि यह क्या कर रहे हो,

---

१. चुल्लवग्ग—६, ६, १

२. विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए 'विनयपिटक' (म० पं० राहुल सांकृत्यायन)—पृ० ४७५-७६

३. मज्झिम निकाय—२, ३१

तब उसने बतलाया कि मेरे पिता ने मरते समय मुझसे कहा था —'पुत्र! रोज सबेरे स्नान कर छह दिशाओं को नमस्कार करते रहना।' अतः उनकी आज्ञा का पालन करता हूँ। धर्म की चर्चा के सिलसिले में बुद्ध ने गृहपतिपुत्र को छह दिशाओं के नमस्कार करने का तात्पर्य बतलाया। उन्होंने कहा—छह दिशाओं के नमस्कार करने का तात्पर्य है—(१) माता-पिता, (२) आचार्य, (३) पत्नी, (४) मित्र, (५) सेवक और (६) साधु-ब्राह्मण की सेवा करना। उन्होंने उसे पंचशील (अहिंसा, अस्तेय, सत्य, कामनिषेध और मद्यनिषेध) का भी उपदेश किया। उन्होंने उसे पाप के चार स्थानों (द्वेष, मोह, राग, और भय) का वर्णन सुनाया। सम्पत्ति-नाश करनेवाले—मद्यसेवन, चौरास्ते की सैर, नाच-तमाशा, जूआ, दुष्टों के संग और आलस्य—इन छह दोषों से बचना चाहिए, ऐसा कहा। मित्र के लिए कहा कि जो उपकारी, समान सुख-दुःखी, हितवादी और अनुकम्पक है, वही मित्र है और जो परधनहारक, बातूनी, खुशामदी, नाश में सहायक है, उसे अमित्र समझोगे।' इन उपदेशों के बाद 'सिगाल' भगवान् बुद्ध का अनन्य उपासक बन गया[1]।

राजगृह के कलन्दक निवाप में ही शाक्य-कुल के कुछ व्यक्ति बुद्ध से मिलने आये थे[2]। उन्होंने बुद्ध से पूछा था कि शाक्य जाति में सर्वश्रेष्ठ श्रमण कौन है? बुद्ध ने इसपर 'मैत्रायणीपुत्र' का नाम बतलाया था। 'सारिपुत्र' ने 'मैत्रायणीपुत्र' की प्रशंसा बुद्ध के मुख से सुनकर सोचा—'देखें, ऐसे महापुरुष के दर्शन कब होते हैं?' सारिपुत्र की मनःकामना श्रावस्ती में जाकर पूरी हुई।

इसी स्थान में जब बुद्ध निवास करते थे, तब बुद्ध का उपासक *विशाख*, *धर्मदिन्ना* नामक भिक्षुणी के पास गया[3]। उसने धर्मदिन्ना से पूछा—'आर्ये! सत्काय-सत्काय तो सभी कहते हैं; पर भगवान् बुद्ध ने सत्कायधर्म किसे कहा है?' धर्मदिन्ना ने बताया—'आवुस! भगवान् बुद्ध ने पाँच उपादान-स्कन्धों को सत्काय कहा है, जिनमें रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान हैं।' इसके बाद विशाख ने एक-एक करके सत्काय-समुदय, सत्काय-निरोध, सत्काय निरोधगामिनी प्रतिपद, उपादान, उपादान-स्कंध, सत्काय-दृष्टि, आर्य अष्टांगिक मार्ग, समाधि आदि अनेक विषयों पर प्रश्न किये, जिनके सम्बन्ध में बारी-बारी से 'धर्मदिन्ना' ने सुबोध और समुचित उत्तर दिया। इसके बाद विशाख वहाँ से उठकर बुद्ध के पास गया और उसने धर्मदिन्ना के साथ के धर्मकथा-संलाप को कहा। बुद्ध ने धर्मदिन्ना की सराहना की और कहा—'वह पंडिता है, महाप्रज्ञा है।'

'धर्मदिन्ना' भिक्षुणी इसी विशाख की पत्नी थी। विशाख राजगृह का एक नामी गृहपति था। पहले-पहल बुद्ध के उपदेशों से 'विशाख' के ही मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ था।

---

१. दीघ निकाय (सिगालोवादसुत्त)—३, ८

२. मज्झिम निकाय—१, ३, ४

३. तत्रैव—१, ५, ४

बाद में पतिपरायणा धर्मदिन्ना पति का अनुगमन करके भिक्षुणी हुई; पर धर्मज्ञान में वह अपने पति से बाजी मार ले गई।

यहीं पर तीसरी बार वैशाली-निवासी वत्सगोत्री *पुण्डरीक परिव्राजक* भगवान् बुद्ध से आकर मिला[१]। इसके पहले दो बार बुद्ध से उसकी भेंट हो चुकी थी। पहली बार तो भगवान् बुद्ध स्वयं उसके पास वैशाली में गये थे[२]। दूसरी बार वह वत्सगोत्र परिव्राजक श्रावस्ती में जाकर उनसे मिला था[३]। पहली बार भेंट होने पर इसने केवल भगवान् बुद्ध के भाषण का अनुमोदन किया था। दूसरी बार मिला तो 'उपासक' हुआ। तीसरी बार जब इस 'कलन्दक निवाप' में मिला, तब वह बौद्ध भिक्षु बन गया।

इस बार इसके द्वारा धर्म-याचना करने पर बुद्ध ने कुशल और अकुशल धर्मों को अच्छी तरह समझाया। उसके प्रश्न करने पर बुद्ध ने बतलाया कि मेरे पास ऐसे ५०० से भी अधिक भिक्षु हैं, जो चित्तविमुक्तिक और प्रज्ञा-विमुक्तिक हैं और कई भिक्षुणियाँ भी ऐसी ही हैं। उन्होंने ऐसे गृहस्थ ब्रह्मचारी और कुमारी ब्रह्मचारिणियों को भी बतलाया, जो 'अवरभागीय संयोजनों' के क्षय से 'औपपातिक' हो निर्वाण प्राप्त करनेवाले हैं और जिनकी संख्या पाँच सौ से भी अधिक है। ऐसे मेरे धर्म में श्रद्धा रखनेवाले कामभोगी गृही और गृहिणी भी हैं, जिनकी संख्या भी पाँच सौ से अधिक है। अन्त में परिव्राजक ने जब भिक्षु बनने की इच्छा प्रकट की, तब बुद्ध ने कहा—'अन्य तीर्थकों को चार मास परिवास करने के बाद प्रव्रज्या दी जाती है।' इसने कहा—'महाराज, चार मास क्या, मैं चार वर्ष परिवास कर सकता हूँ।'

उपसंपदा लेने के पन्द्रह दिनों बाद फिर बुद्ध के पास यह गया, और उनसे आगे का धर्म इसने पूछा। बुद्ध ने इसे अब धर्म का विस्तृत ज्ञान दिया। अन्त में इस वत्सगोत्र परिव्राजक ने एकान्तवासी और आत्मसंयमी होकर शीघ्र ही ज्ञान प्राप्त कर लिया और अर्हतों में इसकी गिनती हुई। बुद्ध ने इसके त्रैविद्य ज्ञान और महर्द्धिक की प्रशंसा अन्य भिक्षुओं से की थी।

भगवान् बुद्ध जब इसी 'कलन्दक निवाप' में ठहरे थे, तब एक समय *गुलिस्सानि* नामक आरण्यक भिक्षु वहाँ उपस्थित था[४]। वह आचार-धर्म में अत्यन्त अस्थिरचित्त था। सारिपुत्र ने उसी को अपना प्रवचन सुनाने के उद्देश्य से भिक्षुओं को इकट्ठा किया और आरण्यक भिक्षुओं के आचार के सम्बन्ध में अत्यन्त मार्मिक धर्म का उपदेश किया। वह उपदेश ग्राम के निकट रहनेवाले भिक्षुओं के लिए भी लाभप्रद था।

इसी कलन्दक निवाप में जब बुद्ध भगवान् विहार करते थे, तब पास के जंगल में

१. मज्झिम निकाय—२, ३, ३
२. तत्रैव—२, ३, १
३. तत्रैव—२, ३, २
४. तत्रैव—२, २, ६

एक कुटिया बनाकर उनका शिष्य *अचिरावत* रहता था[१]। एक दिन 'अजातशत्रु' का छोटा भाई *जयसेन* घूमते-फिरते अचिरावत के पास पहुँचा। साधारण शिष्टाचार के बाद जयसेन ने भिक्षु से पूछा—'श्रमण! मैंने सुना है कि भिक्षु प्रमाद-रहित उद्योग और संयम में दत्तचित्त होकर चित्त को एकाग्र कर लेते हैं।' अचिरावत ने कहा—'राजकुमार, आप ठीक कहते हैं।' जयसेन ने फिर कहा—'महाराज, आपने जो धर्म समझा है, उसको कहिए।' अचिरावत बोला—'मैं धर्म के मर्म को कहूँ और आप समझें नहीं, तब मेरा कहना व्यर्थ होगा।' इसपर जयसेन ने कहा—'कहिए भी तो, शायद समझ सकूँ।' भिक्षु ने धर्म के सम्बन्ध में, जो कुछ जानता था, कहा। तब जयसेन ने फिर प्रश्न किया—'भन्ते, इसमें कोई कारण नहीं दिखाई देता कि प्रमाद-रहित होकर उद्योग और संयम में विहार करते हुए भिक्षु चित्त को एकाग्र कर लें।' अचिरावत इस प्रश्न का समुचित उत्तर न दे सका। तब जयसेन उठकर चला गया।

भिक्षु अचिरावत को बड़ी ग्लानि हुई और वह भगवान् बुद्ध के पास 'कलन्दक निवाप' में आया। भिक्षु ने भगवान् से जयसेन से हुई सारी बातें कहीं। बुद्ध ने भिक्षु को जयसेन के प्रश्न का उत्तर उदाहरणों के साथ समझाया। इस पर भिक्षु ने कहा—'भला, ऐसे उदाहरण भगवन्, मुझे कहाँ सूझते कि मैं उसे ठीक से समझाता।'

एक दिन 'भूमिज' नामक भिक्षु जयसेन से मिलने गया[२]। भूमिज श्रावस्ती का रहनेवाला था और जयसेन का मामा था[३]–(भूमिज सुत्तंत-अट्ठकथा)। यह 'भूम्मजक' भी कहलाता था। यह षड्वर्गीय भिक्षुओं[४] में से एक था। जयसेन ने भूमिज से बुद्ध के वादों के सम्बन्ध में प्रश्न किया। पर उसे बौद्धवाद को भूमिज भी ठीक से नहीं समझा सका। अन्त में वह भी भगवान् के पास गया और इसने भी जयसेन के प्रश्न की और अपनी अल्पज्ञता की बात बतलाई। बुद्ध ने भूमिज को जयसेन के प्रश्न का उत्तर चार उपमाओं के साथ अच्छी तरह समझा दिया। इसने भी वही बात कही—'महाराज, ये उपमाएँ मुझे कहाँ सूझतीं।'

इसी 'कलन्दक निवाप' में रहते हुए भगवान् बुद्ध ने 'सारिपुत्र' को विषयों के त्याग, स्मृति-प्रस्थान आदि भावना की महत्ता बतलाई थी[५]।

भगवान् बुद्ध ने अपना १८वाँ और १९वाँ वर्षावास अंग-देश में कहीं अवस्थित *चालिय* पर्वत पर बिताया था। इन दो वर्षों में उन्होंने बिहार के पूर्वी भागों के अनेक स्थानों में भ्रमण करके उन्हें पवित्र बनाया तथा अनेक गृहस्थों और ब्राह्मणों से धर्म-संलाप

---

१. मज्झिम निकाय—३, ३, ५

२. तत्रैव—३, ३, ६

३. तत्रैव (रा० सां)–पृ० ५२० टि०

४. पण्डुक, लोहितक, मेत्तिय, भूम्मजक, अश्वजित और पुनर्बसु–ये षड्वर्गीय थे। यह अश्वजित पंचवर्गीय अश्वजित से भिन्न था। —विनयपिटक (रा० सां०)–पृ० २४-२५

५. मज्झिम निकाय–३, ५, ९

किया था। इसी चारिका के सिलसिले में वे अंग-प्रदेश के *अश्वपुर* गाँव में गये थे। वहाँ उन्होंने भिक्षुओं को चीवर, पिंडपात, शयनासन, प्रत्यय-भेषज्य की महिमा बतलाई थी। इसके साथ अभिध्या और मिथ्यादृष्टि का नाश करनेवाले धर्मों को समझाया था[१]।

अश्वपुर से चारिका करते बुद्ध *कंजंगल* प्रदेश में पहुँचे। आजकल के 'संताल परगना' को *कंकजोल* कहते थे[२]। वहाँ बौद्ध धर्म को जाननेवाली *कंजंगला* नामक भिक्षुणी निवास करती थी, जो एक महाविदुषी नारी थी। कंजंगल प्रदेश पहुँचकर बुद्ध वहाँ के वेणुवन में विहार करने लगे[३]। इसी समय कंजंगल के कुछ भिक्षु महापंडिता 'कंजंगला' के पास गये और उन्होंने उससे पूछा कि—"आर्ये! भगवान् ने जो महाप्रश्नों में 'दसुत्तर प्रश्न' बतलाया है—जिसमें एक प्रश्न, एक उद्देश्य, एक उत्तर; दो प्रश्न, दो उद्देश्य, दो उत्तर; इसी तरह तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ और दस प्रश्न, उद्देश्य और उत्तर हैं—उसका विस्तार समझाइए। इन विषयों पर कंजंगला ने समुचित, विद्वत्तापूर्ण और सुविस्तृत व्याख्या भिक्षुओं के सामने प्रस्तुत की, जिसे उसने कभी स्वयं बुद्ध के मुँह से नहीं सुना-समझा था। उसने अपनी व्याख्या की पुष्टि के लिए उन भिक्षुओं को 'वेणुवन' में भगवान् बुद्ध के पास भेजा। भिक्षुओं ने जब बुद्ध के पास पहुँचकर कंजंगला द्वारा की गई व्याख्या को उन्हें सुनाया, तब भगवान् बुद्ध ने कहा—'भिक्षुणी ने ठीक और समुचित व्याख्या बतलाई है। वह पंडिता है, वह महाप्रज्ञा है।'

इसी कंजंगल में बुद्ध जब भ्रमण कर रहे थे, तब *पारासिविय* ब्राह्मण का शिष्य *उत्तर माणवक* भगवान् बुद्ध के पास मिलने आया था[४]।

भगवान् बुद्ध ने सोचा अन्य तीर्थक का यह शिष्य है, धर्म-उपदेश का अच्छा अवसर उपस्थित है। ऐसे अवसर पर धर्म का उपदेश करना चाहिए। उन्होंने अपने भिक्षुओं को इकट्ठा करके आर्यविनय अनुत्तर, इन्द्रिय-भावना, शैक्ष्य प्रतिपद तथा भावतेन्द्रिय आर्य का समुचित उपदेश किया। इस अवसर पर 'आनन्द' भी उपस्थित थे। इन धर्मों के सम्बन्ध में 'पारासिविय ब्राह्मण' जिस तरह का उपदेश करता था, उसका खण्डन भी अपने उपदेशों से ही भगवान् बुद्ध ने किया था।

कंजंगल-प्रदेश से भगवान् बुद्ध सुह्म-प्रदेश में गये और वहाँ *सिलावती* (सिलई) नदी के तट-प्रदेश में विहार करने लगे[५]। बुद्ध के विहार-स्थान से कुछ दूरी पर थोड़े-से बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। उन्हें वासना के जाल में फँसाने के लिए पापी मार बूढ़ा ब्राह्मण का वेश धारण करके आया। उसने भिक्षुओं से कहा—'अरे! इस भरी जवानी में

१. मज्झिम निकाय-१, ४, १०
२. बुद्धचर्या (रा० सां०)-पृ० २८१
३. अंगुत्तर निकाय-१, १, ३, ८
४. मज्झिम निकाय (इन्द्रिय-भावना-सुत्तन्त)-३, ५, १०
५. अंगुत्तर निकाय—४,३,१

वर्त्तमान के आनन्द को छोड़कर कालान्तर के आनन्द के लिए क्यों मरते हो?' किन्तु, वे भिक्षु क्षीणास्रव थे। उन्होंने कहा—'तुमने हमारे धर्म को गलत समझा है। हमलोग वर्त्तमानकालिक आनन्द का ही भोग कर रहे हैं, हमारा धर्म कालान्तर के पीछे नहीं दौड़ता।' वह बूढ़ा ब्राह्मण अपना-सा मुँह लिये लाठी टेकता चला गया।

इसके बाद बुद्ध सुम्ह से *सेतकण्णिक* (अबरखवाली भूमि—हजारीबाग जिला) भू-भाग में आये। 'संयुत्त निकाय' के 'उदायी सुत्त' से ज्ञात होता है कि सेतकण्णिक भू-भाग में ही आयुष्मान् उदायी अपनी ब्रह्मचर्य-तपस्या पूरी करके तथा धर्म का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर बुद्ध से मिले[1]। इन दोनों की कथा-वार्त्ता में गुरु और शिष्य के सम्बन्ध के अतिरिक्त बुद्ध-धर्म के प्रारंभिक ज्ञान पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। यहाँ उदायी ने कहा—'भगवन्, अब मैंने धर्म को जान लिया, मुझे अब सच्चा मार्ग मिल गया।' बुद्ध ने कहा—'ठीक है, तुम्हें जो करना चाहिए, तुमने किया। अब तुम्हें कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं।'

इस तरह चारिका करते भगवान् बुद्ध ने अपना १६वाँ वर्षावास भी 'चालिय' पर्वत पर व्यतीत किया, जो अंग के *कृमिकाला* (किउल) नदी के आस-पास कहीं है।

बुद्ध के इस वर्षावास में उनका उपस्थापक (निजी सेवक) आयुष्मान् *मेघिय* नामक भिक्षु था[2]। पास में *जन्तुग्राम* नाम का एक ग्राम था। मेघिय ने बुद्ध से कहा—'भन्ते, जन्तुग्राम में पिंडपात करना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो जाऊँ।' भगवान् ने कहा—'जैसा समय समझो, वैसा करो।' बिना स्पष्ट आदेश के भी वह चीवर पहन भिक्षा-पात्र ले पिंडपात के लिए ग्राम में चला गया। भिक्षाटन के बाद पास की कृमिकाला नदी के तट पर विहार करने लगा। उसने तट-प्रदेश में एक अत्यन्त रमणीय आम का बागीचा देखा। उसने सोचा कि यह स्थान ध्यान के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। वह भगवान् बुद्ध के पास आया और निवेदन किया कि यदि आज्ञा हो तो, कृमिकाला के तट पर स्थित आम्रवन में बैठकर ध्यान-विहार करूँ। इसपर बुद्ध ने कहा—'मैं अभी अकेला हूँ, किसी भिक्षु को आ जाने दो, तो जाओगे।' इसपर उसने बार-बार हठ किया। तब भगवान् ने कहा—'जैसा समय देखो, वैसा करो।' मेघिय उस आम्रवन में जाकर आसन मार ध्यान में बैठा। किन्तु कुछ क्षण बाद ही उसके चित्त में काम, क्रोध, द्वेष और हिंसा के भाव उत्पन्न हुए। ये भाव इतने प्रबल हुए कि वह परेशान हो गया। अन्त में वह वहाँ से उठकर भगवान् के पास आया और अपनी परेशानी की बात कही। द्वेष के प्रहाण के लिए मैत्री-भावना, वितर्क के नाश के लिए प्राणायाम, राग के प्रहाण के लिए शुभ-भावना और अहंकार के नाश के लिए अनित्य-भावना का उपदेश बुद्ध ने उसको दिया। मेघियवाली यह घटना 'अंगुत्तर निकाय' के आनन्द-चरित (१।४।१) में भी दुहराई गई है और बतलाया गया है कि ऐसे सेवकों से तंग आकर ही बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य 'आनन्द' को

१. संयुत्त निकाय—४४,१,१०
२. उदान (मेघियवग्ग)—४,१ [प्रकाशक—उत्तम भिक्षु, सारनाथ (बनारस) सन् १९३७ ई०]

निजी सेवक बनाया था। इसी जगह यह भी लिखा है कि इस 'चालिय' पर्वत से चारिका करते हुए भगवान् बुद्ध 'श्रावस्ती' की ओर चले गये।

भगवान् बुद्ध ने राजगृह में अपना बीसवाँ वर्षावास किया। उसके कुछ पहले ही वहाँ उनके पेट में 'पेचिस' का दर्द उमड़ आया। यह रोग उनकी तपस्या-काल से ही था। 'महावग्गो' से पता चलता है कि बुद्ध इस बीमारी से बहुत परेशान थे और उन्होंने 'आनन्द' से कहा[१] कि मैं जुलाब लेना चाहता हूँ। आनन्द राजगृह के राजवैद्य *जीवक* से परिचित थे। वे जीवक के पास गये और कहा—

दोसाभिसन्नो खो आवुसो जीवक, तथागतस्स कायो। इच्छति तथागतो विरेचनं पातुं'ति[२]।

अर्थात्—आवुस जीवक! भगवान् बुद्ध का शरीर रोगग्रस्त हो गया है। वे जुलाब लेना चाहते हैं।

जीवक ने कहा कि जुलाब लेने के पहले, भगवान् के शरीर में तेल मालिश कराकर मेरे पास आइए। आनन्द वैसा करके उसके पास फिर आये। 'जीवक' ने एक ऐसा घी का नस्य तैयार किया, जिसके एक बार के सूँघने से दस विरेचन हो और इसी तरह उसने बुद्ध को वह नस्य तीन बार सुँघाया। भगवान् बुद्ध को उनतीस दस्त तो नस्य सूँघने से ही और एक दस्त गरम पानी से स्नान करने के बाद हुआ। इसके बाद वे पूर्ण स्वस्थ हो गये। बुद्ध में जीवक की भक्ति अतुलनीय थी। संघ के निवास के लिए इसने अपनी आम्रवाटिका दे दी थी।

मगध के इस राजवैद्य का महावग्ग[३] में पूरा परिचय मिलता है, जिसके आधार पर कुछ बातों का उल्लेख करना आवश्यक है। यह उस जमाने का बड़ा भारी रासायनिक और शल्य-चिकित्सक था, जिसने मगध के गौरव में चार चाँद लगा दिये थे।

जीवक राजगृह की एक वेश्या के गर्भ से जन्मा था। वैशाली की अनेक गौरवशाली वस्तुओं में से वहाँ की प्रसिद्ध गणिका अम्बपाली भी एक थी। बिम्बिसार का एक मंत्री जब वैशाली गया और वहाँ से लौटकर आया, तब उसने बिम्बिसार से कहा कि महाराज! वैशाली की तरह राजगृह में भी अम्बपाली के जोड़ की ही एक गणिका होनी चाहिए। इसपर बिम्बिसार ने अपनी सहमति दे दी और तब *सालवती* नाम की एक परम रमणीय कुमारी खोजी गई। यही सालवती 'राजगृह' की प्रधान गणिका के रूप में प्रतिष्ठित हुई। यह नृत्य, संगीत, वाद्य आदि कलाओं तथा रूप-सौन्दर्य में अपूर्व थी। जहाँ वैशाली की गणिका को पचास सुवर्ण-मुद्रा पर अनुरक्त किया जा सकता था, वहाँ राजगृह की गणिका का शुल्क एक सौ सुवर्ण-मुद्रा था। किन्तु दुर्भाग्यवश सालवती शीघ्र ही गर्भवती

१. इसी वर्ष 'श्रावस्ती' में आनन्द बुद्ध के परिचारक नियुक्त हुए थे। देखिए—'अंगुत्तर निकाय' (आनन्द-चरित) १,४,१

२. महावग्गो—८,१,६,१

३. महावग्गो, प्रथम भाणवार (चीवर-खन्धक)

हो गई। कुछ लोगों का कहना है कि यह गर्भ महाराज 'बिम्बिसार' का था। गणिका-वृत्ति के अनुसार 'सालवती' ने अपने गर्भ को छिपाया। वह लगभग छह मास तक किसी से नहीं मिली, बीमारी का बहाना करके घर में पड़ी रही। समय पूरा होने पर इसने पुत्र को जन्म दिया। किन्तु, वेश्यावृत्ति कायम रखने के लिए उस पुत्र को अपनी दासी के द्वारा बाहर के घूरे पर फेंकवा दिया। यही अनाथ पुत्र आगे चलकर *जीवक* महाभिषक् हुआ, जो अपने समय का धन्वन्तरि था।

घूरे पर पड़े इस शिशु को बिम्बिसार का अमात्य *अभयकुमार* उठा ले गया और उसी ने अपने घर में इसे पाल-पोसकर बड़ा बनाया। अभयकुमार द्वारा पालित होने के कारण इस शिशु का एक नाम *कौमारभृत्य* भी पड़ा, जिसका अर्थ हुआ—कुमार के द्वारा भरण-पोषण से पालित। बालक जब बाहर जाकर विद्योपार्जन के लायक हुआ, तब उसकी भी इच्छा हुई कि मैं कुछ शिल्प-ज्ञान प्राप्त करूँ। अभयकुमार ने भी सोचा कि अपनी जीविका चलाने के योग्य होने के लिए इसे शिल्प-शिक्षा दिला देना आवश्यक है। अभयकुमार ने शिक्षा के लिए इसे 'तक्षशिला' विश्वविद्यालय में भेज दिया। साथ ही उसने एक परिचय-पत्र भी तक्षशिला के राजा के नाम से इसे दिया। जब जीवक तक्षशिला पहुँचा, तब मगध के राज-परिवार से आये इस अतिथि का, वहाँ के राजा 'पुष्करसारि' ने भव्य स्वागत किया। राजा ने इसकी आयुर्वेद-शास्त्र के अध्ययन की इच्छा जानकर तक्षशिला-विश्वविद्यालय के प्रधानाचार्य के पास भेजा। यद्यपि 'महावग्ग' में प्रधानाचार्य का नाम नहीं लिखा है, केवल एक वैद्य ही लिखा है, तथापि अनेक सूत्रों से ज्ञात है कि आयुर्वेद-विभाग के प्रधानाचार्य उस समय *आत्रेय*[1] थे। आत्रेय ने 'जीवक' को अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि तथा विनयी शिष्य के रूप में पाया और उन्होंने अपना इसे प्रधान शिष्य के रूप में रखा। वे जिस रोगी को देखने या दवा देने जाते, साथ में जीवक को भी ले लेते थे। इसने तक्षशिला में अपने गुरु के पास सात वर्षों तक वैद्यक-शास्त्र का अध्ययन किया। एक दिन इसने अपने गुरु से कहा—'महाराज, इस शास्त्र का अन्त नहीं जान पड़ता है, अभी और कितने वर्षों तक मुझे इसका अध्ययन करना पड़ेगा? कौन-कौन ओषधि अभी जानने को रह गई है?' आत्रेय ने कहा—'अच्छा, जाओ खनित्री ले लो और तक्षशिला के आस-पास के जंगलों में जाकर कोई ऐसा पौधा ले आओ, जिसे तुम नहीं पहचानते हो, तो उसकी उपयोगिता बता दूँगा।' कहते हैं कि जीवक खनित्री लेकर तक्षशिला के इर्द-गिर्द के चार कोस के जंगलों में नई ओषधि की तलाश में घूमता रहा, पर उसे एक भी ओषधि ऐसी नहीं मिली, जिसे वह न पहचानता हो। वह निराश लौटा और अपने गुरु से जाकर कहा—

आहिण्डन्तो'म्हि आचरिय, तक्कसिलाय समन्ता योजनं, न किञ्चि अभेसज्जं अद्दसं।

अर्थात्, हे आचार्य! मैं तो तक्षशिला के चारों तरफ चार-चार कोस की दूरी में चक्कर लगाता रहा; पर मुझे एक भी नवीन भेषज नहीं मिला। इसपर आचार्य ने कहा—

१. भारतीय इतिहास का उन्मीलन (श्री जयचन्द्र विद्यालंकार)—५वाँ संस्क०, पृ० २११।

सिक्खितो'सि भणे जीवक ! अलं ते एत्तकं जीविकाया'ति[1]।

अर्थात्, 'वत्स जीवक, तुम सीख चुके। इतनी शिक्षा तेरी जीविका के लिए पर्याप्त है।' अब जीवक ने 'राजगृह' जाने का विचार किया और गुरु ने रास्ते के लिए थोड़ा पाथेय देकर उसे ससम्मान विदा कर दिया।

मार्ग में जीवक जब 'साकेत' नगर में पहुँचा, तब इसका गुरु-प्रदत्त पाथेय चुक गया था। इसे चिन्ता हुई कि आगे का रास्ता अभी काफी दूर है और बीहड़ है, बगैर राह-खर्च के राजगृह कैसे पहुँचूँगा ! इसने सोचा, साकेत (अयोध्या) में ही अपनी विद्या की आजमाइश क्यों न करूँ ? साकेत के सेठ की पत्नी के सिर में सात वर्ष से दर्द था, जिसे अच्छा करने के लिए कितने वैद्य आये और बहुत-कुछ सेठ से उन्होंने लिया, फिर भी शिरोरोग दूर न हो सका। जीवक को पता लगा, तो यह सेठ के द्वार पर पहुँचा और सेठानी को कहला भेजा कि मैं तुम्हारी शिरःपीड़ा दूर कर दूँगा। सेठानी ने उत्तर में कहलाया कि तुम्हारे-जैसे कितने ठग आये और ठगकर चलते बने। इस पर जीवक ने कहलाया कि पहले मैं एक पैसा भी नहीं लूँगा। रोग दूर होने पर तुम्हारी जो मर्जी हो, वही देना। इस बात पर सेठानी राजी हो गई। जीवक ने पसर-भर घी में अनेक दवाओं को डालकर उसे आग पर पकाया और सेठानी को उतान लिटाकर उसकी नाक में वह पकाया हुआ घी डाल दिया। कहते हैं कि वह सेठानी भी बड़ी कंजूस थी। उसकी नाक में डाला घी मुख के रास्ते से बाहर निकल आया, जिसे सेठानी ने नौकरों के पैर में मलने के लिए और दीप में डालने के लिए एक बरतन में सुरक्षित रखवा दिया। यह देखकर जीवक ने माथा पीटा कि यह कृपण मुझे क्या देगी ? जीवक के भाव को सेठानी ताड़ गई। उसने कहा—'वैद्य, तुम मत घबराओ, तुम्हें उचित पुरस्कार मिलेगा।'

जीवक की इस दवा से सेठानी का सात वर्ष का पुराना रोग दूर हो गया। सेठानी ने चार हजार, उसके पुत्र ने चार हजार, उसकी पतोहू ने भी चार हजार और स्वयं सेठ ने अपनी पत्नी को नीरोग जानकर चार हजार कर्षापण तथा एक दास, एक दासी और एक अश्व-रथ दिया। इन सोलह हजार कर्षापणों, दास-दासी तथा अश्वरथ को लेकर वह राजगृह आया और पहली बार की सभी कमाई उसने अपने अभिभावक 'अभयकुमार' की सेवा में सुपुर्द कर दी। इन मुद्राओं से अभयकुमार ने जीवक के निवास के लिए एक महल का निर्माण कराया।

उसके बाद बिंबिसार के पुराने रोग भगन्दर को भी जीवक ने दवा के एक ही लेप से आराम कर दिया। बिंबिसार ने पाँच सौ स्त्रियों को आभूषण से सजवाया और पीछे सभी आभूषणों को उतरवाकर जीवक को पारितोषिक रूप में दिया ; पर जीवक ने कहा—'आपकी कृपा ही काफी है।' सभी आभूषण उसने लौटा दिये। तब से जीवक राजवैद्य के पद पर प्रतिष्ठित हुआ।

राजगृह के श्रेष्ठी को भी सिर में सात वर्षों से पीड़ा थी, जिसे बड़े-बड़े वैद्य अच्छा नहीं कर सके थे और बहुत-सा सोना ले गये थे। वैद्यों ने कह दिया था कि आज के सातवें

१. महावग्गो—८,१,१,१०

दिन सेठ मर जायगा। विंबिसार की आज्ञा से जीवक ने सेठ के पास जाकर कहा—'सेठ, यदि एक करवट सात मास, दूसरी करवट सात मास और उतान होकर सात मास लेटे रहने की प्रतिज्ञा करो, तो मैं तुम्हारी दवा आरंभ कर दूँ।' जीवन के भूखे सेठ ने इसकी शर्त्त स्वीकार कर ली। जीवक ने सेठ को उतान सुलाकर खाट में अच्छी तरह बाँध दिया और माथे की खोपड़ी काटकर निकाल दी। उसने उसके अन्दर से दो कीड़े निकाले। बाद में खोपड़ी की सिलाई कर उसपर दवा का लेप कर दिया। इक्कीस मास लेटे रहने का वादा करनेवाले सेठ को जीवक ने इक्कीस दिन लेटने के बाद ही उठाकर टहला दिया। पारितोषिक में इस सेठ ने जीवक को एक लाख और राजा को भी एक लाख मुद्राएँ दी। धन्य है, यह बिहार का भू-भाग, जिसमें उस प्राचीन समय में भी इतना बड़ा और ऐसा शल्य-चिकित्सक वर्त्तमान था!

इसके बाद जीवक के पास वाराणसी का श्रेष्ठी आया। उसके लड़के के सिर में घूमि की बीमारी थी। उसके पेट में कोई चीज भी नहीं पचती थी। जीवक वाराणसी गया, और श्रेष्ठि-पुत्र को खंभे में बँधवाकर उसके पेट को चीर दिया। उसकी आँत में गाँठ पड़ गई थी, जिससे उसे कोई चीज नहीं पचती थी। जीवक ने उस गाँठ को काटकर निकाल लिया और उसकी पत्नी को दिखलाया। बाद में उसके पेट के चमड़े को सीकर उसपर दवा लगा दी,जिससे वह शीघ्र अच्छा हो गया। उसने भी इसे सोलह हजार अशर्फियाँ पारितोषिक में दीं।

उसी समय 'अवन्ती' के राजा *चण्डप्रद्योत* को पांडुरोग हो गया था। प्रद्योत ने बिम्बिसार के पास संदेशा भेजा कि मेरी हालत बहुत खराब है, अपने वैद्य को चिकित्सा के लिए भेजिए। बिम्बिसार ने जीवक को उज्जैन भेज दिया। जीवक ने वहाँ जाकर प्रद्योत को देखा और उसका रोग पहचान लिया। जीवक ने कहा—'महाराज, मैं एक घी पकाऊँगा, उसे आप पीजिए।' इस पर प्रद्योत ने कहा—'वैद्य, मुझे घीवाला औषध मत दो। घी पीना मेरे लिए शक्य नहीं।

किन्तु, वह रोग उसी औषध से ही अच्छा हो सकता था। जीवक ने ऐसी ओषधियों का घी में प्रयोग किया, जिससे घी की गंध जाती रही और उसमें कषाय गंध आ गई। पर दवा देने के पहले उसने सोच लिया कि गंध तो राजा को मालूम नहीं पड़ेगी, पर उसे वह पचा नहीं सकेगा। बाद में राजा को घी का प्रयोग मालूम होगा, तो वह अत्यन्त चण्ड है, मुझे मरवा डालेगा। इसलिए दवा देकर यहाँ से चल देना चाहिए।

उसने प्रद्योत से जाकर कहा—"महाराज, हम वैद्य हैं। खास-खास मुहूर्त्त और लग्न में ओषधि उखाड़ते हैं। आज एक ओषधि उखाड़ने के लिए ऐसा ही मुहूर्त्त आया है। मुझे आज्ञा मिले कि जिस सवारी से और जिस रास्ते से मैं चाहूँ, उज्जैन के बाहर जा सकूँ और आ सकूँ। मुझे कोई रोके मत।" राजा ने ऐसी आज्ञा दे दी।

जीवक ने प्रद्योत को दवा दे दी और वाहनागार में आकर सबसे तेज चलनेवाली हथिनी को ले लिया। हथिनी का नाम *भद्रवतिका* था और वह प्रद्योत की प्रिय हथिनी थी, जो दिनभर में ५० योजन चल सकती थी। वह भद्रवतिका पर चढ़कर चल पड़ा।

उधर प्रद्योत को घी से वमन हो गया। उसने अमात्यों से कहा—'उस दुष्ट वैद्य ने मुझे घी पिला दिया। उसे पकड़कर ले आओ।' लोगों ने कहा—'महाराज, आपकी आज्ञा से वह *भद्रवतिका* पर सवार होकर बाहर गया है।' तब प्रद्योत ने 'काक' नामक धावक को बुलाकर कहा—'देखो, वैद्य मुझे घी पिलाकर भाग गया है। जहाँ भी मिले, उसे पकड़कर ले आओ।' धावक 'काक' दिन-भर में साठ योजन चलता था। प्रद्योत ने काक से यह भी कहा—'देखना, उसका दिया कुछ खाना नहीं।'

काक उज्जैन से रवाना हुआ और जीवक को 'कौशाम्बी' में प्रातराश करते हुए पकड़ा। काक ने कहा—'चलिए वैद्यजी, राजा बुला रहे हैं।' जीवक ने पहले तो जाने से इनकार किया; पर काक के हठ करने पर उसने कहा—'अच्छा, प्रातराश कर लूँ। तुम भी कुछ खाओ न!' इसपर काक ने कहा—'नहीं महाराज, राजा ने मना किया है।' जीवक कच्चा आँवला खाकर पानी पी रहा था। उसने कहा—'कच्चा आँवला खाकर पानी पीने में तो कोई हर्ज नहीं है। लो, खाओ।' भोले-भाले 'काक' ने सोचा, कच्चे आँवले खाने में तो कोई हर्ज नहीं। उसने आँवला खा लिया। जीवक के नख में दवा थी। उसने नख को आँवले में चुभो दिया था।

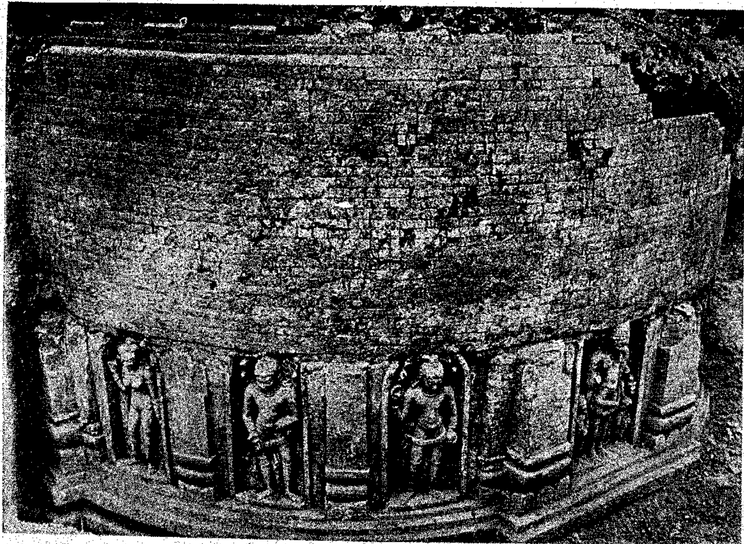
आँवला खाते ही काक वमन करने लगा। काक गिड़गिड़ाने लगा और प्राणों की भीख माँगने लगा। जीवक ने कहा—'डरो मत, तुम नीरोग हो जाओगे। राजा भी नीरोग हो गया होगा।' वैद्य ने कहा—'देखो काक, तुम्हारा राजा चण्ड है, वहाँ जाना अच्छा नहीं। तुम *भद्रवतिका* को लेकर लौट जाओ। मैं उज्जैन नहीं जाऊँगा।' थोड़ी देर बाद काक स्वस्थ हो गया और वह लौट गया। जीवक राजगृह आया।

नीरोग होने पर प्रद्योत ने फिर दूत भेजा कि जीवक आवे, मैं उसका सम्मान करूँगा। पर जीवक नहीं गया। तब उपहार-स्वरूप सर्वश्रेष्ठ एक जोड़ा दुशाला प्रद्योत ने जीवक के पास भिजवाया। जीवक ने उस दुशाले को भगवान् बुद्ध को समर्पित कर दिया। वाराणसी के सेठ ने भी हजारों कम्बल जीवक के लिए भेजे थे, जिन्हें इसने बौद्ध संघ को दान में दे दिया था। उस जमाने का यह 'धन्वन्तरि' था। इसी के अनुरोध पर बुद्ध ने भिक्षुओं को गृहपति-चीवर धारण करने की आज्ञा दी थी। इसके पहले सभी भिक्षु पांसुकूलिक थे[1]।

भगवान् बुद्ध राजगृह से चारिका करते हुए मगध के दक्षिणागिरि में गये। रास्ते में जाते समय इन्होंने मगध के पंक्तिबद्ध खेतों को देखकर इसी तरह पंक्तिबद्ध, और सीमा-बद्ध चीवरों को बनाने के लिए आनन्द से कहा था[2]। दक्षिणागिरि में चारिका करके बुद्ध फिर राजगृह चले आये। राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर वास किया। उस समय *ऋषिगिरि*

१. जीवक के विस्तृत जीवन-चरित देने का यहाँ अभिप्राय यही है कि बिहार-प्रदेश में इस तरह का उस समय ही चिकित्सा-शास्त्र उन्नत अवस्था में था और ऐसा महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बौद्धधर्म में दीक्षित था, जिसने बौद्धधर्म के लिए कई बातों में बुद्ध को भी प्रेरित किया।—लें०

२. महावग्गो—८,२,६,१



राजगृह का मनियार मठ

पर्वत की बगल में तृण-कुटी बनाकर अनेक बौद्ध भिक्षु वास करते थे। भगवान् बुद्ध का यह बीसवाँ वर्षावास था। वर्षावास समाप्त होने पर सभी भिक्षु अपनी-अपनी कुटी उजाड़कर चारिका के लिए चले गये। उन भिक्षुओं में 'धनिय' नामक भिक्षु भी था, जो आदि का कुम्भकार था। वह अपनी कुटी उजाड़कर चारिका में नहीं गया। अपनी कुटी में रहता और आस-पास से ही पिंडपात करता था। एक दिन जब वह पिंडपात के लिए गया, तब लकड़ी चुननेवाली गरीब स्त्रियाँ उसकी कुटी उजाड़कर लकड़ी और फूस ले गईं। धनिय फिर से अपनी फूस की झोपड़ी तैयार कर रहने लगा। पाँच-दस दिन बाद फिर जब वह पिंडपात के लिए गया, तब शून्य पाकर लकड़हारिनों ने उसकी कुटी उजाड़कर फूस और लकड़ी ले ली। इसपर धनिय कुम्भकार ने पोख्ता कुटी, स्थायी छाजन कर, तैयार कर डाली। वह कुम्भकार था, मिट्टी का काम अच्छा जानता था। उसने लाल मिट्टी से कुटी की दीवार को लीप-पोतकर चमका दिया।

एक दिन भगवान् बुद्ध गृध्रकूट के शिखर से भिक्षुओं के साथ उतर रहे थे। उन्होंने दूर से ही लाल मिट्टी से पुती, स्वच्छ, नई छाजनवाली कुटी देखी। पूछने पर भिक्षुओं ने बतलाया कि धनिय ने अपनी स्थायी कुटी तैयार की है। भिक्षु द्वारा एक स्थान पर निवास करने के लिए बनाई कुटी देखकर बुद्ध को बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने आज्ञा देकर भिक्षुओं से धनिय की कुटी उजड़वा दी। उसके बाद बुद्ध चले गये। इधर धनिय को भी अपनी कुटी से ममता बढ़ गई थी। उसने सोचा, इस बार काठ की दीवार तैयार करूं। धनिय बिंबिसार राजा के 'काठगोदाम' में गया और गोदाम के रक्षक से बोला—'राजा ने मुझे लकड़ी दी है, दे दो।' रक्षक ने सोचा, भिक्षु झूठ नहीं बोलेगा और राजा के नाम पर तो झूठ बोलने का कोई साहस नहीं करेगा! धनिय ने अच्छे-अच्छे मजबूत तख्ते लाकर कुटी की दीवार तैयार कर ली और ऊपर से छाजन भी कर ली।

राजा का मंत्री वर्षकार एक दिन घूमता-फिरता गोदाम का निरीक्षण करने गया। मंत्री ने उन तख्तों को नहीं देखा, जिन्हें उसने रखवाया था। उसने जब गोदाम के रक्षक से तख्तों के सम्बन्ध में पूछा, तब रक्षक ने बतलाया कि राजा की आज्ञा से भिक्षु को दे दिये हैं। वर्षकार को बड़ा आश्चर्य हुआ कि राजकाज के लिए रखे तख्तों को महाराज ने, बिना मुझे सूचित किये, कैसे दे दिया। उसने बिंबिसार के पास जाकर तख्तों के देने की बात पूछी। राजा ने कहा—'नहीं जी, मैंने किसी को नहीं दिये हैं।' काठगोदाम का रक्षक पकड़कर मँगाया गया और उसके कहने पर धनिय भी दरबार में लाया गया। जब धनिय से राजा ने पूछा कि मैंने कब तुम्हें तख्ते दिये, तब उसने कहा—'महाराज! जब आपका राजतिलक हो रहा था, तब आपने कहा था कि श्रमण-ब्राह्मणों को तृण और काष्ठ देता हूँ। इसका वे उपभोग करें।' राजा ने कहा—'मुझे अच्छी तरह याद है, वह तो जंगल के तृण-काष्ठ के लिए कहा था। जाओ, भिक्षु होने के कारण बच गये, आगे से कभी ऐसा नहीं करना।'

राजगृह में इस बात के कारण बौद्धों की बड़ी निन्दा होने लगी, कि बौद्ध झूठ

बोलते हैं, वमन करते हैं, और रहने के लिए गृहस्थ-जैसा घर बनाते हैं। जब यह बात भगवान् बुद्ध तक पहुँची, तब उन्होंने भिक्षुओं को इकट्ठा किया, धनिय को धिक्कारा और कहा—'इसे संघ से निकाल दो।' इसके बाद बुद्ध ने यह नियम बना दिया कि कम-से-कम पाँच माशे के मूल्य तक के सामानों को, जो कोई बिना माँगे ले या ठगकर ले ले, उसे संघ से निकाल दिया जाय। यही चोरी की *पाराजिका* कहलाती है।

इसी समय वैशाली के सुदिन्न भिक्षु ने अपनी पत्नी में मैथुन करके बीज-वपन किया था, जिसकी कथा पहले दी गई है[1]। बुद्ध ने उसे भी संघ से निकाला था और मैथुन-पाराजिका का नियम यहीं बनाया था।

भगवान् बुद्ध जब गृध्रकूट पर ही थे, तब शक्र के मुँह से बुद्ध-धर्म की प्रशंसा सुनकर *पंचशिख गन्धर्वपुत्र* उनसे मिलने आया था[2]।

एक दिन भगवान् बुद्ध जब राजगृह के *वेदिक* पर्वत की *इन्द्रशाल* गुफा में विहार कर रहे थे, तब स्वयं शक्र उनसे मिलने वहाँ आया। इसी गुफा में पंचशिख गन्धर्वपुत्र ने बुद्ध को अपना वीणावादन सुनाया था। प्राचीन राजगृह से पूर्व दिशा में अम्बषण्ड नाम का एक ब्राह्मणों का गाँव था। वेदिक पर्वत इस गाँव से उत्तर दिशा में था[3]।

बौद्धों की एक देवी का नाम *हारीति* है। यह हिन्दुओं की 'शीतला' की तरह पूज्य और प्रसिद्ध है। राजगृह के क्षेत्र में हारीति शीतला मानकर आज भी पूजी जाती है। इसकी कहानी यह है कि भगवान् बुद्ध जब राजगृह में थे, तब हारीति नाम की एक राक्षसी थी, जिसकी ५०० सन्तानें थीं। पर यह राक्षसी प्रतिदिन राजगृह के पड़ोस के बच्चों को चुरा ले जाती और स्वयं उनका मांस खाती और बच्चों को भी खिलाती थी। उस क्षेत्र में इसने भीषण आतंक मचा रखा था। राजगृह के आस-पास की जनता हारीति से त्राण पाने के लिए भगवान् बुद्ध के पास गई और इस राक्षसी के उपद्रव से बचने के लिए अपनी दुःख-कहानी सुनाई। भगवान् बुद्ध ने जनता को हारीति के उपद्रव से बचाने का वचन दिया।

एक दिन भगवान् बुद्ध ने हारीति के सबसे छोटे और सबसे प्रिय बच्चे को चुरवा लिया और किसी एकान्त स्थान में रखवा दिया। बच्चे के वियोग से हारीति व्याकुल हो गई। उसे पता लगा कि भगवान् बुद्ध, जो दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिए ही अवतरित हुए हैं, हमारे दुःख दूर कर देंगे। वह रोती-कलपती भगवान् बुद्ध के पास पहुँची, और उसने अपने बच्चे को प्राप्त करने का यत्न पूछा। भगवान् ने कहा—'तुम्हारे तो ५०० बच्चे हैं, जिनमें एक के भूल जाने पर तुम इतना व्याकुल हो। जिनके पास एक ही बच्चा है, उसे भी ले जाकर जब तुम मार देती हो, तब सोचो कि उसे कितना कष्ट होता होगा। तुम्हारा बच्चा तो जरूर मिल जायगा; पर आज से तुम प्रतिज्ञा करो कि किसी के बच्चे की हानि नहीं पहुँचाऊँगी।'

१. द्रष्टव्य—इस पुस्तक के पृ० ८३-८४

२. दीघ निकाय—२,६

३. दीघ निकाय—२,८

भगवान् बुद्ध की ऐसी मीठी बात सुनकर हारीति उनके चरणों पर गिर पड़ी। उसका बच्चा मिल गया और वह बुद्ध-सेविका हो गई। तब से वह सन्तान-रक्षिणी के रूप में पूजी जाने लगी। इसकी मूर्त्ति लाहौर के संग्रहालय में सुरक्षित है[1]।

'दीघ निकाय' के 'उदुम्बरिक सिंहनादसुत्त'[2] में *न्यग्रोध* परिव्राजक की कथा मिलती है। उस समय भगवान् बुद्ध गृध्रकूट पर ही विहार करते थे। वह न्यग्रोध अपनी एक बड़ी शिष्य-मंडली के साथ *उदुम्बरिका* आश्रम में रहता था, जिसमें तीन हजार शिष्य थे। एक दिन बुद्ध के उपासक *सन्धान* नामक गृहपति ने सोचा—'भगवान् बुद्ध अभी समाधि में हैं, वहाँ जाना ठीक नहीं है। न्यग्रोध परिव्राजक का नाम सुनता हूँ, वहीं चलूँ।' वह उदुम्बरिका आश्रम में पहुँचा। सन्धान जब वहाँ गया, तब न्यग्रोध अपनी बड़ी परिषद् के बीच में बैठा नाना कथाएँ कह रहा था। यहाँ प्राचीन-कथा साहित्य का सुन्दर और विस्तृत परिचय मिलता है। विविध विषयों की एक लम्बी कथा-तालिका भी उपलब्ध होती है।

संधान ने पहुँचते ही कहा—'महाराज! क्यों निरर्थक कथाएँ कहते हो? भगवान् बुद्ध की कथा कहो।' न्यग्रोध को इस असामयिक छेड़खानी से क्रोध हो आया। उसने कहा—"गृहपति संधान, तुम्हारे श्रवण गौतम की बुद्धि शून्यागार में रहते-रहते मारी गई है। वह सभा से मुँह चुराता है, पंडितों से अलग-अलग ही रहता है—मानों कानी गाय की अलग बथान। यदि तुम्हारा श्रमण गौतम इस सभा में आवे, तो एक ही प्रश्न में वह चक्कर खा जाय, उसे खाली घड़े की तरह जिधर चाहूँ, उधर लुढ़का दूँ।"

संयोग से भगवान् बुद्ध *सुमागधा पुष्करिणी* के तीर पर *मोरनिवाप* आश्रम में टहल रहे थे। दूर से ही न्यग्रोध परिव्राजक ने उन्हें देखा। थोड़ी देर बाद बुद्ध स्वयं उसके आश्रम में आ गये। बुद्ध ने पूछा कि क्या बातें हो रही थीं? न्यग्रोध ने कहा—"यही कि यदि बुद्ध यहाँ आवें, तो पूछा जाय कि आप किस तरह अपने श्रावकों को विनीत करते हैं, आपका वह कौन-सा धर्म है? इसी बीच आप आ ही गये।" इसके बाद दोनों में शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। शास्त्रार्थ का विषय रहा—तपस्या। किन्तु थोड़ी देर बाद न्यग्रोध की बोलती बन्द हो गई और उसके शिष्यों ने शोर मचा दिया कि 'हाय! हमारे गुरु तो परास्त हो गये, हमारा नाश हो गया!'

बुद्ध का उपासक संधान गृहपति वहीं बैठा था। उसने कहा—'भन्ते! थोड़ी देर पहले तो न्यग्रोध कह रहे थे कि यदि तुम्हारे शास्ता आवें, तो एक ही प्रश्न में उन्हें चकरा दूँ, खाली घड़े की तरह जिधर चाहूँ, लुढ़का दूँ!' इतना सुनने पर 'न्यग्रोध' लज्जा से कंधे झुका मुँह लटकाकर गूँगा-सा बन गया। उसकी दशा भीगी बिल्ली की तरह हो गई। अन्त में बुद्ध ने उसे बौद्धधर्म के पालन से इसी शरीर में अनेक लाभ बतलाये। किन्तु, इतना

१. मासिक 'सरस्वती' (प्रयाग), दिसम्बर, १९१७ ई०।

२. दीघ निकाय—३,२

होने पर भी किसी ने नहीं कहा कि भगवन्, मैं प्रव्रज्या लूँगा। तब बुद्ध ने कहा—ये सभी मार से ग्रस्त हैं, इनके सामने धर्म का उपदेश करना व्यर्थ है।' वे सिंहनाद कर आकाश-मार्ग से गृध्रकूट पर चले गये और तब संधान भी राजगृह चला गया। बुद्ध ने यहाँ भी ऋद्धि का प्रदर्शन कर उन परिव्राजकों पर प्रभाव डालना चाहा था, जो उनके धर्म-प्रचार का एक ढंग था।

इसी गृध्रकूट पर्वत पर 'आटानाटीय' रक्षा की आवृत्ति की गई थी[१]। इसमें भूत, प्रेत, राक्षस, यक्ष आदि से रक्षा के लिए सातों बुद्धों को नमस्कार, चार महाराजों का वर्णन, रक्षा न माननेवाले यक्षों को दण्ड, प्रबल यक्षों का नामस्मरण आदि करने को बुद्ध ने कहा है। बुद्ध की इसी वाणी ने आगे चलकर कालक्रमानुसार मंत्र-तंत्र का विकास किया और बौद्धधर्म में मंत्रयान और वज्रयान-जैसा सम्प्रदाय का जन्म हुआ।

भगवान् बुद्ध जब गृध्रकूट के *शूकरखात* में विहार कर रहे थे, तब *दीर्घनख* नाम का एक परिव्राजक भगवान् से मिलने गया[२]। दीर्घनख ने बुद्ध से कहा—"मैं अमुक 'वाद' का माननेवाला हूँ, सभी वाद मुझे पसन्द नहीं।" इसी बात पर भगवान् बुद्ध ने अपने तर्कों के जाल में उसे ऐसा बाँधा कि उसने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्, आज आपने तो औंधे को सीधा कर दिया। आज से मुझे आप अञ्जलिबद्ध शरणागत जानकर उपासक स्वीकार करें।' दीर्घनख अग्निवेश गोत्र का था। जिस समय बुद्ध अग्निवेश को उपदेश कर रहे थे, उस समय 'सारिपुत्र' बुद्ध के पीछे खड़े होकर पंखा झल रहे थे। सारिपुत्र को लगा कि भगवान् जिन उपदेशों को अग्निवेश को दे रहे हैं, वे उपदेश मेरे लिए भी कह रहे हैं। इन उपदेशों के अनुसार मुझे भी आचरण करना चाहिए।

अंग-देश के *सोणकोटिविंश* नामक श्रेष्ठीपुत्र ने भी भगवान् बुद्ध से राजगृह में ही उपसम्पदा ली थी[३]। बुद्ध जब राजगृह के 'गृध्रकूट' पर्वत पर विहार कर रहे थे, तभी मगधराज बिम्बिसार ने अपने समस्त राज्य के सब ग्रामपतियों को राजगृह में बुलाया था। बिम्बिसार अस्सी हजार ग्रामों का अधिपति था—*असीतिया गामसहस्सेसु इस्सराधिपच्चं रज्जं कारेति*[४]। उन ग्रामों के अध्यक्ष राजगृह आये थे। उन्हीं में से एक था—सोणकोटिविंश, जो चम्पा नगरी (अङ्ग-देश) का रहनेवाला था। यह बीस करोड़ मुद्राओं का स्वामी था। अतः यह कोटिविंश (बीसकरोड़ी) कहलाता था। उसके खजाने में ८० बैलगाड़ी हिरण्य-मुद्राएँ थीं और द्वार पर ४६ हाथी झूलते थे[५]। सोण के शरीर में एक ऐसा चिह्न था, जो शायद ही किसी पुरुष में रहता हो। उसके पैरों के तलवों में बड़े-बड़े लोम जमे हुए थे।

१. दीघ निकाय—३,९
२. मज्झिम निकाय—२,३,४
३. महावग्गो—५ (चम्मक्खन्धको)
४. तत्रैव—५,१,१
५. असीति सकटवाहे हिरञ्ञं ओहाय अगारस्मा अनगारियं पब्बजितो सत्तहत्थिकञ्च अनीकं।
— महावग्गो : ५,१,१७

जब बिम्बिसार की ओर से 'सोण कोटिविंश' के पास बुलाहट पहुँची, तब उसके माता-पिता ने समझा दिया कि देखो, राजा के सामने पैर फैलाकर नहीं बैठना। वहाँ कमलासन में बैठना, जिससे तुम्हारे तलवों के रोम को राजा देख सकें। वह बड़े ठाट-बाट से पालकी पर चढ़कर चम्पा से राजगृह आया था।

मगध-राज्य के अस्सी हजार ग्रामाध्यक्ष उस समय बिम्बिसार के यहाँ इकट्ठे हुए और उसने उनसे कुछ राज्य-व्यवस्था-संबंधी बातें कीं। सभा समाप्त होने पर बिम्बिसार ने उन ग्रामाध्यक्षों से कहा—'मेरे यहाँ आपलोगों ने लौकिक विषयों पर बातें की हैं, अब आप भगवान् बुद्ध के पास जाकर कुछ पारलौकिक चर्चा भी सुनें।'

ये अस्सी हजार ग्रामाध्यक्ष जब भगवान् बुद्ध के पास पहुँचे, तब बुद्ध के समीप उनका निजी सेवक *स्वागत* था[1]। इन ग्रामाध्यक्षों को प्रभावित करने के लिए बुद्ध की आज्ञा से 'स्वागत' ने आकाश में उड़कर विविध ढंग से 'ऋद्धि-प्रतिहार्य' दिखलाये, जिनसे प्रभावित होकर सभी ग्रामाध्यक्ष बुद्धोपासक बन गये। सोण कोटिविंश बुद्धोपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि उसका मन केवल उपासक बनकर ही तृप्त नहीं हुआ। उसने निवेदन किया कि भगवन्, मुझे प्रव्रज्या दीजिए—अपनी शरण में ले लीजिए। भगवान् बुद्ध ने उसे प्रव्रजित कर उपसम्पदा भी दे दी।

उपसम्पदा प्राप्त कर 'सोण कोटिविंश' राजगृह के पास 'सीतवन' नामक स्थान में अन्य भिक्षुओं के साथ रहने लगा। वह बड़ा जिद्दी, किंतु उद्योग-परायण था। अभीतक वह पैदल नहीं चला था। अत्यन्त सुकुमार था। भिक्षु बनकर नंगे पैर पैदल चलते रहने से उसके तलवे फट गये और इतना रक्त प्रवाहित हुआ कि जैसे वहाँ किसी पशु का वध हुआ हो। ऐसा दृश्य देखकर 'सोण' का मन विचलित हो गया। उसने सोचा—मैं तो अतिवैभवशाली व्यक्ति हूँ। घर रहकर भी और दानकर्म कर पुण्यार्जन कर सकता हूँ। क्यों न, मैं घर लौट चलूँ?

भगवान् बुद्ध को जब यह बात मालूम हुई, तब वे तुरत गृध्रकूट से सीतवन आश्रम में पहुँच गये। वहाँ उन्होंने सोण को समझाया कि उद्योग में भी मध्यम-मार्ग को ही अपनाओ। न तो तपस्या में अधिक ढीले होओ, न अधिक उद्योगी ही। दोनों में हानि है, अतः मध्यम-मार्ग ही श्रेयस्कर है। सोण कोटिविंश ने मध्यम-मार्ग से चलकर अर्हत्त्व प्राप्त किया।

दूसरी बार जब उसकी भेंट बुद्ध से हुई, तब उन्होंने कहा—'सोण, तू बड़ा सुकुमार है। यद्यपि संघ के भिक्षुओं के लिए जूता पहनने का विधान नहीं है, तथापि तू जूता पहना कर।' इसपर सोण कोटिविंश ने कहा—'नहीं, महाराज! इतनी बड़ी सम्पत्ति छोड़कर जब मैं प्रव्रजित हो गया, तब भिक्षु होकर जूता क्या पहनूँ? लोग कहेंगे, अब भी आराम-पसन्द ही है। हाँ, यदि सारा संघ पहने, तो मैं भी पहन सकता हूँ।'

भगवान् बुद्ध ने तब एक तल्लेवाला जूता पहनने का विधान सम्पूर्ण संघ के लिए कर दिया। सच पूछिए, तो श्रेष्ठिपुत्र सोण के लिए ही बुद्ध ने संघ के नियम में ऐसा

१. महावग्गो—५,१,४

परिवर्त्तन किया। उनके शिष्यों में इसका सोलहवाँ स्थान था। उद्योग-परायणों में यह सर्वश्रेष्ठ था।

गृध्रकूट पर्वत पर ही जब बुद्ध थे, तब *माघ* नाम का माणवक उनके पास गया[1]। कुशल-क्षेम के बाद 'माघ' ने उनसे कहा—'हे गौतम! मैं दायक हूँ, दानपति हूँ। मैं अनेक व्यक्तियों को दान देता हूँ। क्या इस तरह दान करके मैं पुण्य अर्जन करता हूँ?' बुद्ध ने दान की बहुत-सी महिमाएँ कहीं और इसी प्रकार दान देते रहने को उससे कहा—

यजस्सु यजमानो (माघोति भगवा) सब्बत्थ च विप्पसादेहि चित्तं।
आरम्भणं यजमानस्स यञ्ञं एत्थपतिट्ठाय जहाति दोसं[2]॥

"हे माघ! दान करो और सर्वत्र अपने मन को प्रसन्न रखो। दान ही दायक का आरम्भण है। इसमें जो प्रतिष्ठित होता है, उसका द्वेष चुक जाता है।"

एक बार भगवान् बुद्ध राजगृह के *तपोदाराम* में विहार कर रहे थे[3]। 'अट्ठकथा' में तपोदाराम को 'वैभारगिरि' के पादमूल के गर्म सोते के पास बतलाया गया है। उस समय बुद्ध के साथ रहनेवाले शिष्यों में *समिद्धि* नाम का एक भिक्षु था। एक रात की ब्रह्मवेला में 'समिद्धि' गरम सोते में स्नान कर एक वस्त्र धारणकर चलने को तैयार हुआ, तो सामने उसने एक देवता को खड़ा देखा। देवता ने भिक्षु से पूछा—"भिक्षु, क्या तुम 'भद्देकरत्त' के उद्देश्य और विभंग जानते हो?" समिद्धि ने कहा—'नहीं, मैं तो नहीं जानता।' देवता ने फिर पूछा—'क्या उसकी गाथाएँ याद हैं?' उसने कहा—'नहीं, महाराज! गाथाएँ भी नहीं जानता।' 'भद्देकरत्त' के उद्देश्य और विभंग सीखो, यह कहता हुआ वह देवता अन्तर्धान हो गया।

भिक्षु समिद्धि तपोदाराम में भगवान् बुद्ध के पास गया और उनसे भोरवाली घटना निवेदित की। भगवान् बुद्ध उस समय कहीं जा रहे थे। उन्होंने भद्देकरत्त के विभंग और उद्देश्य के लिए इतना ही कहा कि अतीत का अनुगम करो, शान्ति मुनि 'भद्देकरत्त' कहते हैं। इसके बाद वे चले गये।

समिद्धि इस सूत्रात्मक उत्तर को नहीं समझ सका। वह 'महाकात्यायन' के पास गया और भगवान् के सूत्रात्मक वाक्य को विस्तार से समझाने के लिए कहा। 'महाकात्यायन' ने 'भद्देकरत्त' के उद्देश्य और विभंग को सुविस्तृत और सुबोधरूप में समझाया, जिसकी व्याख्या का भगवान् बुद्ध ने समर्थन किया था।

समिद्धि 'कलन्दक निवाप' के पास ही जंगल में कुटी बनाकर रहता था[4]। एक दिन समिद्धि की कुटिया में *पोतलिपुत्र* परिव्राजक टहलते-घूमते गया। साधारण शिष्टाचार के

१. सुत्तनिपात—३१
२. सुत्तनिपात—३१,२०
३. मज्झिम निकाय—३,४,३
४. मज्झिम निकाय—३,४,६

बाद परिव्राजक ने प्रश्न किया—'आवुस, मैंने बुद्ध गौतम के मुख से सुना है कि कायिक और वाचिक कर्म निष्फल हैं, केवल मानसिक कर्म ही सत्य हैं। क्या कोई ऐसी समाधि है, जिसे प्राप्त कर कुछ भी अनुभव नहीं किया जा सके?' समिद्धि ने कहा—'पोत्तलिपुत्र, इस तरह भगवान् पर मिथ्यारोप क्यों करते हो? इस तरह भगवान् कभी नहीं कहते।'

परिव्राजक ने पूछा—'भिक्षु, तुम्हें प्रव्रजित हुए कितने वर्ष हुए?' उसने कहा—'केवल तीन वर्ष।'

परिव्राजक ने फिर दूसरा प्रश्न किया—'आवुस समिद्धि! जो कोई स्मृति-सम्प्रज्ञान के साथ काय, वचन और मन से कर्म करता है, वह क्या अनुभव करता है?'

समिद्धि ने कहा—'हाँ, इस तरह के कर्म करनेवाले दुःखानुभव करते हैं।' इतना सुनकर पोत्तलिपुत्र परिव्राजक बिना कुछ कहे उठकर चला गया। इस तरह परिव्राजक के जाने पर समिद्धि को ज्ञात हुआ कि मैंने ठीक से उत्तर नहीं दिया। वह 'आनन्द' के पास गया और पोत्तलिपुत्र के साथ की हुई बातें कहीं। आनन्द ने कहा—'चलो, भगवान् बुद्ध से ही पूछा जाय।' दोनों ने बुद्ध के पास जाकर कुल वृत्तान्त कह सुनाया।

बुद्ध ने कहा—"आनन्द! मैंने तो 'पोत्तलिपुत्र' परिव्राजक को देखा तक भी नहीं। उससे बातें करने की कौन कहे! पर इस मोघपुरुष समिद्धि ने विभाग करके उत्तर दिये जानेवाले प्रश्न के एकांश का ही उत्तर दिया। इसने तो बौद्धों के ज्ञान को हँसाया है।" पास में ही भिक्षु 'उदायी' बैठे थे। झट उन्होंने कहा—'भगवन्, समिद्धि ने क्यों ऐसा उत्तर दिया कि जो कुछ अनुभव है, वह दुःखविषयक है।' बिना ठीक-ठीक समझे और बीच में ही बोल उठनेवाले उदायी को बुद्ध ने खूब फटकारा और आनन्द से कहा—'देखते हो इस बाल उदायी को, जो बिना मूल विषय जाने बीच में डुबकी लगा रहा है।' इसके बाद भगवान् बुद्ध ने पोत्तलिपुत्र के प्रश्न का उत्तर कैसे देना चाहिए, इसे अच्छी तरह समझाया और बाद में 'महाकर्म विभंग' का उपदेश भी किया। इस कथा से पता चलता है कि मगध में उस समय अन्य तीर्थक भी बहुत बड़े ज्ञानी थे।

राजगृह में यथेच्छ विहार कर भगवान् बुद्ध चारिका करते वैशाली की ओर पुनः चले[1]। रास्ते में उन्होंने देखा कि बहुत-से भिक्षु चीवरों की गठरी बाँध-बाँधकर माथे पर ढोते चल रहे हैं। बुद्ध ने सोचा, जब अभी ही ये भिक्षु इतना संग्रह करने लगे हैं, तब आगे न जाने क्या करेंगे? वैशाली पहुँच कर, जाड़े की एक रात में सर्दी न लगने के लिए कितने चीवर से काम चल सकता है, उन्होंने इसको जाँचा। उसके बाद बुद्ध ने त्रिचीवर तक विधान कर दिया। भगवान् बुद्ध की उम्र इस समय ५५ वर्ष की हो गई थी[2]।

इस बार भी बुद्ध ने वैशाली में, महावन की 'कूटागार' शाला में, अपना पड़ाव डाला था। वैशाली में भगवान् बुद्ध ने काया से होनेवाली अशुभ भावनाओं की बड़ी शिकायत की। शरीर

१. बुद्धचर्या—पृ० ३१२

२. तत्रैव—पृ० ३१७

द्वारा होनेवाले अशुभ कर्मों की भर्त्सना भी उन्होंने की। ऐसे समय में बुद्ध ने एकान्तवास करने का सोचा। उन्होंने पन्द्रह दिनों के लिए एकान्तवास का विचार ठान लिया और भिक्षुओं से कहा—'मेरी कोठरी में भोजन देनेवाला-भर ही आयेगा। पन्द्रह दिनों तक दूसरा कोई हमसे नहीं मिले। ऐसा ही हुआ, सिर्फ 'आनन्द' भोजन के समय भोजन लेकर उनके पास जाते थे और भोजन रखने के सिवा वे न तो कुछ बोलते थे या न पूछते थे।

उस समय वहाँ उपस्थित भिक्षु, धर्म का विचित्र अर्थ समझने लगे। बुद्ध के इन उपदेशों को सुनकर उन्हें अपने शरीर से घृणा होने लगी थी। वे जीवन के प्रति जुगुप्सा करते और बन्धन से छुटकारा पाने के लिए इस काया के उत्सर्ग में ही धर्म मानने लगे। दान की महिमा उनके मन में इतनी बढ़ गई कि वे चाहने लगे, कोई हमारा शरीर ही ले ले, हमारा पात्र-चीवर भी ले ले, तो कुछ पुण्य हो जायगा। वे अपनी काया के प्रति घृणा करते, अपने हाथों से अपने को पीटने और आत्महत्या तक भी करने लगे।

संघ के पास में ही *मिगलंडिक श्रमण*कुत्तक नाम का एक व्यक्ति रहता था, जो स्वभाव से निर्दय और लोभी था। कुछ भिक्षु उसके पास गये और उन्होंने कहा—'श्रमणकुत्तक! तुम हमारे प्राण लेकर हमें भव-बन्धन से छुटकारा दिला दो और हमारा पात्र-चीवर ले लो।' 'मिगलंडिक' ने पात्र-चीवर के लोभ से बहुतों की जान ले ली, और अपनी खूनी तलवार को *वग्गमुदा* (बागमती) नदी में धोने गया। वहाँ तलवार धोते समय उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ और वह सोचने लगा—'मैंने बड़ा पाप किया।' उसी समय किसी भिक्षु ने कहा—'ऐसा मत सोचो, मिगलंडिक! तूने तो बहुत पुण्य किया कि तूने बहुत-से अतीर्णों को भी तार दिया, तुम्हें तो औरों को भी तारना चाहिए।' बौद्धग्रन्थों में कहा गया है कि यह प्रशंसा करने-वाला 'पापी मार' था। इसके बाद तो 'श्रमणकुत्तक' ने अनेक बौद्ध भिक्षुओं को तलवार के घाट उतार दिया और सबके पात्र-चीवर ले लिये। पन्द्रह दिनों बाद जब बुद्ध समाधि से बाहर आये, तब देखा कि भिक्षुओं की संख्या बहुत कम है। उन्होंने आनन्द से पूछा, तो आनन्द ने सारी घटना का वर्णन किया। भगवान् बुद्ध ने बचे भिक्षुओं को इकट्ठा करके 'मनुष्य-हत्या की पाराजिका' का विधान किया। उन्होंने कहा—'इस तरह के हत्यारे के सम्बन्ध में और ऐसी हत्या करने के लिए प्रेरित करनेवाले के प्रति क्या कहा जाय! ऐसे पापी के लिए तो ऐसे दुर्जीवन से मरना ही अच्छा है।'

एक समय कुछ भिक्षु *वग्गमुदा* (बागमती) के तीर पर वर्षावास करने गये[1]। वज्जी-देश में अकाल पड़ा था। भिक्षुओं को ठीक से पिंडपात नहीं मिलता था। कुछ भिक्षुओं ने सोचा, हमें गृहस्थों को प्रसन्न करके पिंडपात करना चाहिए। उनमें से कुछ भिक्षु गृहस्थों के यहाँ उनकी खेती के काम में लग गये। कुछ ने गृहस्थों के चिट्ठी-पत्री पहुँचाने का काम ले लिया। कुछ ने अनेक कथा-वार्त्ता कहने का धंधा उठाया। कुछ ने एक-दूसरे की ठकुरसुहाती का काम लिया। वे गृहस्थ बड़े प्रसन्न हुए कि जिन भिक्षुओं के दर्शन

१. बुद्धचर्या—पृ० ३११

दुर्लभ थे, वे सब हमारे घर आकर हमारे कामों में हाथ बँटाते हैं। वे भी अपने-अपने दास तथा परिवार को भी न मिलनेवाला भोजन भिक्षुओं को देने लगे। थोड़े ही दिनों में ऐसे भिक्षु रूपवान् तथा मोटे-तगड़े हो गये—इनके मुखड़े पर लाली दौड़ने लगी। वर्षावास समाप्त होने पर ये भिक्षु भगवान् बुद्ध के पास आये। इधर-उधर गये हुए दूसरे भिक्षु भी आये, जिनके शरीर रूक्ष थे, देह में खून नहीं था और बहुत दुबले हो गये थे। बुद्ध ने पूछा 'वग्गमुदा' के तट-प्रदेश में वास करनेवाले भिक्षु इतने मोटे और खूबसूरत कैसे हो गये? इसपर बुद्ध को सारी बातें मालूम हुईं। कृशकाय भिक्षुओं ने निन्दा आरंभ की, जिससे भिक्षुओं के दो दल हो गये। भगवान् बुद्ध ने परिषद् बैठाई और गृहस्थों के घर में जाकर नौकरी करके मोटे होनेवाले भिक्षुओं को धिक्कारा। उन्होंने कहा—"तुमने उदर-पोषण के लिए गृहस्थों के यहाँ एक-दूसरे के 'उत्तर मनुष्य-धर्म' की कैसे प्रशंसा की?" यहीं बुद्ध ने 'उत्तर मनुष्य-धर्म की पाराजिका' का विधान किया। उन भिक्षुओं को पापी ठहराया और उन्हें संघ से बाहर कर दिया। इसके बाद भगवान् बुद्ध अपनी मंडली के साथ चारिका के लिए वाराणसी की ओर गये[1]।

इसके बाद 'अंगुत्तर निकाय' के उल्लेखानुसार बुद्ध ने २५ वर्षावास केवल 'श्रावस्ती' में किये। इस प्रकार उनका वर्षावास २१वें से लेकर ४५वें तक केवल श्रावस्ती में हुआ। इसके दो कारण जबरदस्त थे—एक तो अनाथपिंडक-जैसा दायक उपासक वहाँ था, जिसके जोड़ का बुद्ध के लिए कोई दायक नहीं हुआ। वह अन्त में दान करते-करते इस दुर्गति तक पहुँचा कि मृत्यु के समय तक भोजन भी उसे दुर्लभ हो गया। यह वही अनाथपिंडक था, जिसने बौद्ध विहार बनवाने के लिए 'जेत' राजकुमार के बागीचे को पसन्द किया था और उसे खरीद लेने के लिए उस बागीचे की समस्त भूमि को अशर्फियों से पाट दिया था। इस घटना का दृश्य बोधगया और साँची की वेष्टन-वेदिकाओं पर भी उत्कीर्ण है। दूसरा कारण था—विशाखा-जैसी दायिका उपासिका भी वहाँ थी। विशाखा का जन्म बिहार-प्रदेश के भद्दिया (भदरिया, भागलपुर) में हुआ था और जो अपने पिता के साथ जाकर 'साकेत' नगर में बस गई थी तथा जिसका विवाह श्रावस्ती में हुआ था। यहाँ पच्चीस वर्षावास करते हुए भी भगवान् बुद्ध अपनी चारिका सर्वत्र करते चलते थे।

एक बार बुद्ध 'आनन्द' के साथ चारिका करते-करते बिहार-प्रदेश की *मिथिला* भूमि में भी गये[2]। वहाँ वे *मखादेव* के नाम पर स्थापित आम्रवन में ठहरे। उसी समय बुद्ध ने आनन्द को मखादेव और उनके पुत्र *निमि* की जीवन-कथा बतलाई थी। उन्होंने निमि के पुत्र 'कलार जनक' की भी कहानी कही। 'ब्रह्मायु सुत्तन्त'[3] से पता चलता है कि बुद्ध जब वहाँ गये थे, *ब्रह्मायु* नामक एक वृद्ध ब्राह्मण ने अपने उत्तर नामक एक शिष्य को महापुरुषों

१. अंगुत्तर निकाय (अट्ठकथा)—१,७,२
२. मज्झिम निकाय—२,४,३
३. मज्झिम निकाय—२,५,१

के लक्षण देखने के लिए बुद्ध के पास भेजा। उत्तर माणवक अपने गुरु की आज्ञा पाकर बुद्ध को देखने गया और एक सुनिपुण समालोचक की दृष्टि से देखा। उसने बुद्ध को चलते, खड़े होते, कुटी में प्रवेश करते, कृषकों के गृह में बैठते, भोजन करते, भोजनोपरान्त के कर्म करते, बरतन मलते, आराम में टहलते, आराम के भीतर चुपचाप बैठते, धर्मोपदेश करते, ध्यान करते आदि अनेक अवसरों पर देखा। उसने हर समय और हर जगह महापुरुषों और स्थितिप्रज्ञों के आचरण बुद्ध में देखे। उत्तर माणवक, बुद्ध को देखकर अत्यन्त आनन्द से नाचता हुआ अपने गुरु 'ब्रह्मायु' के पास पहुँचा और उन्हें बुद्ध के सभी महापुरुष-लक्षण बतलाये। उसकी प्रसन्नता और बुद्ध में पाये जानेवाले महापुरुष-लक्षण का विस्तृत वर्णन उक्त सुत्त में देखना चाहिए। 'ब्रह्मायु' की आयु उस समय १२० वर्ष की थी। वह बूढ़ा ब्राह्मण अपना सौभाग्य समझकर भगवान् के दर्शन के लिए आम्रवन में गया तथा भारी जनसमुदाय के बीच बुद्ध के चरणों को अपने हाथों से सहलाने लगा। बुद्ध ने उसे धर्मोपदेश के साथ प्रव्रजित किया; किन्तु बेचारा ब्राह्मण ज्यादा दिनों तक प्रव्रज्या का आनन्द नहीं उठा सका। कुछ काल बाद ही उसकी मृत्यु हो गई, फिर भी वह अनागामी हुआ।

एक बार बुद्ध कोसल-प्रदेश से चारिका करते-करते केसपुत्त निगम (शाहाबाद जिले का 'केसठ' गाँव) में पहुँचे[१]। वहाँ *कालाम* जाति के क्षत्रियों का वास था। बुद्ध के आने पर कालाम क्षत्रियों ने उनसे पूछा—'भगवन्, यहाँ जो श्रमण या भिक्षु आते हैं; सभी अपने-अपने धर्मों को बड़ा बतलाते हैं और दूसरे के धर्मों की निन्दा करते हैं। हम किसका धर्म अपनावें?' यहाँ बुद्ध ने बड़ी ही चतुराई से उन्हें अपने धर्म के पक्ष में किया। उन्होंने कहा—'तुम्हें किसी के कहने पर नहीं जाना चाहिए। जो तुम्हें हृदय से पसन्द आवे, जिसकी अच्छाई के लिए तुम्हारा हृदय गवाही दे, उसी का अनुसरण करना चाहिए।' इसके बाद उन्होंने कालामों को अवैर-चित्त तथा चार आश्वासों के सम्बन्ध में उपदेश किया।

एक बार बुद्ध कौशाम्बी में यथेच्छ विहार करके चारिका करते 'राजगृह' आये। वे इस बार फिर *कलन्दक निवाप* वेणुवन में ठहरे[२]। कौशाम्बी से पहले ही 'देवदत्त' राजगृह आ गया था और उसने अपने ऋद्धि-प्रतिहार्य द्वारा *अजातशत्रु* (मगधराज) को प्रसन्न कर लिया था। अजातशत्रु देवदत्त पर इतना प्रसन्न था कि रोज सायं-प्रातः पाँच सौ रथों के साथ सजकर उसके दर्शन के लिए जाता था और पाँच सौ स्थालीपाक भोजन ले जाता था[३]। देवदत्त ने ही अजातशत्रु को उकसाकर, उसके पिता के विरुद्ध विद्रोह करा कर बिम्बिसार को मरवा दिया था तथा स्वयं मगध की गद्दी पर आसीन हो गया था[४]। अब देवदत्त को राज-शक्ति का बड़ा भरोसा था।

१. यह ग्राम शाहाबाद जिले के डुमराँव नगर से दक्षिण-पूर्व पाँच मील पर है।—लै०
२. चुल्लवग्ग—७, १, ४
३. तत्रैव—७, १, ३
४. तत्रैव—७, २, १

देवदत्त ने संघ की महंथी लेने के लिए बुद्ध से प्रस्ताव किया। बुद्ध ने कहा—'तुझ जैसे थूक को क्या, महंथी तो सारिपुत्त को भी मैं नहीं दूँगा।' इस पर देवदत्त भगवान् बुद्ध के प्राण का गाहक बन गया। उसने 'अजातशत्रु' से जाकर निवेदन किया कि बुद्ध ने मुझे अपमानित किया है। भरी परिषद् के बीच मुझे थूक कहा है। कृपया आदमी दीजिए, जो उसे जान से मार दे। देवदत्त ने जिस आदमी को बुद्ध की हत्या के लिए भेजा, वह उनके पास पहुँच कर उनका ही शरणागत हो गया। इसपर देवदत्त ने सोचा, मैं स्वयं बुद्ध को मारूँगा और वह बराबर इस घात में रहने लगा।

एक दिन बुद्ध *गृध्रकूट* पर्वत के पादमूल में टहल रहे थे। देवदत्त गृध्रकूट पर चढ़ गया और वहीं से उसने एक भारी चट्टान बुद्ध के ऊपर फेंकी। चट्टान तो ऊपर ही दो पत्थरों के बीच अँटक गई, पर उसका टूटा हुआ एक टुकड़ा बुद्ध के पैर पर आ गिरा, जिससे उनका पाद-पीठ कुचल गया। भिक्षुओं ने जब बुद्ध के बाल-बाल बच जाने की बात सुनी, तब वे जोर-जोर से उनकी मंगलकामना के लिए सूत्र-पाठ करने लगे। बुद्ध ने उन भिक्षुओं को बुलाकर कहा—'इसकी आवश्यकता नहीं है, तथागत की अकालमृत्यु नहीं हो सकती।'

देवदत्त ने अब एक तीसरी चाल चली। एक दिन बुद्ध जब राजगृह के राजमार्ग से पिंडपात के लिए जा रहे थे, तब उसने 'अजातशत्रु' से कहकर *नालागिरि* नामक मतवाले हाथी को उनके सामने छुड़वा दिया। नालागिरि पूँछ उठा, सूँड़ हिलाता, कान फटफटाता बड़े ही वेग से चिग्घाड़ करता बुद्ध के सामने दौड़ा। लोग चिल्लाने लगे—'भगवन्, भागिए-भागिए!' बुद्ध ने दूर से ही हाथी को देखा। जब वह सामने आ गया, तब बुद्ध स्थिरचित्त हो सामने ही खड़े हो गये। उन्होंने मैत्रीयुक्त चित्त से हाथी को आप्लावित कर दिया। हाथी चुपचाप खड़ा हो गया और सूँड़ हिलाने लगा। बुद्ध ने उसके सूँड़ को अपने हाथों से स्पर्श किया। हाथी ने सूँड़ से भगवान् की चरणरज को उठा लिया और पीछे की ओर मुड़ गया तथा वह भगवान् को देखता हुआ पीछे की ओर से हटता गया। इस दृश्य का प्रदर्शन भी बोधगया की वेष्टन-वेदिका पर उत्कीर्ण कराया गया है। इन सारी घटनाओं से बुद्ध की कीर्त्ति और भी फैली, किन्तु देवदत्त की अपकीर्त्ति हुई।

इसके बाद देवदत्त ने देखा कि अब इस संघ में मेरा निर्वाह नहीं होगा। उसने अलग संघ बनाने का निश्चय किया। उधर बुद्ध के पैर में काफी चोट आई थी। उन्हें भिक्षु डोली पर चढ़ा कर आराम के लिए, *मृगकुक्षिदाव* में ले गये[1]। देवदत्त ने वज्जि-प्रदेश के पाँच सौ भिक्षुओं को फोड़कर अपने पक्ष में मिला लिया। इन पाँच सौ भिक्षुओं को साथ लेकर *गयासीस* पर्वत (गया का ब्रह्मयोनि पर्वत) पर चला गया। जब बुद्ध को यह समाचार मिला, तब उन्हें इस संघ-भेद से बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने सारिपुत्त और मौद्गल्यायन को बुलाकर कहा—'तुम लोगों को उन पाँच सौ भिक्षुओं पर जरा भी दया

१. संयुत्त निकाय—१, ४, ८

नहीं आई। तुम लोगों के देखते-देखते ही कैसे देवदत्त ने उन्हें फोड़ लिया? जल्दी जाओ सारिपुत्त-मौद्गल्यायन, उन भिक्षुओं पर दया करके उन्हे अपने पक्ष में करो।'

बुद्ध के संघ में सारिपुत्त और मौद्गल्यायन ही ऐसे व्यक्ति थे, जो अपने प्रभाव और विद्वत्ता से उन भिक्षुओं को अपने पक्ष में कर सकते थे। जब दोनों वहाँ पहुँचे, तब देवदत्त एक परिषद् में बैठकर उन भिक्षुओं को उपदेश दे रहा था। सारिपुत्त-मौद्गल्यायन को देखकर देवदत्त ने समझा कि बुद्ध के ये प्रधान शिष्य भी मेरे पक्ष में आ गये। वह सारिपुत्त से उपदेश देने को कहकर स्वयं विश्राम करने चला गया। इधर सारिपुत्त ने बुद्ध के प्रभाव का ऐसा उपदेश किया कि सभी भिक्षु बुद्ध के पक्ष में हो गये। सारिपुत्त और मौद्गल्यायन उन पाँच सौ भिक्षुओं के साथ राजगृह चले आये, तबतक भगवान् बुद्ध कलन्दकनिवाप के वेणुवन में चले गये। इसके बाद देवदत्त मुँह से गर्म खून उगलकर मर गया[1]।

भगवान् बुद्ध इसी कलन्दकनिवाप वेणुवन में थे, तब *सभिय* नामक परिव्राजक उनसे जाकर मिला[2]। सभिय अपने प्रश्नों के उत्तर के सिलसिले में पुरणकस्सप, मक्खलिगोसाल, अजितकेसकम्बल, पकुधकच्चायन, संजयबेलट्ठिपुत्त और निगंठनाथपुत्त जैसे जीर्ण और वृद्ध, चिर-प्रव्रजित महापुरुषों से मिल चुका था, पर ठीक से किसी ने भी उत्तर नहीं दिया था। वे इसके प्रश्नों पर क्रुद्ध हो जाते थे। तब सभिय ने सोचा—'चलूँ, गौतम बुद्ध से भी मिल लूँ! शायद वे मेरे प्रश्नों के उत्तर दें।' बाद में वह आकर राजगृह के वेणुवन में बुद्ध से मिला। थोड़े-से कुशल-क्षेम के बाद सभिय ने अपने आने का मन्तव्य प्रकट किया और उसने बुद्ध से भी वही प्रश्न किया —

किं पत्तिनमाहु भिक्खुनं (इति सभियो) सोरतं केन कथं च दन्तमाहु।
बुद्धोति कथं पवुच्चति, पुट्ठो मे भगवा व्याकरोहि॥

अर्थात्—'किस प्रकार की प्राप्तिवाले को भिक्षु कहते हैं। शान्त और दान्त किसे कहते हैं और बुद्ध किसे कहा जाता है? भगवन्, मेरे इन्हीं प्रश्नों के उत्तर की व्याख्या करें।'

सभिय ने इसी तरह के कई प्रश्न किये, जिन सबके बुद्ध ने समुचित और विस्तृत उत्तर दिये। सभिय ने प्रसन्न होकर बुद्ध की शरण में जाने की प्रार्थना की। अन्य तीर्थक होने के कारण चार महीनों तक इसकी परीक्षा होती रही। बाद में इसने उपसम्पदा पाई और अपने पराक्रम से अर्हतों में स्थान पाया।

एक दिन बुद्ध मगध में चारिका के लिए निकले, तो 'वेणुवन' से दूर चले गये। राजगृह आते-आते रात हो गई। वहाँ एक कुम्भकार के घर पर गये[3] और उससे कहा—'क्या तुम्हारी इस कोठरी में रात-भर रह सकता हूँ?' उस कुम्भकार का नाम था—*भार्गव*।

१. चुल्लवग्ग—७, ३, ८
२. सुत्तनिपात (सभिय सुत्त)—३२
३. मज्झिम निकाय—३, ४, १०

भार्गव ने कहा—'मुझे तो कोई आपत्ति नहीं है ; किन्तु इसमें एक भिक्षु पहले से ही ठहरे हैं। यदि वे अनुमति दें, तो आप ठहर सकते हैं।' अँधेरा होने के कारण अथवा परिचय न रहने के कारण भार्गव बुद्ध भगवान् को पहचान न सका।

पुक्कुसाति (पुष्करसाति) नामक ब्राह्मण ने बुद्ध-धर्म में दीक्षित होने के लिए घर छोड़ दिया था। वह 'तक्षशिला' का शासक था। मगध के राजा बिम्बिसार के किसी लड़के से[1] बुद्ध भगवान् की महिमा सुनकर उनसे प्रव्रज्या लेने मगध आया था। यही पुष्करसाति उस रात भार्गव की उस कोठरी में ठहरा था, जो दूसरे दिन बुद्ध से मिलनेवाला था।

भगवान् बुद्ध और भार्गव में जब बातें हो ही रही थीं, तभी पुष्करसाति बाहर आया और बुद्ध को देखकर उसने कहा—'ठीक है, आवुस ! आप सुखपूर्वक ठहर सकते हैं। आइए, अन्दर आइए !' भगवान् बुद्ध अन्दर गये और थोड़ी देर बाद दोनों अलग-अलग आसन जमाकर ध्यान में लग गये। बुद्ध ने पुष्करसाति को देखकर ही जान लिया कि यह कोई कुलपुत्र है, इसे धर्म में दीक्षित कराना चाहिए। बुद्ध ने पुष्करसाति से पूछा—'आप किस धर्म के माननेवाले हैं, किस गुरु से दीक्षा ली है ?'

पुष्करसाति ने कहा—'आवुस ! मैं शाक्य-कुलपुत्र श्रमण गौतम की कीर्त्ति सुनकर उनके धर्म में दीक्षित होने के लिए आया हूँ। उन्हीं का धर्म मेरा धर्म है, वे ही मेरे गुरु हैं।' इस पर बुद्ध ने पूछा—'आपको मालूम है, श्रमण गौतम आजकल कहाँ हैं ? क्या उन्हें कभी देखा है ?' पुष्करसाति ने कहा—'सुना तो था कि आजकल भगवान् श्रावस्ती में विहार कर रहे हैं[2]। मैंने आजतक उन्हें नहीं देखा है।' तब भगवान् बुद्ध ने कहा—'भिक्षु, मैं ही शाक्य-कुलपुत्र श्रमण गौतम हूँ। आओ, तुम्हें धर्मोपदेश करूँ।' बुद्ध ने उसे संक्षेप में 'धातु-विभंग' का उद्देश्य समझाया और कहा—'जाओ, पात्र-चीवर-परिपूर्ण होकर आओ। अपरिपूर्ण-पात्र-चीवर भिक्षु को हम दीक्षा नहीं देते।'

पुष्करसाति बुद्ध की आज्ञा पाकर पात्र-चीवर के संग्रह में इधर-उधर घूम रहा था कि एक दिन बेचारे को एक पगली गाय ने जान से मार दिया। बुद्ध को 'वेणुवन' में जब पुष्करसाति के मरने का पता लगा, तब उन्होंने कहा—'अनागामी हुआ'।

इसी 'कलन्दक निवाप वेणुवन' में राजगृह का *अभय राजकुमार*, जो बिम्बिसार के मंत्रियों में से एक था, भगवान् बुद्ध से एक बार मिला[3]। अभय जीवक का पालन करनेवाला पिता था और पहले निग्गंठ (जैन) था। एक दिन यह अपने शास्ता 'निग्गंठनाथपुत्त' के

१. मज्झिम निकाय (म० प० राहुल सांकृत्यायन)-पृ० ५७' की पादटिप्पणी। यह शायद 'जयसेन' होगा, जो अजातशत्रु के द्वारा गद्दी ले लेने पर पारस्परिक विरोध के कारण 'तक्षशिला' भाग गया था।—ले०

२. पुष्करसाति ने तक्षशिला में सुना कि बुद्ध श्रावस्ती में हैं। पर वह जब वहाँ आया, तब बुद्ध राजगृह चले आये थे। पुष्करसाति भी पता लगाते राजगृह पहुँचा था।—ले०

३. मज्झिम निकाय—२,१,८

पास गया और अभिवादन कर बगल में बैठा। निगंठनाथपुत्त ने राजकुमार से कहा—"जा अभय, तू श्रमण गौतम से वाद रोप। पूछना कि तुम अप्रिय बोलते हो कि नहीं। यदि कहे कि अप्रिय बोलता हूँ, तो कहना कि साधारण जन और तुम में विभेद क्या है ? यदि कहे कि नहीं, तो पूछना कि तुम ने देवदत्त को अपायिक (दुर्गति में जानेवाला), नरकगामी, थूक क्यों कहा ? देखना कि गौतम क्या उत्तर देता है।"

अभय राजकुमार भगवान् के पास वेणुवन में गया ; पर उचित समय न देखकर उसने प्रश्न नहीं किया। उसने बुद्ध से कहा—'भगवन्, अपने चार शिष्यों के साथ कल मेरा भोजन स्वीकार करें।' बुद्ध ने मौन रहकर स्वीकृति दे दी। दूसरे दिन बुद्ध अपने चार शिष्यों के साथ उसके यहाँ भोजन के समय पर पहुँचे। अभय राजकुमार ने अपने हाथों से परोस कर बुद्ध को तृप्त किया। भोजन के बाद उसने पूछा कि भगवन्, आप क्या ऐसा वचन बोलते हैं, जो दूसरों को अप्रिय हो ? बुद्ध ने कहा—'राजकुमार, एकांश से नहीं कहा जा सकता, अपवाद रूप में बोल भी सकते हैं।' बुद्ध की इस तर्कपूर्ण उक्ति ने 'अभय' के प्रश्न को वहीं काट दिया। उसने ऐसा ज्ञानपूर्वक उत्तर सुनकर वहीं अपने को उपासक बना लेने की प्रार्थना की। भगवान् ने उसे अन्य उपदेशों से भी तृप्त किया।

एक बार भगवान् बुद्ध चारिका करते-करते *नालन्दा* गये और वहाँ अपने पुराने स्थान *प्रावारिक आम्रवन* में ठहरे[१]। उस समय निगंठनाथपुत्र भी 'नालन्दा' में ही थे। उनके साथ एक महती परिषद् भी वहाँ थी। निगंठों की उस बड़ी परिषद् में *दीर्घतपस्वी* नाम का एक भिक्षु था। वह नालन्दा में भिक्षाचार करके भोजनोपरान्त घूमते-फिरते प्रावारिक आम्रवन में गया। वहाँ वह बुद्ध का संमोदन करके एक ओर खड़ा हो गया। भगवान् बुद्ध ने आसन की ओर इशारा करते हुए बैठने को कहा। जब दीर्घतपस्वी बैठ गया, तब भगवान् बुद्ध ने पूछा—'दीर्घतपस्वी, तुम्हारे शास्ता पाप-कर्मों से छुटकारा पाने के लिए कितने प्रकार के कर्मों का विधान करते हैं ?' उसने कहा—'मेरे शास्ता पापकर्म से मुक्त करने के लिए कर्म का विधान नहीं करते, वे दण्ड का विधान करते हैं।' बुद्ध ने पूछा—'कितने और कौन-कौन हैं ?' उसने उत्तर दिया—'तीन प्रकार के दण्ड हैं—काय-दण्ड, वचन-दण्ड और मनोदण्ड।'

बाद में दीर्घतपस्वी ने पूछा—'आप पाप-मोचन के लिए कितने प्रकार के दण्ड-विधान करते हैं ?' इस पर बुद्ध ने कहा—'मेरे यहाँ दण्ड नहीं हैं, कर्म हैं और वे हैं—काय-कर्म, वचन-कर्म और मनःकर्म।' इसके बाद 'दीर्घतपस्वी' निगंठ उठकर चला गया, जहाँ निगंठनाथपुत्र निवास करते थे।

निगंठनाथपुत्र, *बालक (लोणकार)*-निवासी *उपाली* आदि गृहस्थों की परिषद् में बैठे थे। दीर्घतपस्वी ने वहाँ पहुँचकर गौतम बुद्ध के साथ हुई वार्त्ता को निवेदित किया। उपाली ने सारी बातें सुनकर कहा—'भन्ते, यदि आज्ञा हो, तो मैं श्रमण गौतम के साथ जाकर 'वाद' करूँ ?' निगंठनाथपुत्र ने कहा—'जा, उपाली, वाद कर।' इस पर दीर्घतपस्वी निगंठ ने

१. मज्झिम निकाय—२,१,६

मना किया कि उपाली को नहीं भेजा जाय। श्रमण गौतम मायावी हैं, इनके मत को फेर देगा।' पर निगंठनाथपुत्र ने उपाली को शास्त्रार्थ करने के लिए भेजा ही, वे नहीं माने।

उपाली को भी अपनी विद्या और तर्कशक्ति का बड़ा भारी अभिमान था। वह प्रावारिक आम्रवन में गया और बुद्ध के साथ उसने शास्त्रार्थ रोप दिया। अनेक वाद-विवाद हुए; पर अन्त में उपाली ने कहा—'भन्ते, मैं तो पहली उपमा से ही संतुष्ट हो गया था, बाद में तो इसलिए चर्चा को बढ़ाया कि कुछ और व्याख्यान सुनूँ। आज आपने औंधे को सीधा कर दिया। मैं आपकी शरण में हूँ।' उसके बाद वह घर आया और द्वारपाल को उसने कह दिया कि आज से बौद्धों के लिए मेरा भांडार खुला रहेगा। निगंठ आवें, तो कह देना कि उपाली ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया। वह नालन्दा का प्रसिद्ध गृहपति था।

यह बात जब निगंठनाथपुत्र (महावीर) को मालूम हुई, तब वे स्वयं इसे जाँचने के लिए उपाली के द्वार पर आये। दालान में बैठी अपनी परिषद् के सामने ही उसने कहा—'हे निगंठनाथपुत्र, मैं बुद्ध का श्रावक हूँ, आपका नहीं।' मज्झिम निकाय (२, १, ६) में तो लिखा है कि इस अपमान को न सह सकने के कारण महावीर ने वहीं मुँह से खून उगल दिया, जो अतिशयोक्ति से भरा मालूम होता है।

इसी घटना के आस-पास एक बार भगवान् बुद्ध राजगृह में 'जीवक' के आम्रवन में ठहरे थे। जीवक बुद्ध का भी वैद्य था। जब कभी बुद्ध की चिकित्सा करता, तब वे इसी *जीवकाराम* में रहते थे। बुद्ध की देखभाल करने उसे दूर नहीं जाना पड़े, इसलिए उसने अपने बागीचे में ही एक विहार बनवाकर संघ को दान कर दिया था। इसी जीवकाराम में इस बार बुद्ध विहार कर रहे थे। उस समय इनके साथ केवल ५०० भिक्षुओं का संघ था। *चुल्लपन्थक* नाम के भिक्षु को उसके सहोदर बड़े भाई ने, जिसका नाम *महापन्थक* था, और जो बौद्ध संघ में भोजन-प्रबन्धक (भत्त उद्देसक) था, संघ से निकाल दिया था[1]। चुल्लपंथक का अपराध यही था कि वह चार मास में भी निम्नलिखित गाथा को याद नहीं कर सका था। वह गाथा इस प्रकार थी—

पदुमं यथा कोकनदं सुगन्धं पातो सिया फुल्लमवीत गन्धं।
अङ्गीरसं पस्स विरोचमानं तपन्तमादिच्चमिवन्तलिक्खे[2] ॥

एक दिन भिक्षुओं ने मजाक उड़ाया कि 'महापन्थक' अपने भाई को चार मास से इस गाथा को सिखा रहा है, फिर भी उसे याद न करा सका। महापन्थक को बुरा लगा, उसने चुल्लपन्थक से कहा—'तू जब चार मास में धर्म की एक गाथा भी याद न कर सका, तब तू प्रव्रज्या के उद्देश्य को कैसे पूरा कर सकेगा? जा, तू घर चला जा।' बिचारे चुल्लपन्थक को भी लज्जा आई, वह भिक्षापात्र उठाकर गृहस्थ होने के लिए अपने गाँव की ओर चल पड़ा।

१. चुल्लसेट्ठि जातक—४

२. 'जिस तरह लाल कमल प्रकाशमान सूर्य को देखकर अत्यन्त सुगन्धमय तथा विकसित हो जाता है, उसी प्रकार तपते हुए आदित्य की तरह शोभनेवाले अंगिरस-गोत्रीय भगवान् बुद्ध को देखो।'

जब भगवान् बुद्ध को यह बात मालूम हुई, तब विहार के द्वार पर 'चुल्लपन्थक' से पहले ही वे खड़े मिले। उन्होंने पूछा—'कहाँ जा रहे हो?' चुल्लपन्थक ने सारी कथा कह दी। बुद्ध भगवान् ने कहा—'लो, यह सफेद कपड़े का टुकड़ा, इससे पूर्वाभिमुख हो, मुँह पोंछते रहो और *रजोहरणं-रजोहरणं* बोलते रहो।' इतना कहकर बुद्ध विहार में चले आये। मुँह पोंछते-पोंछते चुल्लपन्थक का सफेद वस्त्र गंदा हो गया। उसने सोचा, यह शरीर का मल है, इसे अब दूर करना ही चाहिए। उसने दूने उत्साह से अपनी समाधि बढ़ाई।

उस दिन विहार के भिक्षुओं का भोजन *कौमारभृत्य जीवक* के यहाँ था। बुद्ध सभी भिक्षुओं को लेकर जीवक के यहाँ चले गये। भोजनोपरान्त जब उपदेश के लिए परिषद् बैठनेवाली थी, तब बुद्ध ने कहा—'ठहरो जीवक! अभी विहार में और भी भिक्षु हैं।' इसपर *महापन्थक* ने कहा—'भन्ते, सभी भिक्षु आ गये हैं। वहाँ कोई नहीं है।' बुद्ध ने कहा—'नहीं, है।' इसपर आदमी भेजा गया। 'जीवक' का आदमी जब विहार में गया, तबतक 'चुल्लपन्थक' ने सभी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं। उसने जान ली थी कि जीवक के घर पर इस तरह की बात चल रही है। जीवक का आदमी जब वहाँ पहुँचा, तब उसने देखा कि सारे विहार में भिक्षु भरे पड़े हैं और सभी *रजोहरणं-रजोहरणं* बोल रहे हैं। उसने जाकर निवेदन किया कि महाराज, अभी तो हजारों भिक्षु हैं। ऐसा सुनकर सभी भौंचक-से रह गये। बुद्ध ने कहा—'जो उसमें चुल्लपन्थक हो, उसे ले आओ।' उसकी पहचान के लिए कहा कि तुम्हारे पूछने पर जो पहले कहे कि मैं चुल्लपन्थक हूँ, उसी का हाथ पकड़ना। वह गया और उसने वैसा ही किया। 'चुल्लपन्थक' के हाथ पकड़ते ही अन्यान्य भिक्षु अन्तर्धान हो गये। अब 'चुल्लपन्थक' जीवक के यहाँ भोजन पर आया और संघ में सम्मिलित हो गया। वह प्रतिसंविद् ज्ञान प्राप्त कर अर्हत्-पद पर प्रतिष्ठित हुआ।

महापन्थक और चुल्लपन्थक राजगृह के एक सेठ की कन्या से उत्पन्न हुए थे। वह कन्या घर के एक नौकर से फँसकर कहीं भाग गई थी। दोनों बच्चों का जन्म रास्ते में चलते समय ही हुआ था, इसलिए पहला महापन्थक और दूसरा चुल्लपन्थक कहलाया। इनके माता-पिता इन्हें अपने नाना के घर पालने-पोसने के लिए दे गये थे। ये नाना के घर से ही बौद्ध भिक्षु हुए थे।

भगवान् बुद्ध दूसरी बार जब जीवकाराम में आये, तब उनके साथ १२५० भिक्षु थे। उस दिन उपोसथ की चातुर्मास पूर्णिमा (कार्त्तिक-पूर्णिमा) की रात थी। आकाश स्वच्छ दूध का धोया बना था। मगधराज अजातशत्रु कई अमात्यों के साथ प्रासाद के ऊपर बैठा चाँदनी का आनन्द ले रहा था[1]। उसने कहा—'आज की रात अत्यन्त चित्ताह्लादक है। किसी श्रमण या ब्राह्मण का सत्संग करना चाहिए। आपलोग बतलायें कि किसके पास चला जाय?' इस पर राजमंत्री ने कहा—'महाराज! पूर्णकाश्यप संघ-स्वामी, गणाचार्य, यशस्वी, लोकसम्मानित, सम्प्रदाय-संस्थापक तथा वयोवृद्ध हैं, उन्हीं के पास चलकर धर्म-चर्चा हो।'

---

१. दीघ निकाय—(सामञ्ञफलसुत्त)-१, २

मंत्री की बात सुनकर मगधराज चुप रहा। दूसरे ने कहा—'मक्खलिगोसाल से मिला जाय।' तीसरे ने अजितकेसकम्बल, चौथे ने प्रकुधकात्यायन, पाँचवें ने संजयबेलट्ठिपुत्त और छठे ने निर्ग्रंठनाथपुत्र का नाम लिया। पर प्रत्येक विचार पर अजातशत्रु मौन रहा।

'जीवक' भी उस समय अजातशत्रु की बगल में ही बैठा था। वह अब, बिम्बिसार के मरने के बाद, अजातशत्रु के राजवैद्य के पद पर ही प्रतिष्ठित था। मगधराज ने कहा—'जीवक, तुम क्यों नहीं कुछ कहते, चुप क्यों हो?' जीवक ने कहा—'महाराज, यदि मेरी राय ली जाय, तो मैं तो कहूँगा कि मेरे आराम में भगवान् बुद्ध अपने साढ़े बारह सौ शिष्यों के साथ ठहरे हैं; उन्हीं से मिला जाय।' अजातशत्रु राजी हो गया। वह पाँच सौ हाथियों पर अन्तःपुर की स्त्रियों को बिठाकर अपने राजकीय गजराज पर चढ़कर बड़े ठाट-बाट से मशालों की रोशनी में भगवान् बुद्ध से मिलने चला। जब वह जीवक कौमारभृत्य के बागीचे के समीप पहुँचा, तब उसे डर हो गया कि कहीं जीवक मुझे शत्रुओं के बीच में न फँसा दे। उसने जीवक से कहा—'कौमारभृत्य, कहते हो कि १२५० भिक्षुओं के साथ यहाँ बुद्ध हैं, पर जरा भी किसी तरह की, आदमी की, आहट नहीं मिल रही है, क्या मुझे तुमने धोखा तो नहीं दिया?' जीवक ने कहा—'नहीं महाराज, ऐसा मत सोचिए।' अन्त में वह भगवान् बुद्ध के पास पहुँचा।

अजातशत्रु भगवान् बुद्ध को अभिवादन कर, संघ को हाथ जोड़, एक ओर बैठा। उसने कहा—'भगवन्, मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।' बुद्ध ने कहा—'जरूर पूछो।' अजातशत्रु ने कहा—'भन्ते, क्या जिस तरह अनेक विद्या-कलाओं[1] को सीखकर मनुष्य प्रत्यक्ष सुख प्राप्त करता है, क्या उसी तरह श्रामण्यफल भी इसी जन्म में प्रत्यक्ष सुखदायक है?' बुद्ध ने कहा—'क्या तुमने यह और किसी से भी पूछा है या पहली बार मुझसे ही पूछ रहे हो?' मगधराज ने कहा—'नहीं महाराज, मैंने छह शास्ताओं से इसपर बात-चीत की है। पर किसी ने कुछ निश्चित उत्तर नहीं दिया है।' इसी सिलसिले में अजातशत्रु ने छह शास्ताओं के मत का विश्लेषण किया है। इसके बाद बुद्धने भिक्षु के आरंभिक शील, मध्यम शील, महाशील, इन्द्रिय-संयम, स्मृति, सन्तोष और समाधि, प्रज्ञा का विस्तृत विवेचन और विश्लेषण करके उसकी प्रत्यक्ष प्राप्ति का उपदेश किया। किन्तु 'दीघ निकाय' के उक्त सुत्त से पता चलता है कि इस उपदेश का विशेष प्रभाव अजातशत्रु पर नहीं पड़ा। अन्त में वह यह कहकर कि 'भन्ते, मुझे बहुत काम है, चलता हूँ', उठ गया। उसके जाने के बाद भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा—'राजा का संस्कार अच्छा नहीं है। यह पितृहन्ता है, नहीं तो आज इस उपदेश से विरज-निर्मल चक्षु प्राप्त कर लेता।'

इसके बाद भगवान् बुद्ध राजगृह से चारिका करते श्रावस्ती की ओर चले गये थे। तदनन्तर भगवान् बुद्ध फिर मगध में तब आये, जब सारिपुत्त और मौद्गल्यायन का निर्वाण हो गया। भगवान् बुद्ध सारिपुत्र की धातुओं पर श्रावस्ती में एक चैत्य बनवाकर राजगृह की

१. विभिन्न विद्या-कलाओं के नाम के लिए 'दीघ निकाय' के 'सामञ्ञफलसुत्त' द्रष्टव्य।—ले०

ओर चले थे। किन्तु, जब वे अभी उक्काचेल (वज्जि-प्रदेश) में ही थे, उन्हें अपने दूसरे प्रिय शिष्य 'महामौद्गल्यायन' की हत्या का भी समाचार मिला। अब भगवान् बुद्ध का दिल बिलकुल ही टूट गया। वे राजगृह आये, और उन्होंने मौद्गल्यायन की धातुओं पर भी चैत्य-निर्माण कराया। सारिपुत्र का निर्वाण कार्त्तिक-पूर्णिमा को हुआ और मौद्गल्यायन का मार्गशीर्ष-अमावास्या को—ठीक पन्द्रह दिनों के बाद।

इसी समय मगधराज अजातशत्रु वज्जियों पर चढ़ाई करना चाहता था। फिर भी गणराज्य पर एकाएक हमला करना साधारण काम नहीं था। उसने सोचा, किसी अच्छे भविष्य-द्रष्टा से राय लेकर हमला किया जाय। उसने अपने मंत्री 'वर्षकार' को बुद्ध के पास राय लेने के लिए भेजा। उस समय बुद्ध राजगृह में ही थे[1]।

'वर्षकार' गृध्रकूट पर्वत पर गया, जहाँ भगवान् बुद्ध थे। 'वर्षकार' ने वन्दना करके मगधराज की वन्दना का भी निवेदन किया। मंत्री ने कहा—'भगवन्, मगधराज वज्जियों पर आक्रमण करना चाहते हैं। आपकी सम्मति चाहते हैं।' उस समय 'आनन्द' भगवान् को पंखा झल रहे थे। बुद्ध ने आनन्द से कहा—'आनन्द, क्या तुम जानते हो कि वज्जि सात 'अपरिहाणीय धर्म' का पालन करते हैं?' आनन्द ने कहा—हाँ, भन्ते, जानता हूँ। अब बुद्ध ने वर्षकार से कहा—"ब्राह्मण, जबतक वज्जि (१) सन्निपातबहुल हैं, (२) जबतक वे एक हो बैठक करते हैं, (३) जबतक वे अप्रशस्त को प्रशस्त और प्रशस्त को अप्रशस्त नहीं करते, (४) जबतक वे वृद्धों को मानते तथा पूजते हैं, (५) जबतक वे कुलस्त्रियों के साथ जबरदस्ती नहीं करते, (६) जबतक वे अपने चैत्यों की पूजा करते हैं और (७) जबतक वे अपने अर्हतों की रक्षा करते हैं; वर्षकार! तबतक उन वज्जियों को कोई पराजित नहीं कर सकता। ये सात अपरिहाणीय धर्म वज्जियों की उन्नति के मूल हैं।"

यह सुनकर वर्षकार लौट आया और उचित अवसर न देखकर अजातशत्रु ने वज्जियों पर चढ़ाई करने का विचार स्थगित कर दिया। किन्तु, वर्षकार बड़ा भारी कूटनीतिज्ञ अमात्य था, उसे भगवान् बुद्ध की इन्हीं बातों में वज्जियों के समूल नाश करने का रहस्य मिल गया। बाद में उसने वज्जियों के इसी अपरिहाणीय धर्म को भंग करके उनमें फूट डाल दी, जिससे मगधराज ने वज्जियों पर विजय पाई।

इसी अवसर पर वहाँ बुद्ध ने सभी भिक्षुओं को इकट्ठा करके उपर्युक्त सात अपरिहाणीय धर्म का उपदेश किया और कहा कि इसके ग्रहण से कभी भिक्षु-संघ की हानि नहीं होगी।

'चक्कवत्ती सिंहनादसुत्त'[2] से ज्ञात होता है कि इसी समय भगवान् बुद्ध मगध के *मातुला* ग्राम में संघ के साथ गये। उक्त सुत्त की वाणियों से स्पष्ट है कि ये वाणियाँ सारिपुत्र-मौद्गल्यायन के निर्वाण के बाद भगवान् बुद्ध के दुःखी हृदय की वाणियाँ हैं, जिस तरह अपने निर्वाण के समय उन्होंने आनन्द से कहा था।

---

१. दीघ निकाय (महापरिनिब्बाणसुत्त)—२, ३

२. दीघ निकाय—१, ३

उक्त सुत्त में आया है कि बुद्ध ने वहाँ भिक्षुओं को इकट्ठा करके कहा—'स्वावलम्बी बनो। आत्मशरण और धर्मशरण में विहार करो।' इसके बाद मनुष्य क्या-क्या करके अवनति की ओर क्रमशः जाता है, इसपर भी प्रकाश डाला है। फिर, मनुष्य किस धर्म के आचरण से उन्नति की ओर जाता है, ऐसे धर्मों को भी उन्होंने भिक्षुओं को समझाया। अन्त में भिक्षुओं के कर्त्तव्य का उपदेश किया है।

भगवान् बुद्ध गृध्रकूट से चारिका करते, अपने संघ के साथ *अम्बलट्ठिका* (सिलाव, पटना) आये। वहाँ वे *राजागारक* में ठहरे। वहाँ से चारिका करते नालन्दा आये और प्रावारिक आम्रवन में संघ के साथ उन्होंने विश्राम किया।

भगवान् बुद्ध जब अपने संघ के साथ राजगृह और अम्बलट्ठिका के बीच में जा रहे थे, तब उनके पीछे-पीछे *सुप्रिय* नाम का परिव्राजक भी चल रहा था। सुप्रिय के साथ उसका विद्यार्थी *ब्रह्मदत्त* था। दोनों गुरु-शिष्य में बुद्ध के विषय में ही बातें चल रही थीं। गुरु सुप्रिय बुद्ध की निन्दा करता था और छात्र बुद्ध की प्रशंसा करता था। अम्बलट्ठिका तक पहुँचते-पहुँचते अँधेरा हो गया और बुद्ध ने वहीं अपने संघ के साथ पड़ाव डाल दिया। इस अवसर की यात्रा में उनके साथ चुने हुए केवल पाँच सौ भिक्षु थे। सुप्रिय परिव्राजक भी अपने छात्र के साथ वहीं ठहरा। रात बीती और भोर हुई।

प्रभात में ही भिक्षु जब नित्य-क्रिया से निवृत्त हो बैठे, तब चर्चा करने लगे कि भगवान् बुद्ध सबके मन की बात जान जाते हैं; पर यह सुप्रिय परिव्राजक निन्दा कर रहा है और उसका छात्र भगवान् की प्रशंसा कर रहा है, इसे भगवान् ने क्यों नहीं जाना। इतने में भगवान बुद्ध उस परिषद् में आये। उन्होंने कहा—'क्या बातें चल रही थीं?' भिक्षुओं ने सुप्रिय और ब्रह्मदत्त की बातें कहीं। इस पर बुद्ध ने कहा—'भिक्षुओ, यदि कोई मेरी, धर्म की या संघ की निन्दा करे, तो तुमलोगों को न तो उससे वैर करना चाहिए और न कोप या असन्तोष। ऐसा करने से मेरी, धर्म की और संघ की—तीनों की हानि होगी।' इसी बात पर भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को 'ब्रह्मजालसुत्त' का उपदेश किया, जो 'दीघ निकाय' के प्रारंभ में ही द्रष्टव्य है।

नालन्दा से बुद्ध अपने संघ के साथ पाटलिग्राम आये। उस समय अजातशत्रु के प्रधान मंत्री *वर्षकार* और *सुनीथ* पाटलिग्राम में किला बनवा रहे थे[1]। वैशाली की देखा-देखी यहाँ भी नगर को तीन भागों में बाँटा गया था—उच्चकोटि, मध्यकोटि और निम्नकोटि के मनुष्यों के वास के लिए। पाटलिग्राम में बुद्ध अपने संघ के साथ राज-अतिथि-शाला में ठहरे।

दूसरे दिन प्रभात में जब बुद्ध ने सुना कि पाटलिग्राम अच्छी तरह बसाया जा रहा है, तब उन्होंने कहा—'आनन्द, मैंने दिव्यचक्षु से देख लिया कि पाटलिग्राम, आर्य आयतन, वणिक्पथ और पुटभेदन में सर्वश्रेष्ठ नगर होगा। इसे केवल आग, पानी और आपसी फूट का ही भय रहेगा।' इसके थोड़ी देर बाद ही वर्षकार और सुनीथ 'अवसथागार' में गये

---

१. दीघ निकाय—२,१

और उन्होंने बुद्ध-संघ को भोजन के लिए आमंत्रित किया। भोजनोपरान्त बुद्ध अपने संघ के साथ पाटलिग्राम से निकले। वर्षकार और सुनीथ भी उन्हें विदा देने उनके पीछे-पीछे चले। जिस द्वार से बुद्ध निकले, वह *गौतम* द्वार नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिस घाट पर बुद्ध ने गंगा पार किया वह, *गौतम घाट* के नाम से विख्यात हुआ[1]। गंगा पार करके भगवान् बुद्ध *उक्काचेल* गये। श्रीराहुल सांकृत्यायन ने इस स्थान को हाजीपुर बतलाया है[2]। वहाँ से *कोटिग्राम* और कोटिग्राम से *नादिका* तथा नादिका से बुद्ध वैशाली गये।

उक्काचेल में ही बुद्ध ने मगध के दो ग्वालों की कहानी कही थी[3], जिसमें एक मूर्ख और एक चतुर ग्वाले का वर्णन है। मूर्ख ग्वाले ने गौओं के यूथ-नायक को गंगा में पार करने के लिए सीधे हाँक दिया, जिससे उसकी सारी गायें डूब गईं और चतुर ग्वाले ने अपनी गायों के यूथ-नायक को धारा की ओर करके तिरछे हाँका, जिससे उसकी सारी गायें गंगा को आसानी से पार कर गईं। बुद्ध ने इस कथा के द्वारा भिक्षुओं को बतलाया था कि मार की विजय उस चतुर ग्वाले की तरह करनी चाहिए और इन्द्रियों के मुखिया (मन) को पार करने का तरीका पहले सिखाना चाहिए।

नादिका में भगवान् बुद्ध ने *गिंजकावसथ* में विहार किया[4]। इसी गिंजकावसथ में एक बार और बुद्ध ने विहार किया था, जिसका वर्णन चूलगोसिंग सुत्तन्त[5] में मिलता है। उस समय अनिरुद्ध, नन्दिय और किम्बिल—तीनों भिक्षु 'गोसिंग सालवन' में विहार कर रहे थे। एक दिन बुद्ध भ्रमण करते गोसिंग सालवन में पहुँचे। उस बागीचे के माली ने बुद्ध को घुसने से रोक दिया। उसने कहा—'बागीचे में नहीं जाइए, अभी तीन भिक्षु यथेच्छ विहार कर रहे हैं।' इतने में दूर से ही अनिरुद्ध ने बुद्ध को रोकते हुए माली को देखा। दौड़कर शास्ता के पास आये, और माली से कहा—'अरे, ये हमारे शास्ता हैं, इन्हें आने दो।' भगवान् बुद्ध जब अन्दर गये, तब तीनों गुरु-भाइयों को साथ में विहार करते देखकर बड़े प्रसन्न हुए और साथ-साथ मिलकर विहार करने के महत्त्व को बतलाया। उस समय शास्ता और शिष्यों को एक साथ वज्जि-देश में देखकर *दीर्घपरजन* नामक यक्ष ने वज्जि-प्रदेश के सौभाग्य को सराहा था।

यह नादिका बुद्ध के समय में और बाद में भी बौद्धों का प्रधान अड्डा रहा है। इसी नादिका में *नन्दा* नामक भिक्षुणी ने परिनिर्वाण प्राप्त किया था। इसके अतिरिक्त *सुजाता* नामक उपासिका ने भी यहीं निर्वाण प्राप्त किया। उपासकों में सुदत्त, ककुध, *कालिंग*,

---

१. पाटलिपुत्र के 'गुलजारबाग' महल्ले में स्थित सिक्खों के गुरुद्वारे के पास 'गौतम द्वार' सम्भव है और ज्ञात होता है '**गौतम घाट**' ही आजकल 'गायघाट' कहलाता है।—ले०

२. बुद्धचर्या—पृ० ५२६

३. मज्झिम निकाय—१, ४, ४

४. दीघ निकाय—२, ३, २

५. मज्झिम निकाय—१, ४, १

निकट, कारिस्सम, तुट्ठ, सन्तुट्ठ, भद्र और सुभद्र ने भी यहाँ निर्वाण प्राप्त किया। इस तरह यहाँ पचास से भी अधिक उपासक काल-कवलित होकर अनागामी हुए। नब्बे से अधिक यहाँ के बौद्ध सकृदागामी और ५०० से अधिक स्रोतापन्न हुए थे[1]। इन सारी बातों से विहार-प्रदेश के इस 'नादिका' ग्राम का वैशिष्ट्य स्पष्ट है।

इस बार भगवान् बुद्ध जब 'नादिका' से वैशाली गये, तब अपने पुराने स्थान महावन की 'कूटागारशाला' में नहीं गये। इस बार वैशाली की प्रसिद्ध नर्तकी *अम्बपाली* के आम्रवन में ठहरे। अम्बपाली ने जब सुना कि भगवान् बुद्ध वैशाली में आकर मेरे ही बागीचे में ठहरे हैं, तब वह बड़े शान-बान से अश्व-रथ पर चढ़कर उनसे मिलने गई। जहाँ तक रथ जाने का रास्ता था, वहाँ तक तो रथ से गई और बाकी स्थान पैदल चलकर ही बुद्ध के पास पहुँची। वहाँ पहुँचकर उसने अभिवादन किया और एक ओर बैठी। उसने हाथ जोड़कर भगवान् बुद्ध से कहा—'भगवन्, भिक्षु-संघ के साथ कल का भोजन मेरी ओर से स्वीकार करें।' भगवान् ने मौन रहकर स्वीकृति दे दी। स्वीकृति जानकर वह आसन से उठी और अभिवादन कर विदा हो गई।

इधर जब लिच्छवियों ने सुना कि भगवान् वैशाली में आये हैं, तब वे सुन्दर यानों पर आरूढ़ होकर भगवान् बुद्ध से मिलने चले। उनमें कुछ जो नील वर्ण के थे, वे नीले वस्त्र और नीले ही अलंकारों से भूषित थे। जो पीत वर्ण के थे, वे पीले वस्त्र और पीले अलंकारों से सजे थे और जो लोहित वर्ण के थे, वे लाल वस्त्र और लाल आभूषणों से मंडित होकर चले। बुद्ध ने इन्हीं लिच्छवियों के ठाट-बाट को देखकर भिक्षुओं से कहा था—'यदि तुममें से किसी ने तावत् त्रिंशकोटि देवताओं को न देखा हो, वह इन लिच्छवियों को देख ले।' रास्ते में इन लिच्छवियों के रथों से लौटता हुआ अम्बपाली का रथ मिला। अम्बपाली लिच्छवियों के रथ के धुरों से अपने रथ के धुरे को, चक्कों से चक्के को, और जुओं से जुए को टकराती रथ को उड़ाती चली गई। लिच्छविकुमारों ने जब इस खुशी का कारण पूछा, तब अम्बपाली ने कहा—'कल का भोजन भगवान् ने मेरे घर स्वीकार कर लिया है।' इसपर राजकुमारों ने चाहा कि 'यह सौभाग्य हमें दे दो, बदले में एक लाख मुद्रा ले लो।' इस-पर अम्बपाली ने उत्तर दिया—'एक लाख क्या, समस्त वज्जि-देश दे देने पर भी यह सौभाग्य मैं नहीं दे सकती।' लिच्छविकुमार अपना-सा मुँह लिये रह गये।

दूसरे दिन भगवान् बुद्ध अपने संघ के साथ भोजन करने के लिए अम्बपाली के यहाँ गये। अम्बपाली की प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। उसने अपने हाथों से परोसकर भगवान् को भोजन कराया। भोजनोपरान्त बुद्ध ने अम्बपाली को उपदेश किया। बाद में यह त्रिभुवन-मोहिनी गणिका बौद्ध संघ की एक प्रसिद्ध भिक्षुणी हुई।

भगवान् का अन्तिम वर्षावास वैशाली के पास 'वेलुव ग्राम' में हुआ[2]। इसी जगह बुद्ध के पेट की बीमारी पुनः उभड़ी और उन्हें मरणान्तक पीड़ा देने लगी। इस समय बुद्ध ने

१. दीघ निकाय—२, ३, ३

२. यहाँ अन्तिम वर्षावास नहीं हुआ था, बल्कि वैशाली की अन्तिम यात्रा थी।—ले०

अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा—'आनन्द, मेरी आयु ८० साल की हुई। मेरा शरीर अब पुरानी गाड़ी की तरह जोड़-बाँधकर चल रहा है। अब तुम लोग अपने अत्तदीप के प्रकाश में ही विहार करो।' इसके बाद बुद्ध ने पिंडपात किया और उसके बाद आनन्द के साथ 'चापाल चैत्य' में गये। यहीं उन्होंने अपने प्रिय स्थानों के नाम गिनाये थे, जिनमें वैशाली, उसके उदयन चैत्य, गोतमक चैत्य, सप्त आम्रक चैत्य, बहुपुत्रक चैत्य, सारदन्द चैत्य, चापाल चैत्य और राजगृह में गृध्रकूट, चोरप्रपात, वैभारगिरि की कालशिला, सीतवन के सर्पशौण्डिक पहाड़, तपोदाराम, वेणुवन कलन्दक-निवाप, जीवक का आम्रवन, मद्रकुक्षि का मृगदाव तथा कपिलवस्तु का न्यग्रोधाराम मुख्य हैं।

भगवान् बुद्ध की पेटवाली बीमारी जब कुछ कम हुई, तब वे महावन् के कूटागारशाला में गये। यहीं बुद्ध ने भिक्षुओं को बतलाया कि मेरे परिनिर्वाण का काल अब केवल तीन मास रह गया है। उन्होंने कहा—'मैंने अपना काम पूरा कर लिया है। तुम्हें निरालस्य, सावधान और सुशील होना चाहिए। धर्म की रक्षा करो। प्रमादरहित होकर उद्योग करो।'

वर्षावास के बाद बुद्ध वैशाली से 'कुशीनारा' की ओर चले। वैशाली से वे क्रमशः *भण्डग्राम*, *आम्रग्राम*, *जम्बूग्राम* और वहाँ से *भोगनगर* गये। बिहार-प्रदेश की भूमि में बुद्ध की अन्तिम चारिका इसी 'भोगनगर' में हुई, जो सारन जिले में या मुजफ्फरपुर जिले के अन्तिम पश्चिम भाग में कहीं स्थित था[१]। बिहार-प्रदेश में बुद्ध का अन्तिम उपदेश इसी भोगनगर में हुआ था। यहाँ उन्होंने चार 'महाप्रदेश' का उपदेश किया था, जिनमें 'बुद्ध-वचन', 'संघ-वचन', 'पदप्राप्त स्थविर-वचन' तथा 'स्थविर-वचन'—इन चार को प्रमाण मानने के लिए कहा था[२]। इसके बाद ही भगवान् बुद्ध बिहार-प्रदेश की भूमि से विदा हो गये।

भोगनगर से चलकर बुद्ध भगवान् मल्लों की नगरी पावा में गये, वहाँ 'चुन्द कर्मार' के बागीचे में ठहरे। चुन्द ने बुद्ध को भोजन के लिए निमंत्रित किया। भोजन में उसने शूकर मार्दव (सूअर का मांस) दिया, जिसके खाने से उनके पेट की बीमारी

महापरिनिर्वाण

और बढ़ गई। भगवान् बुद्ध पावा-कुशिनारा के रास्ते में जा रहे थे कि दर्द की अधिकता से उनका चलना कठिन हो गया। वहीं दो साल वृक्षों के बीच उन्होंने आनन्द से चौपटी बिछवाई, और उसपर लेट गये। इन्हीं सालवृक्षों के नीचे बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ। इस समय इनकी आयु पूरे अस्सी साल की थी।

जब बुद्ध निर्वाण की तैयारी में थे, तब उन्होंने आनन्द से कहा—'आनन्द! जो कुछ पूछना हो, पूछ लो। कहीं तुम्हें यह पछतावा न रह जाय कि अमुक बात शास्ता से नहीं पूछी।' बुद्ध का अन्तिम वचन था—

हंद दानी भिक्खवे आमन्तयामि वो।
वय धम्मा संखारा अप्पमादेन सम्पादेथति॥

---

१. साहित्यकार (बुद्धांक)—श्रीराहुल सांकृत्यायन का लेख। प्रकाशक—साहित्यकार-संसद्, इलाहाबाद, सन् १९५६ ई०।

२. दीघ निकाय—२, ३, ७

अर्थात्—'हे भिक्षुओ ! इस समय में यह कह रहा हूँ कि सभी धर्म (वस्तुएँ) नाशधर्मी हैं, अतः अप्रमादयुक्त होकर (जीवन-लक्ष्य का) सम्पादन करो।'

अपने अन्तिम समय में बुद्ध ने सुभद्र नामक ब्राह्मण को शिष्य बनाया, जिसने बुद्ध के निर्वाण के बाद रोते हुए भिक्षुओं से कहा—"आवुसो ! शोक मत करो। वह महाश्रमण हमें हर बात में कहता था—यह करो, यह मत करो। अब हम जो चाहेंगे, वही करेंगे; जो नहीं चाहेंगे, नहीं करेंगे। हम मुक्त हो गये[1] ।"

इस तरह ईसा के ५४३ वर्ष पूर्व, वैशाख-पूर्णिमा को, मल्लों के कुशीनारा नगर के पास, उस परम ज्ञानमय ज्योतिःपुञ्ज मार्त्तण्ड का तिरोधान हुआ, जिसके ज्ञान-प्रकाश से, आज ढाई हजार वर्ष के बाद भी, सारा संसार आलोकित है तथा जिसकी प्रथम प्रभा, बिहार-प्रदेश के बोधगया में, बोधिवृक्ष के नीचे छिटकी थी।

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनकी धातुओं (हड्डियों) का बँटवारा हुआ। उसमें (१) मगध, (२) वैशाली, (३) अल्लकप्प, (४) वेठद्वीप, (५) रामगाम, (६) कपिलवस्तु तथा (७) पावा और कुशीनारा को हिस्सा मिला था। पिप्पलीवन के मोरियों ने राख ली और धातुओं का बँटवारा करनेवाले द्रोण ब्राह्मण ने कुम्भ ले लिया था। इन अवशेषों के ऊपर बुद्ध के स्मारक-स्वरूप चैत्यों का निर्माण हुआ।

इस प्रकार, भगवान् बुद्ध ने अपनी आयु के २६वें वर्ष से ८०वें वर्ष की अन्तिम अवधि तक बराबर बिहार की भूमि में वर्षावास अथवा चारिका कर ज्ञान, तपस्या, समाधि एवं बुद्धत्व-लाभ के साथ अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुए धर्म का प्रसार किया। इसमें बिहार के अनेक लोगों ने उन्हें हार्दिक योग देकर धर्म के विकास में पूरी सहायता पहुँचाई, जिनका सिंहावलोकन किया गया है, सबकी गिनती तो असम्भव है।

---

१. कुछ लोगों की राय में यह 'सुभद्र' नामक भिक्षु दूसरा था। देखिए—'पालि-साहित्य का इतिहास' (लेखक-भरतसिंह उपाध्याय), पृ० ७६ की टिप्पणी।

तीसरा परिच्छेद

बिहार की नारियाँ और बौद्धधर्म

भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में बिहार के बौद्धमतानुयायी पुरुषों के उल्लेख के बाद बिहार-प्रदेश की नारियों के सहयोग की भी थोड़ी चर्चा यहाँ कर देना आवश्यक है। उस समय भारतीय समाज में नारियों की स्थिति क्या थी, इस ओर जब हम अच्छी तरह ध्यान देते हैं, तब हम देखते हैं कि नारियों ने बौद्धधर्म के विकास में जितनी भी सहायता पहुँचाई, वह कुछ कम नहीं है।

आरण्यक ग्रन्थों और उपनिषदों में जो कुछ विदुषी स्त्रियों की कहानियाँ प्राप्त होती हैं, उनसे सर्वसाधारण नारी-समाज की उज्ज्वल स्थिति का भान हमें नहीं कर लेना चाहिए। पूर्णतया छान-बीन करने पर हम देखेंगे कि बुद्ध-काल में या उससे पहले भी साधारण जन-समाज में नारियों की बहुत उन्नत अवस्था नहीं थी। जिस तरह समाज में शूद्रों की स्थिति दासता और सेवा-वृत्ति में हम पाते हैं, उसी तरह नारी की स्थिति भी गृह-प्रबन्ध और पतिसेवा में ही विशेष रूप से देखते हैं। ऐसी स्थिति का पता हमें उत्तर वैदिक काल से बुद्ध के काल तक प्राप्त होता है। उपनिषद् और आरण्यक के युग में वेद पढ़ने और यज्ञ करने का अधिकार नारियों को नहीं प्राप्त था। इन्हीं ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार पर 'मनुस्मृति' की रचना हुई थी, जिसका आधुनिक रूप भी शुंग-काल (१८० ई० पूर्व) से इधर नहीं आ सकता। इस धर्मग्रन्थ में स्त्रियों के अधिकार, कार्य और सामाजिक स्थिति को हम भली भाँति देख पाते हैं। इसके अनुसार यज्ञादि क्रियाओं में पति के साथ ही नारी को अधिकार प्राप्त था। षोडश संस्कारों में स्त्री के लिए एकमात्र विवाह-संस्कार ही था, दूसरा कोई नहीं। गुरुगृह-वास कर विद्याध्ययन उनके लिए वर्जित था। इसकी जगह उनके लिए पति की सेवा ही विहित थी। यज्ञाग्नि-क्रिया स्त्री के लिए केवल पाकशाला तक ही सीमित थी—

नारी की सामाजिक स्थिति

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

—मनु०, अ० २, श्लो० ६७

जवानी की तो बात ही क्या, बचपन और बुढ़ापे में भी नारी स्वतंत्र नहीं मानी जाती थी[1]। पुरुषों ने जो इन्हें घर की रानी या गृहस्वामिनी बनाया और गृह में अर्थ-संग्रह तथा अर्थ-व्यय का भार सौंपा, पुण्य तथा धर्म में लगाया, भोजन बनाने एवं गृह के अन्य कार्यों में

१. मनु०, अ० ६, श्लो० ३

नियोजित किया, उसमें दूसरा कोई कारण नहीं है—उसमें एकमात्र कारण नारीत्व का संरक्षण और पुरुषों का उनपर प्रभुत्व कायम रखना ही था[1]।

अन्य सम्पत्तियों की तरह कन्या भी बेची और खरीदी जा सकती थी[2]। बाँझ होने पर अथवा सन्तानवती होने के बाद भी बाँझ हो जाने पर, उसे पति त्याग सकता था। यदि किसी पुरुष के पुत्र हो, तो उसकी सम्पत्ति उसकी पत्नी को न मिलकर पुत्र को ही मिलती थी। इतना ही नहीं, उसके पुत्र के बाद भी उसके पौत्र को ही मिलती थी, पर उस बूढ़ी दादी का सम्पत्ति पर कतई अधिकार नहीं था[3]। इस तरह की अनेक बातों से नारी-समाज की स्थिति का पता हमें चलता है, जो बुद्धकाल या उससे थोड़े बाद के काल का है।

आधुनिक इतिहासकारों में विशिष्ट विद्वान् 'श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य' के मतानुसार महाभारत की रचना बुद्ध-काल के बाद हुई है। पर, हमारा दृढ़ मत है कि 'महाभारत' की रचना शुंग-काल के बाद तो किसी तरह भी नहीं मानी जा सकती। वस्तुतः, इसकी रचना बुद्ध के पहले ही हुई है; क्योंकि जिस 'महाभारत' में देश के सभी भौगोलिक स्थानों, राजाओं और नगरों के नाम हैं, उसमें 'पाटलिपुत्र' जैसे विख्यात नगर का नाम कहीं नहीं मिलता है। किन्तु पाटलिपुत्र की चर्चा बौद्धग्रन्थों में भरी पड़ी है। इससे स्पष्ट है कि 'महाभारत' की रचना बुद्ध से पहले हुई थी और पाटलिपुत्र का निर्माण बुद्ध के समय में हुआ था। उस महाभारत के 'अनुशासन-पर्व'[4] में भी स्त्रियों के लिए बहुत अवाञ्छनीय विशेषण व्यवहृत हुए हैं। 'देवयानी' अपने पति 'ययाति' को छोड़कर पिता के घर चली गई थी[5]। इस कथा से भी तत्कालीन नारी-समाज की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। उपनिषद्-काल में जिस गार्गी, वाचक्नवी, घोषा, मैत्रेयी (याज्ञवल्क्य की पत्नी) आदि को ब्रह्मवादिनी के रूप में पाते हैं, वहीं याज्ञवल्क्य की दूसरी पत्नी 'कात्यायनी' को हम उस रूप में नहीं देखते। उपनिषद्-काल की उपर्युक्त नारियाँ नारी-समाज में अपवाद-स्वरूप ही थीं। खासकर महाभारत-युद्ध के बाद तो स्त्रियों का अधिकार और क्रियाक्षेत्र केवल गृह के भीतर ही रह गया था।

ऐसी बात केवल ब्राह्मण-ग्रन्थों या ब्राह्मण-धर्म के उत्थान के काल में ही नहीं थी, बल्कि बौद्धसम्प्रदाय या बौद्धकाल में भी नारी की अवस्था विशेष उन्नत नहीं दीख पड़ती। बौद्धकालीन नारी-समाज की वास्तविक स्थिति का पता तो बौद्ध 'जातक-कथाओं' में ही मिलता है। जातक-कथाओं का निर्माण-काल भी बुद्ध के समय से मौर्यकाल तक का हो सकता है; क्योंकि जातक की कहानियों के आधार पर बने चित्र हमें भरहुत, साँची और बोधगया की वेष्टन-वेदिकाओं की दीवारों पर उत्कीर्ण मिलते हैं, जिनका निर्माण शुंग-

१. मनु० ९,११
२. मनु० ९,९७
३. मनु० ९,१३७
४. महा०, अनु०, अध्या० १२, श्लो० १९-२१, २८-२९ और ५० द्रष्टव्य।
५. महा०, आदिपर्व, अध्या० ८३

काल में हुआ था। इससे सिद्ध है कि शुंग-काल में जातक-कथाओं की प्रसिद्धि समाज में पूर्णतया हो गई थी, जिसके कारण उनके चित्र भी बनने लग गये थे। जातक-कथाओं में वे ही कहानियाँ, किंवदन्तियाँ तथा ऐतिहासिक घटनाएँ वर्णित हैं, जो बुद्ध-पूर्व की अथवा बुद्ध-कालीन थीं। इनमें बुद्धकालिक घटनाओं के साथ समाज में प्रचलित पुरानी कहानियों का मिलान किया गया है। अतः, जातकों में वर्णित नारी-समाज की अवस्था बुद्ध-पूर्व की या बुद्ध के समय की ही है, जिससे स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर विशद प्रकाश पड़ता है। जातक-कथाओं की संख्या १२०, १४५, १६७, १९३, १९९, २१२, २६२, २६३, २७४ आदि में भी महाभारतवाले पूर्वोक्त विशेषण व्यवहृत हुए हैं। इनमें कथाओं के द्वारा नारी-सम्बन्धी उक्त विशेषणों को सार्थक कर दिखाने का प्रयत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त जातक ६१, ६३, ६४, ६५, १०६, १२५, १२६, १९५ और २०७ संख्यक कथाओं में भी नारी-समाज के चरित्र पर पूरी कालिख पोती गई है। 'धम्मपद' की टीका ४ और ८ में बौद्धविद्वान् 'बुद्धघोष' ने लिखा है कि उस समय पति के कुव्यवहार के कारण एक स्त्री को न्यायालय में जाना पड़ा, जहाँ न्यायकर्त्ता ने स्त्री के पक्ष में फैसला दिया। इतना जरूर था कि स्त्रियों में घनघोर पर्दा नहीं था, वे समाज के अच्छे कामों में भाग लेती थीं; पर अल्प परिमाण में ही।

जातक-कथाओं की तरह बौद्धों का एक दूसरा ग्रन्थ 'खुद्दकनिकाय' है, जिसके एक अंश का नाम 'थेरीगाथा' है। इसकी अनेक गाथाओं से नारी-समाज की स्थिति पर भी हमें रोशनी मिलती है। कोसल-देश की मुक्ता नाम की स्त्री घर के कामों से ऊबकर भिक्षुणी हो गई। उसने कहा है कि हमें आज तीन टेढ़ी वस्तुओं से छुटकारा मिल गया। वे वस्तुएँ थीं—ऊखल, मूसल और कुबड़ा पति। भद्राकापिलायनी को, यद्यपि उसकी आस्था बौद्धधर्म में नहीं थी तथापि, अपने पति 'महाकाश्यप' का ही अनुगमन करते हम देखते हैं। भद्राकुंडलकेशा का लालची पति जब उसकी हत्या करने पर उतारू हो जाता है, तब वही अपने पति की हत्या करके भिक्षुणी हो जाती है। पाटाचारा, वासिष्ठी और स्वयं प्रजापति गौतमी को अपने बच्चों तथा पति की मृत्यु के शोक से छुटकारा पाने के लिए संसार-त्याग की प्रवृत्ति होती है, पहले नहीं। श्रावस्ती की उत्तरा नारी-समाज को कोसती है कि रात-दिन मूसलों से धान क्यों कूटती रहती हो, उसे छोड़ो, बुद्धधर्म में आओ। उत्पलवर्णा का पति उसकी माता (अपनी सास) को भी पत्नी बनाकर रखे हुए था, यानी दोनों माँ-बेटी सपत्नी बनकर जीवित थीं। पूर्णिका एक पनिहारिन थी, उसे रोज अपने मालिक से गाली और मार मिलती थी, जिससे छुटकारा पाने के लिए वह भिक्षुणी हुई। नारी के साथ तब भी बलात्कार होता था। राजगृह की ब्राह्मण-कन्या शुभा एक रात को बुद्ध के दर्शन के लिए जा रही थी कि रास्ते में एक लम्पट युवक ने उसे जा घेरा। उसने कहा—'शुभे! कमल-कोष को भी मात करनेवाले तेरे स्वर्ण-सदृश स्वच्छ-मुख-मंडल में स्थित इन दोनों नयनों को देखकर मैं अवश हो गया हूँ। हे प्रियदर्शिनि! तेरी दोनों भौंहें कमान-जैसी विस्तृत हैं,

तेरे नेत्र कितने मादक हैं।' इस पर शुभा ने अपनी आँख ही निकालकर उस लम्पट के हाथ पर रख दी। ऋषिदासी के वैश्य माता-पिता ने उसे तीन-तीन बार बेचा और दूसरे-दूसरों से उसका ब्याह किया। जीवक वैद्य के जन्म के बारे में हमने पहले देखा ही है कि उसकी माता ने पुरुषों की प्रेम-पात्री बने रहने के उद्देश्य से अपनी युवावस्था को अक्षुण्ण दिखाने के लिए अपने नवजात शिशु को कूड़े में फेंकवा दिया था। प्रजापति गौतमी के साथ शाक्य-कुल की पाँच सौ नारियों के भिक्षुणी होने की कथा जो मिलती है, उससे पता लगता है कि वे सभी नारियाँ ऐसी ही थीं, जिनके पति या तो भिक्षु हो गये थे या मर गये थे।

इस तरह स्वतंत्र विचारिका, उच्छेदवादिनी तथा स्थिरचित्तवाली नारियों की उस समय भी कमी थी। सम्पत्ति पर उनका कोई अधिकार नहीं था और न वे ज्ञान-विज्ञान में अगुआ थीं। उपनिषद्-काल की तरह उस समय भी अपवाद-रूप में कुछ ही नारियाँ पूर्ण विदुषी थीं—जैसे वैशाली की सच्चा, लोला, अववादका तथा पाटाचारा—जिनके सम्बन्ध में पहले भी कुछ कहा गया है और आगे भी कहा जायगा। स्वयं भगवान् बुद्ध भी नारी-समाज के सम्बन्ध में बहुत-कुछ पुराने विचारों से ही सहमत थे; क्योंकि आनन्द के प्रयास से जब भिक्षुणी-संघ का निर्माण हुआ, तब भगवान् बुद्ध ने कहा—'आनन्द, यदि स्त्रियाँ इस धर्म में नहीं आतीं, तो यह धर्म १००० वर्ष तक ठहरता; पर चूँकि स्त्रियाँ भी आ गईं, अतः यह केवल अब पाँच सौ वर्ष ही जीवित रहेगा।'

किन्तु, ऐसी दशा में भी, भगवान् बुद्ध के समय में ही, बिहार-प्रदेश की नारियों ने बौद्धधर्म के विकास में जो योगदान किया, वह अभूतपूर्व घटना है। बौद्धभिक्षुणियों के संघ के पहले ही जैनसंप्रदाय में भिक्षुणियों का संघटन हो गया था। वैशाली के सच्चक की चार बहनें जैनसंघ की ही भिक्षुणी थीं। सच पूछिए, तो जैनों की देखा-देखी ही बौद्धों ने भी भिक्षुणी-परिषद् की स्थापना की थी। बौद्ध-धर्म में प्रथम-प्रथम महाप्रजापति गौतमी ही पाँच सौ नारियों को लेकर भिक्षुणी हुईं। इसके बाद तो नारी-समाज में बौद्ध भिक्षुणी होने की लहर-सी उठ गई और भिक्षुणियों का एक बृहत् संघटन ही हो गया। ये नारियाँ भी घूम-घूमकर धर्मोपदेश करने लगीं और संघ में भिक्षुणियों को दीक्षित भी करने लगीं। वे जहाँ भी जातीं, भिक्षु-संघ से अलग उनके संघ का पड़ाव होता था। जगह-जगह भिक्षुणियों के लिए विहार भी अलग बन गये थे। श्रावस्ती में विशाखा ने भिक्षुणियों के लिए ही एक अलग विहार बनवाया था, जिसके निर्माण में २९ करोड़ मुद्राएँ व्यय हुई थीं। इन भिक्षुणियों में से बिहार-प्रदेश की भिक्षुणियों पर हम यहाँ प्रकाश डालेंगे, जिससे स्पष्ट होगा कि बिहार की नारियों की बौद्धधर्म में क्या देन है।

बौद्धभिक्षुणी

१—**वत्सा (?)** वैशाली नगर की एक भिक्षुणी की चर्चा 'थेरीगाथा' में है, जिसके नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु गाथा के पढ़ने पर ज्ञात होता है कि शायद इसका नाम वत्सा था। एक दिन वह भोजन के लिए साग पका रही थी कि कड़ाही में ही

साग जल गई। इस घटना से इसके अन्तर का पट खुल गया। इसके मन में आया कि अधिक देर तक आग पर रखने के कारण जिस तरह साग जल गई, उसी तरह यदि अधिक समय तक समाधि और ध्यान का कर्म किया जाय, तो अन्तर के राग-द्वेष भी जल जायेंगे। इसने ध्यान और चिन्तन को बढ़ाकर ज्ञान प्राप्त कर लिया तथा ऐश-आराम के सारे सामान त्याग दिये। इसने अपने पति के पास जाकर कहा—'स्वामिन्! मेरा मन संसार से उचट गया है। मैं अब गृहस्थ-धर्म को निबाहने में अपनेको असमर्थ पा रही हूँ। मुझे आज्ञा दीजिए, मैं अब प्रव्रज्या लूँ।' पत्नी की मानसिक दशा तथा शरीर के कपड़े, आदि देखकर पति ने समझ लिया कि अब सचमुच इसका मन गृहस्थी से उचट गया है। विवश होकर उसने प्रव्रज्या लेने की आज्ञा दे दी। वत्सा महाप्रजापति गौतमी के पास जाकर धर्म में दीक्षित हो गई। दीक्षा के बाद गौतमी उसे भगवान् बुद्ध के पास ले गई। बुद्ध ने इसके सच्चे आन्तरिक वैराग्य की सराहना की।

यह वत्सा एक क्षत्रिय-कन्या थी और एक लिच्छवि-युवक से ब्याही गई थी। पहले ही गौतमी के धर्मोपदेश सुनकर इसके मन में वैराग्य जगा था। यह कई बार पहले ही प्रव्रजित होना चाहती थी; पर इसका पति हर बार रोक देता था। किन्तु कड़ाही में साग जलनेवाली घटना ने इसके मन में ऐसा वैराग्य भर दिया जो किसी प्रकार उच्छिन्न होनेवाला नहीं था।

२—**धर्मदिन्ना** राजगृह-निवासी एक वैश्य सेठ की पुत्री थी। विशाख नाम के एक श्रेष्ठी-पुत्र से उसका विवाह हुआ था। एक दिन 'विशाख' अपने साथियों के साथ भगवान् बुद्ध का उपदेश सुनने गया। धर्मोपदेश सुनकर उसके मन में वैराग्य की भावना जग गई। रात्रि में जब वह घर लौटा, तब उसकी पत्नी 'धर्मदिन्ना' ने भोजन के समय जो मीठी-मीठी बातें कीं, उन बातों की ओर उसने जरा भी अभिरुचि नहीं दिखाई। उसने भोजन भी अनिच्छापूर्वक किया। धर्मदिन्ना ने समझा, कोई गलती मुझसे हुई है। उसने हाथ जोड़कर और आँखों में आँसू भरकर कहा—'स्वामिन्! यदि मुझसे कोई अपराध हुआ हो, तो क्षमा करो।' विशाख को करुणा आ गई। उसने करुणार्द्र वाणी में कहा—'नहीं प्रियतमे! तुम्हारी ओर से ऐसी कोई बात नहीं हुई है। मैं ही अब तुम्हारे प्रेम का पात्र नहीं रहा। मेरा मन अब बुद्ध के धर्म की ओर मुड़ गया है। अब तुझे मुझसे सुख प्राप्त नहीं होगा। तुम मेरा सम्पूर्ण ऐश्वर्य लेकर पिता के घर चली जाओ।'

धर्मदिन्ना ने भारतीय नारियों की तरह ही निवेदन किया—'स्वामिन्! मेरा सब-कुछ तो आप ही हैं। अब मैं पिता के घर नहीं जाऊँगी। आपका ही अनुगमन करूँगी।'

दोनों पति-पत्नी बुद्ध-संघ में प्रव्रजित हो गये। किन्तु धर्म के चिन्तन में पत्नी ने पति से बाजी मार ली। धर्मदिन्ना थोड़े ही काल में बौद्धधर्म की परम पंडिता हो गई। बौद्धधर्म का प्रचार करनेवाली भिक्षुणियों में इसका स्थान प्रथम था। इसकी वक्तृत्व-शक्ति अपूर्व थी। इसका विचार था कि जो कोई चित्तवृत्तियों को अवदमित करके शान्ति-लाभ कर लेता है और जो विषय-भोग का पूर्णतया उच्छेद कर देता है, वही 'ऊर्ध्वस्रोत' कहलाता है।

इसके धर्मज्ञान की थोड़ी चर्चा पहले भी की गई है, जो इसके और इसके पति 'विशाख' के बीच हुआ था[1]।

३—विशाखा भद्दिया (भागलपुर के पास का भदरिया) नगर के महासेठ मेण्डक की पौत्री थी। इसके पिता का नाम 'धनंजय' था और माता का 'सुमना'। जब विशाखा सात साल की छोटी बच्ची थी, तभी भगवान् बुद्ध भद्दिया नगर में गये थे। इसने अपने दादा मेण्डक की आज्ञा पाकर ५०० कुमारियों और ५०० दासियों को साथ लेकर भगवान् बुद्ध का, नगर से बाहर निकल अगवानी करके, स्वागत किया था, जिसकी चर्चा पहले ही की गई है[2]। पीछे चलकर यह बुद्धसंघ की सबसे बड़ी दायिका (दान देनेवाली) हुई। बौद्धधर्म में इसके अनुराग की पराकाष्ठा इसी से समझनी चाहिए कि यह बराबर कहा करती थी—'बुद्ध-शासन के लिए सोचो मत, अभी पैर धोकर आसन लगा ध्यान में लग जाओ।' पीछे चलकर यह भी एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुणी हुई।

विशाखा जब लगभग बारह साल की हुई, तब अपने पिता-माता के साथ प्रसेनजित् के कोसल-राज्य के 'साकेत' नगर में जाकर बस गई। प्रसेनजित् ने मगधराज बिम्बिसार से अपने देश में बसने के लिए एक महासेठ की माँग की थी, जिसके अनुसार विचार करके बिम्बिसार ने मेण्डक के पुत्र 'धनंजय' को भेजा था। इसका भी उल्लेख पहले किया गया है[3]।

विशाखा जब युवती हुई, तब उसका विवाह 'श्रावस्ती' नगर के सेठ 'मिगार' के पुत्र 'पुण्णवड्ढन' (पुण्यवर्द्धन) से हुआ। इसके विवाह में श्रावस्तीवासी कोसल-नरेश प्रसेनजित् स्वयं सम्मिलित हुआ था। वह वर-पक्ष की ओर से गया था। उसका स्वागत-सत्कार भी धनंजय ने शाही ढंग से ही किया था। बरात सप्ताहों जमी रह गई और स्वागत-सत्कार का शाही राग-रंग चलता ही रहा। अन्त में स्वयं प्रसेनजित् ने धनंजय को लिख भेजा कि हमलोगों का भरण-पोषण कबतक करोगे? कन्या की विदाई कब होगी, सूचित करो।

इसके उत्तर में विशाखा के पिता धनंजय ने लिख भेजा—'अब तो वर्षा ऋतु आ गई। चार मास तक कहीं जाना-आना कठिन है। दल-बल-सहित आपका सत्कार मेरे जिम्मे है। महाराज को मालूम कि जब हम विदाई करें, तभी श्रीमान् यहाँ से जायँ।'

तीन मास तक बरात साकेत में पड़ी रही। इतने दिनों के बाद भी विशाखा के लिए बननेवाले आभूषण बनकर तैयार नहीं हुए थे। एक दिन कारपरदाज ने आकर धनंजय से निवेदन किया कि—'स्वागत की सारी सामग्री पूर्ण है, किन्तु लकड़ी (ईन्धन) घट गई है। बरसात का समय है, पेड़ कटवाने पर भी सूखी लकड़ी नहीं मिलेगी।' इसपर धनंजय ने आदेश दिया कि हस्तिशाला, अश्वशाला, गोशाला आदि उजाड़कर ईन्धन का काम लिया जाय।

१. देखिए—पृ० १०१
२. देखिए—पृ० ८६ और ६०
३. देखिए—पृ० ६०

आदेश का पालन किया गया ; पर इस तरह भी पन्द्रह दिनों तक ही ईन्धन का काम चला। पुनः जब ईन्धन घट गया, तब उसने आदेश दिया कि 'कपड़े का गोदाम खोल दो। उससे साड़ियाँ निकालकर मोटी बत्तियाँ बनाओ और उन्हें तेल में भिगो कर जलाओ।' पन्द्रह दिनों तक सारी बरात का भोजन साड़ियाँ जला-जलाकर पकता रहा। अब वर्षा बीत गई थी और बिदाई का समय आ गया था। बिदाई के दिन धनंजय ने नौ करोड़ मूल्य के महार्घ आभूषणों से विशाखा को सजाया। पुत्री के स्नान-चूर्ण लिए के सारे सामान दिये और उसके बाकी खर्च के लिए ५४ सौ बैलगाड़ियों पर धन लदवाकर दिया। कन्या के साथ पाँच सौ दासियाँ, पाँच सौ उत्तम रथ और अन्य वस्तुएँ सौ-सौ की संख्या में देकर धनंजय ने बरात की बिदाई की[१]।

विशाखा का श्वशुर 'मिगार' जैनधर्मावलम्बी था और निगंठनाथपुत्र (महावीर तीर्थंकर) का पूर्ण भक्त था। जब विशाखा अपने श्वशुर के गृह में गई, तब बौद्धसंघ को दान देने लगी। यह नित्य पाँच सौ बौद्ध भिक्षुओं को भोजन कराकर स्वयं भोजन करती थी। बौद्धधर्म में इसकी ऐसी भक्ति देखकर इसका श्वशुर 'मिगार' इसे धर्म-विरोधिनी मानने लगा और सतत प्रयास करने लगा कि मेरी पतोहू निगंठों में भक्ति करे। पर उसकी सारी चेष्टा विफल हो गई। इधर 'विशाखा' भी चाहती थी कि मेरे ससुर निगंठों की भक्ति छोड़कर बौद्धों में भक्ति करें। अन्त में बहुत कशमकश के बाद 'विशाखा' की ही जीत हुई। इसने अपनी सेवा, सुशीलता, धर्मनिष्ठा, गुणों तथा तर्कों से अपने ससुर की निष्ठा बौद्धधर्म में स्थापित कर दी और धर्म-भावना में उससे श्रेष्ठ साबित हो गई, अतः बौद्धों ने इसका नाम 'मिगारमाता' रख दिया। उसी समय से 'विशाखा' के नाम के पहले 'मिगारमाता' विशेषण भी जुड़ने लगा।

विशाखा ने श्रावस्ती में बौद्धसंघ के निवास के लिए 'पूर्वाराम' नामक विहार का निर्माण कराया था, जो 'मिगारमातुपासाद' के नाम से भी अभिहित होता था। यह विहार दो-मंजिला बना था और नौ मास में तैयार हुआ था। इसके निर्माण में उनतीस करोड़ मुद्राएँ व्यय हुई थीं। इस घटना के समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती के ही विहार में थे।

पूर्वाराम विहार के निर्माण की कथा 'धम्मपद अट्ठकथा' में मिलती है। उसके अनुसार एक दिन विशाखा बुद्ध के प्रवचन सुनने के लिए अपनी दासी 'सुप्रिया' के साथ विहार में गई। विहार के द्वार पर ही विशाखा ने अपने आभूषण शरीर से उतारकर दासी को दे दिये ; क्योंकि बुद्ध के पास वह कभी शृंगार करके या सज-धजकर नहीं जाती थी। बुद्ध के धर्मोपदेश सुनने के बाद वह दासी के साथ जब विहार से बाहर आई, तब उसने पहनने के लिए दासी से आभूषण माँगे। दासी धर्मोपदेश सुनने में ही आभूषणों को लेना भूल गई थी। दासी ने जब आभूषणों के वहीं छूट जाने की बात कही, तब विशाखा ने कहा—'जाओ, ले आओ। पर यदि किसी बौद्ध भिक्षु ने उसे रख दिया हो, तो न लाना।' सभी के चले जाने पर 'आनन्द' ने उन भूषणों को सुरक्षित रख दिया था। दासी जब आभूषण लेने आई, तब आनन्द ने कहा—'वहाँ रख दिये हैं, ले जाओ।' पर दासी ने कहा—'आपने इन्हें

१. अंगुत्तर निकाय—१, ७, २ से उद्धृत, 'बुद्धचर्या' के पृ० ५२७-५२८ की टिप्पणी।

छू दिया है, मेरी मालकिन इन्हें अब नहीं पहन सकतीं।' आनन्द ने कहा—'हम लोग भी तो नहीं ले सकते, हमारे लिए तो धातु-ग्रहण वर्जित है।' आनन्द के कथन को जानने के बाद विशाखा ने उन्हें मँगा लिया। वे आभूषण नौ करोड़ मूल्य के थे और उनके बनाने की मजूरी सौ हजार (एक लाख रुपये) थी। इन आभूषणों को कोई दूसरा खरीदनेवाला भी नहीं था। विशाखा ने इतने मूल्य देकर स्वयं उन्हें खरीदा और नौ करोड़ मूल्य की जमीन खरीदकर वहाँ पूर्वाराम बनवाया, जिसके बनवाने में और २० करोड़ लगे थे। इस विहार के निचले हिस्से में ५०० और उपरी तल्ले पर भी ५०० कोठरियाँ बनी थीं। इसकी बनावट की देख-रेख का भार स्वयं महामौद्गल्यायन ने लिया था।

विशाखा को भगवान् बुद्ध ने नारियों के कर्त्तव्य की स्वयं शिक्षा दी थी[1]। उन्होंने कुलवन्ती स्त्रियों के लिए आठ गुणों को ग्रहण करने का विधान बतलाया है। ये आठ सूत्र इस प्रकार हैं—

(१) कुलवधुओं को सहानुभूतिपूर्वक अपने सास-ससुर की सेवा करनी चाहिए, उनसे सर्वदा मीठे वचन बोलने चाहिए और उनके प्रत्येक सुख का खयाल करना चाहिए।

(२) अपने पति द्वारा आदृत मित्र तथा साधु-संतों की उचित सेवा में मनोयोगपूर्वक तत्पर रहना चाहिए।

(३) घर में रखी हुई कपास के समुचित उपयोग करने की कला में स्त्रियों को पूर्ण दक्ष होना चाहिए।

(४) घर के दास-दासियों के जिम्मे लगाये गये कामों पर और उनके भोजन तथा वस्त्र की व्यवस्था पर पूरी निगरानी रखनी चाहिए।

(५) पति द्वारा घर में लाये धन की, समुचित उपयोग के बाद, रक्षा करनी चाहिए। उसे अपने लिए खर्च नहीं करना चाहिए।

(६) त्रिशरण (बुद्ध, धर्म और संघ) को स्वीकृत कर उपासिका बनना चाहिए।

(७) पंचशील का पालन कड़ाई से करना चाहिए।

(८) कृपणता त्याग कर दान देने में मुक्तहस्त होना चाहिए।

विशाखा ने अत्यन्त वृद्धा होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया। उस समय इसकी आयु १२० साल की थी। बुढ़ापे में इसने भी पौत्र-मृत्यु का दुःख भोगा था।

४—जयन्ती का जन्म वैशाली में हुआ था और यह एक लिच्छवि-राजकुमारी थी। इसने स्वयं बुद्ध के उपदेशों को सुनकर धर्म का ग्रहण किया था और इसने बाद में अर्हत्-पद भी प्राप्त किया। यह बुद्ध-शासन के सप्ताङ्गों[2] की पूर्ण साधिका थी।

---

१. अंगुत्तर निकाय—४, २६७

२. सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम और सम्यक् स्मृति—ये समाधि के सात अंग हैं। सम्यक् समाधि को मिलाकर ये ही अष्टांगिक मार्ग कहलाते हैं।—ले०

५—**चित्रा** राजगृह के अत्यन्त वैभवशाली गृहपति की कन्या थी। एक बार इसने भगवान् बुद्ध का उपदेश राजगृह नगर के द्वार पर सुना। तभी से इसकी श्रद्धा बुद्ध-धर्म में हुई। बाद में इसने महाप्रजापति गौतमी से प्रव्रज्या ली। प्रव्रज्या लेने के बाद यह रोगिणी हो गई थी और शरीर जर्जर हो गया था। छड़ी का सहारा लेकर गृध्रकूट पर्वत पर साधना करने गई। पर्वत पर चढ़ते समय इसका चीवर गिर गया और भिक्षा-पात्र हाथ से छूटकर टूट गया। फिर भी हिम्मत न हारकर चढ़ती ही गई। गृध्रकूट पर जाकर इसने अवधूत-व्रत की साधना आरंभ की और अन्त में इसने ज्ञान प्राप्त कर अर्हत्-पद लाभ लिया।

६—**मैत्रिका** ने भी जवानी के बाद, वृद्धावस्था में, शक्तिहीन शरीर होने पर भी गृध्रकूट पर्वत पर जा, अवधूत-व्रत की साधना की। यह राजगृह के एक धनी ब्राह्मण की लड़की थी। यह बुद्ध-शासन की तीनों विद्याओं[1] की पण्डिता हुई। इसने भी अर्हत्त्व प्राप्त किया था।

७—**अभयमाता** उज्जैन की प्रसिद्ध रूपवती वेश्या थी; पर बिम्बिसार की रखेली बनकर राजगृह में रह गई थी। इसका मूल नाम *पद्मावती* था। बिम्बिसार से इसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम 'अभय' था। अभय को बिम्बिसार बहुत प्यार करता था। बाद में अभय बौद्धभिक्षु हो गया। अपने पुत्र के प्यार से तथा उसके उपदेशों के प्रभाव से पद्मावती भी भिक्षुणी हो गई। अभय को अपनी माता के जीवन से अत्यन्त विरक्ति थी। वह बार-बार अपनी माँ से कहता—'माँ! इस अशुचि और दुर्गन्धमय रस से युक्त काया को, अपने पैरों से केशों तक, जरा गौर से तू देख।' इन लांछन-भरी बातों से पद्मावती ने परम लज्जा का अनुभव किया और प्रव्रज्या ले ली। प्रव्रज्या के बाद संघ में इसे 'अभयमाता' नाम से संबोधित किया जाता था। अपनी कहानी इसने अपने ही मुख से कही है।

८—**दन्तिका** रहनेवाली तो श्रावस्ती की थी; पर राजगृह को बौद्धधर्म का तीर्थ मानती थी। इसलिए राजगृह में ही रह गई थी और बौद्धधर्म की कथा श्रवण कर अपने को तृप्त करती थी। एक दिन इसने एक पीलवान को देखा कि उसने महाकाय विशाल हाथी को अपने अंकुश से वश में करके बैठा दिया। दन्तिका ने उपमा बैठाई कि विषय-वासना-जैसी दुर्जेय वस्तु का भी दमन अवश्य किया जा सकता है। वह गृध्रकूट पर्वत पर चली गई और एकान्त में उसी हाथी का ध्यान करके उसने साधना आरम्भ की। अन्त में उसने समाधि को बढ़ाकर अपनी चित्तवृत्तियों का दमन कर ही लिया।

९—**शुक्ला** 'थेरीगाथा' की चौंतीसवीं भिक्षुणी है। इसने धर्मदिन्ना से बौद्धशासन की शिक्षा ली थी। इसने राजगृह के एक उच्च कुल में जन्म लिया था। यह बौद्धसंघ में अत्यन्त ओजस्वी भाषण करनेवाली भिक्षुणी थी। धर्मदिन्ना की तरह ही धर्म के प्रचार में सुविख्यात थी। इसके भाषण को सुनकर श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते थे। लोगों की धारणा थी कि इसने

१. पूर्वजन्म का स्मरण-ज्ञान, जन्म-मृत्यु का ज्ञान और आस्रवों के क्षय का ज्ञान—इनके ज्ञानी 'त्रैविद्य' कहलाते हैं।—ले०

एक वृक्ष-देवता को वश में करके वक्तृत्व-कला में ऐसी निपुणता प्राप्त की है। इसके मधुर और ओजःपूर्ण भाषणों के सम्बन्ध में लिखा है कि वर्षा के निर्मल जल की तरह इसकी वाणी-रूपी जीवन-सुधा को ज्ञानीजन, प्यासे पथिकों की तरह, पान करते हैं।

१०—सोमा का जन्म राजगृह में हुआ था। यह मगधराज बिम्बिसार के ब्राह्मण पुरोहित की पुत्री थी। इसने तपस्या और ज्ञान के द्वारा युवावस्था में ही अपनी सभी विषय-वासनाओं का दमन कर लिया था। एक दिन जब यह 'अन्धक वन' में अपनी समाधि में लीन थी, तभी पापी मार एक युवक का वेश धारण कर इसके सामने प्रकट हुआ और कहने लगा—'अरी सुन्दरी! अपनी भरी जवानी में ही तू यह क्या कर रही है? जिस वस्तु को प्राप्त करने में बड़े-बड़े तपस्वी ऋषि कठिनाई का अनुभव करते हैं, उसे तेरी-जैसी दो अंगुल[1] का ज्ञान रखनेवाली नारी कैसे प्राप्त कर सकती है?' वासना को जला करके निर्विकार हुई सोमा ने कहा—'पापी मार! तू स्वयं मेरे द्वारा मार दिया गया है। जा, तू अब मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है।'

११—भद्रा कापिलायनी का जन्म तो 'सागल' (स्यालकोट: पंजाब) नगर के कौशिक-गोत्रीय ब्राह्मण के कुल में हुआ था। किन्तु इसका विवाह मगध के प्रसिद्ध धनाढ्य ब्राह्मण पिप्पलीमाणवक (महाकाश्यप) के साथ हुआ था। यह एक अत्यन्त सुन्दरी रमणी थी। इसके शरीर का गठन सुवर्ण-निर्मित नारी-मूर्त्ति की तरह था। इसका पिता भी सागल का प्रसिद्ध धनवान् व्यक्ति था। उसने अपनी पुत्री के साथ दहेज में हजारों गाड़ियों पर सामान लदवाकर 'पिप्पली माणवक' के घर भेजा था[2]। विवाह के बाद भी दोनों पति-पत्नी (पिप्पली और भद्रा कापिलायनी) सहवास से रहित होकर धर्माचरण में दत्तचित्त थे। यद्यपि अपने पति महाकाश्यप के साथ ही इसने भी अपना माथा मुड़ाकर संन्यास लिया था, तथापि 'तित्थिया-राम विहार' में अपने पति से अलग रहकर, पाँच वर्षों तक यह साधना करती रही। बाद में महा प्रजापति गौतमी ने इसे प्रव्रजित करके संघ की शरण में ले लिया। महाकाश्यप की तरह इसने भी अर्हत्त्व प्राप्त किया था। यह पतिपरायणा ऐसी थी कि अर्हत्त्व प्राप्त कर लेने पर भी महाकाश्यप के गुणों का ही सर्वदा गान करती थी। यह कहती थी—'शान्त-समाधिनिष्ठ महाकाश्यप बुद्ध भगवान् के उत्तराधिकारी पुत्र हैं।' इसका वास्तविक नाम तो भद्रा ही था; पर महाकाश्यप का गोत्र 'कापिलायन' था, इसलिए यह भद्रा कापिलायनी कहलाती थी। यह बुद्ध-शासन की तीनों विद्याओं का साक्षात्कार कर लेनेवाली मृत्यु-विजयिनी भिक्षुणी थी।

१२—विमला वैशाली की एक वेश्या की पुत्री थी। इसने भी अपनी आयु की वयःसन्धि में वंशानुगत पेशे को अपनाया था। यह स्वयं कहती है कि—'मैं रूप-लावण्य, वैभव तथा यश की ख्याति से मतवाली बनी रहती थी। रूप और यौवन के अहंकार में अपने

---

१. स्त्रियाँ भात पकाते समय अपनी दो अंगुलियों के सहारे ही पके तंडुल का ज्ञान प्राप्त करती हैं। इसीलिए दो अंगुल के ज्ञान की कहावत उस समय प्रचलित थी।—ले०

२. देखिए—पृ० ७।

जीवन के प्रति मुझे बड़ा गर्व था। मैं गृहद्वार पर बैठकर मन्द मुस्कान और सौंदर्य की किरणें बिखेरा करती और युवकों को फँसाने के लिए व्याध की तरह अपने विलास-विभ्रम का जाल फैलाया करती थी। किन्तु, आज मैंने अपने सभी पापों को धो-पोंछकर फेंक दिया है और परम शान्ति में लीन हो गई हूँ। अब मुझे कोई विषय नहीं सता सकता।'

इसने अपनी भरी जवानी में ही धर्म-साधना की ओर अपने मन को लगाया था। एक दिन महामौद्गल्यायन वैशाली की गलियों में भिक्षाटन करते-करते विमला की गली से गुजरे। विमला की दृष्टि मौद्गल्यायन की परम शान्त-सौम्य आकृति पर मुग्ध हो गई। इसे अपनी जवानी और रूप पर तो पूरा अभिमान था ही, किसी को फँसा लेना इसके बाँयें हाथ का खेल भी था। महामौद्गल्यायन चर्यावृत्ति करके जब अपनी कुटिया में लौटे, तब वहाँ पूर्ण साज-सज्जा में विमला उपस्थित मिली। इसने अपनी मीठी-मीठी बातों तथा अनेक मनोमोहक हाव-भावों के द्वारा मौद्गल्यायन को जाल में फँसाना चाहा। किन्तु मौद्गल्यायन परम निर्वाणप्राप्त (जीवन्मुक्त), रागरहित और विमलचित्त भिक्षु थे। उन्होंने विमला को इस कुत्सित व्यवहार के लिए इतना धिक्कारा कि इसका रूप और यौवन का सारा घमण्ड चूर-चूर हो गया। यह ग्लानि और लज्जा से मारे पानी-पानी हो गई। इसने वहीं संन्यास लेने के लिए ठाना; पर उस समय इसपर विश्वास कौन करता। यह संघ से अलग ही रहकर अकेले ही धर्म-साधना में लग गई। यह कड़ाई के साथ प्रव्रज्या के सभी नियमों का पालन करती और समाधि को साधती। जब इसने सारी चित्तवृत्तियों को वश में कर लिया, तब वर्षों बाद जाकर संघ ने अपनी शरण में इसे लिया।

१३—**सिंहा** का थेरियों में चालीसवाँ स्थान है। यह वैशाली गणतंत्र के सेनापति (सिंह सेनापति) की भगिनी-पुत्री थी। मामा के नाम पर ही इसका भी नाम सिंहा रखा गया था। सिंह सेनापति ने जैनधर्म छोड़कर जब बौद्धधर्म को अपनाया, तब इसने भी मामा की देखादेखी बौद्धधर्म को अपना लिया। आगे चलकर इसने वैराग्य धारण किया; पर सात वर्षों तक प्रयास करते रहने पर भी इसके अन्तर से वासना का अंकुर नहीं उखड़ सका। तब इसने भोग द्वारा तृष्णा का अन्त करना चाहा, पर तृष्णा का अन्त होना तो दूर रहा, तृष्णा दिन-दिन बढ़ती गई। बाद में अपने ऊपर इसे ग्लानि होने लगी। यह बड़े ही कामुक स्वभाव की नारी थी। अपने चंचल चित्त से यह इतनी उद्विग्न हो गई कि इसका जीवन भार हो गया। एक दिन इस जीवन से छुटकारा पाने के लिए इसने फाँसी की रस्सी लटका दी। किन्तु बुद्ध की महिमा अपार थी। इसने जैसे ही रस्सी में अपना गला डाला कि चित्त एकाग्र होकर ध्यानमग्न हो गया और इसे चित्त एकाग्र करने का मार्ग मिल गया। बाद में इसने इसी प्रकार साधना करते-करते ज्ञान प्राप्त कर लिया।

१४—**भद्रा कुण्डलकेशा** भिक्षुणी का जीवन बड़ा ही रोमांचकारी है। यह राजगृह के एक बड़े सेठ की दुलारी बेटी थी। इसका पिता राजगृह नगर का कोषाध्यक्ष था। बड़े वैभव और भोग-विलास के बीच भद्रा का लालन-पालन हुआ था। सुविधा और

शोखी के कारण यह एक राजपुरोहित के लम्पट पुत्र पर आसक्त हो गई थी। उस युवक का नाम 'सत्थुक' था। एक दिन सत्थुक किसी बड़ी चोरी के अपराध में पकड़ा गया और उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। सजा सुना देने के बाद वधिक उसे वध-स्थान की ओर लेकर चले। भद्रा को जब यह बात मालूम हुई, तब यह घर में अन्न-जल छोड़कर पड़ गई और इसने माता-पिता से स्पष्ट कह दिया कि जबतक पुरोहित-पुत्र मुझे नहीं मिलेगा, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगी—जान दे दूँगी।

सेठ ने अपनी लाड़ली पुत्री को बहुत समझाया; पर इसने एक भी न सुनी। लाचार होकर सेठ ने राजा को चोरी गये धन के बराबर मूल्य के अतिरिक्त भी धन देकर पुरोहित-पुत्र को छुड़ा लिया। इसके बाद सेठ ने सत्थुक को घर लाकर विविध रत्न-आभूषणों और सुन्दर वस्त्रों से मंडित करके पुत्री को सत्थुक के हवाले कर दिया। भद्रा अपने अभीप्सित वर को प्राप्त कर परम प्रसन्न हुई और खुशी-खुशी पति के गृह गई। किन्तु 'सत्थुक' अत्यन्त लम्पट और लोभी प्रकृति का युवक था। चरित्र नाम की वस्तु उसके पास थी ही नहीं। उसकी दृष्टि अपनी परम रूपवती युवती पत्नी पर नहीं थी, उसकी दृष्टि तो उसके मूल्यवान् आभूषणों पर लगी थी। एक दिन सत्थुक ने भद्रा से कहा—"प्रिये! मैं जिस दिन चोरी के अपराध में पकड़ा गया था और वध-स्थान की ओर लाया जा रहा था, उस दिन मैंने वध-स्थान के देवता की मनौती की थी कि—'हे वधस्थान के देवता! यदि मैं आज किसी तरह छूट जाऊँगा, तो तुम्हें पूजा चढ़ाऊँगा।' पूजा की सामग्री तैयार करके हमलोग चलें और देवता को पूजा चढ़ा आवें।"

पतिपरायणा भद्रा ने बड़ी प्रसन्नता से पूजा की सामग्री जुटाई, और नाना आभूषणों तथा वस्त्रों से सज-धजकर, कुलवधू की तरह दास-दासियों को साथ लेकर देव-स्थान की ओर चल पड़ी। कुछ दूर जाने पर सत्थुक ने सभी दास-दासियों को घर लौटा दिया और भद्रा के साथ उस निर्जन वध-स्थान की ओर चला। दास-दासियों के लौटा देने का मर्म उस भोली भद्रा ने नहीं समझा। वध-स्थान एक ऊँची पहाड़ी पर था। उस पहाड़ी के ऊँचे शिखर पर पहुँचकर सत्थुक ने कहा—'भद्रे! अपने शरीर पर के एक वस्त्र को छोड़कर सारे आभूषणों और वस्त्रों को उतार दो।' सत्थुक की घृणित आकृति देखकर भद्रा सहम गई। उसने कहा—'स्वामी, ऐसा क्यों?' इस पर सत्थुक ने कहा—'मुझे तेरे मूल्यवान् आभूषण चाहिए।' भद्रा ने गिड़गिड़ाकर कहा—'ये आभूषण क्या, मैं भी तो आपकी ही हूँ।' उसने डाँटते हुए कहा—'चुप रह, तेरी मुझे कोई आवश्यकता नहीं है, चुपचाप आभूषणों को उतार दे।' भद्रा ने अपनेको असहाय देखकर बड़े ही करुण स्वर में कहा—'स्वामी! मैं मरने के लिए तैयार हूँ; पर मरने के पहले मेरी एक कामना पूरी कर दें, जिससे मरने के बाद मेरी आत्मा को शान्ति मिले। कृपया एक बार आप अपने कोमल और विशाल भुजपाशों से प्रेमपूर्वक गाढ़ालिङ्गन कर लें। यही मेरी अन्तिम अभिलाषा है।' सत्थुक इसकी इत्नी-सी विनती मानने के लिए राजी हो गया। उसने भुजपाशों को फैलाकर ज्योंही आलिंगन करना चाहा

कि भद्रा ने उसे ऐसा झटका दिया कि पहाड़ के शिखर से वह हजारों फीट नीचे आ गया और वहीं उसका काम तुरत तमाम हो गया।

पति की हत्या करने के बाद खिन्नमना भद्रा ने पिता के घर जाना उचित नहीं समझा। पहले ही इसने गुरुजनों के विचार के विपरीत सत्तुक से विवाह किया था। अब इसे सारे संसार के सुखों से विरक्ति हो गई। यह वहीं से चलकर निग्गंठनाथपुत्र के धर्म में दीक्षित हो गई। जैनधर्म में दीक्षित हो जाने पर धर्म-नियम के अनुसार इसके माथे के केशों का लुंचन हुआ। बाद में जो इसके माथे पर केश जमे, वे घुँघराले कुण्डल की आकृतिवाले हुए। इसलिए यह कुंडलकेशा भी कही जाने लगी और इसका नाम 'भद्रा कुण्डलकेशा' पड़ा। जैनधम में रहते हुए इसने विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया और अल्पकाल में ही यह एक प्रसिद्ध विदुषी हो गई। तर्क-शास्त्र में इसकी बुद्धि की गहरी पैठ थी। शास्त्रों में निष्णात होकर यह जिस आश्रम में जाती, वहाँ के बड़े-बड़े विद्वानों से शास्त्रार्थ करती तथा विजय प्राप्त कर यश अर्जित करती थी। जैनधर्म की इस प्रसिद्ध भिक्षुणी ने बड़े-बड़े धर्माचार्यों के विद्यामद का दमन कर दिया था।

एक दिन एक आश्रम में, संयोग से, भद्रा का साक्षात्कार धर्म-सेनापति सारिपुत्र से हो गया। दोनों एक-दूसरे की विद्वत्ता की प्रसिद्धि से अवगत थे। जुटान अच्छी थी, दोनों में शास्त्रार्थ छिड़ गया। पहले भद्रा ने प्रश्नों की बौछार की; किन्तु सारिपुत्र की विद्वत्ता का क्या कहना था? भद्रा के मुख से प्रश्न के निकलते ही सारिपुत्र का उत्तर तुरत ही उसका प्रतीकार कर देता—मानो विपक्षी योद्धा की प्रत्यंचा से छूटे हुए बाणों को वहीं पर दूसरे पक्ष का योद्धा छिन्न-भिन्न कर देता था। अन्त में थककर भद्रा मौन हो गई। अब सारिपुत्र ने अपने ज्ञान-तूणीर से केवल एक तीर निकाला—'अच्छा भद्रे! बताओ तो, एक वस्तु क्या है?' भद्रा ने ऐसे प्रश्न पर कभी गौर नहीं किया था। यह पहले प्रहार से ही आहत हो गई। यह सारिपुत्र के पैरों पर गिर पड़ी और कहा—'मुझे अपनी शरण में ले लें प्रभो!' सारिपुत्र ने कहा—'मेरी शरण में क्या आओगी, मेरे शास्ता बुद्ध की शरण में जाओ!'

गृध्रकूट पर्वत पर जाकर भद्रा ने भगवान् बुद्ध के दर्शन किये। वहीं इसने प्रव्रज्या ली, और भिक्षुणी-संघ में प्रविष्ट हुई। इसकी विद्वत्ता के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं था। यह बौद्धधर्म की महोपदेशिका हुई। इसने अंग, मगध, वज्जि, काशी और कोसल-प्रदेशों में घूम-घूमकर पचास वर्षों तक बौद्धधर्म का प्रचार किया था। यह परम मोक्ष की अधिकारिणी हुई थी।

१५—**वासिष्ठी** का जन्म वैशाली नगर के एक उच्च कुल में हुआ था। विवाहोपरान्त पति के साथ इसका जीवन बड़ा सुखपूर्ण था और चैन के साथ यह गृहस्थ-जीवन बिता रही थी। कुछ दिनों के बाद वासिष्ठी के इकलौते बेटे का देहान्त हो गया। अपने पुत्र के लिए रात-दिन शोकाकुल हो रोती-पीटती रहती थी। पति, सास, ससुर आदि परिजनों की लाख चेष्टा करने तथा धैर्य बँधाने पर भी इसका शोक कम नहीं हुआ। पुत्र के शोक-संताप से अन्त में यह बिलकुल पागल हो गई और उसी अवस्था में घर छोड़कर निकल भागी।

अपनी विक्षिप्तावस्था में बाल बिखराये, शरीर की सुधि भूलकर जहाँ-तहाँ घूमने लगी। कभी जंगलों में, कभी कूड़े-कचरों में, मरघटों में, खँडहरों में, सड़कों पर, नदी के कछार आदि स्थानों में घूमती, दौड़ती, बैठ जाती और लेट जाती थी। इस तरह भूखे, प्यासे, नंगे, गंदे बदन तीन वर्षों तक मारी-मारी फिरती रही। एक दिन मिथिला में अपनी इसी अवस्था में जा रही थी कि वहाँ बुद्ध भगवान् से इसकी भेंट हुई। बुद्ध की सौम्य आकृति तथा शान्त मुखमंडल को देखकर यह पगली चित्रवत् स्तब्ध हो गई और बुद्ध के मुखमंडल को एकटक निहारने लगी। 'आनन्द' के साथ भगवान् बुद्ध भी खड़े हो गये और पगली की आँखों में अपनी आँखें डालकर ताकते रहे। थोड़ी देर बाद ही यह स्वस्थचित्त हो गई और इसका पागलपन दूर हो गया। इसने बुद्ध के पैरों पर अपना माथा रख दिया। भगवान् बुद्ध ने इसे बैठने को कहा और बैठने पर वहीं उन्होंने इसे उपदेश किया। उनके विमल उपदेशों से इसका सारा शोक जाता रहा और यह धर्म-साधिका बन गई। पीछे प्रव्रजित होकर संघ में सम्मिलित हुई और बाद में बुद्ध की कृपा से परम ज्ञान की अधिकारिणी हुई।

१६—**क्षेमा** मगधसम्राट् बिम्बिसार की छोटी और सबसे प्यारी पत्नी थी। क्षेमा का सौन्दर्य आग में तपाये स्वर्ण-जैसा भास्वर था। यह सागल (स्यालकोट) के राजा की कन्या थी। बिम्बिसार के अमित प्यार ने इसके रूप के अभिमान को और भी ऊँचा चढ़ा दिया था। यह शरीर के सौन्दर्य को नारी के लिए सबसे बड़ा सौभाग्य समझती थी। इसलिए अपने रूप को निहारकर अपने ऊपर ईश्वर की बड़ी कृपा मानती थी। जब यह भिक्षुणी हो गई, तब एक बार कोसलराज प्रसेनजित् ने इससे ज्ञान की चर्चा की थी।

क्षेमा के भिक्षुणी होने के पहले एक बार भगवान् बुद्ध राजगृह में आकर बिम्बिसार के उद्यान में ही ठहरे। बिम्बिसार का सारा परिवार बुद्ध के दर्शन के लिए गया; किन्तु क्षेमा नहीं गई। यह समझती थी कि श्रमण गौतम शारीरिक सौन्दर्य तथा रूप-शृंगार को तुच्छ दृष्टि से देखते हैं, जिसे मैं ईश्वर का वरदान मानती हूँ। अतः, ऐसे व्यक्ति के पास मुझे नहीं जाना चाहिए। बिम्बिसार ने लाख बुद्ध की महिमा का बखान किया; पर यह उनके दर्शन के लिए नहीं गई। किन्तु बिम्बिसार का अमित प्यार इस पर था, वह चाहता था कि मेरी सबसे प्यारी पत्नी भगवान् बुद्ध के दर्शन के सौभाग्य से वंचित न रहने पावे। वह राजा था, राजनीति और बुद्धि में पटु था। उस दिन तो उसने चुप्पी साध ली; पर दो-चार दिनों बाद उसने क्षेमा से कहा—'आज हमलोग उद्यान-विहार के लिए चलें।' क्षेमा राजी हो गई। उद्यान-विहार के बहाने राजा ने क्षेमा को भगवान् बुद्ध के सामने प्रस्तुत कर दिया। बिम्बिसार ने भगवान् बुद्ध का अभिवादन किया, अतः क्षेमा को भी अभिवादन करना पड़ा। दोनों एक ओर बैठ गये। बुद्ध ने अपने ऋद्धिबल से क्षेमा के मन की बात जान ली। उसी समय भगवान् बुद्ध ने अपने योगबल से ऐसी दो अप्सराओं को प्रकट किया, जिनके रूप-सौन्दर्य के आगे क्षेमा का रूप अत्यन्त नगण्य था। अप्सराओं के अमित सौंदर्य को देखकर क्षेमा की आँखें चौंधिया गईं और उसे अपने सौंदर्य के ऊपर ग्लानि होने लगी।

वे दोनों अप्सराएँ सेविका बनकर बुद्ध के बायें-दायें खड़ी होकर पंखे झलने लगीं। थोड़ी देर बाद क्षेमा ने देखा कि विश्वमोहिनी दोनों अप्सराओं की जवानी ढल गई और थोड़ी देर बाद उसने यह भी देखा कि वे दोनों अब बूढ़ी हो गई हैं। उनके मुख पोपले दीखने लगे हैं, उनके शरीर के चमड़े सिकुड़कर झूलने लगे हैं। उनके माथे के लम्बे-लम्बे काले केश, पककर सन हो गये और ठूँठ होकर झाड़ू बन गये हैं। उनके शरीर की शक्ति इतनी क्षीण हो गई कि उनके हाथों से पंखे छूटकर जमीन पर गिर गये। युवती और परम-सुन्दरी अप्सराओं की ऐसी हालत देखकर क्षेमा काँपने लगी और उसी क्षण इसका सौंदर्य-मद जाता रहा। वह सोचने लगी—'हाय! जिस शारीरिक सौंदर्य पर मुझे इतना गर्व था, उसकी यही परिणति है!'

इस समय भगवान् बुद्ध को अच्छा अवसर मिला। उन्होंने क्षेमा के हृदय की भावना जानकर अपना प्रवचन आरंभ कर दिया। उनके विमल उपदेशों से क्षेमा की आँखें खुल गईं और धर्म के प्रति इसकी आस्था पूरी जम गई। कुछ ही दिनों बाद उसने प्रव्रज्या ले ली। किन्तु इसके बचपन तथा जवानी का संस्कार पूर्णतया भोग-विलास का था, अतः इसका मन अत्यन्त चंचल था। इसे अपनी वासनाओं को दमन करने में वर्षों भारी पराक्रम करना पड़ा। परन्तु धर्म-साधना में इसकी निष्ठा अटूट थी और इसने अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध करके वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ही ली। बाद में यह प्रसिद्ध भिक्षुणी हो गई।

१७—**विजया** का भी जन्म राजगृह में हुआ था। यह एक उच्चकुल तथा वैभवसम्पन्न नागरिक की पुत्री थी। सुन्दरी, गुणवती और समवयस्क होने के कारण यह बिम्बिसार की पत्नी क्षेमा की सखी थी। इसने भी अपनी सखी क्षेमा का अनुगमन किया, और भिक्षुणी हो गई। वैभव-विलासपूर्ण जीवन होने के कारण इसका भी मन बहुत चंचल था। धर्म-साधना की अवस्था में ही यह विहार से निकलकर भाग जाती थी। ऐसी घटना एक ही बार नहीं; प्रत्युत तीन-चार बार घटी। अपने ऐसे मन को वश में करने के लिए और अपनी आन्तरिक दुर्बलता के विषय में इसने 'क्षेमा' से कहा और कल्याण का मार्ग पूछा। क्षेमा ने इसे धातु, आयतन, चार आर्य-सत्य, इन्द्रिय-बल, सात बोध्यंग और अष्टांगिक मार्ग का विशद उपदेश किया तथा दृढतापूर्वक इन सब पर आचरण करने को कहा। इसने क्षेमा के सत्संग से तथा उसके द्वारा बताये गये मार्ग का दृढतापूर्वक अवलम्बन करके अपने चंचल मन को वश में कर लिया। बाद, इसके अन्तर का सारा अज्ञानांधकार दूर हो गया और इसने परम ज्ञान प्राप्त कर लिया।

१८—**चाला, उपचाला और शिशूपचाला** ये तीनों सगी बहनें थीं। इनका जन्म मगध के 'नालक' ग्राम में हुआ था। ये ब्राह्मण-पुत्रियाँ थीं। इनका सबसे उल्लेखनीय परिचय यह है कि ये धर्मसेनापति 'सारिपुत्र' की बहनें थीं। तीनों सारिपुत्र से छोटी थीं। इनमें बड़ी का नाम चाला, मँझली का उपचाला और छोटी का शिशूपचाला था। सारिपुत्र के द्वारा बौद्धधर्म ग्रहण कर लेने पर इन्होंने सोचा कि जिस धर्म को मेरे भाई ने ग्रहण किया है, वह धर्म निश्चय ही महान् होगा। अतः, इन्होंने भी भाई का अनुगमन किया।

चाला और उपचाला तो विवाहिता थीं, पर छोटी शिशूपचाला दीक्षित होने के समय कुमारी ही थी। तीनों का जीवन-वृत्तान्त समान ही है। इनकी आन्तरिक प्रेरणा की सचाई तथा संसार-त्याग की भावना की मात्रा अल्प थी, अतः परमज्ञान प्राप्त करने में बहुत समय लगा और इन्हें चित्तवृत्तियों का निरोध करने में काफी संघर्ष करना पड़ा। फिर भी इनका निश्चय दृढ था, और इन्होंने अकुशल धर्मों पर अन्त में विजय प्राप्त कर ही ली।

१६—**रोहिणी** वैशाली-निवासी अत्यन्त धनाढ्य ब्राह्मण की कन्या थी। एक दिन इसे वैशाली में भगवान् बुद्ध के धर्म का उपदेश सुनने का मौका मिला। उसी समय से इसके मन में धर्म के प्रति श्रद्धा जागरित हुई। इसके बाद तो इसकी श्रद्धा ऐसी उन्नत हुई कि रात-दिन बौद्ध भिक्षुओं का ही गुणगान करती रहती थी। यहाँ तक कि रात में गाढ़ी निद्रा में सोये अपने पिता को जगा देती और कहने लगती—'पिताजी, इन बौद्ध श्रमणों को देखो तो।' इतना ही नहीं, यह स्वप्नावस्था में बड़बड़ाने लगती—'अहो! ये श्रमण!' अपने पिता से हठपूर्वक बौद्ध श्रमण-संघ को प्रचुर दान दिलवाया करती थी। अपनी पुत्री की ऐसी हालत देखकर इसका पिता, जो ब्राह्मण-धर्म का माननेवाला था, सदा चिन्तित रहता था। एक दिन बाप ने बेटी को बड़े प्यार से समीप बैठाकर कहा-'रोहिणी, क्या तू श्रमण होना चाहती है? अरी, ये बौद्ध भिक्षु तो जरा भी श्रम नहीं करते। ये आलसी, कर्मरहित और लोभी हैं, दूसरे के दिये अन्न पर जीनेवाले हैं। स्वादिष्ठ भोजन के ही चक्कर में रात-दिन रहते हैं। ऐसे लालची और अकर्मण्य श्रमणों के फेर में तू कैसे पड़ गई?'

रोहिणी ने अपने पिता को उत्तर दिया—'नहीं पिता जी! ये श्रमण श्रमशील हैं, आलसी नहीं। ये अप्रमादी हैं, साथ ही उच्चकर्मी और तृष्णाहीन हैं। किसी के साथ भी इनका न राग है, न द्वेष ही। ऐसे श्रमणों की आराधना मैं क्यों न करूँ?' इसके अतिरिक्त भी इसने बौद्ध श्रमणों के गुणों का बखान किया। बाप अपनी बेटी की निष्ठापूर्वक बुद्ध से भक्ति और सुमार्ग पर ले जानेवाली भावना से ऐसा प्रभावित हुआ कि इसके साथ ही उसने भी बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया।

२०—**चापा** का पिता बहेलियों का सरदार था और बंकहार प्रदेश (दक्षिणी शाहाबाद) का रहनेवाला था। 'उपक' नामक आजीवक की कथा पहले दी गई है[1], जो भगवान् बुद्ध से उस समय मिला था, जब वे धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन करने बोधगया से सारनाथ जा रहे थे। उपक, बुद्ध से मिलने के बाद, बंकहार में गया और बहेलियों के सरदार के द्वार पर पहुँचा। सरदार शिकार में कहीं गया था। उसकी लड़की 'चापा' ने ही अभ्यागत उपक का स्वागत-सत्कार किया। चापा का रूप देखकर उपक मोहित हो गया और उसने वहीं प्रतिज्ञा कर ली कि जबतक इससे मेरा ब्याह नहीं होगा, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा। व्याध-सरदार जब आया, तब उसे सारी बात मालूम हुई। उसने उपक संन्यासी को बहुत समझाया कि साधु बाबा, आप तो संसारत्यागी हैं, इस शादी-ब्याह की झंझट में क्यों

१. इस पुस्तक का पृष्ठ ५६ द्रष्टव्य।

फँसते हैं? पर उपक ने कुछ नहीं सुना। वह अपने हठ पर अड़ा रहा। तब व्याध-सरदार ने कहा—'तुम तो कुछ शिल्प जानते नहीं, गृहस्थी कैसे चलाओगे, ऐसे श्रमहीन को मैं अपनी पुत्री कैसे दे सकता हूँ?' इसपर उपक ने कहा—'जिन पशु-पक्षियों को तुम मारकर लाते हो, उन्हें मैं बाजार में ले जाकर बेच लाऊँगा, हमलोगों की ठाट से गृहस्थी चलेगी।' अन्त में लाचार होकर व्याध-सरदार ने इसे अपनी कन्या दे दी।

बाद में चापा के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'सुभद्र' पड़ा। चापा को यह बराबर खलता था कि मेरा पति धर्म से भ्रष्ट होकर मांस बेचने का काम करता है। वह अपने नन्हें पुत्र को रोने से जब चुप कराती, तब ताना मारकर कहती—'संन्यासी के पुत्र! चुप हो जा, व्याध के पुत्र! चुप हो जा!' अपनी पत्नी के द्वारा बार-बार ऐसा सुनकर उपक के मन में बड़ी ग्लानि हुई। उसने सोचा—'बुद्ध से मेरी भेंट हुई थी, वे मेरे पुराने परिचित हैं। वे सचमुच अब बड़े सिद्ध पुरुष हो गये हैं। मैं उन्हीं की शरण में जाऊँगा।' उसने अपनी पत्नी से अपना निश्चय कहा। पीछे तो चापा ने बहुत प्रयास किया कि मेरा पति भिक्षु न हो; पर उसकी एक न सुनने पर चापा ने भी निश्चय कर लिया कि मैं भी पति का अनुगमन करूँगी और भिक्षुणी हो जाऊँगी। उपक निरंजना नदी के तीर पर भगवान् बुद्ध से (दूसरे मतानुसार श्रावस्ती में) जाकर मिला और बौद्ध भिक्षु हो गया। बुद्ध ने अपने परिचित संन्यासी को देखकर कहा—'इतने दिन तक कहाँ थे?' और बड़े प्यार से उसे उन्होंने प्रव्रजित किया। पति द्वारा बौद्धधर्म ग्रहण कर लेने पर चापा भी अपने पुत्र को उसकी दादी के हवाले करके धर्मग्रहण करने चली गई और भिक्षुणी हो गई। यह भी एक प्रसिद्ध भिक्षुणी हुई, जिसकी गाथा 'थेरी-गाथा' में संगृहीत है।

२१—कंजंगला 'कंजंगल' (संताल परगना)—प्रदेश की रहनेवाली भिक्षुणी थी। जब भगवान् बुद्ध के धर्म का विस्तार हुआ, तब इसकी अवस्था बिलकुल ढल गई थी। यह बौद्धधर्म की पण्डिता थी। यह विधिवत् बौद्ध विद्यार्थियों को धर्म का उपदेश करती थी। एक बार इसने बुद्ध के एकधर्म से लेकर दस धर्मों[1] तक की विशद व्याख्या-सहित शिक्षा देकर उसके तथ्य की जानकारी के लिए उन विद्यार्थियों को बुद्ध के पास भेजा था। उस समय बुद्ध कंजंगल में ही विहार करते थे। बुद्ध ने उसकी पंडिताई को सराहा था।

२२—शुभा राजगृह-निवासी एक सुवर्णकार श्रेष्ठी की कन्या थी। शरीर की सुन्दरता के कारण ही इसका नाम शुभा पड़ा था। देश के बड़े-से-बड़े श्रेष्ठी इसके रूप पर मुग्ध होकर इसे अपनी पत्नी बनाना चाहते थे। पर होनेवाली बात को कोई कैसे मिटा सकता है। एक दिन नगर की अन्य स्त्रियों के साथ शुभा भगवान् बुद्ध का उपदेश सुनने राजगृह के एक विहार में गई। उस दिन के बुद्धोपदेश का इस पर अत्यंत गहरा असर पड़ा और नियमित रूप से उसके बाद यह उपदेश सुनने लगी। कई दिनों के धर्म-श्रवण से इसका चित्त 'स्रोतापन्नफल' में प्रतिष्ठित हो गया। उसके बाद यह महाप्रजापति गौतमी के पास चली गई

१. देखिए—संगीतिपरियायसुत्त (दीघ निकाय)—३,१०

और वहाँ उसके द्वारा बताये गये उद्योगों के अनुसार धर्म-साधना करने लगी। बाद, इसने विधिवत् गौतमी से प्रव्रज्या ले ली। जब यह घर से निकलकर गौतमी के पास गई, तब इसके परिवारवाले और जाति-बिरादरी के और लोग भी इसे समझाने तथा घर लौटा लाने के लिए भिक्षुणी-संघ में गये। किन्तु, इसने अपने जाति-बिरादरीवालों को ऐसा फटकारा कि वे उलटे पाँव लौट आये। संघ में अन्य कई भिक्षुणियों से इसका धर्म-ज्ञान बहुत ऊँचा था। यह जहाँ भी उपदेश करती थी, सांसारिक भोगों और सुखों की धज्जियाँ उड़ाकर छोड़ देती थी।

२३—**शुभा** (द्वितीय) का भी जन्म राजगृह नगर में ही हुआ था; पर यह एक धनाढ्य ब्राह्मण की कन्या थी। इसका भी 'शुभा' नाम इसके भास्वर रूप के चलते ही पड़ा था। इसका भी मन उपदेशों को सुनते-सुनते धर्म-भावना की ओर झुका था। इसने भी गौतमी से प्रव्रज्या ली। इसी के साथ एक लम्पट युवक ने बलात्कार करना चाहा था, जिसके हाथ पर इसने अपनी आँखें ही निकालकर रख दी थीं[1]। यह अंधी होकर लहूलुहान मुखमंडल लिये बुद्ध के सामने गई। करुणा-वत्सल बुद्ध ने अपने योगबल से इसकी आँखों को ठीक करके इसकी आकृति पूर्ववत् कर दी थी। बुद्ध ने धर्म में इसकी ऐसी निष्ठा जानकर ज्ञान में अधिक उन्नति करने के लिए एक विशेष ध्यान का इसे उपदेश किया था। इस ध्यान का विशिष्ट आचरण करके इसने योग और ज्ञान-मार्ग में परम उन्नति की थी।

२४—**सच्चा, लोला, अववादका और पाटाचारा** चारों सगी बहनें थीं। इनके भाई का नाम सच्चक था। ये वैशाली की रहनेवाली थीं। इनके सम्बन्ध में पहले ही कहा गया है[2]। 'विनय' जाननेवाली भिक्षुणियों में पाटाचारा का स्थान मुकुटमणि-सा था।

२५—**अम्बपाली** की कथा बहुत प्रसिद्ध है और इस पुस्तक में भी पहले ही इसके सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा गया है[3]। इसने भी अपनी ढलती आयु में बौद्धधर्म स्वीकार किया था। बुद्ध के जीवन में बिहार-प्रदेश की यह शायद अन्तिम नारी थी, जिसने भिक्षुणी का जीवन अपनाया था। इसका जन्म तो एक उच्चकुल में हुआ था, पर अवैध रूप से जन्म लेने के कारण इसकी माता ने एक आम के बागीचे में इसे फेंक दिया था। यह माली के द्वारा पाली गई और आम्र-वन में मिली, इसलिए इसका नाम अम्बपाली पड़ा था। जब यह युवती हुई, तब इसे पत्नी बनाने के लिए लिच्छवि-कुमारों में होड़ लगी थी। अन्त में इसे नगर-वधू का पेशा अपनाना पड़ा। वज्जि-संघ को परस्पर लड़कर नष्ट हो जाने से बचाये रखने के लिए इसने 'नगर-वधू' का धर्म स्वीकार किया था। वैशाली नगर को जिन वस्तुओं के कारण गर्व था, उनमें एक अम्बपाली वेश्या भी थी। अम्बपाली के ऊपर मगध-सम्राट् बिम्बिसार भी आसक्त था। भगवान् बुद्ध अन्तिम बार जब वैशाली गये, तब इसी के बागीचे में ठहरे और अपने संघ के साथ इसके घर जाकर भोजन किया था। उसके बाद ही इसने बौद्धधर्म स्वीकार किया।

१. देखिए इस पुस्तक का पृष्ठ—१३६
२. देखिए इस पुस्तक के पृष्ठ—६६, ६७ और ८८
३. देखिए पृष्ठ—१३१

अम्बपाली के एक पुत्र भी था, जिसका नाम 'विमल कौण्डिन्य' था। वह अम्बपाली से पहले ही बौद्धधर्म स्वीकार कर भिक्षु हो गया था। लड़के के प्रेम के कारण ही बौद्धधर्म में इसकी श्रद्धा जगी थी। 'थेरीगाथा' में जो गाथा इसके उद्गार के रूप में ग्रथित है, विश्व की गेय गाथाओं में काव्य की दृष्टि से उसका स्थान उच्च है। शान्तरस का परिपाक इस गाथा में जैसा है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

चौथा परिच्छेद

बुद्ध के पश्चात् और मौर्यों के पूर्व

भगवान् बुद्ध का परिनिर्वाण जब 'कुसीनारा' के पास हुआ, तब उस समय और उस जगह उनके प्रधान शिष्य 'महाकाश्यप' नहीं थे। बुद्ध के परिनिर्वाण का समाचार सुनकर उनके शव के दर्शन के लिए महाकाश्यप चले। अपने पाँच सौ भिक्षुओं के संघ के साथ जब वे कुसीनारा के नजदीक पहुँचे, तब बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हुए सात दिन[1] बीत गये थे। इससे सिद्ध होता है कि महाकाश्यप को मगध में निर्वाण का समाचार मिला और वे मगध से कुसीनारा गये। उस दिन कुसीनारा के मल्ल भगवान् के शव का दाह-संस्कार करनेवाले थे; किन्तु भिक्षु अनिरुद्ध ने (जो बुद्ध का स्वजातीय और शाक्यों के राजा 'महानाम' का छोटा भाई था) कहा—"वासिष्ठो! पाँच सौ भिक्षुओं के संघ के साथ[2] आचार्य महाकाश्यप कुसीनारा के बीच रास्ते में आ रहे हैं। जबतक महाकाश्यप भगवान् के चरणों की वन्दना न कर लेंगे, तबतक भगवान् की चिता नहीं जलेगी।" और, हुआ भी ऐसा ही।

चैत्य-निर्माण

उपर्युक्त बातें बतलाती हैं कि बुद्ध-संघ में विहार-प्रदेशवासी महाकाश्यप भिक्षु का कितना बड़ा प्रभाव था! इतना ही नहीं, जिस मगध-सम्राट् अजातशत्रु के प्रति एक दिन भगवान् बुद्ध ने कहा था—'यह पितृहन्ता है, इसका चित्त कलुषित है। उपदेश की बातों को ग्रहण नहीं कर सकता[3]'; उसी अजातशत्रु ने महाकाश्यप के ही प्रभाव से भगवान् बुद्ध की अस्थियों को प्राप्त करने का दावा किया। वे अस्थियाँ बड़ी धूम-धाम से उत्सव-गान कराते सात वर्ष, सात महीने और सात दिनों में कुसीनारा से राजगृह लाई गईं। उनपर इसी अजातशत्रु ने राजगृह में सर्वश्रेष्ठ चैत्य का निर्माण कराया[4]। उस चैत्य-निर्माण का वर्णन जैसा 'अट्ठकथा' में मिलता है, उससे पता चलता है कि अजातशत्रु ने उस कार्य में करोड़ों रुपये व्यय किये थे। 'अट्ठकथा' में यद्यपि चैत्य-निर्माण की कथा अतिशयोक्ति से भरी है, तथापि वह मनोरंजक है एवं अजातशत्रु की बुद्ध-भक्ति विचारणीय है। इसने जमीन को ८० हाथ गहरा खुदवाया और उसमें तमाम लोहे की चादरें बिछवा दीं। चैत्य के बराबर का ताँबे का गृह बनवाकर उसमें धातुओं को रखने के लिए इसने आठ-आठ

१. बुद्धचर्या—पृ० ५४३
२. चुल्लवग्ग—११
३. दीघ निकाय—१,१,२
४. बुद्धचर्या—पृ० ५४७

हरिचन्दन आदि की पिटारियाँ तैयार कराई। भगवान् की धातु को हरिचन्दन की पिटारी में रखवाया। उस पिटारी को दूसरी पिटारी में और इस तरह 'अजातशत्रु' ने एक के बाद दूसरी को आठ पिटारियों में रखवाकर बन्द करवाया। इसके बाद हाथी-दाँत की बनी आठ पिटारियों में एक के बाद दूसरी को बन्द करवाया। फिर अन्तिम हाथी-दाँत की पिटारी को सर्वरत्नमयी आठ पिटारियों में एक के बाद दूसरी पिटारी को रखवाकर बन्द करवाया। इसके बाद पुनः सर्वरत्नमयी पिटारी को आठ सुवर्ण की पिटारियों में उसी तरह रखवाता गया। फिर उस सुवर्ण-पिटारी को आठ चाँदी की बनी पिटारियों में पूर्ववत् ढंग से एक-के-बाद दूसरी में बन्द करवाया। इसी तरह मणियों की बनी आठ पिटारियों में, फिर पद्मराग मणि की बनी आठ, फिर सारगल्ल की आठ, पुनः स्फटिक मणि की आठ पिटारियों में एक के बाद दूसरी पिटारी को बन्द करवाया। इसके बाद सर्वरत्न, सुवर्ण, रजत और ताँबे का गृह बनवाकर मिट्टी और बालू से ढँकवाया। ऊपर चारों ओर मूर्त्तियों को प्रतिष्ठित कराया। उसपर दीप जलाये गये और विभिन्न रंग की ध्वजाएँ फहराई गईं। यह सब अजातशत्रु ने महाकाश्यप की प्रेरणा से ही राजगृह में किया।

बिहार-प्रदेशवासी महाकाश्यप ने ही राजगृह में पाँच सौ भिक्षुओं की प्रथम संगीति कराई थी, जिसमें आये हुए भिक्षुओं के भोजन तथा निवास का प्रबन्ध अजातशत्रु ने कराया था। यह भी इसने महाकाश्यप के ही प्रभाव से किया। भगवान् बुद्ध के विरुद्ध विद्रोह करनेवाले देवदत्त का पक्षपाती अजातशत्रु जिस मगधवासी महाकाश्यप की प्रेरणा से इतना बड़ा बुद्ध-भक्त हो गया, उस महाकाश्यप भिक्षु की महत्ता के सम्बन्ध में विशेष और क्या कहना है!

महाकाश्यप अत्यन्त दूरदर्शी ऋषि थे। उन्हें भगवान् बुद्ध के अन्तिम शिष्य सुभद्र[1] नामक ब्राह्मण की वह बात खटक गई थी, जिसमें उसने कहा था कि 'भिक्षुओ! शोक मत करो। शास्ता मर गया, तो अच्छा हुआ। अब हम जैसा चाहेंगे, करेंगे। जो नहीं चाहेंगे, नहीं करेंगे।' महाकाश्यप ने समझ लिया कि भगवान् की मृत्यु के बाद उनके उपदेश-वचनों को तोड़ा-मरोड़ा जायगा और उनके वचनों के नाम पर अनेक नये और मिथ्या वचन बुद्ध-वचन कहकर प्रचारित किये जायँगे। इसलिए उन्होंने बौद्धधर्म के चुने हुए ५०० भिक्षुओं को राजगृह में बुलाया। इन पाँच सौ भिक्षुओं में बुद्ध के अत्यन्त प्रिय शिष्य आनन्द भी थे। भगवान् बुद्ध ने आनन्द की भक्ति-भावना से प्रसन्न होकर पचीस वर्षों तक अपने साथ रखा था तथा आनन्द मन-कर्म-वचन से बुद्ध की सेवा में रात-दिन तत्पर रहते थे। वे भगवान् बुद्ध के उपस्थापक (निजी सचिव) का काम सँभालते थे। भगवान् बुद्ध पर भक्त आनन्द का भी बहुत बड़ा प्रभाव था। इन्हीं के कहने से स्त्रियों को बुद्ध ने संघ में स्थान दिया था, जिसे बुद्ध स्वयं नहीं चाहते थे। फिर भी,

प्रथम संगीति

१. उपर्युक्त वाक्य कहनेवाला सुभद्र भिक्षु, बुद्ध का अन्तिम शिष्य सुभद्र नहीं था। यह कोई दूसरा सुभद्र था।—'पालि साहित्य का इतिहास' : पृ० ५७ की टि०।

आनन्द ने अर्हत्-पद की प्राप्ति नहीं की थी। ज्ञात होता है कि आनन्द को अर्हत्-पद प्राप्त करने में श्रद्धा नहीं थी। उन्हें अपनी ज्ञान-गरिमा का बहुत बड़ा अभिमान था। पर इस संगीति के अवसर पर महाकाश्यप के प्रभाव के सामने आनन्द की एक न चली और धर्म के इस कट्टर अनुयायी ने उस बैठक में सम्मिलित होने से आनन्द को रोक दिया। महाकाश्यप ने आदेश दिया कि जबतक आनन्द अर्हत्-पद प्राप्त नहीं कर लेंगे, संगीति में सम्मिलित नहीं हो सकेंगे। हाँ, उनके लिए एक स्थान रिक्त रखा जायगा। इतना ही नहीं, उन्होंने आनन्द पर कई दोष भी लगाये। जैसे[1]—'आनन्द' ने भगवान् बुद्ध को बाध्य किया कि—

(१) स्त्रियों को संघ में लिया जाय, जिसके चलते संघ कमजोर हुआ।

(२) इन्होंने भगवान् से परिनिर्वाण के समय यह नहीं पूछा कि कौन-से क्षुद्र नियम नहीं माने जायेंगे।

(३) आनन्द ने निर्वाण प्राप्त करते समय भगवान् से नहीं कहा कि संसार के कल्याण के लिए आप केवल और एक दिन के लिए रुक जायँ।

(४) आनन्द ने भगवान् की वर्षा-साटी को पैरों से दबाकर सिलाई की।

(५) आनन्द ने निर्वाण के समय भगवान् के गुह्यांग को स्त्रियों को दिखाकर उसकी वन्दना कराई और उन स्त्रियों के आँसुओं से भगवान् का शरीर तर-बतर हो गया आदि।

इन आरोपों को आनन्द ने दोष तो नहीं माना; पर संघ के सामने प्रायश्चित्त के रूप में क्षमा-याचना की[2]। इसी तरह संगीति में बैठने के लिए उन्हें अर्हत्-पद प्राप्त करना पड़ा। आनन्द-जैसे ज्ञानी के लिए अर्हत्-पद प्राप्त करना कोई बड़ी चीज नहीं थी और इन्होंने उसी रात को तपस्या कर अर्हत-पद प्राप्त कर लिया। दूसरे दिन अर्हत्त्व प्राप्त कर जब ये संगीति में बैठने के लिए गये और द्वार खुलवाने के लिए महाकाश्यप के पास प्रार्थना-समाचार भिजवाया, तब महाकाश्यप ने कहा—'अर्हत्-पद प्राप्त करनेवाले के लिए द्वार खुलवाने की क्या आवश्यकता है? कहो कि आनन्द विना द्वार खुलवाये चले आयें।' आनन्द की यह भी परीक्षा ही थी। इसके बाद आनन्द ज्योतिर्मार्ग से ही सभा में प्रवेश कर अपने रिक्त स्थान पर जाकर बैठ गये[3]। यह 'संगीति' भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के चार मास बाद राजगृह की सप्तपर्णी गुहा में हुई थी।

आनन्द के सम्मिलित होने से संगीति की संख्या पूर्ण हो गई। जब संगीति पूर्ण हो गई, तब महाकाश्यप ही उस संगीति के आचार्य-पद पर बैठे। महाकाश्यप ने बुद्ध-विनय के सर्वज्ञ 'उपालि'[4] से प्रथम-प्रथम विनय के सम्बन्ध में पूछा। भगवान् बुद्ध ने जहाँ-जहाँ और जिसके

१. विनय-पिटक (अनु० राहुल सांकृत्यायन)—पृ० ५४४
२. तत्रैव—पृ० ५४५
३. महावंस—परि ३, श्लो० २६
४. महावंस—३,१३

सम्बन्ध में, जिस विनय का उपदेश किया था, उन सबके बारे में यथातथ्य उपालि ने संगायन किया और महाकाश्यप संगीति की राय लेकर उन विनयों पर मुहर लगाते गये। प्रथम जिन चार पाराजिकाओं की चर्चा 'चुल्लवग्ग' में उपालि से कराई गई है, वे सभी विहार-प्रदेश की भूमि में और विहारनिवासी भिक्षुओं के सम्बन्ध की हैं। जैसे, प्रथम पाराजिका राजगृह में हुई और वह भी वैशाली-निवासी कलन्दकपुत्र 'सुदिन्न' के कारण। द्वितीय पाराजिका भी राजगृह में हुई, राजगृह के 'धनिय' कुम्भकार भिक्षु के कारण। तृतीय पाराजिका वैशाली में हुई, अनेक भिक्षुओं के कारण। इसी तरह चतुर्थ पाराजिका भी वैशाली में ही हुई, वागमती नदी के तटवासी अनेक भिक्षुओं के कारण। उपालि के द्वारा कहे गये बुद्ध-विनयों को एकत्र करके ही विनय-पिटक व्यवस्थित किया गया है।

विनय के संगायन के बाद महाकाश्यप ने बुद्ध के सूत्रों के सम्बन्ध में आनन्द से पूछा, जिसके माने-जाने विद्वान् आनन्द थे। महाकाश्यप के आदेश पर आनन्द ने सूत्रों का संगायन किया, जिन्हें सुनकर संगीति ने उसकी शुद्धता पर अपनी मुहर लगाई और 'सुत्त-पिटक' ग्रथित हुआ। आनन्द के कथनानुसार ब्रह्मजालसुत्त, सामञ्ञफलसुत्त आदि अनेक सूत्रों का प्रवचन बुद्ध ने विहार की भूमि में ही किया था। इस समय ऐसा आभास स्पष्ट मिलता है कि आनन्द ने चाहा था कि अवसरविशेष के अनुसार बने बुद्ध के छोटे-छोटे नियम छोड़ दिये जायँ; पर महाकाश्यप ने ऐसा नहीं होने दिया। महाकाश्यप का प्रताप उस समय पूर्ण दीप्त था। जब उन्होंने संघ के सामने खड़ा होकर पूछा कि—'भिक्षुओ! बुद्ध के जीवन के बाद, क्या आप उनके छोटे-छोटे नियमों को छोड़ना पसन्द करेंगे?' तब संगीति के भिक्षुओं में से एक की भी हिम्मत न हुई, जो कहे कि हाँ, वे अवसर-विशेष के नियम थे, उन्हें छोड़ देना चाहिए। दूसरे को कौन कहे, स्वयं आनन्द ने भी ऐसा साहस नहीं किया, जिसने छोटे नियमों को छोड़ देने का प्रचार-आन्दोलन खड़ा किया था।

बुद्धघोष की 'समन्त पासादिका' के अनुसार 'अभिधम्म' का संगायन स्वयं महा-काश्यप ने किया, जिसकी शुद्धता पर संगीति ने मुहर लगाई; पर अनेक विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। उनके विचार में अभिधम्म की रचना अशोक के समय में महातिष्य ने की थी।

एक बात विचारणीय है। जिस समय राजगृह में संगीति बैठी थी, उस समय 'पुराण' या 'पुरण' नामक भिक्षुक दक्षिणागिरि में चारिका कर रहा था। वह जब राजगृह में आया, तब संगीति समाप्त हो गई थी और धर्म व्यवस्थित कर दिया गया था। संगीति के अनुसार व्यवस्थित बुद्ध-धर्म पर चलने के लिए जब पुराण से कहा गया, तब उसने स्पष्ट कह दिया कि मैंने तो जैसा भगवान् बुद्ध से सुना है, उसी को ग्रहण करूँगा और उसी के अनुसार धर्मा-चरण करूँगा। संगीति की व्यवस्था के अनुसार नहीं चलूँगा[1]। इससे स्पष्ट पता चलता है कि संगीति में जो धर्म व्यवस्थित हुआ, वह बिलकुल शुद्ध नहीं था और उसमें महाकाश्यप का भी विचार घुसेड़ा गया था। जो हो, किन्तु आज संसार को जो बुद्ध-धर्म उपलब्ध है,

१. देखिए—चुल्लवग्ग–११, २, १

उसके सम्बन्ध में महाकाश्यप ने जो काम किया है, वह सदा अजर-अमर है। राजगृह की यह प्रथम संगीति सात महीनों तक चली[1]। इस संगीति में ५०० भिक्षु एकत्र थे, अतः इसका नाम 'पंचशतिका' है। स्त्रियों को संघ में आने के बाद बुद्ध ने कहा था कि मेरा धर्म ५०० वर्षों से ज्यादा नहीं चलेगा, उसी धर्म को महाकाश्यप ने इस संगीति के द्वारा पाँच हजार वर्षों के लिए स्थायी कर दिया[2]। महाकाश्यप द्वारा स्थापित धर्म का ही नाम 'स्थविरवाद' है, जो बौद्धों के अनेक सम्प्रदायों में सबसे प्राचीन है।

कुछ अन्य घटनाएँ

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद बिहार-प्रदेश की पवित्र भूमि में कुछ ऐसी भी घटनाएँ घटीं, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक है। इन घटनाओं की चर्चा बौद्धग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। 'मज्झिम निकाय' (३।१।८) से पता चलता है कि बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् आयुष्मान् 'आनन्द' राजगृह के वेणुवन कलन्दक निवाप में विहार कर रहे थे। यह बात उस समय की है, जब 'अजातशत्रु' अवन्ती के राजा 'चण्डप्रद्योत' के भय से, राजगृह नगर को सुरक्षित रखने के लिए, उसके चारों ओर पत्थर की चहारदीवारी तैयार करा रहा था। यह हमने पहले ही देखा है कि अजातशत्रु ने 'देवदत्त' के कहने पर गद्दी के लोभ से अपने पिता बिम्बिसार को कैद में डालकर मार दिया था, जिससे क्रुद्ध होकर कोसलराज प्रसेनजित् ने अपनी बहन (बिम्बिसार की पत्नी) के स्नान-चूर्ण के खर्च के लिए दिये गये काशिराज्य को लौटा लिया था और उसके लिए दोनों में लड़ाई चल रही थी। उससे पहले ही अवन्ती की ओर से 'बोधिराज-कुमार' सुंसुमारगिरि (शाहाबाद और मिर्जापुर की पहाड़ी) पर सेना के साथ मगध के विरुद्ध में डटा था, जहाँ भगवान् बुद्ध से उसकी भेंट हुई थी। जब अजातशत्रु कोसल-नरेश से युद्ध में फँस गया, तब अवन्ती की ओर से और भी ज्यादा खतरा वह महसूस करने लगा, जिससे अपने नगर की रक्षा के लिए इस समय चहारदीवारी बनवा रहा था। यह घटना बुद्ध की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद की ज्ञात होती है।

एक दिन आनन्द चारिका करते हुए पास के गाँव में बसनेवाले *गोपक मौद्गल्यायन* नामक ब्राह्मण के द्वार पर गये। गोपक ने आनन्द का यथोचित सेवा-सत्कार किया। बाद, उसने आनन्द से पूछा—'भन्ते! क्या आपके संघ में ऐसा कोई भिक्षु है, जो भगवान् बुद्ध के सम्पूर्ण गुणों से युक्त हो?' आनन्द से शीघ्र ही उत्तर दिया—'नहीं ब्राह्मण! आज ऐसा एक भी भिक्षु नहीं है।' उन्होंने फिर कहा—'भगवान् तो अनुत्पन्न मार्ग के जाननेवाले, अनाख्यात मार्ग के आख्याता, मार्गज्ञ और मार्ग-कोविद थे।' इसी बीच अजातशत्रु का मंत्री वर्षकार किसी काम से गोपक के यहाँ आ गया। उसपर नजर पड़ते ही आनन्द और गोपक के बीच की वार्त्ता भंग हो गई। वार्त्ता-भंग होते देखकर वर्षकार ने पूछा—'आपलोगों ने वार्त्ता क्यों तोड़ दी, क्या विषय था?' इस पर आनन्द ने विषय बतला दिया।

१. महावंस—३, ३७

२. तत्रैव—३, ३८

तब वर्षकार ने प्रश्न किया—'अच्छा, ऐसा कोई भिक्षु है, जिसे बुद्ध ने अपने बाद का मार्ग-दर्शक नियुक्त किया हो?' इसपर भी आनन्द ने कहा—'नहीं, ऐसा भी कोई भिक्षु नहीं है?' वर्षकार ने पुनः दूसरा प्रश्न किया—'तो आनन्द! ऐसा तो कोई भिक्षु जरूर होगा, जिसे आपके संघ ने सर्वश्रेष्ठत्व की मान्यता दी होगी?' आनन्द ने इस प्रश्न का भी नकारात्मक ही उत्तर दिया। गोपक ब्राह्मण को ऐसा सुनकर बड़ा दुःख हुआ। उसने कहा—'तब भिक्षु, बिना किसी अगुआ या आश्रयदाता के आप लोग कैसे उचित मार्ग पर चल रहे हैं?' यद्यपि प्रश्न सीधा चोट करनेवाला था, तथापि आनन्द ने बड़ा ही तर्कपूर्ण और युक्तिसंगत उत्तर दिया। उन्होंने कहा 'हमारा अगुआ और मार्गदर्शक हमारा धर्म है, उसका अनुसरण हम करते हैं।' इस पर वर्षकार ने अपने साथ के सेनापति उपनन्द से पूछा—'तुमने सुना, क्या ये भिक्षु पूजनीय की पूजा करते हैं।' उपनन्द ने तुरत जवाब दिया—'जरूर, ये लोग पूजनीय की ही पूजा करते हैं।' इसके बाद वर्षकार अपने सेनापति के साथ वहाँ से चला गया। 'कलन्दक निवाप' विहार उस समय गोपक मौद्गल्यायन ब्राह्मण की ही देख-रेख में सुरक्षित था और उसकी व्यवस्था का भार गोपक पर ही था, जो उस इलाके का कोई प्रसिद्ध गृहपति था।

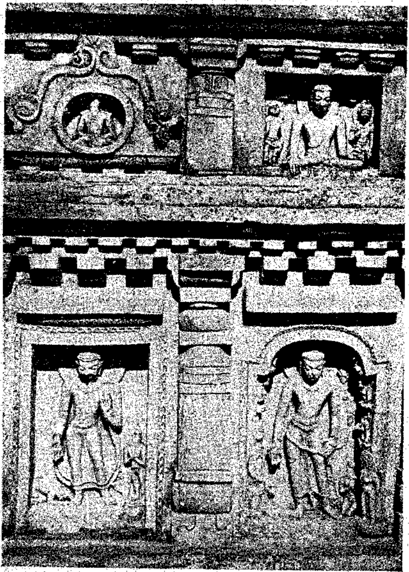
इस वार्त्ता से स्पष्ट है कि आनन्द अपने संघ में किसी को नेता नहीं मानते थे और गोपक तथा वर्षकार की दृष्टि में बुद्ध-संघ के नेता शायद महाकाश्यप थे, जिनकी अजातशत्रु से अच्छी पटरी बैठती थी। साथ ही इससे यह भी पता चलता है कि आनन्द गणतंत्रात्मक राज्य के वायुमण्डल में पले हुए थे, इसलिए उन्हें कोई अगुआ पसन्द नहीं था और वे नियम-कानून के सहारे ही मार्ग पर बढ़नेवाले थे। दूसरी तरफ गोपक और वर्षकार राजतंत्र के वातावरण में रहनेवाले थे, इसलिए बिना अगुआ के किसी संघ की कल्पना ये कर ही नहीं सकते थे। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि उस समय भी बौद्धसंघ में दो गुट अवश्य हो गये थे, जिनमें एक तो नेतृत्व का समर्थक था और दूसरा किसी व्यक्ति का नेतृत्व नहीं मानता था। निश्चित रूप से भिक्षुओं में भी गणतंत्रोपासक शाक्यों का एक गुट था और दूसरा राजतंत्रोपासक मागधों का। इन दोनों गुटों में श्रेष्ठता का संघर्ष जारी था, जिसे हम शीत-संघर्ष कहेंगे।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद राजगृह के इसी 'कलन्दक निवाप वेणुवन' की एक दूसरी कथा भी 'मज्झिम निकाय'[1] में मिलती है, जिसमें 'बकुल' भिक्षु की चर्चा है। उस समय सारे बौद्धसंघ में बकुल-जैसा निष्काम और त्यागी भिक्षु एक भी नहीं था। इनके-जैसा शरीर और मन से स्वस्थ भी कोई नहीं था। ये अपनी उपसंपदा के बाद अस्सी वर्षों तक जीवित रहे, पर उपसंपदा के दिन से मृत्यु की घड़ी तक इन्होंने किसी से भी शारीरिक सेवा नहीं कराई। उपसंपदा के बाद से जीवन-पर्यन्त न तो स्नानगृह में स्नान किया और न कभी, वर्षा ऋतु में भी, किसी गाँव में निवास किया। ये क्षण-भर के लिए भी कभी

१. मज्झिम निकाय—३,३,४



अजातशत्रु द्वारा निर्मित पाषाण-प्राकार
(पृ० १५७)



नालन्दा के प्रधान स्तूप का एक दृश्य

(पृ० २५६)

न बीमार हुए और न इन्होंने औषध के रूप में हर्रे का एक टुकड़ा भी मुँह में दिया। जीवन में कभी खाट पर नहीं सोये और न किसी भिक्षुणी के साथ क्षण-भर के लिए बैठे और न कभी बोले। इन्होंने किसी भी पुरुष या स्त्री को न तो उपसंपदा दी और न शिष्य बनाया। उपसंपदा के अस्सी वर्षों के बाद, सभी भिक्षुओं को इकट्ठा कर सबके बीच में, बैठे-बैठे परलोक गमन किया। ये एक अद्भुत बौद्ध योगी थे। इन्होंने सभी विषय-वासनाओं पर विजय पाई थी।

'कलन्दक निवाप वेणुवन' में इनके साथ घटनेवाली घटना बड़ी ही दिलचस्प है। वकुल के बचपन का एक साथी, जो उस समय संन्यासी हो गया था, 'वकुल' के अन्तिम दिनों में एक दिन इनके पास 'कलन्दक निवाप' में आया। वह नंगा रहा करता था, इसीलिए सभी उसे *अचेल काश्यप* कहा करते थे। उसने बातों के सिलसिले में अपने लँगोटिया मित्र वकुल से पूछा—'आवुस, आपको प्रव्रजित हुए कितने वर्ष हुए?' वकुल ने कहा—'अस्सी वर्ष'। इस पर अचेल काश्यप ने पूछा—"अच्छा आवुस, यह तो बताइए कि इतने वर्षों में आपने कितनी बार मैथुन-कर्म किया?" सहजभाव से वकुल ने कहा—"आवुस, आपको इस तरह नहीं पूछना चाहिए। आपको पूछना चाहिए था कि इतने वर्षों में आपके मन में कितनी बार काम-वासना जगी? किन्तु, मैं आपको बतलाना चाहूँगा कि इन अस्सी वर्षों के भीतर मेरे मन में एक बार भी काम-वासना जगी हो, ऐसा मैं नहीं जानता; और आप तो प्रश्न करते हैं कि कितनी बार मैथुन-कर्म किया?" वकुल की ऐसी बात सुनकर अचेल काश्यप दंग रह गया। इसके बाद उसने दूसरा प्रश्न भी किया—'अच्छा, तो इन अस्सी वर्षों के अन्दर आपके मन में कितनी बार द्वेष-भावना जगी।' वकुल ने कहा—'एक बार भी जगी हो, ऐसा तो मैं नहीं जानता।' इसी तरह उस अचेल संन्यासी ने हिंसा, चोरी आदि के लिए भी प्रश्न किया, उन सबके विषय में वकुल ने वैसा ही उत्तर दिया। इसी 'कलन्दक निवाप' में वकुल ने बाद में स्वेच्छा से परलोक-गमन किया था।

बुद्ध की मृत्यु के बाद की एक और कथा 'मज्झिम निकाय'[१] में मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि अजातशत्रु के राज्य में 'अष्टक' अथवा 'अट्टक' नाम का एक नगर था, जहाँ का एक सेठ एक बार अपने किसी काम से पाटलिपुत्र आया। राज्य के सेठों में इसका दसवाँ स्थान था। पाटलिपुत्र में इसने आनन्द से मिलने की उत्कण्ठा प्रकट की। लोगों ने बतलाया कि आजकल आनन्द वैशाली के वेलुगाँव में हैं। अट्ठकनगर-गृहपति पाटलिपुत्र में अपना कार्य सम्पादन कर वैशाली के 'वेलुग्राम' में गया और वहाँ उसने आनन्द से भेंट की। आनन्द के साथ कई दिन वहाँ ठहरकर उसने बौद्धधर्म के मर्मों को समझा। बाद में उसने पाटलिपुत्र में आकर वैशाली और पाटलिपुत्र के समस्त बौद्ध भिक्षुओं को आमंत्रित किया और उन्हें भोज दिया। भोजनोपरान्त उसने सभी भिक्षुओं को एक-एक धुस्सा (कम्बल) देकर विदाई की थी। आनन्द को उसने तीनों चीवरों को देकर पूर्ण सम्मानित किया था।

---

१. अट्ठकनगर सुत्तन्त—२,१,२

'मज्झिम निकाय'[1] में बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद की एक और कथा मिलती है, जिसका सम्बन्ध पाटलिपुत्र से है। कथा बतलाती है कि 'उदयन' नाम के बौद्ध भिक्षु वाराणसी के 'खेमिय' आम्रवन में ठहरे हुए थे। अंग-देश का घोटमुख नामक ब्राह्मण, जो अपने किसी काम से वाराणसी गया था, उस समय उदयन के पास गया। कुशल-क्षेम के बाद धर्म-चर्चा चली, पर इस धर्म-चर्चा में उदयन ने अपने बौद्धधर्म और ज्ञान का ऐसा सिक्का जमाया कि घोटमुख ब्राह्मण ने घुटने टेक दिये। इसने कहा—'भगवन्, आज से मैं बौद्धधर्म का उपासक हुआ।' यह कथा भी अजातशत्रु के शासन-काल की ही ज्ञात होती है।

घोटमुख ब्राह्मण को अपने देश (अंग-देश, बिहार) के राजा से पाँच सौ कार्षापण का सुवर्ण दान में मिलता था। इसने इच्छा प्रकट की कि महाराज, उस दान के धन में से आप भी एक अंश हम से लें। पर उदयन ने कहा—'ब्राह्मण, हम भिक्षुओं को तो सोना-चाँदी छूना भी मना है, हम आपका दान कैसे लेंगे?' इसपर 'घोटमुख' ने उन पैसों से उनके रहने के लिए एक निवासस्थान बना देना चाहा। इसपर उदयन ने कहा—'ब्राह्मण, यदि तुम्हारी यही इच्छा है, तो तुम पाटलिपुत्र में बौद्ध भिक्षुओं के लिए एक सभागृह का निर्माण करा दो।' घोटमुख राजी हो गया और उसने पाटलिपुत्र के कुक्कुटाराम में एक सभागृह बनवा दिया, जो आज भी *घोटमुखी* के नाम से प्रसिद्ध है[2], ऐसा 'मज्झिम निकाय' में लिखा है।

उस समय का घोटमुखी सभागृह पता नहीं अब कहाँ है; पर इससे इतना तो स्पष्ट है कि यद्यपि अंग-देश अजातशत्रु के राज्य के अन्तर्गत था, तथापि उसकी सत्ता मिटाई नहीं गई थी। उस समय भी अंग में ऐसा राजा था, जो ब्राह्मण को ५०० कार्षापण का सोना नित्य दान में देता था। पता चलता है कि यह जरूर कोई राजा 'कर्ण' का वंशधर होगा, जो दान की महत्ता को कायम रखे हुए था।

लंका के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ महावंस[3] के अनुसार मगध-राज अजातशत्रु की छठीं पीढ़ी में 'कालाशोक' हुआ, जिसे भारतीय इतिहास में कोई-कोई नन्दिवर्द्धन कहते हैं। किंतु भारतीय पुराणों के अनुसार नन्दिवर्द्धन अजातशत्रु की चौथी पीढ़ी में हुआ। यह क्रम इस प्रकार था—अजातशत्रु, दर्शक, उदायी और नन्दिवर्द्धन। नन्दिवर्द्धन ४५८ ई० पूर्व मगध की गद्दी पर बैठा। यह जैनधर्मावलम्बी था[4]। एक बार जब इसने कलिंग को जीता, तब वहाँ से यह महावीर तीर्थंकर की 'जिन-मूर्त्ति' उठा लाया था, जिसे 'खारवेल' ने १८० ई० पूर्व मौर्यराजा 'बृहद्रथ' को हराकर पुनः वापस ले गया। इस 'नन्दिवर्द्धन' के समय में मगध की राजधानी राजगृह से हटकर 'पाटलि-

द्वितीय संगीति

---

१. घोटमुख सुत्तन्त—२,५,४

२. इस कथा से पता चलता है कि 'मज्झिम निकाय' का यह सुत्तन्त अशोक के समय में बना और उसी समय मज्झिम निकाय में जोड़ा गया। —लें०

३. महावंस—चौथा परिच्छेद १-७ तक।

४. बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० ७४।

पुष' में आ गई थी, जिसे अजातशत्रु के लड़के उदायी ने विधिवत् बसाया था। मगध-साम्राज्य के पूर्ण विस्तार के कारण वैशाली अपना वैभव-वैपुल्य खो चुकी थी, फिर भी उसका प्राचीन गौरव अक्षुण्ण था। इसी वैशाली में बौद्धधर्म की आन्तरिक स्थिति में एक झकझोर पैदा हुई, जिसके कारण धर्म ने एक दूसरा मोड़ लिया। यह घटना भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के एक सौ वर्ष बाद, बिहार-प्रदेश के वैशाली नगर में हुई, जो दुनिया में दूसरी संगीति के नाम से प्रसिद्ध है[1] और जो मगधसम्राट् नन्दिवर्द्धन के राज्यारोहण के दसवें वर्ष में घटी[2]।

बात यह हुई कि उस समय अपने प्राचीन गौरव के अनुसार वैशाली बौद्धधर्म का गढ़ बन गई थी। दूर-दूर के बहुत-से भिक्षु उस समय वैशाली में वास करते थे। 'जहाँ ढेर योगी, तहाँ मठ उजार'—इस भोजपुरी कहावत के अनुसार उस समय भिक्षुओं में धर्म के कुछ विषयों पर विवाद छिड़ गया। विवाद के विषय दस थे, जो इस प्रकार हैं—

(१) **शृङ्गीलवण कल्प**—(जानवरों के सींग की खोल में, आवश्यकता पड़ने पर उपयोग के लिए, नमक का संचय किया जाय या नहीं ?)

(२) **द्वि-अंगुल कल्प**—(दिन के दो पहर के बाद, दो अंगुली तक छाया आ जाने पर भोजन करना चाहिए या नहीं ?)

(३) **ग्रामान्तर कल्प**—(भोजन कर लेने पर फिर दूसरे गाँव में जाकर भोजन के लिए भिक्षा माँगी जाय अथवा नहीं ?)

(४) **आवास कल्प**—(एक ही सीमा के अनेक आवासों में रहकर उपोसथ-कर्म किया जाय या नहीं ?)

(५) **अनुमति कल्प**—(एक वर्ग के संघ का इसलिए विनय-कर्म करना, जिससे हमारे वर्ग में पीछे भी जो भिक्षु आ जायँ, उन्हें अनुमति मिल जाय ; ऐसा हो अथवा नहीं ?)

(६) **आचीर्णकल्प**—(मेरे उपाध्याय या आचार्य ने ऐसा किया है, मुझे भी वैसा करना चाहिए, ऐसा हो या नहीं ?)

(७) **अमथित कल्प**—(दूध न तो जमकर दही बना है, और दूध की अवस्था में ही है, ऐसी अवस्था में उसे ग्रहण किया जाय या नहीं ?)

(८) **जलोगिपान**—(जो सुरा अभी ठीक तरह से सुरा नहीं बनी है, उसका पान किया जाय अथवा नहीं ?)

(९) **अदसक निसदन**—(बिना किनारीवाला आसन बिछाया जाय कि नहीं ?)

(१०) **जातरूप कल्प**—(सोना-चाँदी का दान ग्रहण किया जाय या नहीं ?)

वैशाली में इन्हीं उपर्युक्त दस विषयों पर भिक्षुओं के बीच विवाद छिड़ा। वज्जि-संघ के भिक्षु कहते, ये दस विषय विहित हैं और बाहर के भिक्षु कहते, नहीं विहित हैं। विवाद ने संघर्ष का रूप धारण कर लिया।

१. चुल्लवग्ग—१२,१,१
२. महावंस—४,१०

पश्चिम भारत के भिक्षु-संघ के सदस्य काकंडक-पुत्र 'यश' थे, जो उस समय वैशाली में ही थे और जो पश्चिम-संघ के भिक्षुओं के अगुआ थे। भिक्षु-संघ में इनका बड़ा ही प्रभाव था और ये एक ओजस्वी वक्ता थे। इन्होंने वज्जि-संघ के भिक्षुओं के विरोध में प्रचार करना शुरू किया[१]। यश के प्रचार से वज्जि-संघ के भिक्षु घबरा उठे। फल यह हुआ कि वज्जि-संघवाले भिक्षुओं ने बिगड़कर, यश को संघ से बाहर निकालने के लिए, उनके आश्रम को घेर लिया[२]। यश किसी तरह वैशाली से भाग निकले और कौशाम्बी पहुँचे। कौशाम्बी में इन्होंने वज्जि-संघ के भिक्षुओं की मनमानी के विरोध में भाषण किया और उन्हें संघबद्ध किया। विचार हुआ कि सहजाति[३] स्थान में पश्चिम के सारे भिक्षुओं को बुलाया जाय और वज्जि-संघ के भिक्षुओं की अनैतिकता के विरोध में कदम उठाया जाय। यश ने संदेशवाहकों को भेजकर पावा, अवन्ती और दक्षिण के भिक्षुओं को सहजाति में बुलाया और वे स्वयं 'साणवासी सम्भूत' भिक्षु को बुला लाने के लिए 'अहोगंग'[४] पर्वत पर गये तथा 'रेवत' को बुलाने के लिए 'सोरों'[५] भी गये। 'साणवासी सम्भूत' और 'रेवत' ने यश के पक्ष को उचित ठहराया और सभा में सम्मिलित होने के लिए वे सहजाति आये। कौशाम्बी, पावा, अवन्ती और दक्षिण के भिक्षु भी सहजाति में इकट्ठे हुए। सहजाति में जो सभा हुई, उसके अध्यक्ष रेवत चुने गये, जिनका प्रभाव दक्षिण-पश्चिम के भिक्षुओं पर अच्छा था। सभा ने एकमत से निर्णय किया कि पूर्ववाले भिक्षु गलत रास्ते पर धर्म को ले चलना चाहते हैं; पर इसका फैसला पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के भिक्षुओं की सम्मिलित सभा में होना चाहिए और यह सभा चलकर वैशाली में ही हो। हम लोगों को यहाँ बैठकर फैसला करना गलत होगा।

वज्जि-संघ के भिक्षुओं को जब यह मालूम हुआ कि यश हमारे विरोध में जाकर पश्चिम-दक्षिण के भिक्षुओं को भड़का रहे हैं, तब इन्होंने भी पूर्वीय भारत के भिक्षुओं को संघ-बद्ध किया, जिसमें नैपाल आदि जगहों के भी भिक्षु थे। एक तरह से यह झगड़ा पूर्व और पश्चिम भारत के बौद्धसंघों के बीच का हो गया। वैशालीवालों ने इस अवसर पर अपनी विजय के लिए दो षड्यंत्रों के जाल फैलाये। एक तो पश्चिम संघ के नेता रेवत को अपने पक्ष में कर लेना था और दूसरा यह था कि किसी तरह सम्राट् नन्दिवर्द्धन को अपने पक्ष में मिलाकर पश्चिमवालों के विरुद्ध राजनीतिक दबाव डाला जाय। इन्होंने बहुत-से उपहार देकर, गंगा के रास्ते, नाव पर कुछ भिक्षुओं को सहजाति भेजा और घूस देकर रेवत को मिला लेने का प्रयत्न किया! किन्तु रेवत साधारण भिक्षु नहीं थे,

---

१. महावंस—४, १४
२. तत्रैव—४, १६
३. भीटा—(इलाहाबाद)
४. हरद्वार के पास का एक पर्वत।
५. सौरों—(जि० एटा)

जो इनके लोभ में फँस जाते। वैशालीवालों ने मामला बिगड़ता देख एक दूसरी चाल चली। इन्होंने 'रेवत' के शिष्य 'उत्तर' नामक भिक्षु को उपहार का सारा सामान देकर उसे मिला लिया। सोचा, शिष्य के अनुराग से गुरु भी हमारे पक्ष में आ जायँगे। किन्तु, जब रेवत को पता चला कि मेरे शिष्य ने उपहार ग्रहण कर लिया है, तब उत्तर को उन्होंने अपने संघ से निष्कासित कर दिया[1]। वैशालीवालों का यह जाल छिन्न-भिन्न हो गया और वे अपना-सा मुँह लिये लौट आये। इधर इनका दूसरा पाशा तो ठीक बैठा और मगधराज नन्दिवर्द्धन इनके पक्ष में मिल गया। पर बाद, जब नन्दिवर्द्धन को भी यथार्थ स्थिति का ज्ञान हुआ, तब उसने भी वैशालीवालों के पक्ष-ग्रहण करने से अपना हाथ खींच लिया, और तटस्थ हो गया। इस तरह वैशालीवालों का यह दाँव भी उलट गया।

झगड़े को शांत करने के लिए वैशाली में जो यह सभा हुई, उसमें सभी स्थानों से चुने हुए सात सौ भिक्षु सम्मिलित हुए। यह द्वितीय संगीति के नाम से अभिहित होती है। यह वैशाली के 'बालुकाराम विहार' में बैठी थी और इसमें आये अतिथियों के भोजन और शयन का प्रबन्ध वैशाली के 'अजित' नामक एक नवयुवक भिक्षु ने किया था। यह संगीति कालाशोक नन्दिवर्द्धन की संरक्षकता में हुई[2]। इस संगीत में सम्मिलित होनेवाले भिक्षुओं की जो संख्या महावंस में दी गई है, वह अतिशयोक्ति-पूर्ण और कपोल-कल्पित है।

सभा जब बैठी, तब परस्पर के 'तू-तू, मैं-मैं' से और भी विवाद बढ़ चला। इस पर रेवत ने प्रस्ताव किया कि झगड़े को निपटाने का भार इस सभा के द्वारा चुने गये पंचों के ऊपर दे दिया जाय। रेवत के इस प्रस्ताव को सभा ने सहर्ष और सर्वसम्मति से स्वीकृत कर लिया। पंचों का जो चुनाव हुआ, उसमें चार पूर्व के भिक्षु और चार पश्चिम के भिक्षु रखे गये। पूर्व के संघ से जो भिक्षु चुने गये, उनमें थे—आचार्य सर्वकामी, साल्ह, क्षुद्रशोभित और वार्षभग्रामिक तथा पश्चिमी संघ से—रेवत, साणवासी सम्भूत, काकंडकपुत्र यश और सुमन[3]। इन सभी पंचों में महास्थविर सर्वकामी श्रेष्ठ थे, जो वैशाली में १२० वर्षों से रह रहे थे। उस समय पृथ्वी के समस्त बौद्धों में इनसे बड़ा कोई नहीं था[4]। ये आनन्द के शिष्य थे। इसलिए उस संगीति के ये ही अध्यक्ष चुने गये। बिहार-प्रदेश का यह भी एक सौभाग्य ही कहा जायगा कि दूसरी संगीति के नेतृत्व का भार भी यहीं के भिक्षु को मिला। इन आठ भिक्षुओं में महास्थविर सर्वकामी, साल्ह, रेवत, क्षुद्रशोभित, यश और सम्भूत साणवासी—ये तो छह तो आनन्द के शिष्य थे; पर इनमें दो—वार्षभग्रामिक और सुमन 'अनिरुद्ध' के शिष्य थे।

जब इन आठ व्यक्तियों की संगीति बैठी, तब रेवत ने दसों विवादग्रस्त विषयों में से, बारी-बारी से—एक-एक पर, आचार्य सर्वकामी से निश्चय माँगा। सर्वकामी ने एक छठे

१. महावंस—४, १४
२. तत्रैव—४, १६
३. महावंस—४, ४८-५०
४. चुल्लवग्ग—१२, २, ५

(आचीर्ण कल्प) विषय को छोड़कर शेष नौ विषयों को अविहित बतलाया। उस समय स्थविरवाद को शुद्ध करने के विचार से बौद्ध नियमों को दुहराया गया। इस तरह वज्जि-संघ के भिक्षुओं की उस संगीति में हार हो गई।

यह संगीति आठ महीनों तक चली[१]। इसमें सात सौ भिक्षुओं ने भाग लिया, इसलिए इसका नाम 'सप्तशतिका' पड़ा[२]। पंचों के द्वारा निर्मित सिद्धान्त जब बड़ी संगीति में उपस्थित हुआ, तब संघ में स्पष्ट दो दल हो गये। एक में दक्षिण-पश्चिम के भिक्षु और दूसरे में पूर्व भारत के भिक्षु। पहले दल का नाम 'स्थविर सम्प्रदाय' और दूसरे का 'महासंघिक' रखा गया। पूर्वीय दल में पश्चिमीय दल से ज्यादा भिक्षु थे—यानी इसमें दस हजार भिक्षु सम्मिलित थे[३], इसलिए यह दल महासंघिक कहलाया। महासंघिक से ही गोकुलिक और व्यावहारिक निकले। फिर गोकुलिक से प्रज्ञप्तिवादी, बाहुलिक तथा चैत्यवादी हुए। इस तरह महासंघिक में छह सम्प्रदाय हो गये। इधर स्थविरवाद से महिशासक और वात्सिपुत्रीय दो हुए। वात्सिपुत्रीय से धर्मोत्तरीय, भद्रयानिक, छन्दागारिक और सम्मितीय निकले। फिर, महिशासकों से सर्वास्तिवादी और धर्मगुप्तिक आविर्भूत हुए। दूसरी ओर सर्वास्तिवाद से काश्यपीय और काश्यपीय से सांक्रान्तिक तथा सांक्रान्तिक से सुत्तवाद सम्प्रदाय निकला। इस तरह स्थविरवाद में कुल बारह सम्प्रदाय हो गये और महासंघिक के छह—दोनों मिलकर अठारह बन गये। अधिक स्पष्टता के लिए निम्नलिखित तालिका विशेष सहायक होगी—

(१) स्थविरवाद
- (२) महिशासक
  - (८) सर्वास्तिवादी, (९) धर्मगुप्तिक
    - (१०) काश्यपीय
      - (११) सांक्रान्तिक, (१२) सुत्तवादी
- (३) वात्सिपुत्रीय
  - (४) धर्मोत्तरीय, (५) भद्रयानिक, (६) छन्दागारिक, (७) सम्मितीय

(१) महासंघिक
- (२) गोकुलिक, (३) व्यावहारिक
  - (४) प्रज्ञप्तिवादी, (५) बाहुलिक, (६) चैत्यवादी

१. महावंस—५, ६४
२. इमाय खो पन-विनय-सङ्गीतिया सत्त भिक्खुसतानि अनूनानि अनधिकानि अहेसुं।—चुल्लवग्गो, १२,४,२२
३. महावंस—४, ५५

वैशाली में होनेवाली इस द्वितीय संगीति के कारण ही उपर्युक्त दल बने, जिनसे बौद्धधर्म में इतने सम्प्रदाय बन गये। एक स्थविरवाद से ही ये सभी प्रकट हुए। इन्हीं की आधारशिला पर बौद्धधर्म में अनेक ज्ञान-विज्ञान तथा सुदृढ दर्शनों का गढ़ कायम हुआ, जिसके निर्माण में देश के बड़े-बड़े उद्भट विद्वानों ने अपना जीवन लगाया।

पाँचवाँ परिच्छेद

मौर्यकाल में बौद्धधर्म का विकास

नन्दिवर्द्धन के बाद मगध का सम्राट् महानन्दी और उसके बाद महापद्म हुआ। इसकी सेना की संख्या 'पद्म' की गिनती तक पहुँची थी अथवा इसके खजाने में पद्म संख्या तक मुद्राएँ सुरक्षित रहती थीं, इसलिए इसका नाम 'महापद्म' पड़ा था, कुछ विद्वानों का ऐसा कहना है। मगध के इस प्रतापी सम्राट् का दबदबा समस्त भारत में फैला था। किन्तु जैन अनुश्रुतियों के अनुसार यह क्षत्रिय नहीं था, नाई द्वारा उत्पन्न वेश्यापुत्र था[1]। किन्तु 'विष्णुपुराण' के अनुसार महानन्दी के द्वारा यह शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। यह परशुराम की तरह क्षत्रियों के लिए कराल काल था और सर्वतंत्र स्वतंत्र एकराट् था[2]। अपने ब्राह्मण-मंत्री 'चाणक्य' की सहायता से चन्द्रगुप्त मौर्य ने ऐसे प्रतापी महापद्म अथवा उसके वंश का समूल नाश कर मगध की गद्दी छीन ली। इसी मौर्य चन्द्रगुप्त की तीसरी पीढ़ी में 'अशोक' नामक सम्राट् हुआ, जो संसार के धर्म-सम्राटों में अद्वितीय माना गया है। किन्तु, बौद्धधर्म ग्रहण करने के पहले 'महावंस' ने इसे क्रूरकर्मा बतलाया है।

सम्राट् अशोक

अशोक के पिता का नाम 'बिन्दुसार' और माता का नाम 'सुभद्रांगी' अथवा 'धर्मा' था। सुभद्रांगी चम्पानगर (भागलपुर) के एक ब्राह्मण की रूपवती कन्या थी। किन्तु 'धर्मा' के सम्बन्ध में लिखा है कि वह मौर्यवंश की थी। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के विचारानुसार तो 'चाणक्य' बिन्दुसार के समय तक मंत्रित्व का भार वहन करता था[3]। जो हो, बिन्दुसार की मृत्यु २७६ ई० पूर्व हुई और 'अशोक' २७२ ई० पूर्व मगध की गद्दी पर बैठा[4]। किन्तु, भगवतशरण उपाध्याय ने २७२ ई० पूर्व बिन्दुसार की मृत्यु और २६८ या २६९ ई० पूर्व अशोक का राज्यारोहण माना है। पर दोनों मतों में पिता की मृत्यु के बाद पुत्र का राज्यारोहण चार वर्ष बाद हुआ, ऐतिहासिकों की ऐसी ही मान्यता है। अपने पिता की जीवितावस्था में अशोक उज्जैन का शासक था। लंका के इतिहास-ग्रन्थ 'महावंस' के

१. प्राचीन भारत का इतिहास (भगवतशरण उपाध्याय)—पृ० १०७

२. महानन्दिनस्ततः शूद्रागर्भोद्भवोऽतिबलो महापद्मनामा नन्दः परशुराम इवापरोऽखिलक्षत्रान्तकारी भविष्यति। स चैकच्छत्रामनुलङ्घितशासनो महापद्मोऽवनीं भोक्ष्यति—विष्णुपुराण : ४,२४, १९-२१

३. पाटलिपुत्र की कथा—पृ० १२१

४. प्राचीन भारत (श्रीगंगाप्रसाद मेहता, सन् १९४८ ई० का संस्करण)—पृ० १३६

अनुसार इसने अपने ९९ भाइयों को मारकर मगध की गद्दी ली थी[1]। किन्तु बाद के इतिहासकारों ने इसे गलत बतलाया है। फिर भी, लंकावाली अतिशयोक्ति में सच्चाई का कुछ अंश तो जरूर मालूम पड़ता है; क्योंकि अपने पिता के मरने के चार वर्ष बाद अशोक का राज्यारोहण होता है। इस अवधि में यह निश्चित रूप से गद्दी के लिए अपने भाइयों से संघर्ष-रत रहा होगा[2]। बिन्दुसार के बड़े पुत्र का नाम 'सुषीम' अथवा सुमन था[3], जो इसका शायद सौतेला भाई और कश्मीर का शासक था। बिन्दुसार की मृत्यु के समय सुषीम पाटलिपुत्र से बहुत दूर कश्मीर में ही था और अशोक उज्जैन में। पिता की मृत्यु का समाचार पाते ही अशोक ने उज्जैन से जल्दी ही आकर मगध की गद्दी ले ली। जब सुषीम को यह घटना मालूम हुई, तब वह भी पाटलिपुत्र पहुँचा और गद्दी के लिए युद्ध करता हुआ अशोक के द्वारा मारा गया। निश्चय है कि सुषीम के पक्ष लेनेवाले उसके और भाई इस युद्ध में मारे गये होंगे अथवा मध्य एसिया की ओर भाग गये होंगे। इस तरह चार वर्षों के बाद झगड़े से मुक्त होकर अशोक राजगद्दी पर सम्राट् बन बैठा।

अशोक के पूर्वजों ने मगध-साम्राज्य को इतना सुदृढ तथा इसकी सीमा को इतना विस्तृत कर लिया था कि अशोक को इसके लिए कोई विशेष चिन्ता करने की जरूरत नहीं थी। किन्तु अशोक के राज्य में बंगाल और अश्मक (आन्ध्र) के बीच कलिंग स्वतंत्र था, जो मौर्य साम्राज्य के लिए एक खटका बना हुआ था। उस कलिंग को अपने अधीन करने के लिए अशोक ने उस पर चढ़ाई कर दी। दोनों ओर से घनघोर युद्ध हुआ। अन्त में भारी नर-संहार कराकर कलिंग ने घुटने टेके। इस युद्ध में डेढ़ लाख कलिंग-निवासियों को मगध की सेना ने बन्दी बनाया, एक लाख के लगभग कलिंगवासी घायल होकर पंगु बन गये और उनका जीवन नष्ट हो गया। एक लाख से भी ज्यादा मार डाले गये[4]। यद्यपि अशोक की विजय हुई थी, तथापि इस भीषण नर-संहार से उसका कलेजा दहल उठा। उसने प्रतिज्ञा कर ली कि आगे से युद्ध नहीं करूँगा और उसके हृदय में जीवों के प्रति करुणा की भावना जागरित हुई तथा अहिंसाव्रती बौद्धों की ओर उसका झुकाव हुआ। इसके अतिरिक्त भी एक और ऐसी घटना घटी, जिससे अशोक ने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया।

अशोक का धर्म-प्रवेश

यह पहले कहा गया है कि अशोक के बड़े भाई का नाम सुषीम था, जो राज्य के लिए

---

१. महावंस—परि० ५, श्लोक २०

२. डॉ० वासुदेव उपाध्याय (पटना-विश्वविद्यालय) का मत है कि बिन्दुसार की मृत्यु के बाद अशोक के राज्याभिषेक में जो चार वर्ष का समय लगा, उसका कारण यह था कि वह २४ वर्ष की उम्र तक नहीं पहुँच सका था और अभिषेक उस समय इससे कम आयुवालों का नहीं होता था। ऐसा उस समय का धार्मिक विधान था।—ले०

३. महावंस, परि० ५, श्लो० ३८

४. अशोक की धर्म-लिपियाँ—पृ०१६१

५. महावंस—५,४३

लड़ाई करता हुआ अशोक के द्वारा मारा गया था। जिस समय सुषीम मारा गया उस समय उसकी विधवा पत्नी 'सुमना' गर्भवती थी। पति के मारे जाने पर उसने एक चाण्डाल के घर जाकर शरण ली और अपनी तथा अपने गर्भ की रक्षा की। वहीं सुमना ने समय पूरा होने पर पुत्र-प्रसव किया। इस पुत्र का नाम उसने 'न्यग्रोध' रखा। कुछ बड़ा होने पर यह बालक बौद्ध भिक्षु बन गया। 'महावरुण' नामक स्थविर ने न्यग्रोध को दीक्षा दी थी।

एक दिन भिक्षु न्यग्रोध भिक्षाटन करता हुआ अशोक के राजप्रासाद के पास से जा रहा था कि अपने प्रासाद-कक्ष से उसपर सम्राट् अशोक की दृष्टि पड़ी। यद्यपि अशोक को उस भिक्षु का किसी तरह का परिचय प्राप्त नहीं था, तथापि उसकी सौम्य आकृति तथा शांत-गंभीर प्रकृति को देखकर सम्राट् मुग्ध हो गया और उसने उसे अपने निकट बुलवाया। पता नहीं, किस स्नेह के कारण अशोक ने उसे राज्य-सिंहासन पर बैठने के लिए कहा। महावंस (पाँचवाँ परिच्छेद) कहता है कि न्यग्रोध सहज भाव से और निर्विकार चित्त होकर सम्राट् के कहते ही उस सिंहासन पर जाकर बैठ गया। सम्राट् को भिक्षु की इस निर्भयता से अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उसने बाद में भिक्षु न्यग्रोध की परीक्षा के लिए कुछ प्रश्न भी किये। अशोक के प्रश्नों के उत्तर में न्यग्रोध ने अप्पमाद वग्ग[1] का उपदेश किया। कहते हैं कि भिक्षु के उपदेशों की अशोक के हृदय पर ऐसी गहरी छाप पड़ी कि वहीं अशोक ने अपने को शील[2] तथा शरण[3] में प्रतिष्ठित करने के लिए न्यग्रोध से प्रार्थना की तथा भिक्षु ने अशोक को शील और शरण में प्रतिष्ठित भी किया। कलिंग के नर-संहार के बाद यह एक दूसरी घटना थी, जिससे अशोक बौद्धधर्म की ओर उन्मुख हुआ।

अशोक के बौद्धधर्म के प्रति ऐसे उत्कट प्रेम में एक तीसरा संयोग भी था और वह था—सम्राट् के गुरु मोग्गलिपुत्र तिष्य का सान्निध्य। मोग्गलिपुत्र तिष्य भी सारिपुत्त-महामौद्गल्यायन एवं महाकाश्यप की तरह ही ब्राह्मण-पुत्र थे। उन्हीं लोगों की तरह ये सभी धर्मों और दर्शनों के प्रगाढ़ विद्वान् थे। सम्राट् अशोक के सम्पूर्ण धर्म-पराक्रम तिष्य के प्रभाव तथा प्रेरणा के ही परिणाम हैं। सच पूछिए, तो बौद्धधर्म को स्थायी रूप देने में प्रथम संगीति के आचार्य 'महाकाश्यप' का ही सारा श्रेय है; पर संसार में बौद्धधर्म का झंडा उड़ाने में तो इसी मोग्गलिपुत्र तिष्य का हाथ है, जिसका साधन सम्राट् अशोक था।

मोग्गलिपुत्र तिष्य

तिष्य का जन्म पाटलिपुत्र नगर के एक ब्राह्मण-गृह में हुआ था। कुछ विद्वानों की राय में इनके पिता का नाम 'मोग्गलि' था और कुछ की राय में 'मोग्गलि' इनकी माता का नाम था। ब्राह्मण-पुत्र तिष्य अपनी अठारह वर्ष की आयु में ही तीनों वेदों के पारंगत विद्वान हो गये थे। वेदों के अतिरिक्त इन्होंने दूसरे शास्त्रों का भी गम्भीर अध्ययन किया था

१. धम्मपद का द्वितीय वर्ग।

२. शील पाँच हैं-अहिंसा, अस्तेय, काम-मिथ्याचार का त्याग, सत्य और मादक पदार्थों का त्याग।

३. शरण तीन हैं—बुद्ध-शरण, धर्म-शरण और संघ-शरण।

जिस समय मोग्गलि-पुत्र तिष्य ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे थे, उस समय 'सिग्गव' नामक बौद्ध स्थविर सात वर्षों से तिष्य के घर पिण्डपात के लिए आया करते थे। सिग्गव का इतने दिनों से निरन्तर पिण्डपात के लिए तिष्य के यहाँ आने में एक ही कारण था कि तिष्य-जैसे प्रतिभाशाली छात्र को बौद्धधर्म में लाया जाय। सिग्गव परिचय-प्रभाव की प्रगाढ़ता तथा अनुकूल अवसर की ही ताक लगाये चुप थे। एक दिन वह अवसर आ ही गया। तिष्य विद्याध्ययन के लिए अपने गुरु के घर गये थे। ऐसा जानकर ही सिग्गव उनके घर आये। अकस्मात् तथा अनवसर बौद्धभिक्षु की उपस्थित हो जाने पर तिष्य के पिता ने जल्दी में, तिष्य का ही आसन 'सिग्गव' के लिए बैठने को दे दिया। सिग्गव उसी आसन पर बैठकर तिष्य के पिता से बातचीत करने लगे। इसी बीच तिष्य घर आ गये। कहते हैं कि अपने आसन पर बैठे बौद्ध भिक्षु को देखकर तिष्य का चेहरा तमतमा आया, जिसे सिग्गव ने अच्छी तरह भाँप लिया। 'सिग्गव' ने अनुकूल अवसर देखकर तिष्य से पूछा—'क्या तुम शास्त्र जानते हो?' तिष्य ने भी सिग्गव से ऐसा ही प्रश्न किया। इसपर स्थविर सिग्गव ने कहा—'हाँ, मैं तो शास्त्र जानता हूँ।' सिग्गव का इतना कहना था कि तमतमाये तिष्य ने तुरत वेद-मंत्रों की व्याख्या पूछ दी। किन्तु, सिग्गव साधारण भिक्षु तो थे नहीं, उन्होंने उन मंत्रों की सुन्दर और विस्तृत व्याख्या कर दी।

सिग्गव स्वयं वेदज्ञ थे और पाटलिपुत्र के किसी ब्राह्मण-अमात्य के पुत्र थे। ब्राह्मण-ग्रंथ का अध्ययन कर लेने के बाद उन्होंने बुद्ध-धर्म में प्रव्रज्या ली थी।

तिष्य के प्रश्नों के उत्तर दे लेने के बाद सिग्गव ने तिष्य से अभिधर्मपिटक के 'चित्तयमक' प्रकरण की कुछ बातें पूछीं, जिनका उत्तर तिष्य नहीं दे सके। सिग्गव के अपार ज्ञान को देखकर तिष्य ने उनसे शिक्षा लेने की प्रार्थना की, जिसे सिग्गव ने स्वीकार कर लिया और तिष्य को शिष्य बनाया। तिष्य ने सिग्गव के अतिरिक्त पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध दूसरे भिक्षु 'चण्डवज्जि' से बौद्धधर्म-ग्रन्थों की भी शिक्षा ली। चण्डवज्जि भी पाटलिपुत्र के एक ब्राह्मण-अमात्य के ही पुत्र थे और सिग्गव के साथी थे। दोनों ने साथ-साथ ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। यह सारी कथा 'महावंस' के पाँचवें परिच्छेद में मिलती है। उसके अनुसार अशोक तक की शिष्य-परम्परा क्रमशः इस तरह थी—(१) बुद्ध, (२) उपालि, (३) दासक (वैशाली-निवासी), (४) सोणक (काशी-निवासी), (५) सिग्गव और चण्डवज्जि, (६) मोग्गलिपुत्र तिष्य और (७) अशोक।

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है कि 'ललितविस्तर' और 'महावस्तु' नामक दोनों बौद्धग्रंथ अशोक के गुरु का नाम 'उपगुप्त' बतलाते हैं। किन्तु, यह नितान्त भ्रामक है। उपगुप्त को आनन्द के शिष्य 'माध्यन्दिन' का शिष्य कहा गया है। इसके अतिरिक्त साणक-वासी का शिष्य भी उन्हें कहा गया है। साथ ही यह भी कहा जाता है कि उपगुप्त सर्वास्तिवादी सिद्धान्त के उन्नायकों में से थे। किन्तु, ये सारी बातें ऐतिहासिक पद्धति तथा अशोक के विचारों के प्रतिकूल हैं। आनन्द से लगभग २५० वर्ष बाद सम्राट् अशोक हुए, इसलिए

आनन्द के प्रशिष्य उपगुप्त अशोक के गुरु नहीं हो सकते। इसी तरह यदि वे साणकवासी के भी शिष्य थे, तब भी अशोक के गुरु नहीं हो सकते; क्योंकि साणकवासी का अस्तित्व हम दूसरी संगीति के समय देखते हैं, जो नन्दिवर्द्धन के समय में हुई थी और जो अशोक से लगभग १५० वर्ष पहले हुई थी। इसी तरह अशोक के संरक्षण में होनेवाली तीसरी संगीति के अवसर पर हम देखते हैं कि अशोक ने संघ से सारे सर्वास्तिवादियों को निकाल दिया था, तब भला कैसे समझा जाय कि सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के उन्नायक उपगुप्त अशोक के गुरु थे।

मोग्गलिपुत्र के शिष्यत्व ग्रहण कर लेने पर अपने गुरु से अशोक ने पूछा—'भगवन्, बुद्ध-उपदेशों की संख्या कितनी है?' इसपर तिष्य ने कहा—'चौरासी हजार।' अशोक ने तब इसी संख्या के आधार पर चौरासी हजार बौद्ध विहार बनवाये, जो कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण लगता है। यद्यपि पुरातत्त्ववेत्ताओं की राय में मौर्यकाल में बुद्ध की मूर्त्ति नहीं बनती थी, तथापि कहा गया है कि अशोक ने 'नागराज महाकाल' से बुद्ध की मूर्त्ति भी बनवाई थी। उपर्युक्त विहारों में ही पाटलिपुत्र के 'अशोकाराम' और 'कुक्कुटाराम' विहार भी थे, जिनका निर्माण 'इन्द्रगुप्त' नामक व्यक्ति की देख-रेख में हुआ था। अशोक की बौद्धधर्म में ऐसी निष्ठा जगी कि अपने साथ सारे परिवार को बौद्धधर्म में उसने प्रव्रजित कराया। अशोक के सहोदर भाई तिष्य, 'महाधर्मरक्षित' स्थविर से प्रव्रजित हुए थे। अशोक का भानजा अग्निब्रह्मा भी, जो अशोक की पुत्री 'संघमित्रा' का पति था, तिष्य के साथ ही प्रव्रजित हुआ। इन दोनों की प्रव्रज्या अशोक के राज्यारोहण के चौथे वर्ष में हुई, ऐसा 'महावंस' कहता है। किन्तु, यह यथार्थ नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि राज्यारोहण के आठवें वर्ष में कलिंग-विजय हुई थी। उसके पहले अशोक तथा उसके परिवार का बौद्धधर्म ग्रहण करना युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ता।

अशोक की धर्मनिष्ठा

बाद, अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा ने भी त्रिशरण में प्रतिष्ठित होकर प्रव्रज्या ले ली। महेन्द्र ने 'महादेव' नामक स्थविर से प्रव्रज्या ली और उपाध्याय का कार्य स्वयं मोग्गलिपुत्र तिष्य ने किया। इस अवसर पर 'माध्यमिक' स्थविर ने 'कर्मवाचा' पढ़ी थी। इसी तरह संघमित्रा की आचार्या 'आयुपाला' हुई थी और उपाध्याय का कर्म प्रसिद्ध भिक्षुणी धर्मपाला ने किया था।

सम्राट् अशोक ने जहाँ अपनेको और अपने परिवार को बौद्धधर्म में प्रतिष्ठित करके उसे राजधर्म बनाया, जिससे सर्वसाधारण जनता की अभिरुचि इस धर्म की ओर प्रवृत्त हुई, वहाँ इसने बौद्धधर्म के विकास के लिए राज के खजाने को भी धर्म-कार्य में लगाया। दान के नाम पर खजाने का भी उपयोग इसने बौद्धधर्म के विकास में खूब किया। दान देने में और भिक्षुओं को भोजन कराने में अपनी उदारता के कारण ही यह 'अनाथपिण्डक'[१] की तरह दायक कहलाने लगा। पाटलिपुत्र के विहारों में हजारों-हजार भिक्षु भोजन पाते और चैन का जीवन बिताते थे। उन्हें चीवर भी भरपूर मिलता और आवास के लिए तो विहार बन ही गये थे। फल यह हुआ कि

तृतीय संगीति

भोजन आदि के लोभ से अनेक दूसरे धर्म के लोग भी सिर मुड़ाकर बौद्ध भिक्षु बन गये। ऐसे भिक्षुओं की संख्या हजारों तक पहुँच गई। संघ में हजारों नकली भिक्षुओं के आ जाने से धर्म की दुर्दशा होने लगी। इस तरह भोजनभट्ट भिक्षुओं के द्वारा 'विनय' की अवहेलना देखकर 'मोग्गलिपुत्र तिष्य' को बहुत दुःख हुआ और उन्होंने सम्राट् के दान का दुरुपयोग होते देखकर उसे दान करने से रोकना चाहा। पर धर्मोन्मादी सम्राट् अपने दायकत्व के अहंभाव को नहीं छोड़ सका। अन्त में दुःखी होकर मोग्गलिपुत्र तिष्य ने पाटलिपुत्र छोड़ दिया, और वे 'अहोगंग'[1] पर्वत पर चले गये।

कुछ दिनों बाद पाटलिपुत्र के विहार में कुछ धर्मनिष्ठ बौद्धों और नकली बौद्धों में झगड़ा खड़ा हो गया। झगड़ा ऐसा बढ़ा कि संघ में उपोसथ-कर्म तक बन्द हो गया और चार वर्षों तक बन्द रहा। बात यह हुई कि सभी भिक्षु एक साथ मिलकर 'उपोसथ' करने को राजी नहीं होते थे और एक विहार में बौद्ध नियम के अनुसार उपोसथ-कर्म अलग-अलग हो नहीं सकता था। ऐसा करना विहित नहीं है। यह बात सम्राट् तक पहुँची। सम्राट् अशोक ने भिक्षुओं के झगड़े को शान्त करने के लिए 'अशोकाराम विहार' में अपने एक अमात्य को भेजा। उस बेवकूफ अमात्य ने झगड़ा शान्त होते न देखकर जबरदस्ती उनसे उपोसथ-कर्म कराना चाहा। पर जब उसने देखा कि राजभय से भी ये भिक्षु नहीं डरते, तब उसने क्रोध में आकर कई भिक्षुओं के सिर काट डाले[2]। वह ऐसा क्रोधोन्मादी हो गया था कि तबतक वह भिक्षुओं का संहार करता रहा, जबतक अशोक का छोटा भाई 'तिष्य', जो बौद्ध भिक्षु हो गया था, उस हत्यारे के सामने आकर बैठ न गया। तिष्य ने सामने आकर कहा—'अब तुम जब हमारा सिर काट लोगे, तभी किसी का काट सकते हो।' सामने तिष्य को देखकर उस अमात्य का क्रोध शान्त हुआ।

इस अप्रत्याशित दुर्घटना का समाचार जब सम्राट् अशोक को मालूम हुआ, तब वह माथा पीटकर रह गया। इस हत्या-जनित पाप की शान्ति के लिए तथा संघ के झगड़े को शान्त करने के निमित्त अशोक ने 'अहोगंग' पर्वत पर, मोग्गलिपुत्र तिष्य को बुला लाने के लिए, आदमी भेजा। मोग्गलिपुत्र ने आने से इनकार कर दिया। आदमी जब लौट आया, तब सम्राट् ने अनेक प्रार्थनाओं के साथ फिर मोग्गलिपुत्र के पास राज्य के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति को भेजा। दूसरी बार मोग्गलिपुत्र ने आना स्वीकार कर लिया। जब 'अहोगंग' से गंगा के मार्ग द्वारा नाव पर तिष्य आये, तब गंगा के घाट पर स्वयं सम्राट् आया और गर्दन-भर पानी में जाकर अति सत्कारपूर्वक, हाथ पकड़कर, मोग्गलिपुत्र को उसने नाव से उतारा। पाटलिपुत्र में आकर मोग्गलिपुत्र ने संघ को शुद्ध करने के लिए सम्राट् के साथ मंत्रणा की और नकली भिक्षुओं को संघ से निष्कासित करने को कहा, जिसे अशोक ने मान लिया।

मोग्गलिपुत्र तिष्य ने अशोकाराम में इसके लिए एक बहुत बड़ी सभा की, जिसे

१. इस पुस्तक के पृ० १६२ की टिप्पणी द्रष्टव्य।
२. महावंस—५, २४०

तृतीय संगीति कहते हैं। इस संगीति में सम्राट् स्वयं उपस्थित था। इस संगीति की चर्चा प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में नहीं मिलती है; पर लंका के इतिहास-ग्रन्थ 'महावंस' में प्राप्त होती है। उसके अनुसार इस तृतीय संगीति में चुने हुए दस हजार भिक्षु सम्मिलित हुए थे और यह संगीति नौ महीनों में सम्पन्न हुई थी। अशोक ने मोग्गलिपुत्र की आज्ञा से 'शाश्वतवादियों' और 'आत्मानन्दिकों' को (जो थेरवाद के सिद्धान्त और उसके विनय को नहीं मानते थे) संघ से बाहर करके उसे शुद्ध किया। किन्तु जो भिक्षु बाहर निकाले गये, वे कुछ थोड़े नहीं थे, उनकी संख्या ६० हजार थी। ये भिक्षु पाटलिपुत्र से जाकर 'नालन्दा' में जमे और तभी से नालन्दा सर्वास्तिवादियों का गढ़ बना[1]। ये सर्वास्तिवादी नालन्दा से ही दक्षिण में गये और वहाँ से कश्मीर, मध्य-एसिया तथा चीन में फैले। एक शाखा मथुरा में भी यहीं से गई। तृतीय संगीति में मोग्गलिपुत्र ने 'कथावत्थु' की रचना की[2], जो बौद्ध ग्रन्थों में अत्यन्त मान्य एवं 'अभिधम्म' ग्रन्थ है।

अशोक ने अपने गुरु मोग्गलिपुत्र तिष्य की प्रेरणा और धर्म-श्रद्धा से बौद्ध तीर्थों का भ्रमण किया। इसने अनेक बौद्ध तीर्थों तथा अन्य स्थानों में भी धर्म के स्मारक-स्वरूप अनेक स्तूप बनवाये, स्तम्भ खड़े कराये एवं शिला-लेख लिखवाये। इन अनेक स्मारकों में से कई को चीनी यात्री फाहियान ने (पाँचवीं सदी में) और ह्वेनसांग ने (सातवीं सदी में) भी देखा था। अशोक के शिला-लेख और स्तम्भ-लेख हमारे प्राचीन इतिहास तथा सम्राट् की महत्ता के जीवित साक्ष्य हैं।

अशोक के अन्य धर्मोद्योग

अशोक के पितामह तथा पिता (चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार) ने विजय का प्रयाण कर मौर्य साम्राज्य का भरपूर विस्तार किया था; पर अशोक ने विहार-यात्रा, मृगया-यात्रा तथा विजय-यात्रा का निषेध कर धर्म-यात्रा का विधान किया था[3]। इन धर्म-यात्राओं में अशोक युद्ध-प्रयाण की तरह, बड़ी ही शान-बान से, सम्राट् की यात्रा के अनुरूप, प्रयाण करता था। साथ में बड़े सामन्तों, विशालकाय हाथियों, घोड़ों तथा भिक्षुओं का झुंड होता था। रनिवास भी साथ में चलता था। निश्चय रूप से सम्राट् ने धर्म-यात्रा की प्रेरणा भगवान् बुद्ध की चारिकाओं से ली थी, जिनमें बुद्ध के साथ भिक्षुओं का झुंड होता था।

सम्राट् अशोक की धर्म-यात्राएँ २४९ ई० पूर्व, राज्याभिषेक के बीसवें वर्ष में, आरम्भ हुई थीं। मोग्गलिपुत्र तिष्य की प्रेरणा से सम्राट् अशोक प्रथम-प्रथम भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान लुम्बिनी गया। पर कुछ विद्वानों की ऐसी भी राय है कि अशोक सर्वप्रथम 'बोधगया' गया था। लुम्बिनी में अशोक ने धर्म के स्मारक-स्वरूप एक स्तम्भ की स्थापना कराई, जिसपर

---

१. बुद्धचर्या, भूमिका-भाग—पृ० २

२. अभिधम्म पिटक का मुख्य ग्रन्थ।

३. अतिकातं अंतरं राजानो विहारयातां नयासु एत मगव्या अञानि च एतारिसानि अभिरमकानि अहुंसु सो देवानं पियो पियदसि राजा दसवसभिसितो संतो अयाय संबोधि तेनेसा धंमयाता एत यं होति.........।—८ वाँ प्रज्ञापन, गिरनार-शिलालेख।

यह वाक्य खुदवाया—*हिद बुधे जाते साक्यमुनिति, हिद भगवं जातेति लुमिनी गामे।* अर्थात्, इस लुम्बिनी ग्राम में शाक्यमुनि भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। सम्राट् अशोक धर्मयात्रा करता हुआ लुम्बिनी से 'कपिलवस्तु' गया। बाद में श्रावस्ती, सारनाथ, कुशीनारा बोधगया होता हुआ पाटलिपुत्र लौटा। निश्चित है कि इन तीर्थों के भ्रमण के सिलसिले में अन्य अनेक बुद्ध-भूमियों में सम्राट् अशोक गया, और सब जगह उसने स्तम्भ गड़वाकर उनपर लेख खुदवाये थे। इन स्थानों के अशोक-स्तम्भों का उल्लेख करते हुए 'ह्वेनसांग' ने और जगहों के स्तम्भों का भी बयान लिखा है। उसने तक्षशिला में भी अशोक के बनवाये तीन बड़े स्तूपों का वर्णन किया है, जो सौ-सौ फुट ऊँचे थे। 'नगरहार' (कन्दहार) के स्तूप के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि वह तीन सौ फुट ऊँचा बना था। इनके अतिरिक्त उसने मथुरा, थानेश्वर, कन्नौज, अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, श्रीनगर, कपिलवस्तु, कुशीनारा, काशी, सारनाथ, मसाढ़ (शाहाबाद), आटवी, वैशाली, श्वेतपुर (हाजीपुर), राजगृह, गया, हिरण्यपर्वत, ताम्रलिप्ति, महाराष्ट्र आदि जगहों के स्तूपों के सम्बन्ध में भी वर्णन किया है। उसने कहा है कि ये सभी स्तूप और स्तम्भ अशोक के द्वारा बनवाये गये थे। उसने पाटलिपुत्र के सम्बन्ध में भी लिखा है कि यहाँ सैकड़ों संघाराम और विहार थे, जिनमें से मेरे समय तक दो बचे हुए हैं। वह लिखता है'—"नगर के उत्तर भाग में एक स्तम्भ है, जहाँ अशोक राजा का फाटक बना था। उस जगह से दक्षिण दिशा में एक स्तूप है और उसके पास ही एक विहार है, जिसमें भगवान् बुद्ध का पदचिह्न था। यह एक फुट आठ इंच लम्बा तथा छह इंच चौड़ा था। इसमें चक्र, कमल, स्वस्तिका आदि के चिह्न बने थे। उस विहार के उत्तर भी एक स्तम्भ है, जिस पर लिखा है—'अशोक ने तीन बार समस्त जम्बूद्वीप को बुद्धधर्म तथा संघ को दान दिया है।' राजधानी से दक्षिण-पूर्व में कुक्कुटाराम विहार है। उसी जगह अशोक श्रमणों को चतुर्विध दान देता था।"

भगवान् बुद्ध के समय में बौद्धधर्म का प्रचार मगध, अंग, वज्जि, मल्ल, कोसल, वत्स तथा अवन्तिराज्य तक ही सीमित रहा। भगवान् बुद्ध की शिष्य-मंडली की वास्तविक संख्या १२५० से ऊपर नहीं गई। किन्तु, सम्राट् अशोक ने बौद्धधर्म को अन्तर-राष्ट्रीय धर्म बनाया और भारत में राष्ट्र-धर्म बनाकर संसार के गौरव-गिरि के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित किया। बौद्धधर्म को यदि अशोक-जैसा सम्राट् नहीं मिला होता, तो संसार में ऐसा गौरव इसे प्राप्त होता कि नहीं, यह कहना कठिन है। बौद्धधर्म के लिए अशोक ने कितना बड़ा और विस्तृत कार्य किया, उसका लेखा-जोखा करना किसी लेखक के लिए असंभव है।

सम्राट् अशोक के राज्य-विस्तार की सीमा कहाँ तक थी, इसपर उसने स्वयं प्रकाश डाला है। उसके द्वारा लिखवाये गये शिलालेख के दूसरे प्रज्ञापन में, उसके विजित प्रदेशों तथा प्रत्यन्त देशों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है[२]। इस लेख में उसने प्रत्यन्त देशों में चोड़

१. युयेनच्वांग (जगन्मोहन वर्मा)—पृ० १४३

२. सर्वत्त विजितम्हि देवानं पियस पियदसिनो राञो एवमपि ··· चंतेसु यथा चोडा पाडा सतियपुतो

(चोल, जिसकी राजधानी 'त्रिचनापल्ली' के पास 'उडैयूर' थी), पाण्ड (मदुरा), सत्यपुत्र (सत्यव्रत-मण्डल = कांजीवरम्), केरलपुत्र (मलाबार), ताम्रपर्णी (सिंहल), अन्तियोक (सिरिया-बैक्ट्रिया), और इसके सामन्त-राज्यों[1] को गिनाया है। शेष भारत के सभी राज्य अशोक के अधीन अथवा करद थे। इन सभी प्रदेशों में अशोक ने एक से अधिक बौद्ध विहार बनवाये, धर्म-लेख खुदवाये, स्तम्भ गड़वाये और धर्म-प्रचार के लिए विद्वानों को नियुक्त किया। किन्तु, ये सभी उद्योग गुरु 'तिष्य' के योजनानुसार हुए थे, इस बात का स्मरण रखना चाहिए।

अशोक के धर्मोद्योगों की चर्चा उसके धर्मलेखों के अतिरिक्त लंका के इतिहास-ग्रंथ 'दीपवंस' तथा 'महावंस' के द्वादश परिच्छेद में विस्तार से मिलता है। उन ग्रन्थों के उल्लेख के अनुसार मोग्गलिपुत्त तिष्य ने तृतीय संगीति समाप्त कर लेने पर प्रत्यन्त देशों में धर्म की स्थापना के लिए, कार्त्तिक-पूर्णिमा को, निम्नांकित स्थानों में, जिन विद्वानों को भेजा था, उनके नाम इस प्रकार हैं —

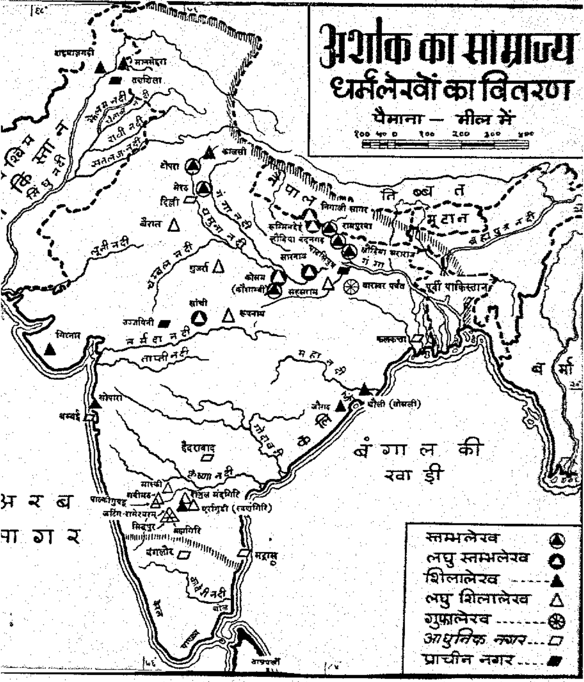
१. कश्मीर और गंधार में··· ··· स्थविर माध्यमिक
२. महिष्मंडल में··· (आधुनिक खानदेश, नर्मदा से दक्षिण) स्थविर महादेव
३ वनवास में··· (मैसूर के उत्तरी भाग) स्थविररक्षित
४. अपरांत में··· (बंबई से सूरत तक) यवनधर्मरक्षित
५. महाराष्ट्र में··· ··· महाधर्मरक्षित
६. यवन (बैक्ट्रिया) में··· ··· महारक्षित
७ हिमालय-प्रदेश में··· ··· मज्झिम
८. सुवर्ण-भूमि (बर्मा) में··· ··· स्थविर सोण और उत्तर
९. सिंहल द्वीप में···इट्टिय, उत्तीय, सम्बल और भद्रशाल के साथ महेन्द्र ; बाद में संघमित्रा[2]।

इन कार्यों के अतिरिक्त अशोक के धर्म-शिलालेख भी हिमालय से मैसूर तक और पश्चिम में काठियावाड़ से पूर्व में उड़ीसा तक के पहाड़ों की चट्टानों पर विभिन्न भाषाओं में खुदे हैं। इतिहासकारों ने तिथिक्रम के अनुसार इन अभिलेखों को आठ भागों[3] में विभक्त किया है, जो इस प्रकार है—(१) लघु शिला-लेख, (२) भाब्रू-शिलालेख, (३) चतुर्दश शिला-लेख, (४) कलिंग-लेख, (५) गुहाभिलेख, (६) तराई स्तम्भ-लेख, (७) प्रधान स्तम्भ-लेख और (८) गौण स्तम्भ-लेख।

केतलपुतो आतं पंणि अंतियको योनराजा ये वापि तस्स अंतियकस सामीप राजानो सर्वत्त देवानं पियस पियदसिनो राञो द्वे चिकीछ कता—गिरनार-शिलालेख।

—अशोक की धर्मलिपियाँ (म० म० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा)—पृ० १५-१६

1. अन्तियोक के अधीन राज्य—(१) तुरमय, (२) अंतिकिन, (३) मग और (४) अलिकसुन्दर।
2. संघमित्रा के धर्मप्रयाण का दृश्य 'अजन्ता' की एक गुफा में भी उत्कीर्ण है।—ले०
3. आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ् इंडिया (विंसेंट स्मिथ)—पृ० १०३-१०४


अशोक का साम्राज्य
धर्मलेखों का वितरण
पैमाना — मील में
स्तम्भलेख
लघु स्तम्भलेख
शिलालेख
लघु शिलालेख
गुफालेख
आधुनिक नगर
प्राचीन नगर
मानसेहरा
तक्षशिला
कालसी
टोपरा
मेरठ
दिल्ली
बैराट
गुर्जरा
साँची
रूपनाथ
उज्जयिनी
गिरनार
सहसराम
बाराबर पर्वत
सारनाथ
रामपुरवा
निगाली सागर
कलकत्ता
धौली (तोसली)
जौगढ़
सोपारा
बम्बई
हैदराबाद
मास्की
मद्रास
बंगलौर
सिद्धपुर
ब्रह्मगिरि
नर्मदा नदी
ताप्ती नदी
गंगा नदी
यमुना नदी
चम्बल नदी
लूनी नदी
सतलज नदी
रावी नदी
कृष्णा नदी
तिब्बत
भूटान
पूर्वी पाकिस्तान
बंगाल की खाड़ी
अरब सागर

(पृ० १७३ और १७४)

१—लघु शिला-लेख बारह हैं—(क) सिद्धपुर (मैसूर); (ख) ब्रह्मगिरि—मैसूर में ही; (ग) जतिंग रामेश्वर—मैसूर में ही; (घ) मास्की—रायचूर जिला (मध्यप्रदेश); (च) रूपनाथ (जब्बलपुर); (छ) वैराट (जयपुर-राज्य), (ज) सासाराम (शाहाबाद जिला, बिहार); (झ) गुर्जरा (दतिया); (ट) राजुल (मंदगिरि); (ठ) येरागुडी (कर्नूल); (ड) गवीमठ (रायचूर) और (ढ) पाल्कीगुण्डु (रायचूर)। गुर्जरा और मास्कीवाले लेख पर अशोक का नाम भी खुदा है। अन्य लेखों में कहीं नाम नहीं है।

२—भाब्रू-शिलालेख वैराट (जयपुर) में ही प्राप्त हुआ है।

३—चतुर्दश शिला-लेख, प्रधान शिला-लेख के नाम से प्रसिद्ध हैं और जो लगभग २५६ ई० पूर्व लिखे गये हैं। इनमें चौदह प्रज्ञापन होने के कारण ये चतुर्दश शिला-लेख कहलाते हैं। ये निम्नलिखित स्थानों में मिलते हैं—(क) कालसी (देहरादून के पास); (ख) गिरनार (जूनागढ़,[1] काठियावाड़); (ग) सहबाज-गढ़ी (पेशावर की युसुफजई तहसील); (घ) मानसेरा (अबटाबाद, हजारा); (च) येरागुडी (कर्नूल, मद्रास); (छ) सोपारा (बंबई, थाना जिला); (ज) धौली (उड़ीसा) तथा (झ) जौगढ़ (गंजाम, उड़ीसा)। इनमें प्रथम पाँच स्थानों में चौदहों शिला-लेख प्राप्त हुए हैं। सोपारा में केवल अष्टम और नवम अभिलेखों के कुछ अंश मिले हैं। धौली और जौगढ़ में प्रथम से दशम शिला-लेख तथा चौदहवाँ अभिलेख मिलते हैं। इनमें एकादश, द्वादश और त्रयोदश अभिलेख नहीं हैं। येरागुडीवाले अभिलेखों का पता १९२८-२९ ई० में लगा है, जो सबसे पहले लिखे गये थे।

४—कलिंग-लेख भी दो हैं—जो धौली की प्रधान लेखोंवाली शिला पर ही खुदे हैं। ये भी २५६ ई० पूर्व के ही हैं।

५—गुहाभिलेख तीन हैं। तीनों बिहार-प्रदेश के गया जिले के 'बराबर' पहाड़ी की गुफाओं में उत्कीर्ण हैं। इनका समय २५७ ई० पूर्व से २५० ई० पूर्व है।

६—तराई स्तम्भ-लेख भी दो प्राप्त हुए हैं। ये नैपाल की तराई-स्थित 'रुम्मिनी देई' और 'निलिवा' ग्राम में हैं। इनका समय २४९ ई० पूर्व माना गया है।

७—प्रधान स्तम्भ-लेख सात हैं, जो छह स्थानों में स्थित हैं। इनकी खुदाई का समय २४३-२४२ ई० पूर्व है। सातों इस प्रकार से हैं—(क) अम्बाले के पास 'टोपरा' नामक स्थान में और (ख) मेरठ में। इन दोनों को 'फिरोजशाह तुगलक' उन स्थानों से उठवाकर दिल्ली में लाया था, जो आज भी दिल्ली में ही हैं। (ग) प्रयाग का स्तम्भ, जो पहले कौशाम्बी में था, उसे भी फिरोजशाह तुगलक ने ही कौशाम्बी से प्रयाग में मँगाया होगा, ऐसा अनुमान है। इसी स्तम्भ पर दो लेख अशोक ने खुदवाये थे। (घ) लौरिया अरेराज, (च) लौरिया नन्दनगढ़ तथा (छ) रामपुरवा। ये तीनों स्तम्भ तथा इनपर के तीनों अभिलेख

---

१. इसी जगह पर चन्द्रगुप्त मौर्य ने 'सुदर्शन' नामक झील, अपने पश्चिमी प्रदेश के राज्याधिकारी पुष्यगुप्त की देख-रेख में, खुदवाई थी, जहाँ से अशोक ने सिंचाई के लिए नहर निकलवाई थी।—ले०

बिहार-प्रान्त के चम्पारन जिले में हैं। इस तरह इन छह स्थानों में—छह स्तम्भों पर—सात स्तम्भ-लेख अशोक के मिलते हैं।

८—गौण स्तम्भाभिलेख चार हैं। एक साँची में है और दूसरा सारनाथ (बनारस) में। ये गौण लेख प्रयाग के स्तम्भ पर भी हैं, जो पीछे खोदे गये हैं। इनका समय २४२ ई० पूर्व से २३२ ई० पूर्व माना गया है।

उपर्युक्त आठ प्रकार के अभिलेखों में तीसरा प्रकार चतुर्दश शिला-लेख का है। ये अशोक के प्रधान शिला-लेख के नाम से अभिहित होते हैं, जिनमें चौदह प्रज्ञापन हैं। प्रथम प्रज्ञापन में पशुओं का वध निषिद्ध है, जिससे अहिंसा-धर्म का बोध होता है। दूसरे में मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सा के प्रबन्ध करने का उल्लेख है, जो अशोक के दयाशील हृदय का सूचक है। तीसरे में, हर पाँचवें वर्ष, बड़ी धूम-धाम से धार्मिक कृत्य का विधान है, जिसके द्वारा त्रिरत्नों में से धर्म-रत्न में प्रतिष्ठित होने का अनुराग प्रकट होता है। चौथे में धर्म का बखान है, जिसमें जीवदया, ब्राह्मण-श्रमण-सत्कार और माता-पिता के प्रति भक्ति प्रकट करने का संदेश है। पाँचवें प्रज्ञापन में सम्राट् ने जिन धर्ममहामात्रों तथा उपदेशकों को नियत किया है, उसका वर्णन है। छठे में सर्वसाधारण लोगों तथा समाज में सुधार के लिए जो आचार-शिक्षक नियुक्त हुए थे, उनकी चर्चा है। ये सभी शील को प्रतिष्ठित करते हैं। सातवें प्रज्ञापन में सब के लिए धार्मिक अप्रतिरोध प्रकट किया गया है, जिससे बौद्धधर्म के विस्तार के लिए सम्राट् की आकुलता प्रकट होती है। आठवें में प्राचीन समय से प्रचलित आखेट आदि की निंदा की गई है और उसके स्थान पर धार्मिक यात्रा को स्थापित किया गया है। नवें में धार्मिक शिक्षा तथा सदुपदेश की चर्चा है। दसवें में सत्यधर्म के प्रचार तथा सत्यवीरता की प्रशंसा है। ग्यारहवें में सभी दानों से श्रेष्ठ 'धार्मिक शिक्षा-दान' को बतलाया गया है। बारहवें प्रज्ञापन में सार्वजनिक वैभव की तरह, आचार के प्रभाव से अन्य धर्मवालों को अपने धर्म में सम्मिलित करने की बात है। तेरहवें में कलिंग-विजय के साथ सीमाप्रान्तों का उल्लेख है, जहाँ अशोक ने बौद्धधर्म के उपदेशक भेजे थे। इसी तरह चौदहवें प्रज्ञापन में उपर्युक्त सभी लेखों का सारांश है और सूचना के उद्देश्य के सम्बन्ध में चर्चा है।

अभिलेखों के सम्बन्ध में यह छोटी-सी व्याख्या से स्पष्ट किया गया है कि लोगों में ऐसा भ्रम नहीं रहे कि अशोक सामान्य मानव-धर्म का उन्नायक था, केवल बौद्धधर्म का नहीं। अभिलेख खुदवाने का बहुत-कुछ तात्पर्य भी स्पष्ट किया गया है। सम्राट् ने तो अपने शिला-लेखों के उद्देश्य के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—'इतिहास की चिरस्थिति के लिए इस धर्मलिपि को खुदवाया [१]।' इन सभी लेखों में बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्तों के आधार पर ही कार्यरूप का प्रज्ञापन है तथा पंचशील[२] का इनमें निरूपण है। इसलिए आप देखेंगे कि

१. धंमलिपि लेखापिता किंति चिरं तिस्टेय—गिरनार-शिलालेख।

२. प्राणातिपात-विरति, अदत्तादान-विरति, कामभिथ्याचार-विरति, मृषावाद-विरति और सुरामैरेय-पान-प्रमादस्थान-विरति—ये पंचशील हैं, जिन्हें प्रव्रज्या के समय भिक्षु अपनाते थे।—ले०

अशोक के द्वारा लिखवाये अभिलेखों में अहिंसा, मृगया तथा विहार-यात्रा के निषेध गुरु-जनों की सेवा-शुश्रूषा, धार्मिक सहिष्णुता, दान-कर्म के प्रतिपादन, धर्म-मंगल के उपदेश, सत्कीर्त्ति के बखान, आदर्श राजा, अपनी राजनीति, शासन-पद्धति, पांथशालाओं, चिकित्सा तथा औषधालय के प्रबन्ध, धर्म महामात्रों की नियुक्ति, तीर्थाटन आदि की ही प्रधानता है। धर्म के प्रति ऐसा उद्योग करनेवाला सम्राट् इतिहास में दुर्लभ है, जिसने सम्पूर्ण देश में तथा पड़ोसी देशों में भी पांथशालाओं, औषधालयों[1] एवं यातायात का निर्माण कराया हो। सम्राट् का हृदय केवल मनुष्य-जाति के प्रति ही दया-द्रवित नहीं था, बल्कि उसने पशुओं तथा पक्षियों पर भी दया करके चिकित्सालय का प्रबन्ध कराया था।

अशोक के बौद्ध धर्मानुयायी होने का प्रमाण

कुछ विदेशी विद्वानों का कहना है कि अशोक ने धर्म के जो कार्य किये, वे बौद्ध धर्मानुयायी होने के कारण नहीं। वे सभी मानव-धर्म थे और वस्तुतः हिन्दू-धर्म के अंग थे तथा अन्य धर्मों की तरह सम्राट् अशोक बौद्धधर्म का भी संरक्षक-मात्र था। सभी धर्मों पर उसका समान प्रेम था। अशोक वस्तुतः मानवधर्मोपासक था। इस तरह कहने-वालों में 'जेम्स फ्लीट' जैसे पुरातत्त्वविद् भी हैं। किन्तु अशोक के धर्म-प्रेम का स्पष्ट चित्र हमें भाब्रू-शिलालेख[2] में मिल जाता है, जिससे पता चलता है कि वह बौद्धधर्मानुयायी था। इस शिलालेख में बौद्धधर्म के त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म और संघ) का तथा बौद्धधर्म के अन्य सात प्रसंगों का उल्लेख प्राप्त होता है। इस बात के स्पष्टीकरण के लिए इन सात प्रसंगों की संक्षिप्त चर्चा यहाँ आवश्यक है।

शिला-लेख में जिन सात प्रसंगों का उल्लेख मिलता है, वे बौद्धधर्म के सात सूत्र हैं। इन सात सूत्रों का संदेश अशोक ने राजपुताने के भिक्षु-संघ के लिए भिजवाया था। वे सात संदेश ही भाब्रू-शिलालेख के रूप में उत्कीर्ण हैं। सूत्रों का रूप इस प्रकार है—

विनयसमुकसे, अलियवसानि, अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेय्यसुत्ते, उपतिसपसिने, राहुलोवादे। इन सात सूत्रों के लिए अशोक ने लिखवाया—'इन सूत्रों के सम्बन्ध में भदन्त। मेरी इच्छा यह है कि बहुत-से भिक्षु और भिक्षुणियाँ इन्हें बार-बार सुनें और कण्ठस्थ करें। इसी प्रकार उपासक तथा उपासिकाएँ भी आचरण करें[3]।' अब हम स्पष्टीकरण के लिए उपर्युक्त सातों सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) *विनयसमुकसे* का अर्थ है—विनय-समुत्कर्ष, जिसे धर्मचक्र-प्रवर्त्तन भी कहते हैं। यह बुद्ध के द्वारा ऋषिपत्तन (सारनाथ) में पंचवर्गीय भिक्षुओं के लिए उपदिष्ट हुआ था। इसमें चार आर्यसत्य और अष्टांगिक मार्ग का उपदेश है। अशोक ने इन्हीं के आचरण के लिए 'विनयसमुकसे' का संदेश भिजवाया था।

---

१. राजो द्वे चिकीछ कता मनुस चिकीछा च पसु चिकीछा च ओसुढानि च यानि मनुसो पगमानि पसोपगतानि च··। —गिरनार-लेख (द्वितीय प्रज्ञापन)

२. भगवता बुधेन भासिते सबे से सुभासिते—भाब्रू-शिलालेख।

३. भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कोसम्बी)—पृ० १२०

(२) *अलियवसानि* का अर्थ है—अरियवंस सुत्त। यह 'अंगुत्तर निकाय' के 'चतुक्कनिपात' में वर्णित है। इसमें उन चार आर्यवंशों का प्रसंग है, जो सदा संतुष्ट और प्रविविक्त थे। उन्हीं सन्तुष्ट और प्रविविक्तों की तरह भिक्षुओं को सदा संतुष्ट और प्रविविक्त रहने का संदेश अशोक ने खुदवाया।

(३) *अनागतभयानि*—यह भी 'अंगुत्तर निकाय' के 'पंचकनिपात' में है। इन पाँच आनेवाले भयों (बुढ़ापा, रोग, दुर्भिक्ष, विप्लव और संघ-भेद) से भिक्षुओं को सदा सतर्क रहने के लिए कहा गया है।

(४) *मुनिगाथा*—यह 'सुत्तनिपात' का 'मुनिसुत्त' है, जो बारहवाँ सुत्त है और इसमें पन्द्रह गाथाएँ (श्लोक) हैं। इन गाथाओं में प्रथम और अन्तिम को छोड़कर तेरह गाथाओं में मुनि की परिभाषा कही गई है। इन्हीं परिभाषाओं के अनुसार भिक्षुओं को आचरण करने के लिए अशोक ने कहा है।

(५) *मोनेय्यसुते*—इसका भी वर्णन 'सुत्तनिपात' में 'नालकसुत्त' के नाम से आया है। कथा में वर्णन है कि 'असित' ऋषि के भानजे 'नालक' ने भगवान् बुद्ध से प्रव्रजितों के लिए धर्म पूछा है। उसके उत्तर में भगवान् बुद्ध ने जो उपदेश दिया है, उसमें क्रोध, स्त्री, हिंसा, लोभ, अधिक भोजन, समाज-संगम, सम्भाषण आदि से बचने लिए कहा है। इसके साथ ही 'मोनेय्य'[१] धर्म (मौन-धारण) की महिमा का बखान है। बुद्ध द्वारा दिये गये इन उपदेशों को भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों को आचरण करने के लिए अशोक ने कहा है।

(६) *उपतिसपसिने* का तात्पर्य है—उपतिष्य (सारिपुत्र) के 'पसिन' (प्रश्नों) के भगवान् बुद्ध ने जो उत्तर दिये हैं, उनके अनुसार आचरण करना। यह भी 'सुत्तनिपात' के 'सारिपुत्त-सुत्त' में आया है। यह 'सुत्तनिपात' का ५४वाँ सुत्त है और इसमें इक्कीस गाथाएँ (श्लोक) हैं, जिनमें प्रथम आठ सारिपुत्र के प्रश्न-रूप में हैं और शेष बुद्ध के उत्तर हैं। इनमें भिक्षुओं के लिए एकांत-सेवन, निर्भयता, उच्छेदन तथा आत्म-चिन्तन-मनन का उपदेश है। प्रविविक्त चित्त की महिमा का उल्लेख इसमें भी मिलता है।

(७) *राहुलोवादे*—इसकी चर्चा 'मज्झिम निकाय' में प्राप्त होती है। इसमें भिक्षुओं के लिए हँसी-मजाक का वर्जन किया गया है। इसके अतिरिक्त सत्य की महिमा गाई गई है और कायिक, वाचिक तथा मानसिक कार्यों में शुद्धता एवं एकरूपता बरतने को कहा गया है, जिसके आचरण के लिए अशोक का विशेष आग्रह था।

इस तरह हमने देखा कि बुद्ध के इन सात धर्म-सूत्रों का उल्लेख सम्राट् ने अपने भाब्र-शिलालेख में कराया है। इससे स्पष्ट है कि अशोक बौद्ध-धर्मानुयायी था और बौद्ध-धर्म के ही प्रचार में व्यस्त था, जिसके एकमात्र उत्प्रेरक मोग्गलिपुत्र तिष्य थे।

शीलनिष्ठ सम्राट् अशोक का चरित्र अत्यन्त उदात्त एवं धर्मपरायण था। उसको कुल, वैभव तथा अधिकार का मद तो छू तक नहीं गया था। संसार में ऐसा निरभिमान सम्राट्

१. एकत्तं मोन-मक्खातं—सुत्तनिपात, ३७, ४०

एक भी उपलब्ध नहीं होता है। असत्य-प्रतिपादन तथा बौद्धों के साथ असहिष्णुता दिखानेवाले के प्रति अशोक को अत्यन्त दुःख होता था। बौद्धों के प्रति अशोक की कितनी निष्ठा थी, इसका एक उदाहरण 'दिव्यावदान' की एक कथा से प्रकट होता है। कथा में लिखा है कि अशोक का भाई 'वीताशोक' था। उसने किसी बौद्ध भिक्षु पर असंयमी तथा मर्यादा-हीन होने का दोष मढ़ दिया। सम्राट् अशोक को अपने भाई की दुष्टता का जब समाचार मिला, तब उसने एक षड्यंत्र रचा और उस षड्यंत्र के चक्कर में पड़कर वीताशोक एक दिन सिंहासन पर बैठ गया। उसी समय अशोक ने पदार्पण किया और वीताशोक पर सिंहासन-अपहरण का दोष लगाया। दोष साबित हो गया और वीताशोक को सिंहासनापहरण के अपराध में फाँसी की सजा दी गई। फाँसी की तिथि भी एक सप्ताह बाद निश्चित कर दी गई। इस बीच अशोक वीताशोक के पास अनेक प्रकार के उपभोग के सामान भेजता रहा; जिसकी ओर वीताशोक की जरा भी अभिरुचि नहीं रहती थी। सांसारिक उपभोगों की ओर भाई की वितृष्णा की बात सुनकर एक दिन अशोक उसके पास गया और बड़े प्यार से बोला—'देखो जी, तुम्हारी ही तरह कोई भी बौद्ध, जिसे मृत्यु और जन्म का भय है, सांसारिक भोगों और ऐश्वर्यों में नहीं फँस सकता।' वीताशोक ने अपनी करनी पर पश्चात्ताप प्रकट किया और अशोक ने उसे मुक्त कर दिया। बौद्धों के प्रति कितना उत्कट प्रेम सम्राट् के हृदय में था, इससे बहुत-कुछ अनुमान किया जा सकता है।

अशोक का व्यक्तित्व

अशोक ने अहिंसा, मैत्री तथा सेवा का जो मार्ग प्रशस्त किया, उसपर चलकर अनेक राजा लब्धकीर्त्ति हुए। इतना बड़ा धर्म-प्रचारक और प्रजा-वत्सल अधिपति इतिहास में ढूँढने पर भी नहीं मिलता है। इसके लिए अपनी ओर से कुछ नहीं लिखकर अशोक के शिला-लेख की ही कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत कर देना उचित होगा। शिला-लेख का हिन्दी-रूपान्तर म० म० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने किया है, जिसका सार इस प्रकार है—

"मैं खाता होऊँ, अन्तःपुर में होऊँ या शयनागार में—प्रतिवेदक लोग प्रजा-कार्य मुझे सर्वत्र सूचित करें, मैं सब समय प्रजा का कार्य करूँगा। जो कुछ आज्ञा मैं जबानी दूँ या अमात्यों को आत्ययिक कार्य सौंपूँ, उस सम्बन्ध में विवाद या एतराज मुझे सूचित किया जाय। कितना ही उद्योग करूँ, कार्य में लगा रहूँ, मुझे संतोष नहीं होता। सब प्राणियों का हित करना ही मैंने अपना कर्त्तव्य माना है और उसका मूल है—उद्योग और कार्य-तत्परता। ...लोगों के लिए काम करने के अतिरिक्त, मेरा अपना कोई काम नहीं है। जो कुछ प्रक्रम मैं करता हूँ ...इसलिए कि जीवों के ऋण से उऋण होऊँ। ...बिना उत्कट प्रक्रम के यह दुष्कर है[1]।"

इन पंक्तियों के हर वाक्य पर ध्यान दीजिए और अशोक-जैसे सम्राट् के उदार व्यक्तित्व का मूल्य आँकिए। सचमुच ऐसा सम्राट् पृथ्वी पर दुर्लभ रहा है।

---

१. अशोक की धर्मलिपियाँ—पृ० ६९,७० और ७१

सिंहली बौद्ध ग्रन्थों में अशोक का नाम 'धर्माशोक' मिलता है। अशोक के कल्याण का पात्र मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्र था। वह प्राणिमात्र के दुःख से द्रवित होता था। वह संसार के जीवों को दुःख से छुटकारा दिलाने का प्रयास करता था, जिसके लिए भगवान् बुद्ध ने उद्योग आरम्भ किया था। अशोक की यह उत्कट लालसा थी कि मैं अपने प्रक्रम से जीवों का उद्धार करूँगा और भगवान् बुद्ध के अधूरे काम को पूरा करूँगा। किन्तु, इन सबके मूल में अशोक के गुरु मोग्गलिपुत्त तिष्य की ही योजना तथा प्रेरणा थी।

यह पहले लिखा गया है कि अशोक ने बौद्धधर्म की सेवा में अपने समस्त परिवार को लगा दिया था। इसके अतिरिक्त यह भी लिखा गया है कि अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को धर्म-प्रचार के लिए लंका भेजा था। दोनों भाई-बहन का जीवन धर्म-प्रचार में ही उत्सर्जित था।

महेन्द्र की माता का नाम 'देवी' या 'महादेवी' था और यह 'विदिशा' में रहती थी। अशोक जब राजकुमार था, तभी बिन्दुसार ने उसे युवराज बनाकर विदिशा की निगरानी करने के लिए वहाँ भेज दिया था। वहीं अशोक ने एक 'देवश्रेष्ठी' नाम के व्यक्ति की कन्या से विवाह कर लिया, जिसका नाम 'देवी' था। इसी रानी से महेन्द्र और संघमित्रा का जन्म हुआ था। संघमित्रा महेन्द्र की सगी और छोटी बहन थी। महेन्द्र की आयु जब चौदह साल की थी, तब अशोक ने पाटलिपुत्र की गद्दी पाई थी। इसके बाद अशोक पाटलिपुत्र में रहने लगा; पर उसकी रानी, जो महेन्द्र की माता थी, अपने मायके विदिशा में ही रहती थी।

महेन्द्र और संघमित्रा

अशोक के राज्यारोहण के सातवें वर्ष में, महेन्द्र ने 'महादेव' स्थविर से, प्रव्रज्या ली थी। उस समय महेन्द्र की आयु इक्कीस वर्ष की हो चुकी थी। प्रव्रज्या लेने के बाद अशोक ने लंका में धर्म-प्रचार के लिए कुछ भिक्षुओं[1] के साथ उसे भेजा। लंका जाने के पहले छह मास तक महेन्द्र राजगृह के आस-पास के बौद्ध विहारों में घूमता रहा और बौद्धों से मिलकर अपने ज्ञान में वृद्धि करता रहा। इसके बाद लंका जाते समय रास्ते में वह अपनी माता से विदिशा में जाकर मिला। महेन्द्र की माता को जब समाचार मिला कि मेरा पुत्र भिक्षु हो गया है और धर्म-प्रचार के लिए लंका जा रहा है, तब उसने पुत्र का भारी सत्कार कराया और अलग एक विहार में ठहरवाया। देवी ने पुत्र की तरह नहीं, बल्कि साधुजनोचित स्वागत का प्रबन्ध अपने पुत्र के लिए किया था। माता का अत्यधिक प्रेम देखकर ही महेन्द्र विदिशा में एक मास तक रुक गया।

जिस समय की यह घटना है, उस समय लंका में 'देवानां पिय तिस्स' नाम का राजा राज्य करता था। सम्राट् अशोक से उसकी गाढ़ी मैत्री थी। अशोक ने जब अपने पुत्र को, भिक्षुओं के साथ, लंका के लिए रवाना किया, तब उसने दूत भेजकर लंका के राजा को सूचित कर दिया कि जम्बूद्वीप से धर्म-प्रचार के लिए भिक्षु भेजे जा रहे हैं, इनका यथोचित

१. इस पुस्तक का पृ० १७४ द्रष्टव्य।

स्वागत होना चाहिए। महेन्द्र को मालूम था कि पिताजी ने सूचना पहले दे दी है। अशोक २७२ ई० पूर्व राज्य-सिंहासन पर बैठा और उसके अठारहवें वर्ष में—यानी २५४ ई० पूर्व महेन्द्र ने सदल-बल सिंहल में पदार्पण किया। महेन्द्र की आयु उस समय ३२ वर्ष की थी।

'महावंस' लिखता है कि जिस दिन 'महेन्द्र' ताम्रपर्णी पहुँचा, उसी दिन वहाँ ज्येष्ठा मूल नक्षत्र का उत्सव था—यानी ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा तिथि थी। सारा देश उत्सव मना रहा था। स्वयं राजा 'देवानां पिय तिस्स' ४४ हजार पुरुषों के साथ उत्सव मनाने और आखेट करने 'मिश्रक' पर्वत पर गया था। महेन्द्र को जब मालूम हुआ कि राजा पर्वत पर उत्सव मना रहा है, तब वह भी भिक्षु-संघ के साथ मिश्रक पर्वत पर ही पहुँचा। तिष्य से साक्षात्कार होने पर महेन्द्र ने परिचय में कहा—'मैं जम्बू-द्वीप से अशोक के द्वारा भेजा गया धर्म-प्रचारक हूँ।' राजा को पहले ही सूचना मिल चुकी थी कि सम्राट् अशोक ने धर्म-प्रचार के लिए भिक्षुओं को भेजा है, इसलिए वहीं उसने महेन्द्र का बड़ा ही उत्तम स्वागत-सत्कार किया। वहीं महेन्द्र ने अपना धर्म-कार्य आरंभ कर दिया—स्वयं राजा को ही 'हस्तिपादोपमसुत्त' का उपदेश किया, जिसे सारिपुत्र ने श्रावस्ती में भिक्षु-संघ के सामने दिया था। उसी जगह 'देवानां पिय तिस्स' ने उन ४४ हजार व्यक्तियों के साथ त्रिशरण में प्रतिष्ठित हुआ। बाद में राजा की सहायता से अपने साथियों के साथ महेन्द्र ने लंका में धर्म-प्रचार का कार्य पूर्ण किया[1]।

देवाना पिय तिस्स की भगिनी का नाम 'अनुलोमा' या 'अनुला' था। देश में धर्म का वातावरण देखकर अनुलोमा ने बुद्ध-धर्म में दीक्षित होने के लिए राजा से आज्ञा माँगी। तिस्स ने खुशी-खुशी आज्ञा दे दी; पर महेन्द्र ने कहा—'मैं स्त्री को दीक्षा नहीं दे सकता; पर धर्म के विस्तार को रोकना भी ठीक नहीं है।' इसलिए तिष्य से उसने कहा—'मैं तो पिताजी के पास संदेश भेजूँगा ही; आप भी संदेश भेजिए कि कृपा कर धर्म के उद्योग के लिए अपनी कन्या (मेरी बहन) संघमित्रा को यहाँ भेज दें, ताकि नारियों में भी यथोचित धर्म-प्रचार हो। संदेश में यह भी भिजवाइए कि संघमित्रा साथ में बोधि-वृक्ष की शाखा लेती आवे। जिस तरह जम्बू-द्वीप से धर्म की शाखा लंका में आई, उसी तरह बोधि-वृक्ष की शाखा भी, धर्म-शाखा के प्रतीक रूप में, यहाँ लगाई जाय।'

देवानां पिय तिस्स ने शीघ्र ही उपर्युक्त संदेश के साथ अपना दूत पाटलिपुत्र भेजा। जिस समय राजदूत ने लंका के राजा का संदेश अशोक को दिया, उस समय अशोक अपने पुत्र की सफलता सुनकर मारे खुशी के नाच उठा। उसने तुरत 'बोधगया' से बोधिवृक्ष की शाखा बड़े सम्मान तथा उत्सव के साथ मँगाई और संघमित्रा को गंगा में नाव पर बिठाकर तथा बड़ी धूमधाम से अपने हाथों से शाखा उसे देकर, लंका के लिए रवाना किया। लंका में आजतक वह पीपल-वृक्ष वर्त्तमान है, जो संसार का सबसे पुराना वृक्ष है।

१. विशेष जानकारी के लिए 'महावंस' देखिए।

बोधि-वृक्ष की शाखा लेकर संघमित्रा जब लंका पहुँची, तब उसका तथा शाखा का शाही स्वागत हुआ। संघमित्रा के जाने पर राजा की भगिनी अनुलोमा देवी पाँच सौ अन्तःपुर की रमणियों के साथ उससे प्रव्रजित हुई। 'देवानां प्रिय तिस्स' का भानजा, जिसका नाम 'अरिष्ट' था, अपने पाँच सौ मित्रों के साथ महेन्द्र से प्रव्रजित हुआ। महेन्द्र जिस विहार में रहता था, उसका नाम अनुराधापुर-विहार है, जो आज भी बौद्धों के लिए तीर्थ-स्थान बना हुआ है। लंका में महेन्द्र ने ३८ वर्षों तक धर्म का प्रचार किया और बौद्धधर्म को राज-धर्म एवं राष्ट्रीय धर्म बना दिया। वह अपनी ३२ वर्ष की आयु में लंका गया था और ६० वर्ष की आयु में वहीं उसका निर्वाण हुआ। इस तरह २२२ ई० पूर्व महेन्द्र का देहान्त हुआ। जिस जगह उनका परिनिर्वाण हुआ, उस पवित्र स्थान को आज भी लंकावासी पूजते हैं और उसका नाम 'ऋषिभूमि-अंगन' है। महेन्द्र के परिनिर्वाण के दो वर्ष बाद ही संघमित्रा का भी निर्वाण लंका में ही हुआ। सम्राट् की इन दोनों सन्तानों ने अपने देश से दूर जाकर बौद्धधर्म के प्रचार और प्रसार में अपनेको उत्सर्जित किया और सम्राट् अशोक ने भी अपने कलेजे के इन दोनों टुकड़ों को, आँखों से दूर भेजकर, धर्म की सेवा में, न्योछावर कर दिया। कैसा था वह मगध का धर्मप्रिय सम्राट्!

अशोक के अन्य उत्तराधिकारी

प्रियदर्शी महाराज अशोक के द्वारा प्रशस्त किये गये धर्म-पथ पर उसके उत्तराधिकारी भी चलते रहे। अशोक के पौत्र 'दशरथ' ने भिक्षुओं के निवास के लिए गया जिले (बिहार) की 'बराबर पहाड़ी' में, जहाँ उसके पितामह अशोक ने भिक्षुओं के लिए गुफा बनवाई थी, गुफाओं का निर्माण कराया था। इस बात का उल्लेख उस पहाड़ी के एक गुफा-लेख में ही है। यह बौद्धों तथा अन्य सम्प्रदाय के साधुओं के लिए बड़ा ही उदार तथा दानशील राजा था।

सम्राट् अशोक की छठी पीढ़ी में बृहद्रथ नाम का राजा हुआ। यह भी बौद्धधर्म का आचरण करता था। पर इसका सारा धर्माचरण दिखावटी था, निष्ठा का उसमें लेश नहीं था। इसलिए धर्म के ढोंग के कारण यह आलसी तथा कायर कहा जाता था। इतिहास में इसके लिए 'धर्मवादी अधार्मिक' तथा 'मोहात्मा' (महात्मा का अपभ्रंश=मूढ़)—जैसे शब्द व्यवहृत हैं। इसका थोड़ा इतिहास जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि अशोक की तीसरी-चौथी पीढ़ी से ही, मौर्य साम्राज्य पर यवनों का अभियान आरंभ हो गया था तथा ये अभियान बृहद्रथ (१९१ से १८४ ई० पूर्व) तक होते रहे। इसी बृहद्रथ के बाद मौर्य साम्राज्य का सूर्य अस्त हो गया। 'खारवेल' के शिला-लेख में 'बहसति मित्र' नाम के राजा का जो उल्लेख मिलता है, वह यही बृहद्रथ था, जिसका प्रमाण 'पुष्यमित्र' के सिक्कों में भी मिला है[1]। इसी बृहद्रथ के समय में 'देमित्रिय' यवन 'माध्यमिका'[2] और 'साकेत'[3] को

१. बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० ११४ की पाद-टिप्पणी।

२-३. अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्, अरुणद् यवनः साकेतम्—पातंजल महाभाष्य।

घेरता हुआ पाटलिपुत्र तक पहुँच गया था[1]। कहते हैं कि उस समय पाटलिपुत्र के बचने का एकमात्र कारण यह हुआ कि देमित्रिय के आक्रमण का समाचार सुनकर कलिंग के राजा खारवेल अपनी भारी सेना के साथ पाटलिपुत्र पहुँच गया। जब खारवेल की सेना पाटलिपुत्र से कुछ दूर ही थी कि देमित्रिय पीछे की ओर हट गया। किन्तु खारवेल ने देमित्रिय का पीछा करते हुए उसे पाटलिपुत्र से बहुत दूर पश्चिम खदेड़ दिया और तब वह पाटलिपुत्र की ओर लौटा। पाटलिपुत्र पहुँचकर उसने अपनी हस्ति-सेना मगधराज बृहद्रथ के 'सुगांगेय' प्रासाद में भिड़ा दी[2]। बृहद्रथ पकड़ा गया। खारवेल ने उसे अपने पैरों पर गिरवाया और उससे लाखों की सम्पत्ति उपहार में ली। जिस जिन-मूर्ति को मगध-सम्राट् नन्दिवर्द्धन कलिंग जीतकर पाटलिपुत्र उठा लाया था, उस मूर्ति को भी खारवेल ले गया। इस तरह बृहद्रथ को पद-दलित कर उसने अशोक की कलिंग-विजय का पूरा-पूरा बदला चुका लिया।

बृहद्रथ ने मौर्य साम्राज्य के गौरव को, अपनी नपुंसक-प्रवृत्ति के कारण, मिट्टी में मिला दिया, जिससे अपनी सेना और मगध की जनता की दृष्टि में वह बिलकुल गिर गया। प्रजा ने मगध-साम्राज्य का अपमान समझा, और वह बृहद्रथ से पूर्ण असंतुष्ट हो गई। बृहद्रथ का सेनापति 'पुष्यमित्र' नामक एक ब्राह्मण था, जो उसका पुरोहित भी था। वह राजा की नपुंसक-नीति से तंग आ गया था। उसने मगध की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए, एक दिन सेना के प्रदर्शन-काल में, सेना के समक्ष ही तलवार के एक ही वार में बृहद्रथ के शरीर के दो टुकड़े कर दिये[3]। इसके बाद मगध की गद्दी उसने हथिया ली और इस प्रकार मौर्यवंश का सितारा उसी समय डूब गया। बृहद्रथ की हत्या १८४ ई० पूर्व में हुई थी।

---

१. ततः साकेतमाक्रम्य पाञ्चालान् मथुराँस्तथा।
यवना दुष्टविक्रान्ताः प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्॥—युग-पुराण

२. बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० ११३–११४

३. प्रतिज्ञादुर्बलं च बलदर्शन-व्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यं मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम्। —हर्षचरितम्, उच्छ्वास ६।

छठा परिच्छेद

मौर्यकाल और गुप्तकाल के बीच

मौर्य राजाओं और गुप्त राजाओं के काल में बौद्धधर्म के लिए जैसा और जितना उद्योग हुआ, वह 'न भूतो न भविष्यति'। यानी, बिहार-प्रदेश ने इन राजाओं के काल में ऐसा धर्मोद्योग किया, जिसका सानी, संसार के इतिहास में, किसी भी एक प्रदेश को नसीब नहीं है। पर, इनके बीच के समय में, अनेक वर्षों तक, बौद्धधर्म का वैसा पराक्रम इस प्रदेश में नहीं दिखाई देता। फिर भी, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इस काल में बिहार-प्रदेश ने बौद्धधर्म के लिए कुछ किया ही नहीं। इस काल में भी बिहार के राजाओं, ज्ञानियों और अन्य लोगों ने भी जितना उद्योग किया, वह कुछ कम नहीं है। इतिहास के पन्नों में उसका अपना स्थान है और उस पर भी बिहार-प्रदेश की अपनी छाप है, जो आजतक गौरव-चिह्न के रूप में है। बौद्ध इतिहासकारों ने बिहार के शुंग राजाओं को अत्यन्त बौद्धधर्म-विरोधी कहा है और कहा है कि शुंग राजा पुष्यमित्र ने बौद्धधर्म की बहुत बड़ी हानि की; पर यह इतिहास का एक भ्रामक पृष्ठ है, जिस पर विद्वानों को विचारना चाहिए।

इसमें किसी भी इतिहासवेत्ता की दो राय नहीं है कि मौर्यवंश का अन्त करनेवाला ब्राह्मण पुष्यमित्र ब्राह्मण-धर्म का उन्नायक तथा संस्कृत-भाषा और उसके साहित्य का पोषक था। पुष्यमित्र शुंग-वंश का था, इसलिए वह तथा इसके वंशज शुंग राजा कहलाते थे। शुंग राजाओं के काल में संस्कृत-भाषा के साहित्य का सर्वाङ्गीण और परमोत्कृष्ट विकास हुआ। इस काल में दर्शन, व्याकरण, काव्य, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, वैद्यक आदि शास्त्रों का भांडार खूब भरा गया। पतंजलि-जैसा वैयाकरण, योगशास्त्रज्ञ और भिषग् इसी काल में पैदा हुआ, जो पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ का पुरोहित था[1]। 'मनुस्मृति' का परिवर्द्धन भी इसी काल में हुआ, जो पहले मानव-धर्मशास्त्र के नाम से प्रचलित था। अनेक पुराणों की रचना तथा परिवर्द्धन शुंग-काल में ही हुआ[2]। महाकवि 'कालिदास' को बहुत-से लोग गुप्तकाल का कवि मानते हैं, पर वास्तव में ये शुंग राजा 'भागवत' के समकालीन थे, जिसकी दूसरी राजधानी उज्जैन थी। 'अश्वघोष' की कृतियों के अनुकृतिकार कालिदास नहीं थे, बल्कि कालिदास की रचनाओं का अनुकृतिकार अश्वघोष था। विषयान्तर-भय के कारण इस प्रसंग को छेड़ना उचित नहीं है।

बौद्धधर्म और पुष्यमित्र

तिब्बती इतिहासकार 'तारानाथ' के अनुसार पुष्यमित्र बौद्धधर्म का नाशक था।

---

१. इह पुष्यमित्रं याजयामः—पातंजल महाभाष्य।

२. प्राचीन भारत का इतिहास (भगवतशरण उपाध्याय)—पृ० १८१

तारानाथ 'दिव्यावदान' ग्रन्थ की कथा के अनुसार कहते हैं कि 'मिनान्दर' को पराजित कर जब पुष्यमित्र उनकी राजधानी 'साकल' (स्यालकोट) में पहुँचा, तब इसने एक-एक बौद्ध-भिक्षु के मस्तक के लिए सौ-सौ दीनार पुरस्कार देने की घोषणा कर दी[1]। और, इसने इस तरह अनेक बौद्ध भिक्षुओं के सिर कटवाकर बौद्धधर्म का मूलोच्छेद किया। बौद्ध इतिहासकारों का कहना है कि इसने ढूँढ़-ढूँढ़कर तमाम उत्तर-भारत के बौद्ध भिक्षुओं के सिर कटवाये। मैं समझता हूँ कि तारानाथ ने अथवा अन्य बौद्धों ने धार्मिक असहिष्णुता के कारण ही ऐसा लिखा है। इसका प्रधान कारण यह था कि एक तो पुष्यमित्र ब्राह्मण-धर्म का उन्नायक था और दूसरे मिनान्दर और बृहद्रथ-जैसे बौद्ध राजाओं का संहारक था। इतना निश्चित है कि मौर्य राजा बृहद्रथ के 'धर्मवादी अधार्मिक' प्रवृत्ति के कारण बौद्धधर्म के प्रति इसका वैसा प्रेम नहीं था, जैसा ब्राह्मण-धर्म के प्रति। बृहद्रथ ने बौद्धों की अहिंसामूलक नीति के ढोंग के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र को अपमानित किया था, जिससे पुष्यमित्र को चिढ़ हो गई थी। इसी तरह बौद्ध राजा मिनान्दर तो मगध-साम्राज्य को निगलना ही चाहता था। इसलिए अपने शत्रु मिनान्दर को मार डालने पर जब पुष्यमित्र, विजय के उन्माद में, उसकी राजधानी में पहुँचा होगा, तब विजयी राजाओं की तरह आचरण किया होगा और विरोधी फिर सिर न उठावें, इसलिए एक कुशल राजनीतिज्ञ की तरह, उनका नाश किया होगा। इसी बात की अतिशयोक्ति 'दिव्यावदान' ने की है, जिससे सम्पूर्ण बौद्धधर्म के नाशक के रूप में पुष्यमित्र को चित्रित किया जाता रहा है।

पुष्यमित्र के काल में और उसके पहले यवनों की चढ़ाई बार-बार होती रही, जिससे पूर्वी भारत सदा और पूर्णतः संत्रस्त था। बृहद्रथ के समय में देमित्रिय ने आक्रमण किया था और पुष्यमित्र के समय में उसका दामाद मिनान्दर (मिलिन्द) ने। इसी यवन-राजा मिनान्दर को पुष्यमित्र ने गंगा की घाटी में युद्ध करते हुए, १५२ ई० पू०, मार डाला[2]। इसने सिन्धु की घाटी तक अधिकार कर के, विजय के उत्साह में, अश्वमेध यज्ञ किया, जिसका पौरोहित्य कर्म पतंजलि ने किया था। अश्वमेध यज्ञ में छोड़े अश्व की रक्षा के लिए इसने अपने किशोर पौत्र 'वसुमित्र' को नियुक्त किया था, जिसने ग्रीक सेना को सिन्धु-तट पर पछाड़ा था[3] तथा जिसकी सूचना अपने एक पत्र में स्वयं पुष्यमित्र ने पाटलिपुत्र से विदिशा नगरी में स्थित अपने पुत्र अग्निमित्र के पास दी थी।

---

१. स यावच्छाकलमनुप्राप्तस्तेनाभिहितो यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।
—दिव्यावदान, पृ० ४३३-४३४

२. दि ग्रीक इन बैक्ट्रिया एण्ड इंडिया (टार्न)—पृ० २२८

३. ततः परान् पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।
प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः ॥—मालविकाग्निमित्र, ५,१५
अर्थात्—धनुषधारी वसुमित्र ने शत्रुओं (यवनों) को पराजित कर उनके द्वारा हरण किये हुए अश्वराज को लौटा लिया।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि पुष्यमित्र बौद्ध भिक्षुओं के मस्तक के लिए सौ-सौ दीनार देता चलता था, तो वह निश्चित तौर पर मिनान्दर (मिलिन्द) के गुरु और प्रसिद्ध बौद्ध संन्यासी 'नागसेन' के सिर के लिए एक लाख दीनार देता। नागसेन-जैसे बौद्ध विद्वान् के कारण सैकड़ों लोग बौद्ध होते थे, फलतः पहले उन्हीं का शीर्षच्छेद पुष्यमित्र कराता। इसी नागसेन के साथ मिलिन्द (मिनान्दर) का प्रश्नोत्तर हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप 'मिलिन्द पञ्ह' नामक प्रसिद्ध पुस्तक की रचना हुई है।

'मिलिन्द पञ्ह' से पता चलता है कि नागसेन का जन्म बिहार-प्रदेश के 'कजंगल' क्षेत्र (संताल परगना) में हुआ था[1]। इनके पिता का नाम 'सोणुत्तर' था। इसके अतिरिक्त नागसेन की शिक्षा पुष्यमित्र की प्रमुख राजधानी पाटलिपुत्र के अशोकाराम विहार में हुई थी, जहाँ पुष्यमित्र सेनापति के पद पर था। इसके अतिरिक्त नागसेन के गुरु का नाम 'धर्मरक्षित' था। वे अशोकाराम विहार के प्राचार्य थे, जहाँ बौद्ध भिक्षुओं का ठट्ट लगा रहता होगा।

नागसेन अपनी बौद्धधर्म की प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर जब पाटलिपुत्र में शिक्षा लेने आ रहे थे, तब रास्ते में उनसे पाटलिपुत्र का एक व्यापारी मिला, जो इन्हें बौद्ध भिक्षु जानकर भी अपनी बैलगाड़ी पर बिठाकर लाया और अशोकाराम विहार में उसने इन्हें पहुँचाया। पुष्यमित्र के नगर में ही बौद्धों की देशविख्यात शिक्षा-संस्था अशोकाराम विहार का अस्तित्व कैसे संभव था? धर्मरक्षित-जैसे बौद्धधर्म के प्राचार्य पाटलिपुत्र में बौद्धधर्म की शिक्षा क्या देते, उनके तो प्राणों के लाले पड़े होते? इसके अतिरिक्त भी उस काल के अनेक बौद्ध विद्वानों का पता चलता है, जो पूर्ण स्वच्छन्द होकर बौद्धधर्म का प्रचार करते चलते थे। इन विद्वानों में सोणगुप्त, अश्वगुप्त, महाउपासिका (भिक्षुणी), आयुपाल आदि प्रमुख और बौद्धधर्म-प्रचारक थे। इनके अस्तित्व और धर्माचार का पता हमें 'मिलिन्द पञ्ह' जैसे बौद्ध ग्रन्थ से ही प्राप्त होता है। तब प्रश्न है कि इन बौद्ध धर्माचार्यों को वैसे क्रूर पुष्यमित्र ने कैसे छोड़ा? मिलिन्द पञ्ह (बौद्ध ग्रन्थ) तो उलटे मिनान्दर को ही असहिष्णु तथा उजड्ड कहता है। इस पुस्तक के अनुसार मिनान्दर परिव्राजकों, ब्राह्मणों, श्रमणों और अन्य तपस्वियों को ढूँढ़-ढूँढ़कर उनसे तर्क करता था और जो लोग उसके प्रश्नों के उत्तर नहीं देते या उसके तर्क के आगे मूक हो जाते थे, उन्हें 'साकल' से निकाल बाहर करता था[2]। उस बौद्ध पुस्तक में लिखा है कि 'साकल बारह वर्षों तक श्रमण, ब्राह्मण तथा परिव्राजकों से खाली पड़ा हुआ था—एक-एक कर सभी को मिनान्दर ने साकल से निष्कासित कर दिया था। इससे इतना तो निश्चित है कि जब मिनान्दर बौद्ध हो गया, तब साकल में सिर्फ बौद्ध भिक्षु ही रहते होंगे, ब्राह्मणों को तो उसने आने ही नहीं दिया होगा। वह बौद्ध राजा था, इसलिए उसके ऐसे कारनामों के प्रति 'दिव्यावदान' ने कोई आक्रोश नहीं प्रकट किया है; किन्तु उसने पुष्यमित्र को जली-कटी सुनाई है।

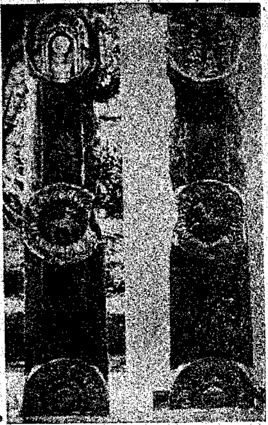
१. मिलिन्द पञ्ह—१,१,६,७
२. मिलिन्द पञ्ह, १,१,३ और १,१,४



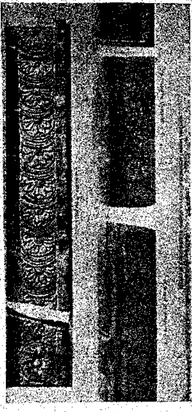
घोरकटोरा ग्राम (राजगृह) में मिली नाग-नागिन की मूर्त्ति



अष्टादशभुजी तारा (कांस्य-मूर्त्ति) नालन्दा



राशि-चक्र (बोधगया-रेलिंग)
(पृ० २५०)



बोधगया-रेलिंग का कमल-नाल
(पृ० २५०)



जेतवन का क्रय-दृश्य—बोधगया-रेलिंग

शुङ्गों के समय में बौद्धधर्म के स्मारक-रूप में तथा धर्म के स्थायित्व के लिए जो काम हुए, वे अपने ढंग के अद्वितीय हैं। पाटलिपुत्र के बाद शुङ्गों की दूसरी राजधानी 'विदिशा' नगरी थी। इसी विदिशा के पास साँची-स्तूप के द्वार की अद्भुत कारीगरी इसी शुंग-काल की है[1]। इनमें जातकों की कहानियों के आधार पर कई दृश्य उत्कीर्ण हुए हैं। अनाथपिण्डक[2] (श्रावस्ती-निवासी सेठ) के द्वारा श्रावस्ती के 'जेतवन'-क्रय का जैसा भावपूर्ण स्पष्ट दृश्य अंकित है, किसी बौद्धधर्म-संहारक राजा के समय यह कभी संभव नहीं था। निश्चित रूप से बौद्ध जातकों की कहानियों का शुंगकाल में सम्मान था और घर-घर में ये कहानियाँ प्रचलित थीं, जिससे स्मारकों में उनके चित्र अंकित किये जाते थे। स्तूप के निर्माण में तथा उसपर कला के चित्रण में शुंग राजाओं की सहानुभूति तथा प्रत्यक्ष साहाय्य कलाकारों को अवश्य प्राप्त था, अन्यथा ये संसार-प्रसिद्ध स्मारक तथा उनपर अंकित दृश्य कभी नहीं बन सकते थे। केवल सहानुभूति ही नहीं, वरन् साँची और भरहुत-जैसे विशाल स्मारकों में राजा की ओर से आर्थिक सहयोग भी अवश्य प्राप्त होगा। यदि उस काल का राजा बौद्धधर्म का संहारक होता, तो किसी बौद्ध दायक सेठ का ऐसा साहस नहीं होता कि वह इस तरह के अविस्मरणीय बौद्ध-स्मारकों का निर्माण कराता। दोनों स्तूप और उनपर की कलाएँ बौद्धधर्म का जीवित इतिहास हैं, जो पुष्यमित्र के शासन-काल में बने थे।

शुङ्गकाल में बौद्धधर्म के कार्य

बोधगया के वज्रासन और उसकी पाषाण-वेष्टिका-वेदी का निर्माण भी इसी शुंगकाल में हुआ, जो साँची और भरहुत के बाद की कृति है। बोधगया की पाषाण-वेष्टिका-वेदी की कला का आधार स्पष्ट रूप से साँची और भरहुत की कला है। बोधगया की पाषाण-वेष्टिका-वेदी (रेलिंग) का निर्माण एक स्त्री ने कराया था, जिसका नाम 'आर्या कुरंगी' था और जो शुंगों के अमात्य 'इन्द्राग्निमित्र' की पत्नी थी। इसमें भाग लेनेवाली दूसरी नारी का नाम 'नागदेवा' था, जो शुंगों के ही एक दूसरे अमात्य 'ब्रह्ममित्र' की पत्नी थी। अभिलेखों से पता चलता है कि आर्या कुरंगी ने बोधगया में भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए विहार का भी निर्माण कराया था, जो प्रसिद्ध मंदिर के समीप ही स्थित था[3]। इस विहार को चीनी यात्री फाहियान ने भी देखा था। शुंग राजाओं के अमात्यों की पत्नियों ने बौद्धधर्म के लिए ऐसा काम किया, यह प्रमाणित करता है कि शुंग राजा बौद्धधर्म के प्रति भी उदार थे।

बोधगया की रेलिंग की कृति शुंगकाल की है, इसके लिए सबसे बड़ा ज्वलन्त प्रमाण यह है कि जातकों की कहानियों के साथ-साथ उसपर सूर्य भगवान् का चित्र भी उत्कीर्ण है, जो शुंगकालीन धर्म-भावना के समन्वय का उदाहरण है। यह पाषाण-वेष्टनी आज भी मंदिर के पश्चिम-उत्तर कोण में स्थित है। ऐसा समन्वय शुंगकाल की संस्कृति का विवरण उपस्थित

१. प्राचीन भारत का इतिहास (भगवतशरण उपाध्याय)—पृ० १७०
२. भगवान् बुद्ध का दायक।
३. भारतीय कला को बिहार की देन (डॉ० विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह)—पृ० ७७

करता है। इसके अतिरिक्त खास पाटलिपुत्र के कुम्हरार स्थान की खुदाई में विहारों के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, वे कुषाणकालीन विहार-निर्माण-कला से भिन्न तथा पूर्वकालिक बतलाये गये हैं[1]। साथ ही पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इन्हें मौर्यकाल का नहीं, शुंगकाल का कहा है।

शुंगकाल के कला-केन्द्र श्रावस्ती, भीटा, कोसम्बी, मथुरा, बोधगया, पाटलिपुत्र, भरहुत, साँची, अयोध्या आदि स्थानों में अवस्थित थे[2], जो बौद्धधर्म के भी केन्द्र थे। मथुरा में शुंगकाल की उत्कीर्ण अनेक मूर्त्तियाँ मिली हैं। शुंगकाल में सारनाथ में भी वेदिका का निर्माण हुआ था, जिसके अवशेष सारनाथ के संग्रहालय में आज भी सुरक्षित हैं।

इस तरह हमने देखा कि शुंगकाल में भी, जो बौद्धधर्म के लिए दूषित काल कहा गया है, बौद्धधर्म के कई महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। नागसेन-जैसा बौद्धधर्म का विद्वान् इसी काल में हुआ, जिसके तर्कों के आगे मिनान्दर झुका और बौद्धधर्म का प्रचारक बना। इस काल में भी बौद्ध विहारों में धर्म की शिक्षा तथा प्रचार-कार्य निरन्तर होता रहा तथा बड़े-बड़े स्मारक तैयार हुए एवं बुद्ध की मूर्त्तियाँ बनीं।

शुंगवंश का अन्त होने पर मगध में कण्ववंश का राज्य स्थापित हुआ, जिसका इतिहास अंधकार में पड़ा हुआ है। कण्ववंश और गुप्त सम्राटों के बीच का समय भी बिहार-प्रदेश के वास्तविक इतिहास के लिए धुँधला-सा है। अतः अन्य कार्यों की तरह बौद्धधर्म की उन्नति के सम्बन्ध में भी इतिहास का सम्यक् ज्ञान नहीं हो पाता। इस काल में पेशावर के 'कनिष्क' नामक सम्राट् ने भारत में बौद्धधर्म की रक्षा तथा विकास के लिए बहुत बड़ा उद्योग किया। कनिष्क के उद्योग में अश्वघोष नामक विद्वान् का बहुत बड़ा हाथ था, जिसके ज्ञान-निर्माण का श्रेय मगध के पाटलिपुत्र नगर को ही है।

अश्वघोष

महायान का उन्नायक अश्वघोष साकेत का रहनेवाला था या पाटलिपुत्र का, इसमें विवाद है। किन्तु, अश्वघोष ने पाटलिपुत्र के 'अशोकाराम विहार' में बौद्धधर्म की दीक्षा ली थी और यहीं के किसी राजा के दरबार में रहकर बौद्धधर्म के विकास में दत्तचित्त था, इस सम्बन्ध में किसी की दो राय नहीं है। इस तरह अश्वघोष को ज्ञान तथा कर्म के क्षेत्र में प्रवेश कराने का श्रेय मगध को ही है। इसका पता नहीं चला कि पाटलिपुत्र का वह कौन राजा था, जिसके पास अश्वघोष रहता था[3]। कनिष्क जब उत्तर-भारत की विजय करता पाटलिपुत्र आया, तब यहाँ से वह उपहार-रूप में दो रत्न ले गया[4]। एक रत्न था—भगवान् बुद्ध का कमण्डल, जो अशोकाराम विहार में था और दूसरा था—अश्वघोष दार्शनिक, जो

१. भारतीय कला को बिहार की देन—पृ० ८१

२. हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास (नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी), खण्ड ४, अध्याय २, पृ० ६१७

३. इस समय पाटलिपुत्र पर 'सुपुष्प' या उसके वंशज लिच्छवियों का शासन था। द्रष्टव्य—'अंधकार युगीन भारत' (म० म० काशीप्रसाद जायसवाल)—पृ० २४४

४. पाटलिपुत्र की कथा—पृ० ३४७

पाटलिपुत्र के राजा के यहाँ था। अशोक के समय में जो स्थान 'मोग्गलिपुत्र तिष्य' का था, वही स्थान कनिष्क के समय में अश्वघोष का था। बौद्धधर्म के प्रचार में कनिष्क ने सम्राट् अशोक का अनुसरण किया और अश्वघोष ने मोग्गलिपुत्र तिष्य का स्थान लिया। अश्वघोष की विद्वत्ता का प्रभाव कनिष्क के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर छा गया था। इसीलिए कनिष्क ने एक शिला-लेख पर *अश्वघोष राज इति*[1] वाक्य उत्कीर्ण कराया। अश्वघोष के पिता के नाम का पता नहीं चलता; पर उसकी माता का नाम 'सुवर्णाची' था।

मगध के अन्य बौद्ध विद्वानों की तरह अश्वघोष ने भी पहले ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन किया और दर्शन तथा साहित्य में पारंगत होकर बौद्धधर्म में प्रवेश किया था। यद्यपि बौद्ध सम्प्रदाय में 'पालि' भाषा का बहुत आदर था, तथापि अश्वघोष ने बौद्ध साहित्य संस्कृत-भाषा में लिखा। यह शुंगकालीन संस्कृत-भाषा के उत्थान का ही प्रभाव था। यद्यपि अश्वघोष दर्शन-शास्त्र का प्रगाढ विद्वान् था, तथापि उसने नाटक और काव्य भी लिखे। सौन्दरनन्द, बुद्धचरित, वज्रसूची, सारिपुत्र-प्रकरण, जातक-माला, सूत्रालंकार, महायानश्रद्धोत्पाद और गण्डिस्तोत्र उसके मुख्य ग्रन्थ हैं। सूत्रालंकार का दूसरा नाम 'कल्पनामंडतिका' भी है। इस ग्रन्थ का पता चीनी अनुवाद से चला था। चीन देश में इसका अनुवाद ४०५ ई० में हुआ था। इसी तरह 'बुद्धचरित' का चीनी भाषा में अनुवाद पाँचवीं सदी में 'धर्मरक्ष' ने किया और तिब्बती अनुवाद आठवीं सदी में हुआ था। बुद्धचरित की मूल संस्कृत की पाण्डुलिपि नेपाल में मिली थी, जिसकी खण्डित प्रति को, अमृतानन्द नामक विद्वान् ने १८३० ई० में चार सर्ग और कई श्लोक जोड़कर, पूर्ण किया था। बुद्धचरित का चीनी अनुवाद सारमात्र है, किन्तु तिब्बती अनुवाद पूर्णरूप में है, ऐसा 'डॉ० बेंजल' का कथन है। 'नन्दर्गिकर' ने इसके पाँच सर्गों का एक प्रामाणिक संस्करण छपवाया है, जो पंजाब के 'बेतिया' नगर से उन्हें प्राप्त हुआ था।

अश्वघोष की बौद्ध रचनाएँ

सातवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में (६७१ ई० से ६९५ ई०) चीनी यात्री ईत्सिंग भारत आया था। उसने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है—'अश्वघोष बौद्धधर्म का एक महान् आचार्य था। उसके विरचित ग्रन्थों का अध्ययन यहाँ बड़े मनोयोग-पूर्वक चलता है।' अश्वघोष अपनी विपुल विद्वत्ता के लिए तो प्रसिद्ध था ही, वह एक प्रभावोत्पादक विख्यात वक्ता भी था। उसके भाषणों के मन्द्रघोष सुनकर अश्व (घोड़े) भी शान्त हो जाते थे, इसलिए उसका नाम 'अश्वघोष' था—ऐसी किंवदन्ती ईत्सिंग ने भारत में सुनी थी। अश्वघोष बौद्धधर्म में सर्वास्तिवादी शाखा के महायान पंथ का उन्नायक था, जिसका समर्थक कनिष्क भी था।

बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि बौद्धधर्म में अनेक सम्प्रदाय होने के कारण सम्राट् कनिष्क स्थिर नहीं कर पाता था कि धर्म की किस शाखा में अपने को लगाऊँ तथा

१. एपिग्रेफिका इंडिका, भाग ८, पृ० १७१

किसकी सेवा के लिए उद्योग करूँ। इसलिए उसने अपने धर्मगुरु 'पार्श्व' की अनुमति से सर्वास्तिवादी शाखा के पाँच सौ भिक्षुओं की एक सभा बुलवाई। इस सभा को कुछ लोग बौद्ध धर्म की चौथी संगीति मानते हैं और कुछ लोग इसे संगीति नहीं मानते। यह सभा कश्मीर-प्रदेश के 'कुण्डवन विहार' में हुई[1]। यह १४० ई० के आस-पास हुई थी। सभा के आचार्य वसुमित्र और अश्वघोष थे। पहले की संगीतियों की तरह इसमें बुद्ध-वचनों तथा नियमों को शुद्ध नहीं किया गया, इसीलिए बहुत-से विद्वान् इसे संगीति की संज्ञा नहीं देते। बल्कि इस सभा में अश्वघोष द्वारा लिखी एक पुस्तक पढ़ सुनाई गई और विद्वानों की सम्मति की मुहर उसपर लगाई गई। यह पुस्तक एक भाष्य थी, जिसका नाम 'विभाषा' है और जो 'आर्य कात्यायनी-पुत्र' द्वारा निर्मित 'ज्ञानप्रस्थान-शास्त्र' नामक ग्रन्थ की व्याख्या है। ज्ञानप्रस्थानशास्त्र, सर्वास्तिवाद-सम्प्रदाय के 'अभिधर्म-पिटक' का सर्वप्रथम मुख्य ग्रन्थ है। सम्राट् कनिष्क ने अश्वघोष द्वारा रचित 'विभाषा' नामक भाष्य को ताम्र-पत्र पर खुदवाकर स्वर्ण-मंजूषा में बन्द करवाया था[2]। इसी विभाषा भाष्य को लेकर बौद्धधर्म में वैभाषिक सम्प्रदाय की स्थापना हुई। इसी चौथी संगीति तथा विभाषा नामक भाष्य के लिखने के बाद बौद्धधर्म की सर्वास्तिवादी शाखा में महायान और हीनयान नाम के दो सम्प्रदाय हो गये।

अश्वघोष का दर्शन

यहाँ थोड़ा स्पष्ट कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि हीनयान और महायान का तात्पर्य क्या है? अपने धर्म में भगवान् बुद्ध ने सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाने के लिए तीन यानों का विधान किया था। वे तीन यान हैं—अर्हतयान, प्रत्येक बुद्धयान और बुद्धयान। इन तीनों में अश्वघोष ने अपने 'विभाषा' भाष्य में केवल बुद्धयान[3] पर ही जोर दिया, जिसके अनुयायी 'महायानी' कहलाये। तीनों यानों को माननेवालों को ये लोग 'हीन' मानते थे, अतः वे 'हीनयानी' कहलाने लगे[4]। महायानवाले महासांघिक भी कहे जाते हैं और हीनयानवाले स्थविरवादी हैं। हीनयान बौद्धधर्म का प्राचीन सम्प्रदाय 'स्थविरवाद' है।

ह्वेनसांग ने नालन्दा-विश्वविद्यालय के वर्णन के प्रसंग में लिखा है कि नालन्दा का विद्यापीठ सात सौ वर्षों से स्थापित है[5]—यानी ह्वेनसांग के भारत-आगमन से सात सौ वर्ष पूर्व काल से ही। ह्वेनसांग सातवीं शताब्दी के मध्य में नालन्दा आया था, उससे ७०० वर्ष पूर्व के आस-पास सातवाहन के सुहृद् 'नागार्जुन' का अथवा उससे कुछ पूर्व का काल ठहरता है। हमने देखा है कि नालन्दा नगर अशोक के समय में ही सर्वास्तिवादियों का गढ़ हो गया था

१. ह्वेनसांग (बील का संस्करण), भाग १, पृ० १५१
२. प्राचीन भारत का इतिहास—पृ० २११
३. एकं हि यानं द्वितियं न विद्यते तृतियं हि नैवास्ति कदाचि लोके।
एकं हि कार्यं द्वितियं न विद्यते न हीनयानेन नयन्ति बुद्धाः॥—सद्धर्म पुण्डरीक—२,५५
४. बुद्धचर्या (भूमिका-भाग)—पृ० ४
५. ह्वेनत्सांग (जगन्मोहन वर्मा)—पृ० १३८

तथा तीसरी संगीति में निकाले गये सर्वास्तिवादियों ने नालन्दा में ही अपनी सभा की थी। अतः ह्वेनसांग के कथनानुसार नालन्दा में बौद्ध विद्यापीठ की स्थापना शुंगों के शासन के अन्तिम समय में ही हुई थी, जिसका पूर्ण विकास पाँचवीं सदी में गुप्त सम्राटों ने किया। ज्ञात होता है, नागार्जुन ने इसी विद्यापीठ में महायान सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्तकर उसके प्रचार का आन्दोलन आरंभ किया। सर्वास्तिवाद-प्रेम के चलते जिस किसी ने भी उस काल में नालन्दा में विद्यापीठ का निर्माण कराया हो, तो आश्चर्य नहीं, और तभी ह्वेनसांग के कथन की सार्थकता भी सिद्ध होती है।

इस तरह हम देखते हैं कि पहली सदी में भी मगध के बौद्ध-शिक्षालय क्रियाशील थे तथा बौद्ध भिक्षु बौद्धधर्म की रक्षा तथा विकास में दत्तचित्त थे। इन भिक्षुओं में अश्वघोष जैसा विद्वान् एक प्रमुख मानदण्ड था।

सातवाँ परिच्छेद

बौद्धधर्म के विकास का स्वर्णिम काल

शुंगों और काण्वों के पश्चात्—(लगभग ३०० वर्ष बाद) २७५ ई० के आस-पास पुनः मगध-राज्य का वह तेजोदीप्त काल आता है, जिसका उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता। यह समय गुप्तकाल के नाम से प्रसिद्ध है। पाटलिपुत्र के गुप्त राजाओं का काल २७५ ई० से आरम्भ होकर लगभग छठी सदी के अन्ततक चलता रहता है। यह सवा तीन सौ वर्षों का लम्बा समय, बिहार-प्रदेश का ही नहीं, प्रत्युत समस्त भारत का स्वर्णिम काल माना गया है। इस काल में गुप्त सम्राटों ने बौद्धधर्म के लिए बड़े-बड़े उद्योग किये।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

गुप्तकाल अपनी शासन-नीति, साम्राज्य-विस्तार, बहादुरी, पालि एवं संस्कृत-साहित्य के उत्कर्ष, सभी धर्मों के अभ्युत्थान, स्थापत्य तथा मूर्त्तिकला के विकास, नृत्य-संगीत, वाद्य, अनेक ललित कलाओं के संरक्षण आदि के लिए अपना सानी नहीं रखता। इस काल में भी, शुंगकाल की तरह, यद्यपि विशेष रूप से संस्कृत-साहित्य एवं भागवत धर्म का असामान्य उत्कर्ष हुआ, तथापि पालि-साहित्य और बौद्धधर्म का भी उत्थान अभूतपूर्व था। इस स्वर्णयुग में एक ओर जहाँ हिन्दू-शास्त्र एवं संस्कृत-ग्रन्थों के प्रणेता—ईश्वर कृष्ण, उद्योतकर, प्रशस्तपाद, शबरस्वामी, हरिषेण, वीरसेन, वत्सभट्टि, मातृगुप्त, भर्तृमेण्ठ, धन्वन्तरि, शूद्रक, विशाखदत्त, भामह, अमरुक, आर्यभट्ट, वराहमिहिर, सिद्धसेन दिवाकर, दण्डी, सुबन्धु आदि हुए, वहाँ दूसरी ओर बौद्धधर्म के भी कुमारजीव, बुद्धभद्र, बुद्धघोष, धर्मपाल, गुणवर्मन्, गुणभद्र, आर्यसूर, असंग, वसुबन्धु, बोधिधर्म-विन्ध्यवासी, कोषकार अमरसिंह, संघपाल, परमार्थ, भद्ररुचि, दिङ्नाग, स्थिरमति, शीलभद्र आदि जैसे विद्वानों ने धर्म के झंडे को जरा भी झुकने नहीं दिया, बल्कि आकाश में और ऊँचाई तक फहराया। इस काल में बौद्धधर्म अपने पूर्ण प्रकाश के साथ दूर-सुदूर तक फैला।

प्रथम गुप्त राजा 'श्रीगुप्त' सन् २७५ ई० में पाटलिपुत्र की गद्दी पर बैठा। इसके बाद घटोत्कचगुप्त, चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (द्वितीय) क्रमशः मगध के राज्य-सिंहासन पर आसीन हुए। द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में ही (सन् ३९९ ई० से ४१२ ई० तक) चीनी यात्री 'फाहियान' भारत आया था। उसने पाटलिपुत्र के सम्बन्ध में लिखा है—'यद्यपि यहाँ का राजा परम भागवत था, तथापि धार्मिक मतभेद के कारण किसी को उसके राज्य में क्लेश नहीं उठाना पड़ता।' इसी धर्म-सहिष्णुता के कारण परम भागवत गुप्त

राजाओं के काल में बौद्धधर्म की परम उन्नति हुई। जिस हीनयान-सम्प्रदाय की भित्ति कनिष्क के काल में खोखली हो गई थी, उसकी नींव चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में फिर से सुदृढ़ की गई और 'वसुबन्धु' ने सौत्रान्तिकवाद के ऊपर 'अभिधर्मकोश' जैसा ग्रन्थ तैयार किया। वसुबन्धु के भाई असंग ने भी 'विज्ञानवाद' या योगाचार-सम्प्रदाय पर कई ग्रन्थों की रचना की, जिसमें मगध के राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का पूरा प्रोत्साहन प्राप्त था। इस काल में बौद्ध दर्शन में वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक—ये चारों सम्प्रदाय सर्वाङ्गपूर्ण होकर स्थिर हुए। यही समय था, जब सर्वास्तिवादी, स्थविरवादी और महासांघिक—तीनों सम्प्रदाय साथ-साथ विकसित हुए। सम्राट् अशोक के समय में जिस तरह बौद्धधर्म के प्रचार के लिए अनेक धर्म-महामात्य विभिन्न देशों और नगरों में गये, उसी तरह गुप्तकाल में भी लंका, बर्मा, चम्पा, सुमात्रा, चीन, तिब्बत आदि देशों में भी धर्म के प्रचारार्थ मगध के विद्वान् भिक्षु फैले। ये राजा यद्यपि परम भागवत थे, तथापि बौद्धधर्म के विकास का जो मूल स्रोत था, वह इन उदार राजाओं के मानस-सर के अन्तराल से ही प्रवाहित था। इसके अतिरिक्त उनके कुछ ऐसे जीवन्त-ज्वलन्त कार्य थे, जहाँ से धर्म का उत्स निस्सृत था। इन सभी विषयों का दिग्दर्शन कराना यहाँ आवश्यक है।

नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (द्वितीय) के बाद उसका पुत्र 'कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य' पाटलिपुत्र के राज्य-सिंहासन पर बैठा। यह काल सन् ४१३ ई० का है। इस समय तक चीनी यात्री फाहियान अपने देश चीन जाने के लिए भारत छोड़ चुका था। कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य ने बौद्धधर्म के विकास तथा स्थायित्व के लिए एक ऐसा काम किया, जिसे सम्राट् अशोक ने भी नहीं किया था। यह काम था—नालन्दा में बौद्धधर्म की शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय की स्थापना। यद्यपि नालन्दा स्थान बहुत पहले से—अर्थात् बुद्ध के समय से ही बौद्धधर्म का केन्द्र रहा था और समय-समय पर उसके केन्द्र का विकास भी हुआ था, तथापि संसार-प्रसिद्ध विश्वविद्यालय की स्थापना इसी गुप्त राजा कुमारगुप्त के समय में ही हुई, जिसका विकास गुप्तवंश के सम्राट् करते ही गये।

कुमारगुप्त के ४३ वर्षों का राज्यकाल परम सुख-शान्ति का तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक उत्थान का काल रहा है। इसके पूर्वजों के बलाढ्य प्रभुत्व के कारण आस-पास के सभी शत्रु क्षीणवीर्य और हतप्रभ होकर इसकी प्रभुता स्वीकार कर चुके थे और इसकी उदारता एवं स्नेहवत्सलता के कारण प्रजा परम संतुष्ट होकर सुखमय जीवन बिता रही थी। इसीलिए हम देखते हैं कि अपने सम्पूर्ण शासन-काल में कुमारगुप्त का चक्रवर्त्तित्व बिलकुल अक्षुण्ण बना रहा[1]। साथ ही इसके सिक्कों में 'अजित महेन्द्र', 'महेन्द्रादित्य' और 'परमराजाधिराज' का भी उल्लेख मिलता है[2]। इस तरह कुमारगुप्त ने कला तथा धार्मिक उत्थान के द्वारा अपने

---

१. चतुः समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम्।
वनान्तवातस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥—मन्दसोर-शिलालेख, फ्लीट १८

२. गुप्तकालीन मुद्राएँ (डॉ० अलतेकर)—पृ० १२१-१२८

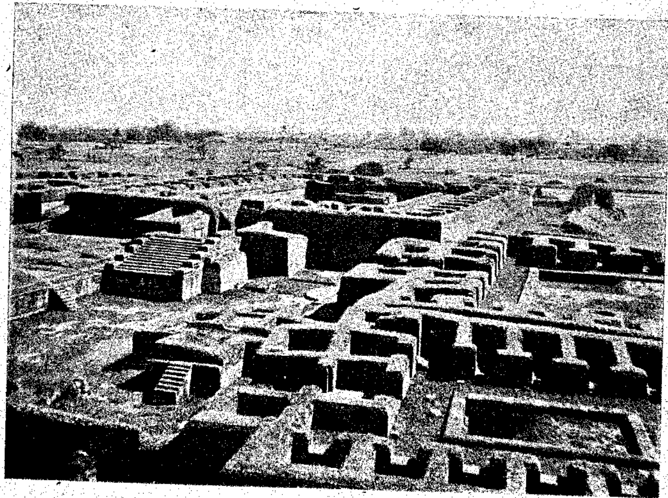
शान्तिमय काल का परम सदुपयोग किया। ऐसे ही सदुपयोग के परिणाम-स्वरूप नालन्दा-विश्वविद्यालय की स्थापना हुई।

नालन्दा-विश्वविद्यालय कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के समय में निर्मित हुआ, इसका सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि चीनी यात्री फाहियान जब भारत आया था, तब नालन्दा-विश्वविद्यालय का अस्तित्व नहीं था। फाहियान के भारत-आगमन का समय महेन्द्रादित्य के पिता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (द्वितीय) का काल था; क्योंकि कोई कारण नहीं था कि फाहियान अपने यात्रा-विवरण में नालन्दा-विश्वविद्यालय-जैसी संस्था की चर्चा नहीं करता। उसने पाटलिपुत्र में रहकर तीन वर्षों तक बौद्धधर्म का अध्ययन किया। ऐसी स्थिति में यदि नालन्दा-विश्वविद्यालय का अस्तित्व होता, तो वह वहीं अपना अध्ययन समाप्त करता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसने जान-बूझकर छोड़ दिया; क्योंकि विश्वविद्यालय उस समय तक अपनी प्रसिद्धि पर नहीं पहुँचा था। उसने नालन्दा नगर का नाम, 'नाल' नामक ग्राम के रूप में, अवश्य लिया है, किन्तु, वहाँ के किसी चैत्य, विहार या विद्यालय का जिक्र नहीं किया है[1]। उसके समय तक बौद्धधर्म की मुख्य शिक्षा-संस्था पाटलिपुत्र में थी। उसने पाटलिपुत्र के सम्बन्ध में लिखा है—"पाटलिपुत्र धनाढ्य नगर था। वहाँ हीनयान और महायान की शिक्षा दो विहारों में होती थी। प्रत्येक विहार में लगभग ७०० बौद्ध भिक्षु धर्म की शिक्षा लेते थे। यहाँ के विद्वानों की कीर्त्ति से आकृष्ट होकर, देश के हर कोने से, विद्यार्थियों के झुण्ड उनके पास अध्ययन करने आते थे[2]।"

ये पाटलिपुत्र के दो विहार कौन थे? निश्चित रूप से कहा जायगा कि ये दो विहार अशोकाराम और कुक्कुटाराम ही थे, जो फाहियान के भारत आने के ६५० वर्ष पूर्व स्थापित हुए थे। सम्राट् अशोक ने इनकी स्थापना की थी, जो मौर्य शासन-काल तक तो अक्षुण्ण रहे ही। इसके बाद भी पुष्यमित्र शुंग के समय में भी हमने देखा है कि मिनान्दर के गुरु नागसेन की भी शिक्षा अशोकाराम विहार में ही हुई थी। उसके बाद कनिष्क के काल में भी हम अश्वघोष को इसी विहार में शिक्षा पाते देखते हैं। अतः, मगध में नये-नये साम्राज्य तथा धर्म बने और बिगड़े; पर शिक्षा-संस्थाओं पर जरा भी आँच नहीं आई। वे ही विहार इस गुप्तकाल में भी अवस्थित थे, जिनकी चर्चा फाहियान करता है। इसी समय मगध का अति प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् 'बुद्धघोष' धर्म-उद्योग के लिए लंका गया। इसकी शिक्षा भी उन्हीं विहारों में हुई होगी, इसकी बहुत-कुछ संभावना है।

किन्तु, अब प्रश्न होता है कि कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य ने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में, जहाँ पहले से ही बौद्धों की दो शिक्षण-संस्थाएँ थीं, विश्वविद्यालय का निर्माण न कराकर नालन्दा में क्यों कराया? इसलिए नालन्दा की प्राचीनता और पवित्रता के सम्बन्ध में यहाँ हमें थोड़ा दृष्टिपात करना होगा।

१. नालन्दा (डॉ० हीरानन्द शास्त्री; मैनेजर ऑफ् पब्लिकेशन्स, देहली १६१८)—पृ०५
२. प्राचीन भारत (गंगाप्रसाद मेहता)—पृ० २१०



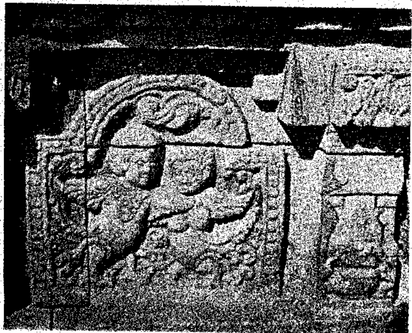
नालन्दा के खँडहर (पृ० २५४ से २५८)



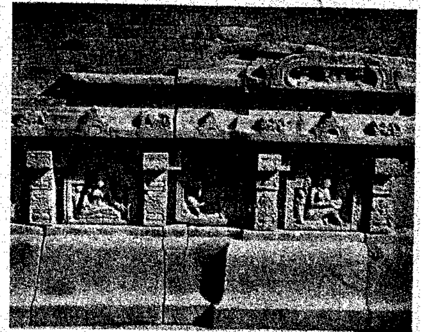
नालन्दा में प्राप्त बुद्ध-मूर्ति



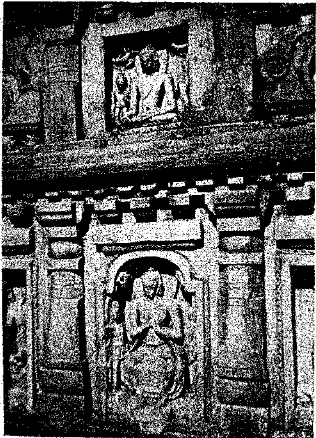
नालन्दा में प्राप्त बुद्ध-मूर्ति



नालन्दा की पत्थरकट्टी की अररियों पर का एक दृश्य
(पृ० २५७)



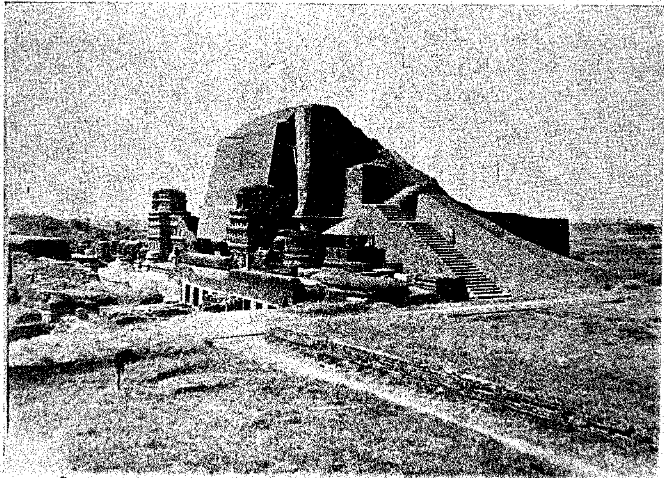
नालन्दा की पत्थरकट्टी की अररियों का दूसरा दृश्य
(पृ० २५७)

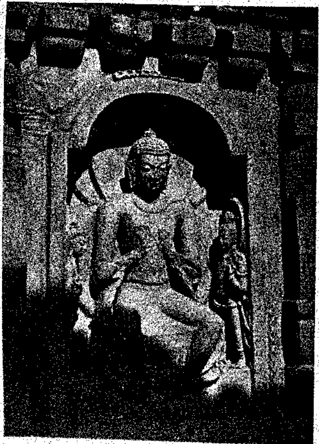


नालन्दा का एक दृश्य



नालन्दा में प्राप्त बुद्ध-मूर्ति





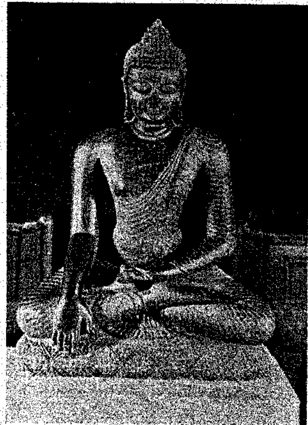
नालन्दा में प्राप्त बुद्ध-मूर्त्ति



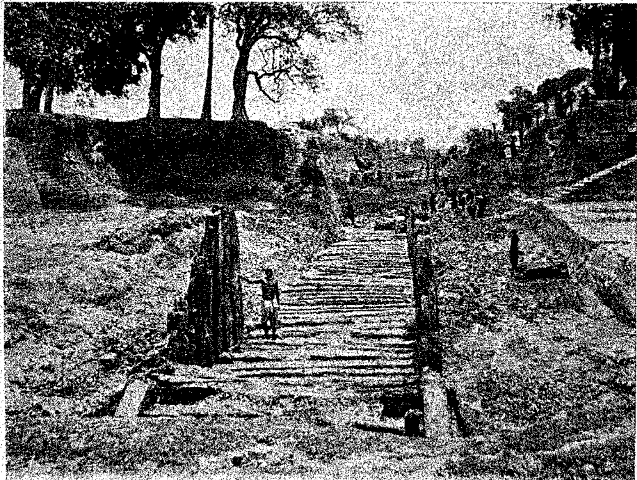
नालन्दा के तेलिया-भंडारवाली बुद्ध-मूर्त्ति



बोधगया के एक चैत्य का दृश्य (पृ० २५०)



बिसनपर (गया) से प्राप्त बुद्ध-प्रतिमा ([illegible])



नालन्दा नगर भगवान् बुद्ध के समय में ही प्रसिद्ध स्थान था, जहाँ वे कई बार गये। साथ ही यह जैन तीर्थंकर महावीर का भी केन्द्र-स्थान था, इसके सम्बन्ध में हमने पहले भी लिखा है[1]। भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य सारिपुत्र का जन्म इसी नालन्दा के पास हुआ था। इसके अतिरिक्त ह्वेनसांग ने लिखा है कि नालन्दा को पाँच सौ सौदागरों ने दस कोटि मुद्रा में खरीदकर भगवान् बुद्ध को दिया था[2]। इसके बाद हम अशोक के समय में भी देखते हैं कि तृतीय संगीति के अवसर पर जिन सर्वास्तिवादियों को अशोक ने संघ से निकाल दिया, उन्होंने नालन्दा में ही जाकर अपनी सभा की और तभी से यह सर्वास्तिवादियों का गढ़ बना। इतना ही नहीं, बाद में भी नालन्दा की प्रसिद्धि नहीं मिटी। शुङ्ग राजा पुष्यमित्र तारानाथ के कथनानुसार अपनी एक सम्बन्धिनी महिला से नालन्दा में ही जाकर मिला था[3]। यदि नालन्दा की ऐसी प्रसिद्धि उस समय नहीं होती, तो तारानाथ इसका उल्लेख नहीं करता। ईसवी-सन् के आरंभ में सर्वास्तिवाद के उन्नायक कनिष्क का यह तीर्थधाम ही होगा, और जिसने सर्वास्तिवाद के विस्तार के लिए नालन्दा का विशेष सम्मान प्रकट किया होगा। अतः ह्वेनसांग सर्वास्तिवादियों के काल से इसे शिक्षा का केन्द्र मानता है। इसके अतिरिक्त महेन्द्रादित्य ने यहाँ विश्वविद्यालय की स्थापना ह्वेनसांग के कथनानुसार इसलिए की कि किसी ज्योतिषी ने उसे बतलाया था कि यदि नालन्दा में विद्या का केन्द्र स्थापित होगा, तो वह एक हजार वर्षों तक स्थायी रहेगा। इस तरह ऐसी अनेक बातें थीं, जिनके कारण कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य ने नालन्दा में विद्या-केन्द्र स्थापित किया।

नालन्दा की प्राचीनता

महेन्द्रादित्य ने विद्या-केन्द्र के रूप में जिस धर्म-बीज का रोपण किया, उसका प्ररोहण होने पर उस बिरवे का सिंचन और संवर्द्धन उसके वंशज भली भाँति करते रहे। इस विद्या-केन्द्र का समुचित इतिहास हमें चीनी यात्री ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण में प्राप्त होता है, जो ६३० ई० में भारत पहुँचा और ६४५ ई० के लगभग भारत से विदा हुआ।

ह्वेनसांग का जन्म ६०० ई० में चीन देश के 'काउसी' प्रांत के 'चिनलू' नामक ग्राम में हुआ था। बौद्धधर्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिए, उसने अपने देश से, उनतीस वर्ष की आयु में, भारत के लिए प्रस्थान किया। भगवान् बुद्ध ने अपनी उनतीस वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण कर गृह का त्याग किया था। जान पड़ता है, ह्वेनसांग ने उन्हीं का अनुसरण किया। यह हर्षवर्द्धन के राज्य-काल (सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध) में भारत आया और उसी के दरबार से अपने देश के लिए ससम्मान विदा हुआ। भारत में आने पर हर्षवर्द्धन से मिलने जब यह 'थानेश्वर' गया, तब हर्षवर्द्धन यात्रा पर गया था और वह पूर्वी देश में था। ह्वेनसांग वहाँ से चलकर मथुरा, श्रावस्ती होते हुए बिहार-प्रदेश में आया। बिहार में वह सर्वप्रथम महाशाल (मसाढ़, शाहाबाद) आया। वहाँ से आरा नगर का चैत्य देखते हुए उसने गंगा को पार किया और आटवी, वैशाली, श्वेतपुर होते हुए वह

ह्वेनसांग

१. देखिए—इस पुस्तक का—पृ० ८०

२-३. देखिए—नालन्दा (डॉ० हीरानन्द शास्त्री)—पृ० ४

पुनः गंगा पार कर पटना पहुँचा। इसके बाद बोधगया आदि स्थानों का भ्रमण करके वह नालन्दा गया। वहाँ 'शीलभद्र' आचार्य से उसकी भेंट हुई। किन्तु थोड़े दिनों बाद ही वह भारत-भ्रमण के लिए नालन्दा से भी चल पड़ा। समस्त भारत के प्राचीन नगरों और बौद्ध-तीर्थों का भ्रमण कर जब वह दुबारे नालन्दा आया, तब पाटलिपुत्रपर मालवा के राजा माधवसेन के पुत्र 'माधवगुप्त' का शासन था, जिसे हर्षवर्द्धन ने बैठाया था[1]। यह माधवसेन पाटलिपुत्र के गुप्त राजाओं का ही वंशज था, जो मालवा का शासन-भार वहन करता था और जो गुप्तों के अस्त होते हुए प्रतापादित्य के तेजोहीन धूमिल प्रभा का प्रतीक-मात्र था। नालन्दा में ह्वेनसांग ने जब शिक्षा प्राप्त करने की जिज्ञासा प्रकट की, तब आचार्य शीलभद्र ने उसे पहले-पहल योग-दर्शन और न्याय-दर्शन पढ़ने के लिए एक क्षत्रिय विद्वान् के पास भेज दिया। वह विद्वान् कौन था और उस समय बिहार-प्रदेश में विद्वत्ता का गौरव कैसा था, इसका वर्णन स्वयं ह्वेनसांग ने ही किया है। उसी के द्वारा लिखी थोड़ी बात पढ़ें—

"राजगृह के यष्टिवन विहार (आजकल का जेठियन[2] गाँव) में 'सुरथ जयसेन' नामक एक क्षत्रिय था। वह दर्शन और शब्द-शास्त्र का महान् विद्वान् था। उसीके पास योग-दर्शन और न्याय-दर्शन पढ़ने के लिए 'शीलभद्र' ने हमें भेजा। उसके पास जाकर दो वर्षों तक मैंने 'विद्यामात्र सिद्धि' आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। फिर उसके बाद योग-शास्त्र और हेतुविद्या के कठिन स्थलों का विधिवत् अध्ययन-मनन किया। जयसेन बचपन में नालन्दा के आचार्य भद्ररुचि से पढ़ता था और वहीं पढ़कर न्याय-शास्त्र का वह गम्भीर विद्वान् बना था। इसके बाद जयसेन ने 'बोधिसत्त्व स्थिरमति' से शब्द-विद्या का अध्ययन किया। पश्चात् उसने हीनयान, महायान आदि अनेक शास्त्रों का अध्ययन समाप्त किया। इसके बाद उसने शीलभद्र से योग-शास्त्र का अध्ययन किया था। फिर वेद, वेदाङ्ग, उपवेद, तंत्रशास्त्रादि का पण्डित होकर यष्टिवन विहार में रहता था। वह अत्यन्त आचारवान् था तथा लोक में उसकी अतिशय प्रतिष्ठा थी। मगध के राजा 'पूर्णवर्मा' ने उसकी विद्वत्ता तथा आचार की कीर्त्ति श्रवण कर एक बार उसे अपने पास बुलाया तथा बीस गाँवों की जागीर देनी चाही; पर जयसेन ने अस्वीकार कर दिया। इसके बाद उसकी कीर्त्ति हर्षवर्द्धन तक पहुँची, और उसने भी उसे उड़ीसा के बीस बड़े-बड़े गाँवों का मालिक बनाना चाहा; पर जयसेन ने कहला भेजा कि जयसेन भली भाँति जानता है कि दान लेने से मनुष्य राग में फँस जाता है। जयसेन को ऐसी बातों के लिए अवकाश नहीं है।"

ह्वेनसांग का प्रथम गुरु 'सुरथ जयसेन'

जयसेन जीवन-भर स्वयं अध्ययन करता हुआ विद्यार्थियों को पढ़ाता रहा। अध्ययन और अध्यापन के अतिरिक्त उसका दूसरा कोई काम नहीं था। ह्वेनसांग अपने इसी गुरु के

१. बिहार: एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० १६२

२. जेठियन, राजगृह के मुख्य नगर से ६ मील पश्चिम और राजगृह के पश्चिमी द्वार पर अवस्थित है। —ले०

साथ महाबोधि विहार (बोधगया) का उत्सव देखने गया था, जहाँ उसने भगवान् की धातुओं को, रात्रि में, सूर्य की तरह प्रकाश करते देखा था। इसने जयसेन के पास अध्ययन समाप्त कर नालन्दा-विश्वविद्यालय में प्रवेश किया और शीलभद्र से बौद्ध ग्रन्थों को पढ़ा।

बिहार-प्रदेश के नालन्दा-विश्वविद्यालय के इतिहास और व्यवस्था के परिचय के सम्बन्ध में भी विभिन्न उल्लेखों के अनुसार न कुछ कहकर प्रत्यक्षदर्शी ह्वेनसांग का ही विवरण देना अधिक युक्तियुक्त होगा, जिससे पता चलेगा कि बौद्धधर्म के स्थायित्व के लिए बिहार-प्रदेश ने कैसा कार्य किया था। विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में ह्वेनसांग लिखता है—

"नालन्दा-विश्वविद्यालय में (मेरे समय में) छह संघाराम थे, जिनमें एक गिर गया था और पाँच विद्यमान थे। इनमें से एक मगध के राजा शक्रादित्य (महेन्द्रादित्य कुमारगुप्त) का बनवाया हुआ था। इसके बीच में एक विहार भी बना है। यह विहार अबतक विद्यमान है। यहाँ चालीस श्रमणों को नित्य भोजन मिलता है। शक्रादित्य की सभा में एक ज्योतिषी था, जिसने कहा था कि यह स्थान सर्वोत्तम है। यहाँ पर बना संघाराम विश्वविख्यात होगा और यह एक सहस्र वर्षों तक विद्या का केंद्र होगा। शक्रादित्य के बाद उसका पुत्र बुधगुप्त सिंहासन पर बैठा। उसने भी अपने पिता के संघाराम की दक्षिण दिशा में दूसरा संघाराम बनवाया। बुधगुप्त के बाद उसके पुत्र तथागतगुप्त ने तीसरा संघाराम शक्रादित्य के संघाराम से पूर्व दिशा में बनवाया। इसके बाद बालादित्य (नरसिंहगुप्त) मगध के राज्य-सिंहासन पर आसीन हुआ। उसने शक्रादित्य के संघाराम से उत्तर-पूर्व दिशा में चौथा संघाराम बनवाया। इस संघाराम में यह नियम था कि उपासकों में से जो गृहत्याग कर भिक्षु-संघ में रहेगा और जबतक प्रव्रज्या ग्रहण नहीं करेगा, आयु के अनुसार वह ज्येष्ठ माना जायगा। इस राजा (बालादित्य) की एषणा के कारण ही आयु से ज्येष्ठता मानी जाती थी[1]। इसके बाद वज्रादित्य नामक गुप्त राजा ने अपने पिता (बालादित्य) के विहार से पश्चिम और शक्रादित्य के विहार से उत्तर एक पाँचवाँ संघाराम बनवाया था। वज्रादित्य के बाद दक्षिण के एक राजा ने शक्रादित्य के संघाराम से पश्चिम की ओर एक छठे विहार का निर्माण कराया था।

नालन्दा विश्वविद्यालय का परिचय

"उपर्युक्त इन छह संघारामों का आवेष्टन करता हुआ एक सुदृढ़ प्राकार भी बना था। विद्यापीठ मध्य भाग में था। उसके किनारे-किनारे की दीवारों से सटी आठ बड़ी कक्षाएँ भी थीं। उनके कंगूरे आकाश से बातें करते थे। नुकीले पर्वत के समान मनोहर उत्सेध (अट्टालिका) शृंखला-बद्ध बने थे। वेधशालाएँ इतनी ऊँची थीं कि दृष्टि काम नहीं करती थी। उसके ऊपर का सिरा बादल को छूता हुआ जान पड़ता था। उनके ऊपर ऐसे यंत्र स्थापित थे कि

१. नरसिंहगुप्त बालादित्य अपनी ३० वर्ष की आयु में प्रव्रजित होकर भिक्षुसंघ में मिल गया। फिर भी यह ज्येष्ठ नहीं माना जाता था। अपने पुत्र की मृत्यु से पागल होकर ३६ वर्ष की आयु में इसने आत्महत्या कर ली थी। भिक्षुसंघ में रहने पर भी इसकी गृह-एषणा नहीं गई थी।
—बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० १४८

उनसे वायु और वर्षा के आने का ज्ञान होता था। उनसे सूर्य, चन्द्रादि के ग्रहण तथा ग्रह-युद्ध का निरीक्षण होता था। विहार से पृथक् एक छात्रावास था, जो चार तल्ले का था। उसमें मोती के समान श्वेतवर्णवाले स्तम्भों की पंक्ति थी। ऊपर पाँवड़ी थी और छज्जे की कड़ियों के सिरे पर अद्भुत जन्तुओं के सिर बने हुए थे। सबसे ऊपर खपड़े की छाजन थी। उसमें सर्वदा १०००० (दस हजार) भिक्षु वास करते थे तथा दूर-दूर से विद्याध्ययन के लिए आते थे। विद्यापीठ में केवल हीनयान और महायान तथा उनके अठारह निकायों की ही शिक्षा नहीं दी जाती थी, अपितु वेद, वेदाङ्ग, उपवेद, दर्शन आदि की भी शिक्षा मिलती थी। केवल त्रिपिटक जाननेवाले तो मुँह चुराये फिरते थे। विद्यापीठ में १५०० उपाध्याय थे, जिनमें एक हजार उपाध्याय ३० ग्रंथों की शिक्षा देते थे। उनमें पाँच सौ उपाध्याय जो बीस ग्रन्थों के शिक्षक थे। इन सबके प्रधान (पीठ-स्थविर) उपाध्याय 'शीलभद्र' थे। वे सभी विद्याओं में पारंगत तथा समस्त ग्रन्थों की शिक्षा देने में दक्ष थे। यहाँ के भिक्षु बड़े गंभीर और शांत होते हैं। सात सौ वर्षों से[1]—जबसे यह विद्यापीठ है—यह कभी नहीं सुनाई पड़ा कि कभी किसी ने (विद्याध्ययन करनेवाले या यहाँ रहनेवाले ने) विनय के नियमों का उल्लंघन किया हो। विहार के व्यय के लिए इस जनपद के राजा ने १०० गाँवों की आय दान में दे दी है। इस विद्यापीठ में बड़े-बड़े विद्वान् अध्यापक हो चुके हैं, जिनमें धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र, ज्ञानगर्भ, शीघ्रबुद्ध, भद्रसेन, शीलभद्र इत्यादि प्रमुख हैं। ये सब शास्त्रकार, व्याख्याता तथा भाष्यकार हैं[2]।"

चीनी यात्री द्वारा वर्णित इस लम्बे उद्धरण से नालन्दा-विश्वविद्यालय की गरिमा तथा अस्तित्व का पता अच्छी तरह चलता है। इसके साथ ही बौद्ध धर्म के विकास में गुप्त-कालीन विहार की देन भी एक विदेशी विद्वान् द्वारा प्रशंसित होती दीख पड़ती है। वह प्रशस्ति पक्षपात-रहित और प्रामाणिक समझी जानी चाहिए। गुप्तकाल में नालन्दा नगर ही बौद्धधर्म का सबसे बड़ा केन्द्र था, जिसके विद्वान् देश-देशान्तर में बौद्धधर्म के प्रसार तथा बौद्ध ग्रन्थों के प्रणयन में दत्तचित्त थे। इस विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के सम्बन्ध में चीनी यात्री 'इत्सिंग' ने (जो 'ह्वेनसांग' के बाद ही भारत आया) भी नालन्दा के सम्बन्ध में लिखा है—'नालन्दा के धर्मगंज हिस्से में तीन विशालकाय पुस्तकालय थे, जिनका नाम था—रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरञ्जक।' इनमें रत्नोदधि नौ खण्डों में स्थित था। सभी खण्डों में अगणित ग्रन्थ-रत्न भरे पड़े थे। केवल पाण्डुलिपियाँ तैयार करने के लिए अनेक भिक्षु नियुक्त किये गये थे। ह्वेनसांग भी यहाँ दो वर्षों तक बैठकर केवल प्रतिलिपि तैयार करता रहा। वह ६५७ ग्रन्थों की प्रतिलिपि तैयार कर चीन ले गया।

---

१. यह वाक्य ध्यान देने योग्य है। ह्वेनसांग अपने समय से ७०० वर्ष पहले नालन्दा-विद्यापीठ का अस्तित्व बतलाता है, जिससे पता चलता है कि विद्यापीठ गुप्त राजाओं से पहले ही स्थापित हुआ था। हिसाब लगाने से यह समय शुंगकाल का अन्तिम चरण प्रमाणित होता है। —ले०

२. युवेनच्वांग (जगन्मोहन वर्मा)—पृ० १३६ से १४० तक।

ईत्सिंग ने भी बौद्धधर्म की शिक्षा नालन्दा में ही पाई थी, जिसके सहपाठियों में शान्तिरक्षित-जैसे विद्वान् थे। यह सातवीं सदी के अन्त में भारत आया था। इसने भी नालन्दा के 'रत्नोदधि' पुस्तकालय से ४०० (चार सौ) ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार की थीं। नालन्दा के कई हस्तलिखित ग्रन्थ कैम्ब्रिज तथा लन्दन के पुस्तकालयों में प्राप्त हुए हैं।

ह्वेनसांग ने लिखा है कि इस विश्वविद्यालय के नियम-आचार बड़े ही कठोर थे, जो सभी भिक्षु तथा विद्यार्थियों के द्वारा पूरी तत्परता के साथ पालन किये जाते थे। घंटे की आवाज पर शयन, जागरण, भोजन, अध्ययन, पूजन-आराधन आदि होते थे। गुरुजनों के प्रति श्रद्धा तथा शिष्टता का बर्त्ताव यहाँ प्रशंसनीय था। प्रत्येक अध्ययनार्थी का जीवन स्वच्छ, त्याग तथा तपस्या का जीवन था। संघाराम की एक-एक कोठरी में, एक-एक छात्र के रहने का प्रबन्ध था, जिसमें पत्थर की पटिया का शयनासन बना था। सभा तथा सामूहिक गोष्ठी के लिए अलग प्रशस्त मण्डप था, जिसमें २००० (दो हजार) भिक्षु तक एक साथ बैठ सकते थे। विद्यापीठ में अध्ययनार्थियों के लिए अन्न, वस्त्र, शय्या, औषध आदि का निःशुल्क प्रबन्ध था। स्वयं ह्वेनसांग को, जबतक वह नालन्दा में रहा, नित्य १२० जम्बीर, २० सुपारियाँ, आधा छटाँक कपूर और साढ़े तीन छटाँक बारीक बासमती अरवा चावल मिलता था। इनके अतिरिक्त नित्य उचित मात्रा में तेल तथा मक्खन भी मिलता था।

विश्वविद्यालय की आय, ह्वेनसांग के बाद और ईत्सिंग के समय में, तो और बढ़ गई थी तथा व्यवस्था भी पहले से अच्छी हो गई थी। यहाँ विद्या प्राप्त करने के सभी साधन व्यवस्थित ढंग से पूर्ण मात्रा में उपलब्ध थे। इन सभी दृष्टिकोणों से देखने पर स्पष्ट पता चलता है कि गुप्तकाल में बौद्धधर्म के प्रवाहों का मूल स्रोत यह नालन्दा विश्वविद्यालय ही था, जहाँ से बौद्धधर्म की निर्मल जल-धारा देश-देशांतरों में प्रवाहित होती थी।

नालन्दा में जिन विदेशी विद्वानों ने आकर शिक्षा प्राप्त की, उनमें से कुछ व्यक्तियों के नाम इस प्रकार हैं[1]—

१. **शर्मन-ह्वुन-चिन** (प्रकाशमति), यह सातवीं सदी में आया और तीन वर्षों तक नालन्दा में अध्ययन करता रहा।
२. **थौन्ही** (श्रीदेव), इसने महायान-सम्प्रदाय के ग्रन्थों का अध्ययन किया।
३. **आर्यवर्मन्** ने भी यहाँ शिक्षा प्राप्त की, यह एक कोरिया-निवासी भिक्षु था।
४. एक और कोरिया-निवासी भिक्षु शिक्षा लेने ६८८ ई० में यहाँ आया था।
५. **स्वी-हांग**—सातवीं सदी में नालन्दा आया और इसने आठ वर्षों तक बौद्धधर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया।
६. **ओकोंग** (धर्मदत्त), इसने यहाँ तीन वर्षों तक विविध ज्ञान प्राप्त किया।
७. **ईत्सिंग** ने तो दस वर्षों तक, बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त, अन्य भारतीय शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया था।

१. जयन्ती-स्मारक ग्रन्थ (पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय)—पृ० २०२-२०३

८. तोफांग (चन्द्रदेव) ने भी यहीं शिक्षा पाई थी।

९. तांग-तॉंग ने भी यहाँ महायान-पंथ के ग्रन्थों में निपुणता प्राप्त की।

१०. ह्यू न्-सन, यह भी कोरिया का ही रहनेवाला था, जो इतिहास में *प्रयाण वर्मा* के नाम से प्रसिद्ध है।

११. किंग-चू (शीलप्रभ) ने नालन्दा में केवल शब्द-शास्त्र का ही अध्ययन किया।

१२. ह्यू न्-तान, यह दस वर्षों तक नालन्दा में अध्ययन करता रहा।

१३. वान-हांग (प्राज्ञदेव), इसने नालन्दा में कोश-विद्या का कई वर्षों तक अध्ययन किया था।

इनमें से कई पाल-काल में नालन्दा आये थे।

गुप्तकाल में पूर्णतया स्थापित नालन्दा-विद्यापीठ लगभग ७०० वर्षों तक जगमगाता रहा और ज्ञान-केन्द्र के रूप में संसार में प्रसिद्ध बना रहा। पाल-काल में भी यह अपने उन्नत शिखर पर रहा। डॉ० हीरानन्द शास्त्री के तत्त्वावधान में जो नालन्दा की खुदाई हुई थी, उसमें एक शिला-लेख मिला था, जो आठवीं सदी के कन्नौज राजा यशोवर्मा का बतलाया गया है। इस शिला-लेख से नालन्दा के उन्नत गौरव का चित्र स्पष्ट मालूम होता है। शिला-लेख में संस्कृत के दो श्लोक हैं, जिन्हें डॉ० शास्त्री ने अपनी रिपोर्ट 'नालन्दा' पुस्तिका[१] में उद्धृत की है। इन श्लोकों से नालन्दा की तत्कालीन कई विशेषताएँ ज्ञात होती हैं—

नालन्दा का शिला-लेख

यासावूर्जितवैरिभूप्रविगलद्दानाम्बुपानोल्लस—
न्माद्यद्भृङ्गकरीन्द्रकुम्भदलनप्राप्तश्रियाम्भूभुजाम् ।
नालन्दा हसतीव सर्वनगरीः शुभ्राभ्रगौरस्फुर—
च्चैत्यांशुप्रकरैस्सदागमकलाविख्यातविद्वज्जना ॥
यस्यामम्बुधरावलेहिशिखरश्रेणीविहारावली—
मालेवोर्ध्वविराजनीविरचिता धात्रा मनोज्ञा भुवः ।
नानारत्नमयूखजालखचितप्रासाददेवालया
सद्विद्याधरसङ्घरम्यवसतिर्धत्ते सुमेरोः श्रियम् ॥

अर्थात्—"ऊर्जस्वित अरियों की राज्य-भूमि में निरन्तर गिरनेवाले गजमद-रूपी जल को पीकर मतवाले बने भौंरे जिन गजराजों के मस्तक पर मँड़राते रहते हैं, ऐसे गजपतियों के कुम्भ का दलन करके जिन्होंने विजय-श्री प्राप्त कर ली है, उन राजाओं की जितनी भी राजधानियाँ हैं, उन सबके प्रति यह नालन्दा नगरी अपने शुभ्र बादलों के समान ऊँचाई तक चमकनेवाले चैत्यों के किरण-समूह के बहाने मानों हँस रही है। यह अनेक आगम-शास्त्रों तथा कलाओं के मर्मज्ञ विद्वानों से सदा भरी रहती है। नालन्दा के ऊँचे-ऊँचे विहारों (मठों) की पंक्तियाँ बादलों को छूनेवाली शिखर-पंक्तियों के सदृश हैं, जिनसे जान पड़ता है कि

[१] प्रकाशक—मैनेजर ऑफ पब्लिकेशन, देहली, सन् १९३८ ई०।

विधाता ने मानों पृथ्वी के ऊपरी भाग में एक सुन्दर (कुन्द की) माला फैला दी है। इतना ही नहीं, नाना मणि-माणिक्यों के किरण-जाल से युक्त अट्टालिकाओंवाले देवालय भी हैं, जहाँ सद्विद्याधरों (सद्-विद्याओं के ज्ञानी-मानी पण्डितों) के संघ विद्यमान हैं, जिस कारण यह नालन्दा सुमेरु पर्वत के ऐश्वर्य को धारण किये हुई है ; क्योंकि सुमेरु के शिखर भी आकाश में चमकते हैं और उस पर्वत के ऊपर भी विद्याधरों (देवगण विशेष) का निवास रहता है।"

इन श्लोकों के कुछ पद ध्यान देने योग्य हैं। जिस समय यह शिला-लेख लिखा गया, उस समय विजयी राजाओं की अनेक राजधानियाँ यत्र-तत्र बन गई थीं। (इससे पालकाल के पूर्वकालीन राजनीतिक उथल-पुथल का पता चलता है।) इससे यह भी ज्ञात होता है कि इस शिला-लेख का प्रशस्ति-नायक विद्या और कला में पूरी अभिरुचि रखता था, जिसके कारण 'नालन्दा' में उसकी अमित श्रद्धा थी एवं नालन्दा के धर्मकार्य में पूरा हाथ बँटाता था। संभव है कि उस समय नालन्दा पर उसका अधिकार भी हो। उस समय नालन्दा में ऊँचे-ऊँचे विशाल चैत्य थे, जो बराबर चूने से पोते जाते एवं सजे रहते थे—उनपर राजा की पूरी निगरानी थी। नालन्दा में अनेक शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान् वास करते थे। चैत्यों के अतिरिक्त बौद्धों के अनेक तथा विशाल 'विहार' अवस्थित थे। उस समय नालन्दा में केवल बौद्धधर्म का ही अड्डा नहीं था, बल्कि वह हिन्दू-धर्म का भी केन्द्र बना हुआ था, जिससे वहाँ अनेक रम्य देवालय वर्त्तमान थे। वे देवालय बौद्धों के विहार की तरह ही विशाल और ऊँचे थे तथा उनके शिखरों में विविध रत्न जड़े थे। इन बातों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जनता और राजा की मनोवृत्ति हिन्दू-धर्म में पूरी श्रद्धा रखती थी। उन देवालयों में वेद-वेदाङ्ग के ज्ञाताओं का जमघट लगा रहता था। ये सारी बातें स्पष्ट करती हैं कि यह काल गुप्तकाल का अन्तिम समय था और अभी उसकी सारी व्यवस्था और उदारता नालन्दा पर लागू थी। कुछ लोग इस यशोवर्मा को दसवीं सदी में मानते हैं, जो ठीक नहीं जँचता है।

गुप्तकाल में प्रचार-कार्य

गुप्तकाल में बौद्धधर्म की जड़ अत्यन्त दृढ हो गई थी। अब यह धर्म न तो लादा हुआ था और न गतानुगतिक रह गया था; बल्कि लोगों की आन्तरिक श्रद्धा का धर्म हो गया था—उनके रोम-रोम में रम गया था। इस समय में धार्मिकजन मनुष्य की नैतिक ऊँचाई पर पहुँचकर ईर्ष्या-द्वेष तथा राग से रहित होकर धर्म का चिन्तन और उसका विस्तार करते थे। गुप्तकाल से पहले धर्म-प्रचार राजा की सहायता और प्रेरणा से होता था; पर इस काल में भिक्षु अपनी आन्तरिक प्रेरणा और श्रद्धा से स्वयं पुण्यार्जन के लिए धर्म-प्रचार करने लग गये थे। यह बौद्धधर्म की एक बहुत बड़ी विजय थी, जो गुप्तकाल में हुई थी और इसीलिए गुप्तकाल को मैंने संस्कृति और धर्म के लिए स्वर्णिम काल कहा है। इस काल में जिन धर्मधुरीणों ने विदेशों में जाकर बौद्धधर्म का विकास और प्रचार-कार्य किया, उनमें कुमारजीव, गुणवर्मन, रेवत, बुद्धदत्त, बुद्धघोष, धर्मपाल, गुणभद्र, धर्मजात यश, धर्मरुचि,

रत्नमति, बोधिरुचि, गौतम प्रज्ञारुचि, परमार्थ, जिनगुप्त, ज्ञानभद्र, जिनयश, धर्मज्ञान गौतम आदि प्रमुख थे। इन लोगों ने चीन, लंका, तिब्बत, बर्मा, चम्पा तथा जावा में धर्म-प्रचार का ऐसा कार्य किया, जो पहले कभी नहीं हुआ था। इनमें से जो विद्वान् मगध के रहनेवाले नहीं थे, वे या तो नालन्दा विद्यापीठ की देन थे अथवा गुप्त राजाओं के साहाय्य-सिंचन से उनकी धर्म-प्रवृत्ति पल्लवित-पुष्पित हुई थी। यों तो उस समय प्रायः सम्पूर्ण भारत की ही संस्कृति मगध-साम्राज्य की संस्कृति हो गई थी।

यह पूर्व में ही बतलाया गया है कि 'योनक' (यवन) देशों में; सम्राट् अशोक ने बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिए, महारक्षित नामक स्थविर को भेजा था[1]। इन्हीं देशों में 'खोतन' था, जहाँ गुप्तकाल तक बौद्धधर्म चरमोन्नति पर पहुँच गया था। इसी खोतन-प्रदेश से व्यापक रूप में प्रथम-प्रथम चीन-देश में बौद्धधर्म गया[2]। बात यह हुई कि सन् ३८३ ई०में—जब भारत में चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य का शासन था—जिसने शक-सम्राट् को मार-कर[3] उसकी वेगवती बाढ़ को पीछे की ओर ढकेल दिया था—चीन-देश के सम्राट् 'फू-चिएन' ने अपने सेनापति 'लू-कुआंग' को खोतन के 'कूची'-प्रदेश पर हमला करने के लिए भेजा। लू-कुआंग ने अपने ७० हजार सैनिकों के साथ कूची (कियन्त्सी) पर धावा किया। कूची-प्रदेश चीन की विशाल सेना के सामने ठहर नहीं सका और उसे बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी। लू-कुआंग अपनी लूट के वैभवों के साथ वहाँ के प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक (जिसका कूची में बड़ा नाम था) *कुमारजीव* को भी अपने साथ चीन ले गया। कुमारजीव के पितामह मगध के रहनेवाले थे, जो खोतन में जाकर बस गये थे। कुमारजीव के पिता का नाम 'कुमार' था और माता का नाम 'जीवा'। माता-पिता के संयुक्त नाम पर ही इनका नाम कुमारजीव पड़ा था। जब कुमारजीव लू-कुआंग के साथ चीन पहुँचे, तब चीन के राजा फू-चिएन ने इनकी विद्वत्ता देखकर इनका यथोचित सत्कार किया। इसी कुमारजीव ने चीन-देश में बौद्धधर्म का पूर्ण प्रचार किया। अपनी २६-२७ वर्षों के परिश्रम से (४१० ई० तक इन्होंने १०६) भारतीय बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इन्होंने ही ४०५ ई० में प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन की जीवनी का रूपान्तर चीनी भाषा में किया। इसी समय चीनी यात्री फाहियान बौद्ध-धर्म के अध्ययन के लिए भारत आया और उसने पाटलिपुत्र के अशोकाराम विहार में बौद्ध ग्रन्थों को पढ़ा था। कुमारजीव ने अपने तो स्वयं अनुवाद-कार्य तथा धर्म-प्रचार किया ही,

चीन में

---

१. देखिए—इस पुस्तक का—पृ० १७४

२. किन्तु 'काश्यप-परिवर्त्त' का जो चीनी अनुवाद प्राप्त हुआ है, वह १७८ ई० से १८४ ई० के बीच का अनुवाद माना गया है। इसी तरह 'शार्दूल कर्णावदान' का चीनी अनुवाद २६५ ई० में हुआ। —'बौद्धधर्म-दर्शन'—पृ० १४१ और पृ० १५५। इससे सिद्ध है कि चीन में ३८३ ई० के बहुत पूर्व बौद्धधर्म चला गया था। —ले०

३. अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्—हर्षचरितम्।

साथ ही अनेक विद्वानों को भी उसमें नियोजित किया तथा बहुत-से लोगों को धर्म-प्रचारार्थ बाहर से बुलाकर उसे स्थायित्व प्रदान किया। कुमारजीव का निर्वाण उसी साल हुआ, जब भारत में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की मृत्यु ४१२ ई० में हुई।

गुणवर्मन् उन्हीं लोगों में से एक था, जो कुमारजीव के इच्छानुसार अनुवाद-कार्य के लिए बाहर से बुलाया गया था। उस समय गुणवर्मन् 'जावा' देश में था। यह पहले कश्मीर से लंका गया और तब वहाँ से जावा पहुँचा। इसके जावा पहुँचने पर इसकी विद्वत्ता तथा भारत के गुप्त सम्राटों से मैत्री की भावना से प्रभावित होकर ही जावा के राजा ने बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया। भिक्षु गुणवर्मन् के समय में ही जावा पर आक्रमण हुआ था, जिसे जावा के राजा ने गुणवर्मन् की मंत्रणा के अनुसार उचित कार्यवाही कर विफल कर दिया। जावा की इस सफलता के कारण बौद्ध भिक्षु गुणवर्मन् की कीर्त्ति चीन तक पहुँच गई। चीन के सम्राट् ने अपने यहाँ उसे आमंत्रित किया। पहले तो जावा के राजा ने उसको भेजने में कुछ आनाकानी की; पर चीन-जैसे विशाल देश के प्रभाव और शक्ति को जानकर वह गुणवर्मन् को चीन भेजने के लिए राजी हो गया। गुणवर्मन् जावा से चीन गया और ४२१ ई० में 'नानकिंग' बन्दरगाह पर पहुँचा। वह जिस जहाज से चीन गया, वह मगध के 'नन्दी' नामक एक व्यापारी का जहाज था[1], जो माल लेकर चीन जा रहा था। उस समय तक फाहियान भी भारत से अनेक पुस्तकों की पाण्डुलिपि लेकर चीन पहुँच गया था।

गुणवर्मन् जब चीन पहुँचा, तब उसे वहाँ 'कुमारजीव' के सहयोगी विद्वान् भी मिले। इसके बाद भारत से जो लोग धर्म-प्रचार के लिए चीन गये, उनके नाम इस प्रकार हैं—*पुण्यत्रात, बुद्धयश, संघदेवगौतम, धर्मयश* (धर्मक्षेम या धर्मरक्ष), *गुणभद्र* आदि। ये सभी मुख्य धर्माचार्य थे। इनमें द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ भिक्षु मगध के ही निवासी थे तथा पाटलिपुत्र के अशोकाराम विहार में इनकी शिक्षा हुई थी। इन विद्वानों ने चीन में जाकर बौद्धधर्म को स्थायी रूप दिया। उस समय इनका वहाँ राजोचित स्वागत हुआ था तथा आजतक भी इनके प्रति चीनवालों का आदर-भाव वर्त्तमान है। ये सभी वहाँ[2] धर्माचार्य माने गये हैं। 'अश्वघोष' की कृतियों का चीनी भाषा में अनुवाद इसी काल में हुआ था। धर्मक्षेम या धर्मरक्ष ने 'सुवर्ण-प्रभाससूत्र' का चीनी अनुवाद ४१४ ई० से ४३३ ई० के बीच में किया था। धर्मरक्ष ने ही 'दशभूमीश्वर' का अनुवाद ४६७ ई० में किया था।

गुणभद्र मध्यदेश से ४२१ ई० में चीन गया। चीनी ग्रन्थों में मध्यदेश का तात्पर्य मगध और काशी के प्रदेश होता है। इस भिक्षु ने भी संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों के चीनी रूपान्तर का भारी प्रयत्न किया। यह महायान-सम्प्रदाय का प्रबल उपासक था, इसलिए इसका एक नाम 'महायान' भी था। इस विद्वान् भिक्षु ने बौद्धधर्म के ७८ संस्कृत-ग्रन्थों का चीनी अनुवाद प्रस्तुत किया, जिनमें अद्यावधि २८ अनूदित ग्रन्थ सुलभ हैं। 'लंकावतारसूत्र' का

१. पाटलिपुत्र की कथा—पृ० ५३४

२. बौद्धधर्म-दर्शन (आचार्य नरेन्द्रदेव)—पृ० १५६

अनुवाद इसने ४४३ ई० में किया। इसके अतिरिक्त चीनी भाषा में कुछ प्रसिद्ध संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

१. *संयुक्त आगम*, जो हीनयान-मत का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।
२. *क्षुद्रक अपरिमितायुष*—यह महायान-मत का ग्रन्थ है।
३. *रत्नकरण्डक व्यूहसूत्र*।
४. *अभिधर्मप्रकरणपदशास्त्र*—यह वसुमित्र की रचना है, और वैभाषिक सम्प्रदाय का सर्वास्तिवादी ग्रन्थ है।
५. *संततिसूत्र* }
६. *मुक्तिसूत्र* } दोनों धर्मलक्षण-सम्प्रदाय के ग्रन्थ हैं।

७. *वैपुल्यसूत्र*—इसका अनुवाद गुणभद्र ने *श्रीमालादेवीसिंहनाद* के नाम से किया है। इससे ज्ञात होता है कि गुणभद्र की माता का नाम मालादेवी था अथवा मालादेवी का यह उपासक था। इस प्रकार, बौद्धधर्म की सेवा करते हुए सन् ४६८ ई० में गुणभद्र का देहान्त चीन देश में ही हुआ। मृत्यु के समय इसकी आयु ७५ साल की थी।

धर्मजातयश नामक बौद्ध भिक्षु मगध से चीन ४८१ ई० में गया। इसके बाद छठी शताब्दी के आरंभ में *धर्मरुचि*, *रत्नमति*, *बोधिरुचि* तथा गौतम *प्रज्ञारुचि* मगध-देश से चीन गये। इनमें प्रज्ञारुचि वैशाली का रहनेवाला था। ये सभी नालन्दा-विश्वविद्यालय के माने-जाने आचार्य थे। 'लंकावतारसूत्र' का चीनी अनुवाद बोधिरुचि ने भी ५१३ ई० में किया। इसने 'चित्तविशुद्धि-प्रकरण' का अनुवाद भी किया था। इनके अतिरिक्त वसुबन्धु की लिखी 'सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रशास्त्र' की टीका का अनुवाद बोधिरुचि और रत्नमति—दोनों ने मिलकर ५०८ ई० में प्रस्तुत किया था।

परमार्थ नामक बौद्ध दार्शनिक सन् ५३६ ई० में, उपर्युक्त सभी विद्वानों के बाद, चीन गया। इसीने चीन में 'योगाचार'-सम्प्रदाय का प्रचार किया। इसने 'सुवर्णप्रभाससूत्र' का चीनी अनुवाद ५५२ ई० से ५५७ ई० के मध्य में किया था।

यद्यपि परमार्थ का जन्म ४६८ ई० में उज्जैन नगर में हुआ था, तथापि उसकी सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा तथा कर्मभूमि मगध की ही भूमि थी। चीन-देश के 'लिआंग'-वंश के द्वारा एक सद्भाव-मण्डल, बौद्ध विद्वानों की खोज में, ५३६ ई० में मगध आया था[1]। उस समय मगध की गद्दी पर जीवगुप्त (प्रथम) आसीन था[2]। चीनी सद्भाव-मण्डल जीवगुप्त से मिला और प्रार्थना की कि हमारे देश के राजा ने आपके पास इसलिए भेजा है कि कोई अच्छा बौद्ध विद्वान् हमारे देश में आप भेजें। जीवगुप्त ने सद्भाव-मण्डल की प्रार्थना स्वीकार कर परमार्थ को ही अनेक पुस्तकों के साथ चीन-देश भेजा। चीन पहुँचने पर इसका शाही

१. चीनी बौद्धधर्म का इतिहास (डॉ० चाउ-सिआंग-कुआंग)—पृ० ६४-६५
२. "कृष्णगुप्त, हर्षगुप्त और जीवगुप्त प्रथम—इन तीनों ने संभवतः ५१० ई० से ५५४ ई० के बीच राज्य किया।"—प्राचीन भारत का इतिहास (भगवतशरण उपाध्याय)—पृ० २६०

सत्कार राजा की ओर से किया गया। इसने चीन में २४ वर्षों तक धर्म का प्रचार किया। परमार्थ ने केवल 'लिआंग-काल' में १६ बौद्ध ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी में अनुवाद किया। इसके बाद इसने 'चेन-काल' में तो ५१ ग्रन्थों का अनुवाद किया। परमार्थ ने कुल ३०० खण्डों में ७० संस्कृत-ग्रन्थों का चीनी रूपान्तर प्रस्तुत किया था। इसकी भी मृत्यु चीन में ही, एकहत्तर वर्ष की अवस्था में, ५६६ ई० में हुई थी।

परमार्थ के बाद बौद्धधर्म के प्रचार के लिए, चीन-देश में, भारत से जो भिक्षु गये, उनमें *जिनगुप्त*, *ज्ञानभद्र*, *जिनयश* तथा *धर्मज्ञान गौतम* के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें जिनगुप्त पेशावर का रहनेवाला था, शेष सभी बौद्ध विद्वान् मगधवासी थे[1]। इस समय वैशाली-निवासी *प्रज्ञारुचि* के ज्येष्ठ पुत्र *धर्मप्रज्ञ* ने 'कर्मफल-विभंगसूत्र' का चीनी अनुवाद किया था। धर्मप्रज्ञ ने भी पिता की तरह ही चीन में धर्म की सेवा की। एक अनुश्रुति के अनुसार इस काल में, चीन-देश में, भारतीय भिक्षुओं की संख्या तीन हजार तक पहुँच गई थी, जिसका बहुत बड़ा श्रेय मगध के गुप्त राजाओं का था। इसी समय, सन् ५८५ ई० से ५९२ ई० के बीच 'राष्ट्रपाल परिपृच्छा' का चीनी अनुवाद प्रस्तुत हुआ था।

गुप्त-साम्राज्य के दुर्दिन के काल में भी नालन्दा-विश्वविद्यालय और मगध-देश की धर्मभूमि ने बौद्धधर्म के प्रसार और प्रचार से अपना मुँह नहीं मोड़ा था। सन् ७१६ ई० में, नालन्दा के आचार्य *धर्मगुप्त* का प्रसिद्ध शिष्य *शुभाकरसिंह*, अपनी ८० वर्ष की आयु में, चीन गया। *वज्रमति* के सहयोग से इसने चीन में 'गुह्य-सम्प्रदाय' की स्थापना की। वज्रमति ५८ वर्ष की अवस्था में चीन गया था, जो शुभाकरसिंह से छोटा था। वज्रमति का ही शिष्य *अमोघवज्र* था, जो अपनी २१ वर्ष की अवस्था में, अपने गुरु के साथ, चीन गया था। अपने गुरु के देहावसान के बाद 'अमोघवज्र' ने ही चीन में गुह्य-समाज की नींव दृढ़ की तथा उसका विस्तार किया। वज्रमति अपने शिष्य को तो ले ही गया, साथ में ५०० ऐसे बौद्धग्रन्थ भी ले गया था जो चीन-देश में उस समय तक नहीं पहुँचे थे। अमोघवज्र ने इन ग्रन्थों में से ७७ ग्रन्थों का चीनी अनुवाद, १२० खण्डों में, लगातार पचीस वर्षों के परिश्रम से, तैयार किया। इस तरह चीन में बौद्धधर्म को दृढ़ करने में बिहार-प्रदेश के भिक्षुओं ने जो घोर परिश्रम किया, वह स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है।

लंका में बौद्ध साहित्य का व्यास 'बुद्धघोष'

गुप्तकाल में बौद्धधर्म-गगन के सबसे प्रखर देदीप्यमान नक्षत्र बुद्धघोष हैं। बिहार की भूमि ने बौद्धधर्म की गौरव-वृद्धि के लिए जिन विशिष्ट विभूतियों को संसार के सामने उपस्थित किया, उनमें बुद्धघोष विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बुद्ध के समय में सारिपुत्र-मौद्गलयायन, प्रथम संगीति के अवसर पर महाकाश्यप, नन्दिवर्द्धन के समय में द्वितीय संगीति के अध्यक्ष सर्वकामी स्थविर, सम्राट् अशोक के समय में तृतीय संगीति के नियामक मोग्गलिपुत्र तिष्य, कुषाण-काल में महायान-सम्प्रदाय के संस्थापक अश्वघोष और पुनः गुप्तकाल में भी

१. पाटलिपुत्र की कथा—पृ० ६१६

बुद्धघोष-जैसे महाविद्वान् को बिहार-प्रदेश ने बौद्धधर्म के लिए समर्पित किया, जिसकी विद्वत्ता और लेखनी से पालि-साहित्य अच्छी तरह समृद्धि हुआ। बुद्धघोष का समय गुप्त-सम्राट् कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य का, ४१३ ई० से ४५५ ई० तक का, है। ये पालि-साहित्य के युग-विधायक आचार्य माने जाते हैं। पालि-साहित्य की समृद्धि के लिए जैसा विशाल उद्योग बुद्धघोष ने किया, वैसा अध्यवसाय 'एक सौ व्यक्तियों के लिए, एक सौ वर्षों के परिश्रम के बाद भी, कठिन है।' इन्होंने सिलोनी (लंका की) भाषा से समस्त पिटकों का पालि-भाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया तथा अनेक स्वतंत्र ग्रन्थों के साथ अट्ठकथाएँ भी लिखीं। लंका के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ 'महावंस' के परिवर्द्धित संस्करण 'चूलवंस' में, बुद्धघोष का जीवन-वृत्तान्त प्राप्त होता है, जो तेरहवीं सदी की रचना माना जाता है, उसी ग्रन्थ के आधार पर यहाँ हम बुद्धघोष का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं[१]।

बुद्धघोष का जन्म बिहार-प्रदेश के प्रसिद्ध स्थान बोधगया के पास, किसी गाँव में हुआ था। यह भी एक आश्चर्य का ही विषय है कि ऊपर प्रत्येक काल के जिन विद्वानों के नाम गिनाये गये हैं, जो सभी ब्राह्मण-वंश के थे, उन्हीं की तरह बुद्धघोष का भी जन्म ब्राह्मण-कुल में ही हुआ था। यह इसलिए कहना पड़ा कि भगवान् बुद्ध यद्यपि जाति में ब्राह्मण को श्रेष्ठ नहीं मानते थे, और ब्राह्मण-धर्म के स्वयं विरोधी थे, तथापि स्वयं बौद्धधर्म जिन महाविद्वानों के कारण संसार में लब्धप्रतिष्ठ हुआ, वे सभी ब्राह्मण-वंश की ही उपज थे। अस्तु।

बुद्धघोष बाल्यवस्था से ही कुशाग्रबुद्धि छात्र थे। अल्पकाल में ही इन्होंने वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, शब्दविद्या आदि शास्त्रों में निपुणता प्राप्त कर ली। ये व्याकरण-शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् तथा ब्राह्मणधर्मानुयायी थे। इनके द्वारा विरचित बौद्ध ग्रन्थों में भी ब्राह्मण-धर्म की छाप दीख पड़ती है। इनकी शिक्षा बोधगया के विहार में ही हुई थी। कहते हैं कि विद्या-मद के कारण ये घूम-घूमकर विद्वानों से शास्त्रार्थ करते चलते थे। इसी सिलसिले में एक रात मगध के किसी बौद्ध-विहार में पहुँचे। रात्रि में बौद्ध विद्यार्थियों ने इनसे 'पातंजल-योगसूत्र' पर कुछ चर्चा छेड़ दी। कहते हैं कि बौद्ध महास्थविर 'रेवत' की उपस्थिति में ही इन्होंने 'पातंजल-योगसूत्र' पर जो प्रवचन किया, उससे सम्पूर्ण बौद्ध मण्डली स्तब्ध रह गई। महास्थविर रेवत ने सोचा कि यदि यह ब्राह्मण किसी तरह बौद्धधर्म में आ जाता, तो धर्म का बहुत बड़ा कल्याण होता। रेवत स्वयं ब्राह्मण-दर्शन और बौद्ध दर्शन—दोनों के बहुत बड़े विद्वान् थे। महास्थविर ने जान-बूझकर दर्शन-शास्त्र की चर्चा छेड़ी, जिसके चक्कर में बुद्धघोष आ गये और स्थविर से भिड़ गये। पर इस विषय में महास्थविर रेवत ने तुरत इनका सारा विद्या-मद चूर कर दिया और इनकी बोलती बन्द कर दी, जिससे बुद्धघोष ने वहीं रेवत का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। यहीं से बुद्धघोष का नवीन जीवन आरम्भ हुआ। इन्होंने रेवत से विधिवत् बौद्धधर्म की दीक्षा लेकर बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया। बौद्ध शास्त्रों में ये शीघ्र ही पूर्ण पारंगत भी

१. विस्तार के लिए देखिए—'महावंस', परि० ३७—'बुद्धघोसुप्पत्ति'।

हो गये। इनके घरेलू नाम का पता नहीं चलता। बुद्धघोष नाम तो बौद्ध सम्प्रदाय का दिया हुआ है। इनका कण्ठ-घोष (वाणी) भगवान् बुद्ध के घोष के सदृश था, इसलिए इनका नाम बुद्धघोष बौद्धों ने दिया[1]।

बुद्धघोष ने अपनी विद्वत्ता का परिचय रेवत के शिष्यत्व में ही आरम्भ कर दिया। इन्होंने *धम्मसंगिणि* नामक ग्रन्थ पर 'अट्ठसालिनी' नाम की अट्ठकथा लिखी। अट्ठसालिनी एक तरह का भाष्य है, जिसे देखकर 'रेवत' को बड़ा ही आश्चर्य हुआ, किन्तु साथ ही शिष्य की प्रतिभा देखकर उनकी प्रसन्नता का भी ठिकाना नहीं रहा। गुरु की सराहना से बुद्धघोष को और भी प्रोत्साहन मिला और ये 'त्रिपिटक' पर अट्ठकथा लिखने के लिए उद्यत हो गये। शिष्य का ऐसा महाप्रयत्न देखकर रेवत ने बड़े आग्रह से कहा—"बुद्धघोष, यहाँ तो त्रिपिटक मूलमात्र हैं। अट्ठकथाएँ तो लंका में हैं। यदि तुम वास्तविक अट्ठकथा लिखना चाहते हो, तो लंका जाकर सिंहली भाषा से मागधी में अनुवाद कर लाओ[2]।" कहते हैं, बुद्धघोष ने गुरु को शीश नवाकर और उनका आशीर्वाद प्राप्त कर उसी दिन लंका के लिए प्रस्थान कर दिया। जब बुद्धघोष की नाव समुद्र के रास्ते लंका जा रही थी, तब किसी एक पड़ाव पर 'बुद्धदत्त' स्थविर से इनकी भेंट हुई। वे लंका से लौटकर भारत आ रहे थे। बातों के सिल-सिले में जब बुद्धदत्त को पता चला की यह युवक अट्ठकथाएँ लिख लाने लंका जा रहा है, तब उनकी नाव छूट रही थी। बुद्धदत्त ने कहा—"ठीक है, आवुस! जाओ। मैं भी भगवान् के शासन को सिंहली भाषा से, मागधी में लिख लाने के लिए लंका गया था। किन्तु, अब मेरी आयु थोड़ी रह गई है, मैं इस बड़े कार्य को पूरा नहीं कर सकूँगा[3]।"

लंका के राजा महानाम के शासन-काल में बुद्धघोष वहाँ पहुँचे। वहाँ ये अनुराधापुर विहार में ठहरे, जो सम्राट् अशोक के पुत्र महेन्द्र का निवास-मठ था। अनुवाद-कार्य के लिए बुद्धघोष ने सिंहली भाषा का अध्ययन किया। पीछे इन्होंने महाविहार के भिक्षुओं के सम्मुख अपने लंका-आगमन का जब उद्देश्य बतलाया, तब भिक्षुओं ने पहले-पहल, परीक्षार्थ, दो गाथाएँ अनुवाद के लिए इन्हें दीं। बुद्धघोष ने उन्हीं दो गाथाओं के आधार पर *विसुद्धिमग्ग* नामक ग्रन्थ का निर्माण कर डाला। विसुद्धिमग्ग-जैसी पुस्तक को देखकर लंका के भिक्षुओं ने इन्हें मैत्रेय (भावी बुद्धावतार) ही मान लिया और वे उसी तरह इनका आदर करने लगे। अब क्या था, ये जो ग्रन्थ चाहते, लंका के भिक्षु इनके सामने ला उपस्थित कर देते थे। फलस्वरूप,

---

१. बुद्धस्स विय गंभीरं घोसत्तानं वियाकरुं।
बुद्धघोस ति सो सोभि बुद्धो विय महीतले॥—महावंस, परि० ३७

२. पालिमत्तं इधानीतं नत्थि अट्ठकथा इध। तथा चरिय वादा च भिन्न रूपा न विज्जरे॥
कता सीहल भासाय सीहलेसु पवत्तति। तं तत्थ गन्त्वा सुत्वा त्वं मागधानां निरुत्तिया॥
—महावंस, तत्रैव।

३. 'आवुसो बुद्धघोस अहं तया पुब्बे लंका दीपे भगवतो सासनं कत्तुं आगतोम्हि ति वत्वा अहं अप्पायुको।'—सासन-वंस (मेबिल बोड-संस्करण)—पृ० २९-३०

बुद्धघोष ने सम्पूर्ण पिटक का तथा अट्ठकथाओं का सिंहली भाषा से पालि में अनुवाद कर डाला। इस तरह एक विशाल पालि-साहित्य तैयार कर इन्होंने भारत से लुप्तप्राय बौद्धधर्म-साहित्य का उद्धार कर पुनः अपने देश को दिया, जिससे न केवल भारत का, बल्कि समस्त संसार का गौरव बढ़ा। बुद्धघोष-जैसे विद्वान् को पैदाकर और शिक्षा देकर बिहार-प्रदेश कितना गौरवान्वित हुआ है, इसकी कल्पनामात्र से गौरव होता है।

बुद्धघोष लंका में अपना कार्य समाप्त कर वहाँ से धर्म-प्रचार के लिए कम्बोडिया गये और वहीं इनका देहान्त हुआ। कम्बोडिया में *बुद्धघोष-विहार* नाम का एक प्राचीन मठ, खँड़हर के रूप में, आज भी विद्यमान है[1]।

बिहार-प्रदेश के इस महात्मा ने बौद्धधर्म की कितनी बड़ी सेवा की है, इसका कुछ अनुमान इनके द्वारा रचित पालि भाषा के ग्रन्थ ही बतला सकते हैं। ये ग्रन्थ इस प्रकार हैं— (१) *विसुद्धिमग्ग*, (२) *समन्तपासादिका*, (३) *कंखावितरणी*, (४) *सुमंगलविलासिनी*, (५) *पपञ्चसूदनी*, (६) *सारत्थपकासिनी*, (७) *मनोरथपूरणी*, (८) *परमत्तजोतिका*, (९) *अट्ठसालिनी*, (१०) *सम्मोहविनोदिनी*, (११ से १५ तक) *पञ्चप्पकरणट्ठकथा* (धर्मसंगणि और विभंग को छोड़कर शेष पाँच अभिधम्म ग्रन्थों की अट्ठकथाएँ) (१६) *जातकट्ठवण्णना* और (१७) *धम्मपदट्ठकथा*।

इन ग्रन्थों में बौद्धधर्म के विनय, नियम, दर्शन तथा अन्य कथाओं के अतिरिक्त विशाल भारत की संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, भूगोल, प्राकृतिक दृश्य, धर्म, आचार आदि भरे पड़े हैं[2]। बुद्धघोष के ग्रन्थ तत्कालीन 'महाभारत' हैं, इसलिए यदि इन्हें बौद्ध साहित्य का 'व्यास' कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी। बौद्धधर्म के इतिहास में इनका नाम अजर-अमर है। इनकी रची अकेली समन्तपासादिका कई दृष्टियों से, महाभारत की तरह, विविध ज्ञान का कोश-ग्रन्थ है।

धर्मपाल का स्थान भी पालि-साहित्यकारों में विशिष्ट है। इनका समय बुद्धघोष के बाद तो है ही, वसुबन्धु और असंग के बाद का भी है। ये यद्यपि दक्षिण के रहनेवाले थे, तथापि इनका कार्यक्षेत्र बिहार-प्रदेश ही था। ये नालन्दा में कुलपति भी रह चुके थे। ये *ह्वेनसांग* के गुरु *शीलभद्र* के भी गुरु थे। इनके द्वारा निर्मित ग्रन्थों में (१) *परमत्थदीपनी*, (२) *विमानवत्थु टीका*, (३) *पेतवत्थु टीका*, (४) *थेरीगाथा टीका*, (५) *थेरगाथा टीका*, (६) *इतिवुत्तक*, (७) *उदान टीका* और (८) *चारियापिटक* की टीका मुख्य हैं।

इनके अतिरिक्त गुप्तकाल में चान्द्र व्याकरण के प्रणेता *चन्द्रगोमिन*, *बुद्धपालित*, *भावविवेक*, *चन्द्रकीर्त्ति*, *कमलबुद्धि*, *वसुबन्धु*, *असंग* आदि बौद्ध विद्वान् इस युग के चमकते रत्न हैं। इन सभी विद्वानों का कार्यक्षेत्र पाटलिपुत्र और नालन्दा का विद्यापीठ रहा है।

---

१. दि लाइफ एण्ड वर्क बुद्धघोष (विमलचरण लाहा)—पृ० ४२

२. इन पुस्तकों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए पालि-साहित्य का इतिहास (ले० भरतसिंह उपाध्याय) के पृ० ५१४ से ५२६ तक देखना चाहिए।—ले०

चन्द्रगोमिन और चन्द्रकीर्त्ति का प्रसिद्ध शास्त्रार्थ यहीं नालन्दा-विद्यापीठ में हुआ था। चन्द्रकीर्त्ति ही *मध्यमकावतार* और *प्रसन्नपदा* जैसे ग्रन्थों के रचयिता हैं।

स्कन्दगुप्त ने वसुबन्धु को अपने पुत्र *नरसिंहगुप्त बालादित्य* का शिक्षक नियुक्त किया था। वसुबन्धु के सत्संग के कारण ही नरसिंहगुप्त बौद्धभिक्षु हो गया था और नालन्दा महाविहार में रहता था।

पाटलिपुत्र के गुप्त राजा बौद्धधर्म में कितनी अधिक श्रद्धा रखते थे और वे बौद्धधर्म के प्रति कैसे उदार थे, इसका प्रमाण इसी से मिलता है कि वसुबन्धु की *परमार्थसप्ततिका* रचना पर मुग्ध होकर *स्कन्दगुप्त* ने उन्हें तीन लाख स्वर्णमुद्राएँ भेंट में दी थीं। इन्हीं स्वर्ण-मुद्राओं से वसुबन्धु ने अयोध्या में महायान-सम्प्रदाय और हीनयान-सम्प्रदाय के भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के निवास के लिए तीन विहार बनवाये थे। बालादित्य के साले *वसुरात्र* ने एक बार वसुबन्धु के व्याकरण की तीव्र आलोचना की और बहुत-सी त्रुटियों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। इस प्रतिक्रिया में वसुबन्धु ने भी वसुरात्र के व्याकरण के ३२ अध्यायों का एक बृहत् आलोचना-ग्रन्थ ही तैयार कर दिया। विद्वानों ने इस ग्रन्थ की बड़ी सराहना की। इस पुस्तक के लिए बालादित्य ने और उसकी माता ने वसुबन्धु को अलग-अलग अपार धन दिया था। पुनः वसुबन्धु ने इस धन से पेशावर, कश्मीर और अयोध्या में एक-एक बौद्ध विहार का निर्माण कराया था।

तिब्बत में बौद्धधर्म का आरंभिक काल तो अशोक का समय होगा, जब सम्राट् ने मज्झिम नामक स्थविर को हिमालय-प्रदेश में धर्म-प्रचार के लिए भेजा था। पर यथार्थ रूप में बौद्धधर्म का विकास वहाँ गुप्तकाल में ही हुआ। इस गुप्तकाल में भी, उसके अन्तिम समय में,

तिब्बत में बौद्धधर्म

वहाँ यह धर्म अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा। ईसा की चौथी शताब्दी में 'स्रोङ्-सेन-गम्' नाम का राजा तिब्बत में हुआ था। इसकी दो पत्नियाँ थीं, जिनमें एक तो चीन की राजकुमारी थी और दूसरी नेपाल-नरेश 'अंशुवर्मन्' की कन्या। अंशुवर्मन् की कन्या का नाम 'भृकुटी' देवी था। संयोग से तिब्बत की ये दोनों रानियाँ बौद्धधर्मावलम्बिनी थीं। अपनी इन दोनों पत्नियों के प्रभाव से तिब्बत का राजा स्रोङ्-सेन-गम् भी बौद्धधर्मानुयायी हो गया। तभी से परम्परानुगत तिब्बत राज-वंश बौद्धधर्म का अनुयायी रहता आया है। इस राजा की पाँचवीं पीढ़ी में 'ति-स्रोङ्-दे-सेन्' नाम का राजा हुआ, जिसका काल सातवीं सदी का अन्तिम भाग और आठवीं सदी का आरम्भिक चरण है। इसके पहले ही ६१६ ई० में 'गण्डकरण्डव्यूह' नामक ग्रन्थ का तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ था[1]।

उक्त काल बिहार-प्रदेश के लिए राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल का युग था, फिर भी बिहार में इस समय तक गुप्त राजाओं की परम्परा चली आ रही थी। सातवीं सदी में भी जब उत्तर-भारत पर हर्षवर्द्धन का प्रभुत्व था, तब भी दक्षिण-बिहार में गुप्तों का प्रभाव रक्षित था।

१. बौद्धधर्म-दर्शन—पृ० १५०

इसी वंश का नरेन्द्रगुप्त, जिसका दूसरा नाम शशांक था, गौडाधिपति था। गुप्तवंश की दूसरी शाखा मालवा में शासन करती थी, जिसके राजा का नाम उस समय महासेनगुप्त था। इसी महासेन के दो पुत्र, जिनका नाम कुमारगुप्त और माधवगुप्त था, हर्षवर्द्धन की सेवा में नियुक्त थे। गौडाधिपति शशांक का प्रताप उस समय कुछ कम नहीं था। इसने हर्षवर्द्धन-जैसे प्रतापी सम्राट् के भाई को मार डाला था[1] और इसके वध की प्रतिज्ञा करनेवाले हर्ष की प्रतिज्ञा कभी पूरी नहीं होने दी। देश में बौद्धेतर राजाओं को राजा नहीं माननेवाले बौद्ध भिक्षुओं का यह परम शत्रु था। यह एक महाशैव राजा था। इसकी एक छावनी सोन नदी के किनारे 'रोहतास' पर सर्वदा निवास करती थी। रोहतास की पहाड़ी की एक चट्टान पर सिक्का ढालनेवाला एक साँचा मिला है, जिसमें खुदा हुआ है—*श्रीमहासामन्त शशांक देव*[2]। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक यह अधिपति नहीं हुआ था। गुप्त-सामन्त ही था अथवा अधिपति होकर भी अपने को गुप्तों का सामन्त ही कहता था। शशांक का दक्षिणी बिहार में पूरा दबदबा था। लड़ाई में लड़ते-लड़ते थककर पीछे जब शशांक दक्षिण की ओर चला गया, तब हर्षवर्द्धन ने मगध पर स्वयं शासन न करके गुप्तवंश के ही एक राजकुमार माधवगुप्त को गद्दी पर बैठाया। मालूम होता है, शशांक की मृत्यु के बाद भी गंगा के दक्षिण बिहार में गुप्तों का प्रभुत्व बना रहा। इसीलिए हर्षवर्द्धन शंकाशील होकर जब-जब पूर्व दिशा की ओर गया, दक्षिण-बिहार होकर नहीं गया, बल्कि उत्तर-बिहार होते हुए उसने प्रयाण किया। क्योंकि, इसके एक पड़ाव का पता 'हर्षचरित' से चलता है कि यह 'अचिरावती' नदी के तट पर मणितार नामक गाँव के पास पड़ा हुआ था। यह दक्षिण-बिहार के प्रसिद्ध कवि बाणभट्ट को बुलाकर उससे यहीं मिला था[3]। गुप्तवंश का अन्तिम राजा जीवितगुप्त है, जिसे ७३३ ई० में कश्मीर के राजा मुक्तापीड ने मारा और इसके बाद अन्तिम रूप से गुप्त-राजवंश की समाप्ति हुई।

उपर्युक्त ऐतिहासिक भूमिका देने का यहाँ केवल इतना ही तात्पर्य है कि ७३३ ई० तक मगध पर किसी-न-किसी तरह गुप्त-राजवंश का प्रभाव रहा और इस काल तक मगध की ओर से धर्म-प्रचार के जो भी कार्य हुए, वे गुप्त-राजवंश के प्रभाव से ही हुए। गुप्तों की धार्मिक संस्कृति का इतना बड़ा प्रभाव था कि जब गुप्त-साम्राज्य शत्रुओं के प्रबल थपेड़ों से डगमगा रहा था, तब भी मगध का नालन्दा-विश्वविद्यालय शान्तिपूर्वक अध्ययन, अध्यापन तथा ज्ञान-प्रचार में लगा हुआ था। यह विशेषता बिहार-प्रदेश की थी, जहाँ शत्रु भी इन पवित्र कार्यों में बाधा नहीं डालते थे। इसी काल में तिब्बत के राजा ति-सोङ्-दे-सेन् ने अपने यहाँ धर्म-प्रचार के लिए नालन्दा से शान्तिरक्षित नामक भिक्षु को आमंत्रित किया। संभवतः इस समय मगध का राजा देवगुप्त था, जिसकी चर्चा चीनी यात्री 'हुन-लुन' ने की है।

१. हर्षचरितम्, उच्छ्वास—६
२. बिहार: एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० १५६
३. हर्षचरितम्, उच्छ्वास—२

यह ६९० ई० के बाद नालन्दा में आया था। इसने लिखा है कि देवगुप्त के पिता आदित्यसेन ने नालंदा के पास एक मन्दिर बनवाया था, जिसमें दक्षिण-भारत के भिक्षु रहते थे[1]। इसी देवगुप्त के नाम पर शाहाबाद जिले का गाँव 'देववर्णार्क' था, जो आजकल 'देवना' और 'बराँव' इन दो गाँवों में विभक्त है। यहीं पर जीवितगुप्त द्वितीय का वह सिक्का मिला है, जिसपर गोमती के किनारे उसकी सेना की एक छावनी का उल्लेख है।

शान्तिरक्षित—का जन्म ६५० ई० के लगभग, भागलपुर जिले के पूर्वी भाग में, एक ब्राह्मण-कुल में हुआ। अन्य बौद्ध विद्वानों की तरह इन्होंने भी पहले-पहल ब्राह्मण-ग्रन्थों का ही अध्ययन किया था। 'ईत्सिंग' ने इनका एक नाम 'मगल' भी लिखा है, जो संभवतः भागलपुर के निवासी होने के कारण ही पड़ा था। ये भागलपुर जिले के 'सहोर' ग्राम के निवासी थे, ऐसा विचार पं० राहुल सांकृत्यायन का भी है। जयचन्द्र विद्यालंकार ने भी इन्हें भागलपुर के पूर्वी इलाके का ही माना है[2]। इनकी बौद्धधर्म की शिक्षा नालन्दा में ही हुई और ६७५ ई० में इन्होंने 'आचार्य ज्ञानगर्भ' से प्रव्रज्या ली। प्रव्रज्या के बाद इनका नाम शान्तिरक्षित पड़ा। जिस समय शान्तिरक्षित नालन्दा में बौद्धधर्म की शिक्षा पा रहे थे, उसी समय चीनी यात्री ईत्सिंग भी वहाँ बौद्धधर्म की पुस्तकों का अध्ययन तथा पाण्डुलिपि तैयार कर रहा था—लगभग ६७५ ई० से ६८५ ई० तक। ये दोनों नालन्दा के प्रमुख विद्यार्थियों में से थे।

तिब्बतीय राजा 'ति-स्रोङ्-दे-सेन' की ओर से तिब्बत आने का आमंत्रण जब नालन्दा में शान्तिरक्षित को मिला, तब इनकी आयु ७५ साल की थी। फिर भी धर्म-उद्योग के नाम पर शान्तिरक्षित ने जरा भी आलस्य नहीं दिखाया और ये उस बुढ़ापे में भी नैपाल के रास्ते से तिब्बत के लिए चल पड़े। बड़ी कठिन यातना झेलते हुए अत्यन्त दुर्गम मार्ग से ये (७२४ ई० में) तिब्बत पहुँचे। वहाँ पहुँचकर राजा की सहायता से इन्होंने धर्मोपदेश का काम आरंभ कर दिया। 'ल्हासा' में तो बहुत-से लोगों ने धर्म स्वीकार कर लिया और इनके प्रचार का वहाँ गहरा असर पड़ा। किन्तु दुर्भाग्यवश उसी समय वहाँ महामारी का रोग फैल गया। तिब्बत के भूत-प्रेत-पूजकों ने इस बीमारी को भूतों का प्रकोप बतलाया और प्रचार किया कि राजा आगन्तुक भारतीय भिक्षु द्वारा नया धर्म फैला रहा है, इसी कारण यहाँ भूतों का प्रकोप बढ़ गया है। इस प्रचार से जनता में राजा के प्रति बड़ा ही असंतोष फैला और विद्रोह की स्थिति आ गई। राजा की सलाह से शान्तिरक्षित उस समय नैपाल लौट आये। किन्तु, तिब्बत के बौद्धधर्म-प्रेमी राजा ने, दो वर्ष बाद, उचित अवसर जानकर शान्तिरक्षित को पुनः बुलाया। शान्तिरक्षित इस बार अकेले नहीं गये। तिब्बत में भूतों का उपद्रव रोकने के लिए नालन्दा के प्रसिद्ध तान्त्रिक 'पद्मसंभव' को भी बुलाकर साथ लेते गये। बाद में इन्होंने नालन्दा से कुछ और विद्वानों को भी तिब्बत में बुलाया। शान्तिरक्षित ने इन सभी विद्वानों की सहायता से लगभग २५ वर्षों तक, दर्जनों भारतीय बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में

१. बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० १६३
२. तत्रैव—पृ० १६५

अनुवाद किया और कराया। इन्हीं अनूदित पुस्तकों में 'दिङ्नाग' की 'हेतुचक्र' भी है। इन्होंने ५००० श्लोकोंवाला 'तत्त्वसंग्रह' नाम का एक दार्शनिक ग्रन्थ भी लिखा। तिब्बत के राजा ने इनके निवास के लिए 'ल्हासा' के दक्खिन, उदण्डपुरी के विहार के नमूने पर, 'साम्ये' नामक विहार का निर्माण कराया था। इनकी मृत्यु तिब्बत में ही, धर्म-प्रचार करते-करते, एक सौ वर्ष की आयु में हुई। आचार्य नरेन्द्रदेव की 'बौद्धधर्म-दर्शन' पुस्तक के अनुसार शान्तिरक्षित का देहावसान ७६२ ई० में हुआ और साम्ये-विहार का स्थापना-काल ७४६ ई० है। घोड़े के पैर की टाप से घायल होकर इनकी मृत्यु हुई। इनके शव की हड्डी साम्ये-विहार की पहाड़ी के शिखर पर एक स्तूप में रखी गई थी। वह स्तूप साढ़े ग्यारह सौ वर्षों तक रहा। आज से लगभग आधी शताब्दी पहले वह जीर्ण स्तूप टूट गया और शव की हड्डी नीचे गिर पड़ी। उसके बाद शान्तिरक्षित की खोपड़ी, पात्र, चीवर आदि आजतक साम्ये-विहार में सुरक्षित है, जिनके दर्शन से आज भी अनेक बौद्ध अपनी आत्मा को पवित्र करते हैं।

पद्मसंभव—शान्तिरक्षित के साथ तिब्बत गये। फल यह हुआ कि जहाँ शान्तिरक्षित के उपदेशों से तिब्बत में बौद्धधर्म स्थायी हुआ, वहीं तिब्बत में पद्मसंभव की तंत्र-विद्या का भी पूरा प्रचार हुआ। एक तरफ जहाँ तिब्बत के पढ़े-लिखे तथा सुसंस्कृत लोग शान्तिरक्षित के प्रभाव में आये, वहीं दूसरी तरफ भूत-प्रेत में विश्वास रखनेवाले साधारण लोग पद्म-संभव की तंत्र-विद्या के कायल हुए। पद्मसंभव के कारण ही वहाँ तान्त्रिकवाद और बौद्ध-वाद के सम्मिश्रण से बौद्धधर्म ने एक नया रूप ग्रहण कर लिया। इस नये रूप के कारण ही तिब्बत में लामा-धर्म की नींव पड़ी[१], जो आजतक वहाँ का प्रमुख धर्म है।

पद्मसंभव के सम्बन्ध में तिब्बती साहित्य कहता है कि ये लंकापुर (उड़ीसा) के राजा *इन्द्रभूति* के पुत्र थे[२] और इनका विवाह *कुमारदेवी* नाम की स्त्री से हुआ था। कुछ लोग इन्हें *कमलशील* का साला भी कहते हैं। जो हो, पर पद्मसंभव की शिक्षा नालन्दा में हुई थी। ये नालन्दा-विश्वविद्यालय में तन्त्र-विभाग के प्रमुख आचार्य थे। इनके दायें हाथ में वज्र और बायें हाथ में खोपड़ी अंकित है। इनके दोनों ओर दो रमणियाँ मांस और मदिरा अर्पित करती दिखाई गई हैं। तिब्बती प्रणाली में इनका इसी तरह का चित्र अंकित मिलता है। इनकी लिखी पुस्तक का नाम *साम्य-यन-कासिक* है, जिसका अनुवाद भिक्षु *आनन्दभद्र* ने किया था।

शान्तिरक्षित के सहायक बनकर तिब्बत में नालन्दा से जो विद्वान् गये, उनमें पद्मसंभव के अतिरिक्त *सुमतिसेन* और *कमलशील* के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी विद्वानों के सम्मिलित उद्योग का ही फल है कि उस समय तिब्बत में जिस बौद्धधर्म की नींव पड़ी, वह आजतक अचल-अडिग है। ऐसा था, गुप्तकालीन मगध का धर्म-उद्योग !

कमलशील—को शान्तिरक्षित ने खास तौर पर नालन्दा से तिब्बत में बुलाया था। कारण यह था कि नालन्दा उस समय सर्वास्तिवाद और माध्यमिक सम्प्रदाय का गढ़ बना

१. २. बौद्धधर्म-दर्शन (आचार्य नरेन्द्रदेव)—पृ० १७७

हुआ था। पर, तिब्बत में उस समय चीन देश का एक बौद्ध भिक्षु शून्यवाद का प्रचार कर रहा था। इसी चीनी भिक्षु का नाम 'ह्वा-संग' कहा जाता है[1]। इसी भिक्षु से शास्त्रार्थ करने के लिए शान्तिरक्षित ने कमलशील को तिब्बत में खास तौर पर बुलाया। जब कमलशील पहुँचे, तब वहाँ शान्तिरक्षित के साथ ही साम्ये-विहार में ठहरे। तिब्बत के राजा ने 'ह्वा-संग' के पास शास्त्रार्थ करने का निमंत्रण भेजा। उसने भी चुनौती स्वीकार कर ली और शास्त्रार्थ का दिन नियत हो गया। एक बड़ी सभा के बीच, राजा की उपस्थिति में ही, शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। किन्तु, मगध के ज्ञान-गौरव के अनुरूप ही कमलशील ने उस भरी सभा के सामने ही ह्वा-संग को परास्त कर मूक बना दिया। कहते हैं कि पराजित ह्वा-संग ने इसके बाद अपने हाथों से कमलशील के गले में विजय-माला पहनाई और तिब्बत की जनता ने कमलशील के जयकार का घोष किया। इसके बाद तो वहाँ कमलशील को साक्षात् बुद्ध का अवतार कहा गया। किन्तु, अत्यन्त मार्मिक दुःख का विषय हुआ कि ह्वा-संग के अनुयायियों के हृदय में, उसकी हार से, बड़ा भारी घाव पैदा हो गया। अन्त में एक दिन इन्हीं लोगों ने उस अत्यन्त प्रतिभाशील कमलशील की, अँधेरी रात में, हत्या कर दी। आज उसी साम्ये-विहार में अन्य तुषितवासी श्रमणों की तरह कमलशील की भी धातु, चीवर और पात्र सुरक्षित पड़े हैं।

कमलशील द्वारा निर्मित ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—(१) *आर्यसप्तशतीक प्रज्ञापारमिता टीका*, (२) *आर्यवज्रच्छेदिक प्रज्ञापारमिता टीका*, (३) *प्रज्ञापारमित हृदयम नाम टीका*, (४) *न्यायबिन्दुपूर्वारसामसीवस्य* और शान्तिरक्षित द्वारा लिखित *तत्त्व-संग्रह की टीका*। मूलग्रन्थ और टीका-ग्रन्थ—दोनों बड़ौदा की गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज में मुद्रित हो चुके हैं।

इस काल में संस्कृत-पुस्तकों से तिब्बती भाषा में अनुवाद का कार्य मगध के जिन विद्वानों ने किया, उनके नाम हैं—*जिनमित्र*, *शीलेन्द्रबोधि*, *दानशील*, *प्रज्ञावर्मन* और *सुरेन्द्रबोधि*। इन लोगों ने समस्त पिटकों का अनुवाद भी तिब्बती में किया। जिनमित्र और दानशील ने एक तिब्बती पण्डित के साथ, जिसका नाम था ज्ञानसेन, शान्तिदेव-लिखित *शिक्षासमुच्चय* का चीनी अनुवाद ८१६ ई० से ८३८ ई० के मध्य में किया था।

उपर्युक्त शान्तिरक्षित आदि विद्वानों को भारत से तिब्बत में बुला ले जाने का सारा श्रेय ज्ञानेन्द्र नामक एक तिब्बती संन्यासी को है, जिसका तिब्बती नाम 'स्सल्-स्नङ्' था। कमलशील की हत्या से इसके हृदय पर इतनी गहरी चोट लगी कि इसने अनशन करके प्राण त्याग दिया।

---

१. "ह्वा-संग चीनी शब्द है, जिसका अर्थ भिक्षु होता है। इसके वास्तविक नाम का पता नहीं चलता।"—तिब्बत में बौद्धधर्म—पृ० २०

आठवाँ परिच्छेद

पालकाल में बौद्धधर्म

बिहार-प्रदेश में गुप्तों का काल गिरते-पड़ते-लड़खड़ाते—किसी-न-किसी तरह आठवीं सदी के मध्य तक चलता रहा—अर्थात् सम्राट् हर्षवर्द्धन के समय में और उसके बाद भी। इसपर थोड़ा प्रकाश पहले डाला गया है[1]। किन्तु हर्षवर्द्धन के बाद समस्त बिहार-बंगाल में अराजकता फैल गई थी। इतिहासकारों का कहना है कि जनता की अवस्था मत्स्य-न्याय की हो गई थी—जैसे बड़ी मछली छोटी और निर्बल मछली को निगल जाती है, उसी तरह समाज का बली पुरुष अपने प्रभुत्व से निर्बल को पीस देता था। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' कहावत चरितार्थ हो रही थी। परिस्थिति से ऊबकर प्रजा ने अपनी रक्षा के लिए अपना एक राजा चुना और उसके माथे पर राज्य का मुकुट अपने हाथों से पहनाया। उस व्यक्ति का नाम 'गोपाल' था।

पालवंश

गौड़-देश में दयितविष्णु नाम का एक विद्वान् पुरुष था। इसके लड़के का नाम वाप्यट था। वाप्यट अपने पिता की तरह ही अनेक शास्त्रों में निष्णात था। पर समाज में घोर अव्यवस्था देखकर इसने शास्त्र को कुछ दिनों के लिए हटा दिया और उसकी जगह शस्त्र धारण कर लिया। वाप्यट ने शास्त्र की तरह ही शस्त्र-विद्या में भी पूरी निपुणता दिखलाई और समाज में अव्यवस्था फैलानेवाले बहुत-से आततायियों को ठिकाने लगाया, और बहुतों को रास्ते पर ले आया। इसी वाप्यट का पुत्र गोपाल था, जो अपने पिता की तरह ही वीर और धीर था। इसलिए प्रजा ने वाप्यट-जैसे न्यायी व्यक्ति के पुत्र को राजा का ताज दिया। इसी गोपाल ने प्रजा की सहायता से समस्त बिहार और बंगाल को एक सूत्र में पिरोया और शासन को सुव्यस्थित कर प्रजा को चैन की नींद सुलाया। इसने शासन की सुव्यवस्था के लिए राज्य के केन्द्र-भाग में अपनी राजधानी बनाई। यह राजधानी पटना जिले के उदण्डपुर (आधुनिक बिहारशरीफ) नगर में कायम हुई थी। इसने अपनी राजधानी के पास नालन्दा में एक बौद्ध विहार का भी निर्माण कराया[2]। यह स्वयं बौद्धधर्म का उपासक था। इसके उत्तराधिकारी भी बौद्धधर्म के प्रति पूर्ण उदार बने रहे। वे सभी बौद्धधर्म के संरक्षण और परिवर्द्धन में निरन्तर दत्तचित्त रहे।

पालवंश के राजाओं ने बौद्धधर्म का विकास किया, इसके लिए इस वंश के प्रधान राजाओं की एक तालिका दे देना उचित होगा। इन राजाओं के काल की धार्मिक

१. इस पुस्तक के पृ० २०६-२१० द्रष्टव्य

२. बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० १६८

कृतियाँ तथा अन्य कला-कृतियाँ पालकाल की कहलाती हैं। चूँकि राजा के रूप में, इस वंश में, प्रथम-प्रथम गोपाल ही प्रसिद्ध हुआ, इसलिए इस वंश की तालिका[1] इसी से आरम्भ करनी उचित होगी।

१. गोपाल (७४३ - ७६८ ई०)
२. धर्मपाल (७६९ - ८०९ ई०)
३. देवपाल (८१० - ८५१ ई०)
४. विग्रहपाल (८५१ - ८५३ ई०)
५. नारायणपाल (८५४ - ९०८ ई०)
६. राज्यपाल (९०८ - ९३२ ई०)
७. गोपाल द्वितीय (९३२ - ९४९ ई०)
८. विग्रहपाल द्वितीय (९४९ - ९७५ ई०)
९. महीपाल प्रथम (९७५ - १०२६ ई०)
१०. नयपाल (१०२६-१०४१ ई०)
११. विग्रहपाल तृतीय (१०४१-१०५४ ई०)
१२. महीपाल द्वितीय }
१३. शूरपाल } (१०५४-१०५६ ई०)
१४. रामपाल (१०५७-११०२ ई०)
१५. कुमारपाल }
१६. मदनपाल } (११०३-११६० ई०)
१७. गोविन्दपाल (११६१-११८० ई०)

अन्तिम तीन राजा नाममात्र के थे, जो कन्नौज राजाओं के अधीन सामन्तमात्र थे। इन कन्नौज राजाओं की राजधानी उस समय काशी में थी।

गोपाल का पुत्र धर्मपाल ७६९ ई० में राज्य-सिंहासन पर आरूढ हुआ। इसने चालीस वर्षों तक राज्य किया। इसके काल में बंगाल के इस पालवंश ने पाटलिपुत्र को ही अपना केन्द्र बना लिया था। अतः फिर एक बार बिहार-प्रदेश के इस राजा की तलवार के साये में समस्त उत्तर-भारत ने अपना मस्तक झुका दिया। यद्यपि अपने शासन की लगभग ३०० वर्षों की अवधि में पालवंश सर्वदा राजनीतिक कोलाहल एवं युद्ध के मैदान में व्यस्त रहा, तथापि इसने बौद्धधर्म के विकास और संरक्षण में जो कार्य किया, वह चिरस्मरणीय है। धर्मपाल ने भी मौर्यों तथा गुप्तों का मार्गानुसरण करके बौद्धधर्म के लिए एक अतीव महान् कार्य किया। वह कार्य था—नालन्दा के ढंग पर विक्रमशिला-विश्वविद्यालय की स्थापना।

विक्रमशिला-विश्वविद्यालय बिहार-प्रदेश के भागलपुर जिले में, पूर्व की ओर,

१. यह वंशावली और तिथि-क्रम श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार के विचारानुसार दिये गये हैं। देखिए—बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० १६७ से १९०

'कहलगाँव' के आस-पास गंगातट पर अवस्थित था। महामहोपाध्याय काशीप्रसाद जायसवाल और पण्डित राहुल सांकृत्यायन ने विक्रमशिला का स्थान उक्त जिले के सुलतानगंज के पास, जो भागलपुर से पश्चिम है, माना है; पर अब बिलकुल सिद्ध हो गया है कि यह विश्वविद्यालय कहलगाँव के पास ही था। धर्मपाल द्वारा स्थापित विक्रमशिला-विश्वविद्यालय नालन्दा-विश्वविद्यालय की तरह ही विश्व-विश्रुत हुआ। यद्यपि नालन्दा की समकक्षता में ही इस विद्यालय की स्थापना हुई थी, तथापि उदारचेता पाल-नरेशों की देख-रेख में नालन्दा के गौरव में भी किसी तरह की कमी नहीं आने पाई थी। विक्रमशिला-विश्वविद्यालय की स्थापना किस ईसवी सन् में हुई, इसका पता तो नहीं लगा है; पर इतना निश्चित है कि इसकी स्थापना ७६६ ई० से ८०६ ई० के बीच हुई थी, जो धर्मपाल का शासनकाल था। धर्मपाल ने ही इसकी स्थापना कराई थी।

विक्रमशिला-विश्वविद्यालय

इस शिक्षा-केन्द्र में १०८ अध्यापक अध्यापन-कार्य में नियुक्त थे। दसवीं सदी में तो यह नालन्दा से भी बड़ा और समस्त भारत का बृहत्तर शिक्षा-केन्द्र बन गया था। विश्वविद्यालय के चारों ओर दृढ़ और ऊँचे प्राचीर खड़े थे, जिसके मध्य में शिक्षा-केन्द्र अवस्थित था। सम्पूर्ण विश्वविद्यालय में छह विहार (कालेज) थे। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ लामा ने लिखा है कि शिक्षा-केन्द्र के दक्षिणी द्वार के द्वार-पंडित का नाम प्रज्ञाकरमति था। इसी तरह पूर्वी द्वार के द्वार-पंडित का नाम रत्नाकरशान्ति, पश्चिमी द्वार के वागीश्वरकीर्त्ति और उत्तरी द्वार के द्वार-पंडित का नाम नरोपन्त था। इन द्वारों से प्रवेश करने के बाद भी दो देवढ़ियाँ मिलती थीं। जिन्हें पार कर ही मुख्य शिक्षा-केन्द्र में कोई जा सकता था। इन देवढ़ियों के द्वार पर भी दो दिग्गज विद्वान् रहते थे, जिनके प्रश्नों के उत्तर देने पर ही कोई प्रवेश पा सकता था। प्रथम देवढ़ी के पण्डित का नाम रत्नवज्र था, जो प्रसिद्ध बौद्ध संन्यासी थे और दूसरी देवढ़ी के पण्डित ज्ञानश्रीमित्र थे, जो बौद्धभिक्षु थे। विश्वविद्यालय में एक विशाल सभा-भवन भी था, जिसमें एक साथ ८००० मनुष्य बैठ सकते थे। विद्यार्थियों के आवास तथा भोजन की निःशुल्क व्यवस्था थी। इसकी व्यवस्था के लिए पालराजाओं ने जागीरें दे रखी थीं। विश्वविद्यालय के मुख्य केन्द्र-द्वार पर एक ओर भिक्षु नागार्जुन की मूर्त्ति और दूसरी ओर विश्वविद्यालय के प्राचार्य 'श्रीज्ञान दीपङ्कर अतिश' की मूर्त्ति स्थापित थी[१]। शिक्षा-केन्द्र के द्वार के पास एक सर्व-सुविधा-सम्पन्न धर्मशाला भी थी, जिसमें बाहर से आये अतिथि विश्राम करते थे। नालन्दा-विश्वविद्यालय की तरह यहाँ वेद, वेदाङ्ग, उपवेद, हेतुविद्या, सांख्य-योग तथा बौद्धों के हीनयान और महायान के ग्रन्थों का अध्यापन-कार्य चलता था। किन्तु, इस विश्वविद्यालय की एक बड़ी विशेषता यह थी कि यहाँ तंत्र-शास्त्र के अध्ययन के लिए भी समुचित प्रबन्ध था।

---

१. विक्रमशिला-विश्वविद्यालय मंत्रयान और वज्रयान-सम्प्रदाय का मुख्य शिक्षा-केन्द्र था। इसलिए इसके द्वार पर महायान के प्रवर्तक 'नागार्जुन' की मूर्त्ति और इस सम्प्रदाय के तात्कालिक अनुयायी 'अतिश' की भी मूर्त्ति स्थापित थी।—ले०

तंत्र-शास्त्र के विद्यार्थियों के सम्यक् ज्ञान के लिए शास्त्रीय शिक्षा के अतिरिक्त व्यावहारिक शिक्षा का भी पूर्ण प्रबन्ध था। यद्यपि नालन्दा में भी तंत्रशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी; तथापि इस विश्वविद्यालय में इसका बृहत् प्रबन्ध, खास तौर पर, किया गया था। जिस तरह नालन्दा के विद्यार्थी बौद्धधर्म के प्रचार के लिए भारत से बाहर जाते थे, उसी तरह विक्रमशिला के विद्वान् भी इस कार्य में पूर्ण हाथ बटाते थे। इस काल में तान्त्रिक सिद्धों की परम्परा अपनी उठान पर थी।

विक्रमशिला-विश्वविद्यालय की प्रसिद्धि कुछ ही वर्षों में देश-विदेश में फैल गई। यहाँ के विद्वानों की कीर्त्ति सुनकर ही तिब्बत के तत्कालीन राजा ब्यङ्-छुप्-ओद् (भारतीय नाम बोधिप्रभ) ने बौद्धधर्म को अपने यहाँ दृढ करने के लिए इस शिक्षा-केन्द्र में एक तिब्बती शिष्ट-मंडल भेजा। इस शिष्ट-मंडल का, विक्रमशिला में आने का, उद्देश्य यह था कि वह श्रीज्ञान दीपङ्कर अतिश को जैसे भी हो, तिब्बत बुला ले जाय। इस शिष्ट-मंडल के आने के पहले भी अतिश को बुलाने के लिए तिब्बत से दूत आया था; पर श्रीज्ञान ने जाने से अस्वीकार कर दिया था। तिब्बती राजा को जब मालूम हुआ कि श्रीज्ञान दीपङ्कर नहीं आये, तब पुनः दूत के हाथों अतिश को उपहार भेजने के लिए, सुवर्ण इकट्ठा करने के उद्देश्य से, वह सीमान्त देश में चला गया और वहाँ के राजा द्वारा पकड़ा गया। इसका नाम 'खोरल्दे' था। खोरल्दे के पुत्र ब्यङ्-छुप्-ओद् (बोधिप्रभ) अपने पिता को छुड़ा लाने के लिए बहुत-सा धन भेजा; पर पिता ने कहा—'मुझे छुड़ाकर क्या करोगे, इस धन से धर्म-प्रचार के लिए किसी भारतीय पण्डित को बुला लाओ।' वही हुआ। खोरल्दे ने बन्धन की अवस्था में ही अपना प्राण-त्याग किया। पिता की अन्तिम अभिलाषा की पूर्त्ति के लिए ही ब्यङ्-छुप्-ओद् ने नानाविध उपहारों को देकर विक्रमशिला में अपना शिष्ट-मंडल भेजा।

विक्रमशिला-विश्वविद्यालय में तिब्बती शिष्ट-मंडल ने जिन विद्वानों को अपनी आँखों देखा, उनके नाम थे—(१) रत्नाकर, (२) विद्याकोकिल, (३) नरोपन्त, (४) वीरवज्र और (५) श्रीज्ञान दीपङ्कर अतिश। विद्याकोकिल चन्द्रकीर्त्ति की शिष्य-परम्परा में थे और अतिश के गुरु रह चुके थे। नरोपन्त तत्कालीन भिक्षुओं में विनय के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता थे। ये भी अतिश के गुरु थे। रत्नाकर इनमें सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे और अतिश के प्रधान आचार्य रह चुके थे। वीरवज्र विश्वविद्यालय में तंत्र-शास्त्र के प्राचार्य थे। ये अपने युग के सर्वश्रेष्ठ तान्त्रिक विद्वान् थे।

अतिश के तिब्बत जाने पर विक्रमशिला के आचार्य-पद पर ज्ञानश्रीमित्र आसीन हुए, जो अतिश के समय में द्वार-पण्डित थे। यहाँ के विद्वानों में रत्नवज्र, जेतारि, रत्नकीर्त्ति, ज्ञानश्रीमित्र और शाक्यश्रीभद्र समस्त बौद्ध संसार में अपनी विद्वत्ता के लिए प्रख्यात थे। इस विश्वविद्यालय से जो छात्र उत्तीर्ण होते थे, राजा की ओर से उन्हें 'पण्डित' की उपाधि मिलती थी। नालन्दा-विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की तरह यहाँ के विद्यार्थी भी राजकीय उच्च पदों पर नियुक्त होते थे। सारे देश में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी।

धर्मपाल ने विक्रमशिला-विश्वविद्यालय की स्थापना की और कई बौद्ध विहार भी बनवाये। इस धर्मपाल के उत्तराधिकारी देवपाल के सम्बन्ध में नालन्दा के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि इसने राजगृह के विहारों के लिए चार, और गया के विहारों के लिए एक—अर्थात् पाँच गाँव दान में दिये थे। इसी देवपाल के समय, इसीकी आज्ञा से जावा-सुमात्रा के तात्कालिक राजा ने, जिसका नाम 'बलपुत्र देव' था, नालन्दा के समीप एक बौद्ध विहार बनवाया था। स्वयं देवपाल ने इस विहार के भरण-पोषण के लिए प्रचुर वैभव दान किया था। प्रमाण से ज्ञात होता है कि इसने बहुत-से बौद्ध विहारों के साथ मन्दिर भी बनवाये और इन सब के व्यय के लिए प्रचुर धन दान किया[1]।

देवपाल

धर्मपाल के एक भाई का नाम वाक्पाल था। वाक्पाल के पुत्र का नाम जयपाल था, जिसका पुत्र प्रथम विग्रहपाल था। विग्रहपाल के भाई अथवा उसके वंश के किसी अमृतपाल नामक व्यक्ति ने जयपाल आदि की स्मृति में 'सारनाथ' में दस चैत्यों का निर्माण कराया था। इस बात के प्रमाण का एक शिला-लेख सारनाथ में मिला था, जिसकी संख्या, सारनाथ के संग्रहालय में डी० (एफ्०) ५६ है[2]। उसमें लिखा है—**विश्वपालः। दश चैत्यांस्तु यत् पुण्यं कारयित्वार्जितत् मया (।) सर्वलोको भवे। [त्तेन] सर्व्वज्ञः कारुण्यमयः॥ श्रीजयपाल '' एतानुद्दिश्य कारित-ममृतपाले [न]।**

अमृतपाल

पालराजाओं में नारायणपाल (८५४-९०८ ई०) के बाद राजपाल का शासन आरंभ हुआ। इसके पिता के समय में प्रतिहारों ने इसके राज्य की जो भूमि ले ली थी, उसे इसने पुनः अपने बाहु-बल से हस्तगत कर लिया। श्रीभगवतशरण उपाध्याय ने राजपाल का काल ९१२ ई० से ९३६ माना है; पर 'चीनी बौद्धधर्म का इतिहास' नामक पुस्तक के लेखक 'चाउ-सिआंग कुआंग' ने राजपाल का समय ९५७ ई० से ९८० ई० तक का माना है। किन्तु, जयचन्द्रजी ने ९०८ से ९३२ ई० ही माना है। इसी राजपाल के समय में नालन्दा का 'धर्मदेव' नामक भिक्षु उज्जैन के श्रमण दानपाल (जो ९८० ई० में चीन गया) से पहले ही सन् ९७१ ई० में चीन गया[4]। उस समय चीन में सुंगवंशीय सम्राट् 'ताउ-त्सू' का शासन चल रहा था। नालन्दा का धर्मदेव नामक भिक्षु 'ताउ-त्सू' के शासनकाल से आरम्भ करके 'ताई-त्सुंग' (९७६ ई० ९९७ ई०) के शासनकाल को पार करता हुआ 'चिन-त्सुंग' के शासनकाल में भी बौद्ध-धर्म का प्रचार करता रहा। चीनी भाषा में धर्मदेव का नाम 'फा-तिएन' है। इसने आगे चलकर अपना नाम 'फा-हिएन' भी रखा, जिसका अर्थ होता है—धर्म-विख्यात। यह नाम उसके मूल नाम के अनुरूप ही था। नालन्दा के इस बौद्ध भिक्षु ने ९७१ ई० से १००१ ई० तक

राजपाल और भिक्षु धर्मदेव

१. प्राचीन भारत का इतिहास—पृ० ३२५
२. सारनाथ का इतिहास—(वृन्दावन भट्टाचार्य, ज्ञानमंडल-कार्यालय, काशी-सं० १९७९) पृ० १५२
३. प्राचीन भारत का इतिहास —पृ० ३२६
४. जयचन्द्रजी के अनुसार यह काल विग्रहपाल द्वितीय का समय पड़ता है।—ले०

चीनी भाषा में अनेक बौद्ध ग्रन्थों का रूपान्तर उपस्थित किया। बौद्धधर्म के प्रति इसकी ऐसी निष्ठा देखकर तात्कालिक चीनी सम्राट् 'ताई-त्सुंग' ने इसे '*बुद्धधर्म-प्रचारक महागुरु*' की उपाधि से विभूषित किया। चीनी त्रिपिटकों में इसके लिखे ११८ ग्रन्थों की चर्चा मिलती है। इसने फा-तिएन (धर्मदेव) के नाम से ४६ ग्रन्थों का चीनी अनुवाद किया था और फा-हिएन (धर्म-विख्यात) के नाम से शेष ७२ ग्रन्थों का चीनी रूपान्तर सम्पन्न किया[1]। धर्मदेव भिक्षु की मृत्यु चीन में ही, 'चिन-त्सुंग' के शासन-काल में, सन् १००१ ई० में हुई।

विग्रहपाल और धर्मरक्ष

राजपाल के बाद द्वितीय 'विग्रहपाल' का शासन मगध पर हुआ। इसके समय में, सन् १००४ ईसवी में 'धर्मरक्ष' नामक विहार-प्रदेशनिवासी भिक्षु चीन गया। यह अपने साथ 'सूर्ययशस्' नामक भिक्षु को भी चीन ले गया। धर्मरक्ष का जन्म सन् ६६० ई० में मगध-प्रदेश के एक गाँव में हुआ था। शिक्षा नालन्दा-विश्वविद्यालय में हुई थी। यह जब चीन पहुँचा, तब इसकी आयु ४४ वर्ष की थी। यह अपनी ६६ वर्ष की आयु तक चीन-देश में धर्म-प्रचार और भारतीय बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य करता रहा। तत्कालीन चीन-सम्राट् जेन-त्सुंग ने इसे 'व्यापक प्रकाश', 'करुणामय जागरण' और 'धर्मोपदेश का महागुरु' की उपाधियों से विभूषित किया था।

धर्मरक्ष का चीनी नाम 'फा-हू' है। इसके द्वारा किये गये अनुवादों में से ४० खण्डों में 'बोधिसत्त्व-पिटक'; २० खण्डों में 'तथागत चिन्त्य गुह्य-निर्देश' तथा २० परिच्छेदवाले पाँच खण्डों में 'हेवाग्रतंत्र' आज भी उपलब्ध हैं। सूर्ययशस् ने भी 'अश्वघोष' के दो संस्कृत-ग्रन्थों का चीनी में रूपान्तर किया था। इनमें एक का नाम 'गुरुसेवा-पंचशतगाथा' और दूसरे का नाम 'दशदुष्कर्ममार्गसूत्र' है[2]।

महीपाल

पालवंश में विग्रहपाल (द्वितीय) के बाद महीपाल नामक राजा सामर्थ्यवान् हुआ। यद्यपि इसे भी शत्रुओं से भयंकर लोहा लेना पड़ा, फिर भी शोणनद से पूर्व के भागों पर शत्रुओं के दाँत नहीं गड़ सके। सारनाथ के शिला-लेख से तो प्रमाणित होता है कि काशी भी इसके अधीन थी। बौद्धधर्म में इसकी भी पूर्ण आस्था थी, जिसके चलते इसके बौद्धधर्म के भक्त भाइयों ने सारनाथ में 'धर्मराजिकास्तूप' और 'सांगधर्मचक्र' का संस्कार कराया था[3]—उनके जीर्णोद्धार कराने के साथ ही गन्धकुटी को भी फिर से बनवाया था। महीपाल ने श्रद्धायुक्त होकर अपने भाइयों की इस कीर्त्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए शिला-लेख लिखवाकर सारनाथ में स्थापित कराया था। वह शिला-लेख आज भी सारनाथ के संग्रहालय में सुरक्षित है, जिसकी संख्या बी० (सी०) आई६० है। इस लेख से स्पष्ट पता चलता है कि महीपाल ब्राह्मण-धर्म के साथ बौद्धधर्म के प्रति भी श्रद्धालु था और काशी के मन्दिरों में ध्वज, चित्र, घण्टा आदि का प्रबन्ध कराया था। इसी लेख से

१. चीनी बौद्धधर्म का इतिहास—पृ० १८७

२. तत्रैव—पृ० १८६

३. प्राचीन भारत (श्रीगंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०)—पृ० २५६

धर्मपाल ने विक्रमशिला-विश्वविद्यालय की स्थापना की और कई बौद्ध विहार भी बनवाये। इस धर्मपाल के उत्तराधिकारी देवपाल के सम्बन्ध में नालन्दा के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि इसने राजगृह के विहारों के लिए चार, और गया के विहारों के लिए एक—अर्थात् पाँच गाँव दान में दिये थे। इसी देवपाल के समय, इसीकी आज्ञा से जावा-सुमात्रा के तात्कालिक राजा ने, जिसका नाम 'बलपुत्र देव' था, नालन्दा के समीप एक बौद्ध विहार बनवाया था। स्वयं देवपाल ने इस विहार के भरण-पोषण के लिए प्रचुर वैभव दान किया था। प्रमाण से ज्ञात होता है कि इसने बहुत-से बौद्ध विहारों के साथ मन्दिर भी बनवाये और इन सब के व्यय के लिए प्रचुर धन दान किया[1]।

देवपाल

धर्मपाल के एक भाई का नाम वाक्पाल था। वाक्पाल के पुत्र का नाम जयपाल था, जिसका पुत्र प्रथम विग्रहपाल था। विग्रहपाल के भाई अथवा उसके वंश के किसी अमृतपाल नामक व्यक्ति ने जयपाल आदि की स्मृति में 'सारनाथ' में दस चैत्यों का निर्माण कराया था। इस बात के प्रमाण का एक शिला-लेख सारनाथ में मिला था, जिसकी संख्या, सारनाथ के संग्रहालय में डी० (एफ्०) ५६ है[2]। उसमें लिखा है—**विश्वपालः। दश चैत्यांस्तु यत् पुण्यं कारयित्वार्जितत् मया (।) सर्वलोको भवे। [त्ते न] सर्व्वज्ञः कारुण्यमयः॥ श्रीजयपाल '' एतानुद्दिश्य कारित-ममृतपाले [न]।**

अमृतपाल

पालराजाओं में नारायणपाल (८५४-९०८ ई०) के बाद राजपाल का शासन आरंभ हुआ। इसके पिता के समय में प्रतिहारों ने इसके राज्य की जो भूमि ले ली थी, उसे इसने पुनः अपने बाहु-बल से हस्तगत कर लिया। श्रीभगवतशरण उपाध्याय ने राजपाल का काल ९१२ ई० से ९३६ माना है; पर 'चीनी बौद्धधर्म का इतिहास' नामक पुस्तक के लेखक 'चाउ-सिआंग कुआंग' ने राजपाल का समय ६५७ ई० से ६८० ई० तक का माना है। किन्तु, जयचन्द्रजी ने ९०८ से ९३२ ई० ही माना है। इसी राजपाल के समय में नालन्दा का 'धर्मदेव' नामक भिक्षु उज्जैन के श्रमण दानपाल (जो ९८० ई० में चीन गया) से पहले ही सन् ९७१ ई० में चीन गया[4]। उस समय चीन में सुंगवंशीय सम्राट् 'ताउ-त्सू' का शासन चल रहा था। नालन्दा का धर्मदेव नामक भिक्षु 'ताउ-त्सू' के शासनकाल से आरम्भ करके 'ताई-त्सुंग' (९७६ ई० ९९७ ई०) के शासनकाल को पार करता हुआ 'चिन-त्सुंग' के शासनकाल में भी बौद्ध-धर्म का प्रचार करता रहा। चीनी भाषा में धर्मदेव का नाम 'फा-तिएन' है। इसने आगे चलकर अपना नाम 'फा-हिएन' भी रखा, जिसका अर्थ होता है—धर्म-विख्यात। यह नाम उसके मूल नाम के अनुरूप ही था। नालन्दा के इस बौद्ध भिक्षु ने ९७१ ई० से १००१ ई० तक

राजपाल और भिक्षु धर्मदेव

१. प्राचीन भारत का इतिहास—पृ० १२५
२. सारनाथ का इतिहास—(वृन्दावन भट्टाचार्य, ज्ञानमंडल-कार्यालय, काशी-सं० १९७९) पृ० १५२
३. प्राचीन भारत का इतिहास—पृ० १२६
४. जयचन्द्रजी के अनुसार यह काल विग्रहपाल द्वितीय का समय पड़ता है।—ले०

चीनी भाषा में अनेक बौद्ध ग्रन्थों का रूपान्तर उपस्थित किया। बौद्धधर्म के प्रति इसकी ऐसी निष्ठा देखकर तात्कालिक चीनी सम्राट् 'ताई-त्सुंग' ने इसे *'बुद्धधर्म-प्रचारक महागुरु'* की उपाधि से विभूषित किया। चीनी त्रिपिटकों में इसके लिखे ११८ ग्रन्थों की चर्चा मिलती है। इसने फा-तिएन (धर्मदेव) के नाम से ४६ ग्रन्थों का चीनी अनुवाद किया था और फा-हिएन (धर्म-विख्यात) के नाम से शेष ७२ ग्रन्थों का चीनी रूपान्तर सम्पन्न किया[1]। धर्मदेव भिक्षु की मृत्यु चीन में ही, 'चिन-त्सुंग' के शासन-काल में, सन् १००१ ई० में हुई।

विग्रहपाल और धर्मरक्ष

राजपाल के बाद द्वितीय 'विग्रहपाल' का शासन मगध पर हुआ। इसके समय में, सन् १००४ ईसवी में 'धर्मरक्ष' नामक बिहार-प्रदेशनिवासी भिक्षु चीन गया। यह अपने साथ 'सूर्ययशस्' नामक भिक्षु को भी चीन ले गया। धर्मरक्ष का जन्म सन् ६६० ई० में मगध-प्रदेश के एक गाँव में हुआ था। शिक्षा नालन्दा-विश्वविद्यालय में हुई थी। यह जब चीन पहुँचा, तब इसकी आयु ४४ वर्ष की थी। यह अपनी ६६ वर्ष की आयु तक चीन-देश में धर्म-प्रचार और भारतीय बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य करता रहा। तत्कालीन चीन-सम्राट् जेन-त्सुंग ने इसे 'व्यापक प्रकाश', 'करुणामय जागरण' और 'धर्मोपदेश का महागुरु' की उपाधियों से विभूषित किया था।

धर्मरक्ष का चीनी नाम 'फा-हू' है। इसके द्वारा किये गये अनुवादों में से ४० खण्डों में 'बोधिसत्त्व-पिटक'; २० खण्डों में 'तथागत चिन्त्य गुह्य-निर्देश' तथा २० परिच्छेदवाले पाँच खण्डों में 'हेवाज्रतंत्र' आज भी उपलब्ध हैं। सूर्ययशस् ने भी 'अश्वघोष' के दो संस्कृत-ग्रन्थों का चीनी में रूपान्तर किया था। इनमें एक का नाम 'गुरुसेवा-पंचशतगाथा' और दूसरे का नाम 'दशदुष्टकर्ममार्गसूत्र' है[2]।

महीपाल

पालवंश में विग्रहपाल (द्वितीय) के बाद महीपाल नामक राजा सामर्थ्यवान् हुआ। यद्यपि इसे भी शत्रुओं से भयंकर लोहा लेना पड़ा, फिर भी शोणनद से पूर्व के भागों पर शत्रुओं के दाँत नहीं गड़ सके। सारनाथ के शिला-लेख से तो प्रमाणित होता है कि काशी भी इसके अधीन थी। बौद्धधर्म में इसकी भी पूर्ण आस्था थी, जिसके चलते इसके बौद्धधर्म के भक्त भाइयों ने सारनाथ में 'धर्मराजिकास्तूप' और 'सांगधर्मचक्र' का संस्कार कराया था[3]—उनके जीर्णोद्धार कराने के साथ ही गन्धकुटी को भी फिर से बनवाया था। महीपाल ने श्रद्धायुक्त होकर अपने भाइयों की इस कीर्त्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए शिला-लेख लिखवाकर सारनाथ में स्थापित कराया था। वह शिला-लेख आज भी सारनाथ के संग्रहालय में सुरक्षित है, जिसकी संख्या बी० (सी०) आई० है। इस लेख से स्पष्ट पता चलता है कि महीपाल ब्राह्मण-धर्म के साथ बौद्धधर्म के प्रति भी श्रद्धालु था और काशी के मन्दिरों में ध्वज, चित्र, घण्टा आदि का प्रबन्ध कराया था। इसी लेख से

१. चीनी बौद्धधर्म का इतिहास—पृ० १८७
२. तत्रैव —पृ० १८६
३. प्राचीन भारत (श्रीगंगाप्रसाद मेहता, एम्० ए०)—पृ० २५६

दूसरी बात यह भी प्रमाणित होती है कि सन् १०२६ ई० के आस-पास काशी पर इसका शासन था। उस लेख को यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

ओं नमो बुद्धाय[1]

वरान (ण) शी (सी) सरस्यां गुरव श्रीवामराशिपदाब्जं आराध्य नमित-भूपतिशिरोरुहैः शैवालाधीशं इ (ई) शानचित्रघण्टादिकीर्त्तिरत्नशतानि यो गौडाधिपो महीपाल; काश्यां श्रीमानकार (यत्)।

सफलीकृतपाण्डित्यौ बोधावविनिवर्त्तिनौ।
तौ धर्म्मराजिकां साङ्गं धर्म्मचक्रं पुनर्नवं॥
कृतवन्तौ च नवीनामष्टमहास्थानशैलगन्धकुटीं।
एतां श्रीस्थिरपालो वसन्तपालोऽनुजः श्रीमान्॥

संवत् १०८३ पौष दिने ११[2]

इससे स्पष्ट है कि महीपाल के गुरु वाराणसी में रहते थे, जिनका नाम 'वामराशि' था और उनकी प्रेरणा से ही काशी के मन्दिरों में महीपाल ने ध्वज, चित्र, घंटे आदि लगवाये थे। इसके दो भाई, स्थिरपाल और वसन्तपाल ने, जो पूर्ण बौद्ध थे, सारनाथ के बौद्ध स्थानों का जीर्णोद्धार कराया था, जिनके यश की चिरस्थिति के लिए महीपाल ने शिला-लेख लिखवाया।

श्रीज्ञान दीपङ्कर अतिश के तिब्बत जाने के पहले, बिहार-प्रदेश के जिन विद्वान् सपूतों ने वहाँ बौद्धधर्म के विकास के लिए कार्य किये, उनमें स्मृतिज्ञान, धर्मपाल, सिद्धपाल गुणपाल, सुभूति और श्रीशान्ति प्रमुख थे[3]। इन धर्म-नेताओं ने बौद्धधर्म के अनेक ग्रन्थों का तिब्बती अनुवाद प्रस्तुत किया था। ये अनूदित पुस्तकें भारतीय संस्कृति और इतिहास के लिए प्रकाश-स्तम्भ-सदृश हैं, अतः हम भारतवासी इनके ऋण को कभी भुला नहीं सकते। इन विद्वानों में स्मृतिज्ञान मुख्य थे।

स्मृतिज्ञान

स्मृतिज्ञान, महीपाल के शासन की समाप्ति पर और 'नयपाल' के द्वारा शासनसूत्र

१. सारनाथ का इतिहास—पृ० १५३

२. हिन्दी-रूपान्तर—"बुद्ध को नमस्कार। वाराणसी-रूपी सरसी में गुरु 'श्रीवामराशि' के चरण पद्म की तरह शोभते हैं, जिनके ऊपर झुके भूपतियों के शिरोरुह शैवाल की तरह छाये रहते हैं। उसी चरण-कमल की आराधना करके श्रीमान् 'महीपाल' ने काशी में ध्वज, चित्र, घण्टादि-रूपी अनेक कीर्त्ति-रत्न स्थापित किये। दो अनुज—स्थिरपाल और वसन्तपाल—जिन्होंने अपने पाण्डित्य को सफल किया और नहीं दूर होनेवाली (स्थिर) सम्बोधि को प्राप्त किया तथा जिन्होंने 'धर्म-राजिका' और 'साङ्गधर्मचक्र' (जहाँ बुद्ध ने पंचवर्गीय भिक्षुओं को अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया था) स्थान का नवीनीकरण कराया एवं आठ महास्थानों की शिलाओं से गन्धकुटी का जीर्णोद्धार कराया। (उनकी स्मृति में)—संवत १०८३, पौष, दिन ११।"

३. पाटलिपुत्र की कथा—पृ० ६२३

सँभाल लेने पर सन् १०३० ई० में, 'सूक्ष्मदीर्घ' नामक पण्डित के साथ, तिब्बत गये[1]। इनके साथ एक दुभाषिया भी था, जो भारत आया था और उसी के साथ ये तिब्बत जा रहे थे। अभाग्यवश बेचारा दुभाषिया नेपाल पहुँचने पर मर गया। उसके मर जाने पर भी स्मृतिज्ञान और सूक्ष्मदीर्घ ने हिम्मत नहीं हारी और ये तिब्बत गये। तिब्बत में सूक्ष्मदीर्घ को तो किसी व्यक्ति का अच्छा आश्रय मिल गया; पर स्मृतिज्ञान के लिए व्यवस्था नहीं हो सकी। इन्होंने एक पशुपालक के यहाँ भेड़ चराने की नौकरी कर ली। पशुपालक ब्रह्मपुत्र कांठे का निवासी था। उसकी स्त्री स्मृतिज्ञान के प्रति बड़ी ही कर्कशा सिद्ध हुई। जब स्मृतिज्ञान भेड़ें लेकर घर लौटते, तब घर की मालकिन इन्हें एक क्षण भी आराम नहीं करने देती। वह रात में भी इनसे सत्तू पिसवाने का काम लेती थी। कई रात तो ये भूखे ही रह जाते और उस हालत में भी वह इनसे सत्तू पिसवाने का काम कराती थी। इतने पर भी ये बराबर उस स्त्री की फटकार सुनते थे! फिर भी इन्होंने साहस नहीं छोड़ा। ये अपने उद्देश्य-पथ पर बढ़ते ही गये। भेड़ की चरवाही से इन्हें फायदा यह हुआ कि चरवाहों के संग में विशुद्ध भोट भाषा के बोलने-समझने का ज्ञान हो गया। बाद में लिपि का ज्ञान प्राप्त करके ये भोट लिपि को पढ़ना भी जान गये। भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर इन्होंने नौकरी छोड़ दी और भारतीय ग्रंथों के अनुवाद में हाथ लगाया। स्मृतिज्ञान और विभूतिचन्द (१२०४ ई०) ये दो ऐसे भारतीय पण्डित हुए, जिन्होंने दुभाषिये के बिना ही स्वयं अनुवाद का कार्य किया था[2]। तिब्बती अनुवाद करनेवाले ऐसे भारतीय पंडित कम हुए हैं।

स्मृतिज्ञान ने 'स्मन्-लुग्' स्थान में 'ब्सोद्-नम्स्-र्ग्यल्-म्छन्' नामक व्यक्ति को बौद्ध ग्रन्थों को पढ़ाने का काम किया था। इसके बाद पूर्वीय तिब्बत-प्रदेश में जाकर इन्होंने 'ऽदन्-क्लोङ्-थङ्' स्थान में 'अभिधर्मकोश' पढ़ाने के लिए एक विद्यालय भी खोला। इनके द्वारा अनूदित ग्रन्थों में 'चतुष्पाठ-टीका', 'वचन-मुख' आदि ग्रन्थ हैं, जिनके मूलरूप भी इन्हीं के लिखे हैं। जीवन भर इन्होंने तिब्बत में बौद्धधर्म का कार्य किया और वहीं इनकी मृत्यु भी हुई। इनके शरीर के अवशेष तिब्बत के उसी पूर्वी प्रदेश के एक स्तूप में आज भी वर्त्तमान हैं।

इसी काल के आस-पास 'रिन्-छेन्-ब्सन्' नामक एक तिब्बती ने अपने भारतीय साथियों की सहायता से कई दर्शन तथा तंत्र-ग्रन्थों का अनुवाद प्रस्तुत किया और कराया था। इन भारतीय पंडितों में श्रद्धाकर वर्मा, पद्माकरगुप्त, बुद्ध श्रीशान्त, बुद्धपाल और कमलगुप्त थे। जिन ग्रन्थों के तिब्बती रूपान्तर हुए, उनमें आर्यदेव का 'हस्तलाघव-प्रकरण', हरिभद्र का 'अभिसमयालंकारालोक', नागार्जुन की 'वैद्यक अष्टांगहृदयसंहिता', मातृचेट की 'चतुर्विपर्यय-कथा', वसुबन्धु की 'सप्तगुणपरिवर्णन-कथा' और 'सुमागधावदान' आदि मुख्य हैं।

पालराजा 'नयपाल' के समय तिब्बत से दीपंकर श्रीज्ञान अतिश की बुलाहट आई थी। तिब्बत में जब स्मृतिज्ञान बौद्धधर्म के प्रचार के लिए, अपने साथियों के साथ उद्योग कर

१. बिहार: एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० १८२
२. तिब्बत में बौद्धधर्म (महापण्डित राहुल सांकृत्यायन)—पृ० १८

रहे थे, तभी दीपङ्कर अतिश तिब्बत जाने के लिए विक्रमशिला से रवाना हुए थे। अतिश के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में विक्रमशिला में आये तिब्बती शिष्ट-मंडल का उद्गार पठनीय है—"अतिश को देखने से आँखें तृप्त नहीं होतीं। समस्त उपस्थित जनसमूह उनके मुस्कान-भरे मुखमण्डल को देखकर विमुग्ध था—सभी उसी ओर दृष्टि गड़ाये, एकटक देख रहे थे। उपस्थित जनसमूह में भारतीय, नैपाली तथा तिब्बती लोग थे। अतिश की बगल में चाबियों के गुच्छे लटक रहे थे। उनकी आकृति पर ऐसी तेजस्विता और सरलता खेल रही थी कि देखनेवाले पर एक अजीब जादू छा जाता था[1]।"

श्रीज्ञान दीपङ्कर अतिश

अतिश का जन्म, ईत्सिंग के सहपाठी शांतिरक्षित के गाँव 'सहोर' (भागलपुर) में, उन्हींके वंश में ही हुआ था। उन्हीं के इलाके में विक्रमशिला-विश्वविद्यालय भी स्थित था। अतिश का जन्म ९८१ ई० में हुआ था[2]। इनका समय द्वितीय विग्रहपाल, महीपाल और नयपाल नामक राजाओं का शासन-काल रहा। किन्तु, तिब्बत में जब ये बौद्धधर्म का कार्य कर रहे थे, तब मगध में तृतीय विग्रहपाल का शासन चल रहा था। विक्रमशिला में इन्हें लेने के लिए तिब्बती शिष्ट-मंडल १०४१ ई० में आया था।

अतिश के पिता का नाम 'कल्याणश्री' और माता का नाम 'प्रभावती' था। कल्याणश्री अत्यन्त वैभव-सम्पन्न तथा अपने प्रदेश के सम्मानित ब्राह्मण थे। उनके तीन पुत्र थे, जिनका नाम पद्मगर्भ, चन्द्रगर्भ और श्रीगर्भ था। इनमें मँझला पुत्र चन्द्रगर्भ ही आगे चलकर श्रीज्ञान दीपङ्कर अतिश के नाम से बौद्ध जगत् में विश्रुत हुआ। कल्याणश्री ने अपने पुत्रों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया था। ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही चन्द्रगर्भ संस्कृत भाषा का पूर्ण ज्ञाता हो गया। इसकी मेधाशक्ति विलक्षण थी, जो इसके किसी भाई को प्राप्त नहीं थी।

एक दिन चन्द्रगर्भ घूमता-फिरता पड़ोस के आश्रम में गया, जो परम प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् 'जेतारि' का आश्रम था। जेतारि ने चन्द्रगर्भ की आकृति पर तेजस्विता की झलक देखकर इसका परिचय पूछा। चन्द्रगर्भ ने अपने परिचय में कुछ ऐसी बात कही, जिसमें राजकुमार होने का अभिमान भरा था। जेतारि ने कहा—"यहाँ राजा-प्रजा कोई नहीं होता। तुम राजा के लड़के हो, तो यहाँ क्यों आये हो ? जाओ, यहाँ तुम्हारा कुछ काम नहीं।" चन्द्रगर्भ बालक इस अपमान से तो तिलमिला गया; पर वह जेतारि का कर ही क्या सकता था। जेतारि कोई साधारण सन्त नहीं थे। वे बड़े भारी त्यागी और सिद्ध पुरुष थे। समाज में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। अन्त में चन्द्रगर्भ ने अपने अज्ञान के लिए क्षमा माँगी और प्रार्थना की कि मुझे अपना विद्यार्थी बना लिया जाय। श्रद्धालु बालक को योग्य पात्र समझकर जेतारि ने इसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। बाद में इसे उन्होंने नालन्दा-विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए भिजवा दिया।

चन्द्रगर्भ जब माता-पिता से आज्ञा लेकर नालन्दा गया, तब इसकी आयु सिर्फ बारह

१. बुद्ध और उनके अनुचर (भदन्त आनन्द कौसल्यायन)—पृ० ७०-७१
२. पाटलिपुत्र की कथा—पृ० ६१४

साल की थी। बीस वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति को उपसम्पदा नहीं दी जाती थी, अतः चन्द्रगर्भ को प्रतीक्षा करनी पड़ी। किन्तु, अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न बालक को देखकर तथा जेतारि द्वारा भेजा जानकर नालन्दा के प्रधान आचार्य 'बोधिभद्र' ने इसे श्रमणेर की दीक्षा देकर साथ रख लिया। बोधिभद्र ने चन्द्रगर्भ का नाम 'श्रीज्ञान दीपंकर' रखा। बोधिभद्र के गुरु 'मैत्रीगुप्त' उस समय जीवित थे और वे राजगृह में रहते थे। वे परम विख्यात सिद्ध हो गये थे। इसलिए अब उनका नाम मैत्रीपा, अद्वयवज्र तथा अवधूतिपा (द) भी पड़ गया था। बोधिभद्र अपने प्रिय शिष्य श्रीज्ञान दीपंकर को उनके समीप राजगृह ले गये, तथा गुरु से निवेदन किया कि यह बड़ा ही होनहार विद्यार्थी है, इसको कुछ काल तक अपने पास रखकर शिक्षा दें। मैत्रीपा ने भी योग्य पात्र देखकर बोधिभद्र की प्रार्थना मान ली। श्रीज्ञान दीपङ्कर ने मैत्रीपा के पास रहकर शुश्रूषापूर्वक बौद्धधर्म-ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन किया। उन दिनों बौद्ध समाज में मंत्रयान और वज्रयान का खूब प्रचार था। श्रीज्ञान दीपंकर ने मंत्रयान और वज्रयान के ग्रन्थों का 'नारोपा' नामक सिद्ध से अध्ययन किया, जो बाद में विक्रमशिला-विश्वविद्यालय के उत्तरी द्वार के पण्डित हुए थे। इसी नारोपा सिद्ध का नाम 'नाडपाद' या 'नरोत्तमपाद' था। तिब्बती विद्वानों ने 'नारोपा' का नाम 'नरोपन्त' भी लिखा है। नारोपा के शिष्यों में श्रीज्ञान दीपंकर के अतिरिक्त प्रज्ञारक्षित, कनकश्री और माणकश्री परम प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् हुए हैं।

श्रीज्ञान दीपंकर ने यद्यपि अपने घर, नालन्दा, राजगृह, विक्रमशिला आदि विद्या के केन्द्रों में रहकर परिश्रमपूर्वक संस्कृत तथा बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया, तथापि उन दिनों बोधगया के 'वज्रासन-महाविहार' में जबतक कुछ वर्षों रहकर बौद्धधर्म-ग्रन्थों का अध्ययन नहीं कोई करता, तबतक बौद्ध समाज में उसकी पूरी प्रतिष्ठा नहीं होती थी। इसलिए दीपंकर वज्रासन के 'मति-विहार' में अध्ययन के लिए गये और वहाँ इन्होंने महाविनयधर 'शीलरक्षित' से विनय-ग्रंथों का अध्ययन किया। अब श्रीज्ञान दीपंकर की आयु ३१ वर्ष की हो चुकी थी और इस तरह इन्होंने गृहत्याग के बाद १६ वर्षों तक विविध स्थानों में जा-जाकर अनेक बौद्ध विषयों का अध्ययन-मनन किया।

अपनी ३१ वर्ष की आयु के बाद श्रीज्ञान दीपंकर दर्शन-शास्त्र के अध्ययन के लिए 'सुमात्रा' द्वीप में चले गये। इन्होंने बौद्धधर्म का अध्ययन सुमात्रा में भी 'धर्मपाल' नामक भारतीय विद्वान् से किया। सुमात्रा में वर्षों दर्शन-शास्त्र का मनन-चिंतन समाप्त कर ये लंका चले गये। इस तरह बारह वर्षों तक प्रवास करके श्रीज्ञान अपनी ४३ वर्ष की आयु में पुनः अपने गाँव सहोर (भागलपुर) लौटे।

दीपङ्कर की ख्याति बहुत पहले से ही फैल चुकी थी। जब ये अपने गाँव आये, तब पाल-राजा महीपाल ने (जिसने सारनाथ में प्रशस्ति लिखवाई थी) इन्हें विक्रमशिला-विश्वविद्यालय का प्रधान आचार्य नियुक्त किया। इसके बाद इनकी प्रतिष्ठा इस तरह बढ़ी

कि देश के ऋषियों के समकक्ष इनकी गणना होने लगी। भारत में इनकी प्रतिष्ठा कितनी थी, इसका अनुमान एक ऐतिहासिक घटना से लगाया जा सकता है।

'डाहला' के कलचुरि राजा गांगेयदेव के पुत्र 'कर्ण' ने जब मगध पर आक्रमण किया, तब इनके बीच-बचाव करने से ही 'नयपाल' और 'कर्ण' में सन्धि हुई थी[1]। दीपंकर ने इन्हें समझाया कि 'सीमान्त पर जब तुर्कों का आतंक फैला है, तब इस तरह आपस में लड़ना तुमलोगों के लिए उचित नहीं है।' यह ऐतिहासिक घटना सन् १०४१ ई० में घटी थी। इसके बाद ही सन् १०४२ ई० में दीपंकर धर्म-प्रचार के लिए तिब्बत चले गये। तिब्बत के लिए रवाना होते समय इनकी आयु ६१ वर्ष की हो चुकी थी।

ये जब तिब्बत गये, तब पहले-पहल मानस-सरोवर के पश्चिमवाले प्रदेश में 'थो-गलिङ्' विहार में ठहरे। इसी जगह दीपंकर ने अपना 'बोधिपथ प्रदीप' नामक ग्रन्थ तैयार किया। इसके बाद जब ये तिब्बत की राजधानी में पहुँचे, तब इनका जैसा शाही स्वागत हुआ, वह अवर्णनीय है। तिब्बती ग्रन्थों में इस स्वागत का जैसा वर्णन मिलता है और श्रीराहुल सांकृत्यायन ने जिसका उल्लेख अपनी पुस्तक 'तिब्बत में बौद्धधर्म' में किया है, वह पठनीय है। कहा जाता है कि राजा की ओर से १०० घुड़सवारों का प्रबन्ध था, जो चार सेनापतियों की देख-रेख में सुव्यवस्थित ढंग से चल रहे थे। सभी घुड़सवारों की वर्दियाँ सफेद थीं। स्वागत में फौजी बाजे बज रहे थे और उनमें 'ॐ मणिपद्मे हुं' का गान हो रहा था। राजा के प्रतिनिधि ने, जिसका नाम 'नारि-स्तो-सुम्-पने' था, ढाई छटाँक सोना दीपंकर को भेंट में दिया और तिब्बती चाय का एक प्याला भी अपने हाथों भेंट किया। एक भारी जनसमूह के सामने देश के सेनापति ने कहा—"भारत के सर्वश्रेष्ठ पण्डित! इस देश में आपका आगमन किसी देवता के आगमन-तुल्य है। हम पर जो आपकी यह कृपा हुई है, उसके लिए हम सम्पूर्ण तिब्बतवासी आपके कृतज्ञ हैं। आप तिब्बत के लिए चिन्तामणि के समान हैं। सम्पूर्ण तिब्बत हर तरह से आपकी आज्ञा का पालन करेगा, आपके लिए हम सब न्योछावर कर देंगे।"

श्रीज्ञान दीपंकर के साथ उस समय राजा भूमिसिंह, पण्डित परहितभद्र, वीर्यचन्द्र आदि वर्त्तमान थे। इनके साथ उस समय कुल ३५ विद्वान् विक्रमशिला-विश्वविद्यालय से तिब्बत गये थे। जिस घोड़े पर ये चल रहे थे, जनसमूह के दर्शनार्थ, अपने योगबल से, कभी-कभी उस घोड़े की पीठ से कई हाथ ऊपर उठ जाते थे। ये राजा के अतिथि के रूप में 'लिन्-सेर्-ग्यी-ल्-खङ्' विहार में ठहराये गये।

दीपंकर ने तिब्बत में तेरह वर्षों तक अपने साथियों के साथ, सांगोपांग बौद्धधर्म का कार्य सम्पादन किया। प्रचार के साथ भारतीय ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद-कार्य भी होता रहा। इस काल में २०० ग्रन्थों का अनुवाद-कार्य हुआ। स्वयं दीपंकर के द्वारा तिब्बती भाषा में अनूदित और रचित ग्रंथों के कुछ नाम इस प्रकार हैं—

(१) बोधिपथप्रदीप, (२) चर्यासंग्रहप्रदीप, (३) सत्यद्वय, (४) मध्यमोपदेश,

१. बिहार : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन—पृ० १८१

(५) संग्रहगर्भ, (६) बोधिसत्त्वमन्यावलि, (७) हृदय-निश्चित, (८) बोधिसत्त्वकर्मादिमार्गावतार, (६) शरणागतादेश, (१०) महायानपथ-साधनवर्णसंग्रह, (११) महायानपथ-साधनसंग्रह, (१२) सूत्रार्थ-समुच्चयोपदेश, (१३) दशकुशलकर्मोपदेश, (१४) कर्मविभंग, (१५) संधिसंवर-परिवर्त्त, (१६) लोकोत्तरसप्तकविधि, (१७) गुह्यक्रियाकर्म, (१८) चित्तोत्पाद-संवर-विधिकर्म, (१६) शिक्षासमुच्चयाभिसमय, (२०) विमलरत्नलेखन आदि।

अन्तिम पुस्तक मगध के राजा 'नयपाल' के अतिश द्वारा नाम लिखा एक बृहत् पत्र है। इस तरह तिब्बत में तेरह वर्षों तक बौद्धधर्म को सुदृढ़ करके श्रीज्ञान दीपंकर अतिश, अपनी इकहत्तर वर्ष की आयु में, तिब्बत के 'ने-थन्' नामक स्थान में तुषितलोक को प्राप्त हुए। 'ल्हासा' के रास्ते के एक बौद्ध मंदिर में, आज भी 'अतिश' का भिक्षापात्र, कमण्डल और खदिर-दण्ड—तीनों सुरक्षित रखे हुए हैं।

मैत्रीपा के शिष्यों में 'गयाधर' नाम का एक व्यक्ति था, जो जाति का कायस्थ और वैशाली (मुजफ्फरपुर) का रहनेवाला था। गयाधर भी १०७५ ई० के लगभग तिब्बत गया। तिब्बत में पाँच वर्षों तक रहकर इसने तंत्र-ग्रन्थों का अनुवाद किया। बाद में यह अपने ग्राम वैशाली लौट आया। तिब्बत से आते समय वहाँ के राजा ने भेंट में इसे पाँच सौ तोले सोना दिया था। गयाधर ने 'बुद्धकपालतंत्र' और 'वज्रडाकतंत्र' का अनुवाद किया था। यह स्वयं अपभ्रंश-भाषा का कवि भी था। इसके पुत्र का नाम 'तिब्र्पा' था, जो एक प्रसिद्ध बौद्ध सिद्ध था[1]।

गयाधर

उपर्युक्त बिहारी विद्वानों के अतिरिक्त, बारहवीं सदी के प्रारंभिक काल में भी, बिहार के बौद्ध विद्वानों ने तिब्बत में जाकर बौद्धधर्म का कार्य किया था। इस काल में बुद्धकीर्त्ति ने अभयंकरगुप्त (अभयाकर गुप्त) के द्वारा लिखी कई तांत्रिक पुस्तकों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। अभयंकरगुप्त का जन्म, झारखण्ड (देवघर के आस-पास) प्रदेश में, क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी माता से हुआ था[2]। इन्होंने 'सौरीपा' से सिद्धिचर्या की दीक्षा ली थी और ये 'अवधूतिपा' के प्रधान शिष्य थे। ये मगध-नरेश 'रामपाल' के गुरु थे, जिसका काल १०५७ ई० से ११०२ ई० माना गया है। नालन्दा और विक्रमशिला के विशिष्ट पण्डितों में इनकी गणना थी। ये बोधगया के वज्रासन-विहार के प्रधान आचार्य थे। इनकी मृत्यु ११२५ ई० में हुई थी[3]। बुद्धकीर्त्ति इनके सहपाठी रह चुके थे। 'वज्रयानापत्तिमंजरी' नामक पुस्तक के निर्माण करने में बुद्धकीर्त्ति ने अभयंकरगुप्त की भी सहायता ली थी।

बुद्धकीर्त्ति और अभयंकरगुप्त

इसी समय विहार-प्रदेश-निवासी कुमारश्री नामक बौद्ध विद्वान् की पुस्तकों का भी तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ। बौद्ध पण्डित 'कर्णपति' ने भी इस काल में महायान-सम्प्रदाय के

१. तिब्बत में बौद्धधर्म—पृ० १७
२. तत्रैव—पृ० ४२
३. तत्रैव—पृ० ४२

कई ग्रन्थों के तिब्बती भाषा में अनुवाद किये। कर्णपति नालन्दा के उपाध्याय थे और वहीं से इन्हें 'पण्डित' की पदवी प्राप्त हुई थी। नालन्दा में ये तिब्बती भाषा पढ़ाने के लिए अध्यापक भी रह चुके थे। *कर्णश्री* और *सूर्यध्वज* नामक विद्वानों ने भी इस काल में तिब्बत जाकर कई संस्कृत-ग्रन्थों के तिब्बती अनुवाद प्रस्तुत किये। 'सुमतिसेन' ने 'कर्मसिद्धटीका' नामक पुस्तक संस्कृत-भाषा में लिखी थी, जिसका तिब्बती अनुवाद इसी काल में भिक्षु *विशुद्धसिंह* ने किया।

मित्रयोगी का जन्म यद्यपि 'राढ़' देश में हुआ था, तथापि इनके अध्ययन-अध्यापन तथा कर्म का क्षेत्र बिहार-प्रदेश था। इनका दूसरा नाम *जगन्मित्रानन्द* था। ये बिहार-प्रदेश के प्रसिद्ध सिद्ध तिलोपा के शिष्य थे और इन्होंने सिद्धिचर्या की दीक्षा ललितवज्र से ली थी। ये उदण्डपुरी विहार (विहारशरीफ) के प्रधान आचार्य भी कुछ दिनों तक रहे थे। इनका कार्य-क्षेत्र बिहार-प्रदेश था, तब भी इनकी प्रसिद्धि काशी तक थी। इसीलिए तत्कालीन काशीश्वर जयचन्द इनके प्रधान शिष्यों में से थे[1]।

बिहार-प्रदेश पर जिस समय मुहम्मद बिन बख्तियार-इख्तियार खिलजी का हमला बार-बार हो रहा था, उसी समय तिब्बत-निवासी 'ड्खो-फु' नामक व्यक्ति, सन् ११६८ ई० में, मित्रयोगी को तिब्बत बुला ले गया[2]। मित्रयोगी की पुस्तक का नाम 'चतुरंग-धर्मचर्या' है, जिसका अनुवाद इसी तिब्बती विद्वान् ने किया।

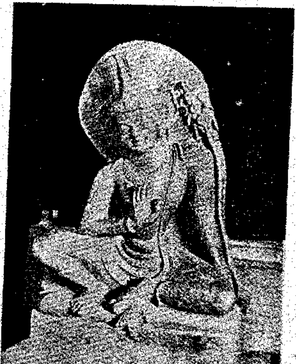
शाक्य श्रीभद्र का जन्म भी बिहार-प्रदेश में नहीं हुआ था, पर विद्याध्ययन-काल से तिब्बत जाने के पहले तक; इनका जीवन बिहार में ही व्यतीत हुआ था। इनका जन्म ११२७ ई० में कश्मीर-प्रदेश में हुआ था। बचपन में ही घूमते-घामते ये बिहार-प्रान्त में आये और बोधगया, नालन्दा तथा विक्रमशिला में इन्होंने अध्ययन किया। इन्होंने विविध ग्रन्थों का अध्ययन कई विद्वानों के शिष्यत्व में किया था। ये पालवंश के अन्तिम राजा गोविन्दपाल के गुरु थे और विक्रमशिला-विश्वविद्यालय के शायद ये ही अन्तिम आचार्य हुए। मुहम्मद-बिन बख्तियार-इख्तियार ने जब बिहार-प्रदेश को निगलकर विक्रमशिला-विश्वविद्यालय को ध्वस्त कर दिया, तब ये बंगाल भाग गये और वहाँ भी खतरा देखकर नेपाल चले गये। मित्रयोगी को तिब्बत ले जानेवाला 'ड्खो-फु' नामक तिब्बती इन्हें भी नेपाल से तिब्बत ले गया[3]। ये १२०० ई० में तिब्बत पहुँचे थे। इन्होंने १० वर्षों तक तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रचार-कार्य किया था। ये विद्वत्ता में तो अगाध थे, पर लेखनी के धनी नहीं थे। पीछे ये तिब्बत से अपनी जन्मभूमि लौट गये और वहीं १२२५ ई० में इनकी मृत्यु हुई।

यद्यपि उदन्तपुर का विहार विक्रमशिला-विहार से पहले ही स्थापित हुआ था, तथापि विक्रमशिला की तरह इसका विकास चरम सीमा तक नहीं पहुँच सका। फिर भी देश के

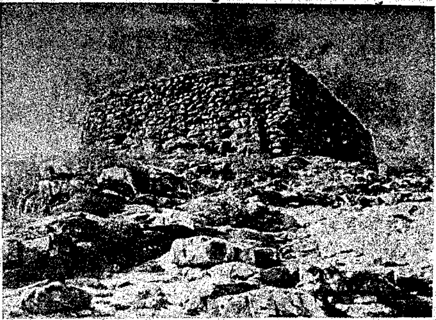
१. इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, मार्च, १९२५ ई०।
२. तिब्बत में बौद्धधर्म—पृ० ४१
३. तत्रैव—पृ० ४४



भद्रासन में बुद्ध, नालन्दा (कांस्य-मूर्त्ति)



मैत्रेय, नालन्दा



पीपलगुहा (राजगृह)



अभय मुद्रावाली बुद्ध-मूर्त्ति, लक्खीसराय (मुंगेर)
(पृ० २९७)

विद्या-केन्द्रों में इसका भी अपना एक स्थान था। इसका निर्माण पालराजा गोपाल के काल में ही हुआ था और यह १२वीं सदी के अन्ततक प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र रहा। यहाँ भी बड़े-बड़े विद्वान् आचार्य-पद पर रहे तथा यहाँ के विद्यार्थी भी देश-विदेश में कीर्तिलब्ध हुए। अरब के लेखकों ने उदन्तपुर का नाम 'अदवंद'[1] लिखा है। इस विहार का उल्लेख किसी भी राजा की प्रशस्ति-शिला में अभी तक नहीं मिला है। यही कारण है कि कुछ इतिहासकार इसका संचालन-भार भिक्षु-संघ के हाथ में था, किसी राजा के हाथ में नहीं, ऐसा मानते हैं। ज्ञात होता है कि उदन्तपुर का भिक्षु-संघ नालन्दा और विक्रमशिला के बौद्धसंघों से भिन्न मत या सम्प्रदाय का था, जिसने अपने मत के प्रचार के लिए अलग विद्या-केन्द्र संचालित किया था। यह विद्या-केन्द्र ११९९ ई० में, मुहम्मद-बिन-बख्तियार-इख्तियार के आक्रमण-काल में, नालन्दा और विक्रमशिला—दोनों से उन्नत अवस्था में था। देश के धनी-मानियों का इसके साथ अच्छा सहयोग था।

उदन्तपुर का विहार

मुहम्मद-बिन-बख्तियार इख्तियार ने उदन्तपुर पर केवल २०० सवारों को लेकर हमला किया था, फिर भी बिहार-प्रदेश में कोई ऐसी शक्ति नहीं थी कि इन मुट्ठी-भर सवारों का मुकाबला कर सके। उसने पूर्ण निःशंक होकर उदन्तपुर के विहार को घेर लिया। कोई उपाय न देखकर विहार के भिक्षुओं ने स्वयं लड़ने का निश्चय किया और इनमें अधिकांश लड़ते हुए उन तुर्क सवारों की तलवार की घाट उतरे। यहाँ तक कि जो लुके-छिपे भी थे, उनमें से भी अधिकांश ढूँढ़-ढूँढ़कर मार डाले गये। कुछ भिक्षु बंगाल और उड़ीसा की ओर भाग गये। कहते हैं कि मुहम्मद-बिन-बख्तियार-इख्तियार जब भिक्षुओं को मारकर विहार के अन्दर गया, तब वहाँ एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं था, जो उसे बतलावे कि विहार में अम्बार-सी लगी पुस्तकों में क्या लिखा है? वह भिक्षुओं का विहार था—वहाँ सोना-चाँदी या अन्य प्रकार का ऐश्वर्य तो था नहीं, केवल पुस्तकें थीं। इख्तियार खिलजी के काम की कोई चीज वहाँ नजर नहीं आई, इसलिए वह और क्रुद्ध हुआ। उसने विहार की पुस्तकों में आग लगवा दी। उस अग्निकांड में सदियों से अर्जित ग्रन्थ जलकर खाक हो गये। मुहम्मद-बिन-बख्तियार-इख्तियार खिलजी अब इस तरह जहाँ भी विहार देखता, आग लगवा देता। इसी तरह उसने नालन्दा और विक्रमशिला के विहारों को भी अग्नि की भेंट चढ़ा दिया। अन्य दुश्मन राजधानी पर हमला करते थे और वहाँ से धन-धान्य लूटकर ले जाते थे। भारत सोना-चाँदी के लुट जाने पर भी खाली नहीं होता था, वह फिर भर जाता था। पर, इख्तियार ने तो भारतवर्ष का मस्तिष्क ही जला डाला। सभी धार्मिक स्थानों में सुरक्षित ज्ञान-विज्ञान तथा सभ्यता-संस्कृति को ही भस्मसात् कर दिया। सच पूछिए, तो मूल को ही काट डाला—स्रोत को ही सुखा डाला। इस तरह बारहवीं शताब्दी के अन्त होते-होते, इन शिक्षा-केन्द्रों के साथ-साथ, उसने भारत के प्राचीन गौरव, संस्कृति और इतिहास का भी अन्त कर दिया। देश का इतना बड़ा और इस तरह का सर्वनाश कभी नहीं हुआ था।

१. पाटलिपुत्र की कथा—पृ० ६१५

कुछ लोगों का कहना है कि मुहम्मद-बिन-बख्तियार-इख्तियार खिलजी के संबंध में इस तरह का दोष अतिशयोक्तिपूर्ण है। इस पर मैं अपनी ओर से विशेष कुछ नहीं कहना चाहूँगा। इस सम्बन्ध में डॉक्टर हीरानन्द शास्त्री ने अपनी 'नालन्दा' नामक विवरण-पुस्तिका के पृ० १४ में जो लिखा है, वह इस प्रकार है—"नालन्दा की ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ, दिव्य विहार और इनमें स्थित सामग्री अवश्य ही लुटेरों का शिकार बनी होंगी, तभी तो वहाँ जो स्थान खोदकर निकाले गये हैं, वहाँ अग्नि-दाह के द्योतक चिह्न पाये गये। एक बड़े विहार के भग्नावशेषों की मिट्टी जली हुई, घरों की चौखटें कोयला हुई और ताम्रपत्र आग से जले निकले।" अग्नि-दाह के कारण ही विहार में रखा चावल-भांडार जल गया था, जो खुदाई के अवसर पर प्राप्त हुआ है। उस जले चावल में से लगभग आधा सेर चावल नालन्दा-संग्रहालय में आज भी सुरक्षित है।

पालकाल में वज्रयान-सम्प्रदाय और बिहार के सिद्ध

बौद्धधर्म के नाश में पठानों के अमानुषिक आक्रमण के साथ-साथ बौद्धधर्म का 'वज्रयान-सम्प्रदाय' भी एक मुख्य कारण है। जिस समय मुहम्मद-बिन-बख्तियार-इख्तियार खिलजी ने बौद्ध विहारों पर हमला करना शुरू किया, उस समय प्रायः सारे बौद्ध वज्रयान-सम्प्रदाय के उपासक हो गये थे। इस सम्प्रदाय का सिद्धान्त हठयोग के साथ मंत्र, मैथुन और मद्य पर ही आधारित था, जो सभी भगवान् बुद्ध के विचारों के प्रतिकूल थे। यहाँ मैं वज्रयान के दर्शन, उसके गूढ़ रहस्य तथा उसकी उन्नत भाव-भूमि पर विचार नहीं करूँगा। वह हमारा विषय नहीं। वज्रयान की उत्पत्ति और विकास पर एक नजर डालते हुए उसके उपासक बिहारी सिद्धों की चर्चा करूँगा, जिनका बौद्धधर्म के साथ गहरा सम्पर्क था और जो इस ग्रन्थ का सम्बद्ध विषय है।

वज्रयान का उद्गम और विकास

भगवान् बुद्ध का एक नाम 'मारजित्' है, जिसका अर्थ है—कामदेव को जीतनेवाला। पर ज्ञात होता है कि यद्यपि काम भगवान् बुद्ध से परास्त हो गया था, तथापि वह एक चतुर सेनानी की तरह बराबर अवसर की ताक में लगा रहा। काम को अच्छी तरह वह अवसर तब मिला, जब बौद्धधर्म में 'तंत्रयान' का आविर्भाव हुआ, फिर भी वह सदल-बल नहीं पहुँच सका। क्योंकि, तंत्रयान में सुन्दरी तो आ गई थी, पर सुरा का प्रवेश 'वज्रयान' द्वारा ही आया। अतः वज्रयानियों के समय में कामदेव ने भगवान् बुद्ध का सारा बदला उनके सम्प्रदाय से चुकाया और ऐसा चुकाया, जो कभी किसी से नहीं चुकाया था और अन्त में बौद्धधर्म को लेकर डुबो ही दिया।

मार ने वज्रयान के बीज को तो, वज्रयान-सम्प्रदाय की उत्पत्ति से लगभग ग्यारह-बारह सौ वर्ष पहले ही, भगवान् बुद्ध के समय में ही, वपन कर दिया था। वे बीज दो तरह के थे। पहला था—अन्ध-विश्वास, जिसमें ऋद्धि-प्रदर्शन अथवा अलौकिक चमत्कार-प्रदर्शन होता था और दूसरा था—बुद्ध-संघ में नारियों का प्रवेश। दोनों के मूल में लोभ के कीटाणु थे। एक के शिकार तो स्वयं बुद्ध ही हुए थे और दूसरे के उनके परमप्रिय शिष्य 'आनन्द'। बुद्ध-धर्म और बौद्धसंघ की वृद्धि किस तरह से हो—यही लोभ भगवान् के मन में कीटाणु बन कर घुसा। धर्म और संघ के विस्तार के लिए हम देखते हैं कि भगवान् बुद्ध ने कई जगह अलौकिक चमत्कार का प्रदर्शन किया और अन्धविश्वासियों पर अपनी प्रभुता जमाकर उन्हें अपने संघ में दाखिल कराया। हम 'गया' के काश्यप-बन्धुओं को देखते हैं कि बुद्ध के अलौकिक चमत्कार-प्रदर्शन के कारण ही वे उनके संघ में आये। ऋद्धि-प्रदर्शन का काम, राजगृह के ब्राह्मणों को नीचा दिखाने के लिए, उन्होंने कोसल में जाकर किया। सांकाश्य में त्रायत्रिंश से उतरने की कथा भी उनका अलौकिक चमत्कार-प्रदर्शन ही है। स्वयं राजगृह में बुद्ध के एक शिष्य ने आकाश में उड़ने का चमत्कार दिखाकर बाँस में टँगे हुए चन्दन-पात्र को उतारा।

भगवान् बुद्ध ने एक राजनीतिज्ञ की तरह अपने संघ के विस्तार के लिए चमत्कार-प्रदर्शन से बार-बार काम लिया। उन्होंने अपने धर्म में सम्मिलित करने के लिए धर्माचार्यों, सम्राटों, श्रेष्ठियों, उच्च कुलवालों तथा बड़े-बड़े श्रमण-ब्राह्मणों पर ही प्रभाव डाला और कई जगह अलौकिक चमत्कार का प्रदर्शन किया। वैशाली में एक बार जब अकाल पड़ा, तब मन्त्र का सहारा लिया गया। इस तरह इन सारी बातों ने ही आगे चलकर बढ़ते-बढ़ते मंत्रयान, तंत्रयान और वज्रयान का रूप ले लिया तथा यही वज्रयान बहुत बड़े अंश में बौद्धधर्म के नाश का कारण बना।

आनन्द ने बड़े ही आग्रह से संघ में नारियों को प्रवेश कराया। इसी अवसर पर मार ने अपनी पंचमांगी सेना (कामिनियाँ) को अपने शत्रु (बुद्ध) के संघ में प्रवेश करा दिया और अवसर की ताक में लगा रहा। जिस दिन मार की पंचमांगी सेना संघ में घुसी, उसी दिन भगवान् बुद्ध का माथा ठनका और उन्होंने आनन्द से स्पष्ट कह दिया—"आनन्द, हमारा धर्म जो एक सहस्र वर्ष टिकता, वह अब केवल पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा।" आनन्द ने भी निगंठों की देखा-देखी ही नारी-संघ की स्थापना कराई थी—बुद्ध-संघ और बौद्धधर्म की वृद्धि के लिए। संघ की वृद्धि की कामना का लोभ ही कीटाणु बनकर आनन्द के मन में प्रविष्ट हुआ, जो मार-सेना का एक अगला दस्ता है। जिस तरह 'आनन्द' ने धर्म-विस्तार के लिए निगंठों का अनुसरण किया, उसी तरह भगवान् बुद्ध भी तत्कालीन ब्राह्मण-योगियों की देखा-देखी चमत्कार-प्रदर्शन के चक्कर में पड़ गये।

बुद्ध के समय में ही मार ने बार-बार अपनी सेना के दूसरे दस्ते को भी प्रहार के लिए भेजा, पर यह दस्ता बुद्ध के जीवन-काल में हारता ही रहा। इसका नाम द्वेष था। किन्तु बुद्ध के निर्वाण के बाद वैशाली में, द्वितीय संगीति के अवसर पर, मार की द्वेष-सेना को भी सफलता मिल गई और संघ दो टुकड़ों में बँट गया। कुछ ही काल बाद तो बौद्धधर्म चौदह टुकड़ों में छिन्न-भिन्न हो गया। इन्हीं में से एक सम्प्रदाय का नाम 'वैपुल्यवाद' पड़ा, जो ईसा पूर्व प्रथम सदी में उत्पन्न हुआ। वैपुल्यवाद को ही 'महायान'-सम्प्रदाय कहते हैं। पालि में इसका नाम 'वेपुल्लवाद' है। महायानियों के विशिष्ट सिद्धान्त शून्यवाद का पूर्ण समर्थक 'वैपुल्यवाद' है। इसके मतों का प्रतिपादन 'कथावत्थु' के सत्रहवें, अठारहवें और तेईसवें वर्गों में हुआ है। इसी वैपुल्यवाद से तंत्रयान की उत्पत्ति हुई, जिसकी आधारशिला रही—हठयोग, मंत्र और मैथुन।

इस बात को एक दूसरे पहलू से भी हमें देखना है। मौर्यवंश के बाद शुंगों, काण्वों तथा सातवाहनों का साम्राज्य देश पर स्थापित हम पाते हैं। ये सभी ब्राह्मण-धर्म के उन्नायक थे। उनके राज्य-काल में ब्राह्मण-धर्म चूडान्त शिखर पर पहुँचा और सबने शुंगों की देखा-देखी यज्ञों का प्रसार किया। इस प्रभाव की चपेट से बौद्धधर्म बच नहीं सका। बौद्धधर्म की महासांघिक शाखा ने अपने बौद्ध-ग्रन्थों को संस्कृत-भाषा में लिखा और अपनी धार्मिक भाषा पालि को छोड़ दिया। अब बौद्धों को विवश होकर ब्राह्मण-संस्कृति और सभ्यता से अपने धर्म का समन्वय करना पड़ा; क्योंकि देश की जनता उनके प्रति अपना पूर्ण

सम्मान प्रकट करने लगी थी। इसी सातवाहन-काल में 'वैपुल्यवाद' ने जन्म लिया था अथवा अपनी शैशवावस्था से निकलकर किशोरावस्था में पहुँचा था। अब बौद्धों को, ब्राह्मण-धर्म की तरह, अपने बुद्ध को विष्णु, शिव तथा शक्ति के समान देवों की कोटि में रखने की आवश्यकता पड़ी। जहाँ भगवान् बुद्ध ने व्यक्ति की पूजा का निषेध किया था, वहाँ बौद्ध लोग स्वयं बुद्ध की ही पूजा करने लगे। उन्हें बुद्धदेव की मूर्त्ति की पूजा, भक्ति और दर्शनमात्र से 'सुखावती' (परमपद) में रहने का सौभाग्य भी मिलने लगा। यहाँ तक कि बौद्धों ने मनुष्य बुद्ध को लुप्त करके, ब्राह्मण-देवताओं की तरह, बुद्ध की भी अनेक अलौकिक कहानियाँ गढ़ दीं। ऐसी अवस्था में बुद्धदेव की मूर्त्ति आवश्यक हो गई, जिसकी अर्चना-मात्र से निर्वाण-पद सुलभ बन गया। बौद्धों ने यहाँ तक भी कहने की हिम्मत की—"भगवान् बुद्ध इस लोक में आये ही नहीं, जो कुछ उनका उपदेश हुआ, 'आनन्द' के द्वारा हुआ!" इसी समय बौद्धों ने 'एकाभिप्राय' से मैथुन-कर्म की छूट दे दी। एकाभिप्राय का सिद्धान्त महाशून्यवाद है, जिसके उन्नायक दक्षिण-भारत के 'नागाजन' थे।

महायान का पूर्ण विकास दक्षिण-भारत में ही हुआ, जिसका गढ़ 'धान्यकेटक' नामक स्थान था। नागार्जुन का अस्तित्व सातवाहन-काल में मिलता है और पता चलता है कि नागार्जुन का सुहृद् साहवाहन राजा था। नागार्जुन ने अपने सुहृद् को पाताल-लोक से एकावली नामक हार लाकर दिया था। इसका उल्लेख 'बाणभट्ट' ने अपने 'हर्षचरितम्' ग्रन्थ के अष्टम उच्छ्वास में किया है[1]। 'सुहृल्लेख' नाम का एक पत्र भी नागार्जुन ने सातवाहन को लिखा था, जिसका भोटिया और चीनी-अनुवाद पं० राहुल सांकृत्यायन ने अपने तिब्बत-प्रवास के समय प्राप्त किया था[2]। दोनों उल्लेखों में सातवाहन के प्रति 'सुहृद्' शब्द का प्रयोग मिलता है और दोनों का समकालीन होना यह सिद्ध करता है कि सातवाहनकालीन ब्राह्मण-धर्म के प्रभाव से नागार्जुन पूर्ण प्रभावित हुए और उन्होंने बौद्धधर्म को उस ओर मोड़ा। इतना कहने का अभिप्राय यही है कि बौद्धधर्म किस तरह अन्धभक्ति के जाल में फँसता गया और मंत्रयान तथा तंत्रयान का विकास किस तरह संभव हुआ।

महाराज कनिष्क के काल में महायान का विकास चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। इसकी थोड़ी-सी चर्चा मैंने 'अश्वघोष' वाले अनुच्छेद में की है[3]। इसी महायान से, जो वैपुल्यवाद का पोषक था, मंत्रयान तथा बाद में वज्रयान निकला। पर महायान पर ही सारा दोष मढ़ना उचित नहीं है। इसके बीज तो 'स्थविरवाद' में ही प्रचुर हैं। स्थविरवादियों के 'दीघ निकाय' में 'आटानाटीय सुत्त' से पता चलता है कि स्थविरवादियों ने ही यक्ष-देवताओं का संवाद बुद्ध से

---

१. समतिक्रामति च कियत्यपि काले कदाचित्तामेकावलीं तस्मान्नागराजान्नागार्जुनो नाम नागैरेवानीतः पातालतलं, भिक्षुरभिक्षत लेभे च। निर्गत्य च रसातलात् त्रिसमुद्राधिपतये सातवाहननाम्ने नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्। —हर्षचरितम्, उच्छ्वास—८

२. अस्तंगत मासिक पत्रिका 'गंगा' का 'पुरातत्त्वांक', पृ० २१४ की टिप्पणी।

३. देखिए इस पुस्तक का—पृ० १६०

कराया है। उसमें उल्लेख है कि यक्ष देवताओं ने भगवान् बुद्ध से प्रतिज्ञा की है कि हमलोगों के नामों का यदि कोई स्मरण करेगा, तो उसे हमारे वंशधर (भूत, यक्ष आदि) नहीं सतायेंगे। इसलिए मंत्र के सदृश उन भूत-यक्षों के नामों का स्मरण करना चाहिए। महामौद्गल्यायन जब एक बार मर्ग देश में थे, तब उनके पेट में दर्द हुआ था। उन्होंने भी उसे मार (भूत-यक्ष) का ही प्रकोप कहा था और उसे पहचान करके मंत्र के द्वारा दूर भगाया था।

इन्हीं सब बातों के लिए तंत्रयान में *ओं मुने-मुने महामुने स्वाहा; ओं आ हुं; ओं तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा* जैसे मंत्रों की सृष्टि हुई और 'धारिणी' का विस्तार हुआ। 'मंजुश्रीमूलकल्प'[१] धारिणी मंत्रों की प्रसिद्ध बौद्ध पुस्तक है। 'मंजुश्रीनामसंगीति' नामक ग्रन्थ में तो और भी तंत्र-मंत्रों का विस्तृत रूप दिखाई देता है। तंत्र तो भारतवर्ष की बहुत पुरानी चीज थी, जिसे बौद्धों ने उस समय तक अपने देव 'बुद्ध' के नाम पर अपना लिया। मंत्र की प्रतिष्ठा बौद्धों ने इतनी बढ़ाई कि निर्वाण-प्राप्ति के लिए ज्ञान और साधना की जगह पर केवल मंत्र को ही प्रतिष्ठित कर दिया। उनके विचार से मंत्र में ऐसी गुह्य शक्ति होती है, जिससे निर्वाण अत्यन्त सुलभ है। अब महायानियों ने बुद्ध-वचन के सूत्रों को मंत्र के रूप में ढाल दिया, जिसे 'धारिणी' कहा गया। यह मंत्रयान कनिष्क के काल से गुप्तकाल तक खूब पल्लवित-पुष्पित हुआ तथा हर्षवर्द्धन का काल बीतते-बीतते समाप्तप्राय भी हो गया।

मंत्रयान की भित्ति पर ही वज्रयान-सम्प्रदाय हर्षवर्द्धन के समय से आरंभ होकर भारत में तबतक रहा, जबतक भारत से बौद्धधर्म लुप्तप्राय न हो गया। वज्रयान किसके समय में और किसके द्वारा आरम्भ हुआ, इसका ठीक-ठीक पता तो नहीं मालूम है; पर सातवीं सदी का अन्त होते-होते यह प्रादुर्भूत हो गया, यह निश्चित है। क्योंकि, ८४६ ई० में यह लंका में पहुँच गया था, जब वहाँ 'मतवलसेन' का शासन था। इसकी चर्चा 'निकायसंग्रह' में है[२]। वज्रयान-सम्प्रदाय फूस की आग की तरह सुलगा और देखते-देखते उसकी लपटें चारों ओर व्याप्त हो गईं। मंत्रयान में जहाँ हठयोग, मंत्र और मैथुन था, वहाँ वज्रयान में मद्य भी जुड़ गया। मद्य के जुड़ जाने पर नवीं शताब्दी तक वज्रयान ने घोर रूप धारण कर लिया तथा मार (कामदेव) ने बुद्ध के अनुयायियों को घृणित और नारकीय कर्म में नाक तक डुबो दिया। वज्रयानियों के घोर रूप का अन्दाज इसी से लगाया जा सकता है कि मैथुन-

---

१. महायान-पंथ का यह तांत्रिक ग्रंथ प्राकृत-मिश्रित संस्कृत में है, जो बौद्ध सिद्धों की एक अपनी भाषा थी। इसमें १००० श्लोक हैं, जिनका सम्पादन पं० गणपति शास्त्री ने किया है। मूल पुस्तक ८०० ई० के आस-पास पालनरेशों की छत्रच्छाया में मगध या गौड़-देश में लिखी गई। इसका तिब्बती अनुवाद 'कुमार-कलश' नामक व्यक्ति ने सन् १०६२ ई० में किया था। इसके एक खण्ड में ई० पूर्व २०० से ८०० ई० तक का संक्षिप्त राजनीतिक इतिहास भी दिया गया है।
—भारतीय अनुशीलन (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, संवत् १९९० वि०), भाग २, पृ० १०

२. सिलोन-सरकार द्वारा सन् १९२२ ई० में मुद्रित-'गंगा' का पुरातत्त्वांक, पृ० २१८ की टिप्पणी।

कर्म में इन्होंने सगोत्रा को छोड़ने की बात कौन कहे, सगी-संबंधी स्त्रियों को भी वर्जित नहीं माना। ब्राह्मणी से चाण्डाली तक की ललनाओं के साथ गुह्य साधना की बातें कहीं। जो जितना ही अधिक मैथुन-कर्म में लीन रहेगा, उसे उतनी ही जल्दी गुह्य तथा वज्र की सिद्धि होगी, ऐसा विधान इन बौद्ध वज्रयानियों ने चलाया[1]। इन्होंने जीवहिंसा, असत्य-भाषण, चोरी और मैथुन को वज्र का मार्ग माना[2]। यहाँ तक कि मल, मूत्र, शुक्र और रक्त के भक्षण का भी विधान किया[3]। स्त्रीन्द्रिय को पद्म-तुल्य माना और पुरुषेन्द्रिय को वज्र-तुल्य[4]। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस भगवान् बुद्ध ने मानव-शरीर के घृणित रूपों से बचने के लिए, दुःख-समुदय को देखा और प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्राप्त कर जगत् के कल्याणार्थ उसका प्रचार किया, उन्हीं के शिष्यों ने आचरण का जो जुगुप्सित रूप अपनाया, वह अन्यान्य भारतीय धर्मों के इतिहास में शायद ही मिले।

यद्यपि वज्रयान आदि की उत्पत्ति दक्षिण के 'धान्यकटक' के 'श्रीपर्वत' पर हुई[5] और यह यान लंका तक भी गया, तथापि यह संस्कृत-भाषा का आश्रय लेकर भीतर-ही-भीतर भारत में गुप्त रीति से फैल रहा था। किन्तु, इसको लोक-विस्तृत रूप देनेवाले स्वनामधन्य बौद्ध सिद्ध कवि 'सरहपाद' थे, जो बिहार-प्रदेश के रहनेवाले थे। इन्होंने लोक-भाषा का आश्रय लेकर और अद्भुत रहन-सहन के माध्यम से वज्रयान को सार्वजनीन रूप दिया। ये चौरासी सिद्धों में आदि सिद्ध माने जाते हैं। इनका समय बिहार के पालराजा 'धर्मपाल' का शासन-काल (७६८ ई० से ८०६ ई० तक) है। सरहपाद की विस्तृत जीवनी महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपने 'दोहा-कोश' की भूमिका में लिखी है।

उपर्युक्त वज्रयान की उत्पत्ति और उसके विस्तार में बिहार-प्रदेश के जिन बौद्ध सिद्धों ने हाथ बटाया, अब उनके सम्बन्ध में थोड़ी चर्चा करना यहाँ आवश्यक है।

---

१. ब्राह्मणादिकुलोत्पन्नां मुद्रां वै अन्त्यजोद्भवाम ॥२४॥
जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्।
कामयन् तत्त्वयोगेन लघुसिद्ध्येद्धि साधकः ॥२५॥
—प्रज्ञोपायविनिश्चय-सिद्धि (सिद्ध अनङ्गवज्र, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा)
चाण्डालकुलसम्भूतां डोम्बिकां वा विशेषतः।
जुगुप्सितकुलोत्पन्नां सेवयन् सिद्धिमाप्नुयात् ॥—ज्ञानसिद्धि (सिद्ध इन्द्रभूति),—पृ० ८२

२. प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्यं च मृषा वचः।
अदत्तं च त्वया ग्राह्यं सेवनं योषितामपि ॥
अनेन वज्रमार्गेण वज्रसत्त्वान् प्रचोदयेत्।—गुह्यसमाजतंत्र,—पृ० १२०

३. विण्मूत्रशुक्ररक्तानां जुगुप्सां नैव कारयेत्।
भक्षयेत् विधिना नित्यं इदं गुह्यं त्रिवज्रजम्।—तत्रैव—पृ० १३६

४. स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा। ज्ञानसिद्धि—२, ४२

५. मंजुश्रीमूलकल्प,—पृ० ८८

१. **सरहपाद**—इनके कई नाम हैं—जैसे सरहपा, सरोजवज्र और राहुलभद्र। इनका जन्म पूर्व बिहार की 'राज्ञी' नामक नगरी में कहा जाता है; पर इनका अध्ययन 'नालन्दा' में हुआ। इनका कार्य-क्षेत्र भी बिहार-प्रदेश ही रहा। ये ब्राह्मण-वंश के थे, और बौद्ध शास्त्रों में पारंगत हो जाने के बाद ये तांत्रिक हुए। इन्होंने एक बाण (शर) बनानेवाले की कन्या को महामुद्रा के रूप में अपनाकर तंत्र की सिद्धि की। इन्होंने भी अपने श्वशुर-कुल का ही पेशा (शर बनाना) अपना लिया था और ये शर-शय्या पर ही सोने लगे थे। इसीलिए इनका नाम भी 'सरहपा' पड़ गया। दक्षिण के 'श्रीपर्वत' पर भी इन्होंने वास किया था और ज्ञात होता है कि वहीं ये तंत्र-विद्या के प्रति आकृष्ट हुए। श्रीपर्वत अति प्राचीनकाल से तांत्रिकों का गढ़ बना हुआ था[१]। सातवाहन-काल के प्रसिद्ध विद्वान् और तांत्रिक नागार्जुन का सम्बन्ध इसी 'श्रीपर्वत' से बतलाया गया है।

बिहार के सिद्ध

सरहपा के प्रधान शिष्य का नाम 'शबरपा' था। नागार्जुन (द्वितीय) नाम के भी कोई तान्त्रिक इनके शिष्य माने गये हैं। केवल वज्रयान पर इनके लिखे हुए ३० ग्रन्थों का अनुवाद भोट-भाषा में प्राप्त है। इसी सरहपाद के मगही-भाषा के १६ काव्य-ग्रन्थों का अनुवाद भोट में मिलता है। ये संस्कृत-भाषा के भी कवि थे।

२. **शबरपा**—ऊपर कहा गया है कि ये 'सरहपा' के शिष्य थे। इनके दूसरे गुरु का नाम 'नागार्जुन' भी था। ये अधिकतर 'श्रीपर्वत' पर ही रहते थे। ये या तो कोल-भील-वंश के थे अथवा इनका आचरण कोल-भीलों-जैसा था, इसी लिए इनका नाम 'शबरपा' पड़ा था। इस नाम के एक सिद्ध १०वीं सदी में भी हुए थे। अतः इस नाम के लेखक की लिखी २६ पुस्तकों का जो अनुवाद भोट में मिलता है, उसमें से कहा नहीं जा सकता कि कौन पुस्तक किस 'शबरपा' की लिखी हुई है। इनकी लिखी पुरानी मगही-भाषा की छह छोटी-छोटी कविता-पुस्तकें प्राप्त हैं।

३. **कर्णरीपा**—इनका दूसरा नाम आर्यदेव और कनरिपा था। इनके गुरु भी सरहपाद के शिष्य नागार्जुन तांत्रिक थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा नालन्दा में ही हुई थी। इनके द्वारा लिखी २६ तंत्रशास्त्र की पुस्तकों का अनुवाद तन्-जूर में मिलता है।

४. **लुहिपा**—ये पहले पालवंश के राजा 'धर्मपाल' के लेखक (कायस्थ) थे। ये 'शबरपा' के शिष्य थे। शबरपा से इनकी भेंट 'वारीन्द्र' नगर (पश्चिम बंगाल) में हुई थी। उस समय ये धर्मपाल राजा के साथ 'वारीन्द्र' में ही थे। ये 'शबरपा' की सिद्धियों से बहुत प्रभावित हुए और उसी समय उनका शिष्यत्व ग्रहण कर उनके साथ हो गये।

---

१. (क) श्रीपर्वताश्चर्यवार्तासहस्राभिज्ञेन जरद्द्रविडधार्मिकेन।—कादम्बरी।

(ख) सकलप्रणयिमनोरथसिद्धिः श्रीपर्वतोहर्षः।—हर्षचरित, उच्छ्वास—१

(ग) दाणि सोदामिनी समासादिअ अच्चरिअ मन्तसिद्धिप्पहावा सिरिपव्वदे कावालिअव्वदं धारेदि।

—मालतीमाधव, अंक—१

यद्यपि आदि सिद्ध 'सरहपा' थे; तथापि सिद्धों की गणना में लूहिपा का नाम प्रथम आया है। इससे प्रमाणित होता है कि सिद्ध-संप्रदाय में इनका महत्त्व सर्वोपरि था। इनके सिद्धि-लाभ की महत्ता इसी से जानी जा सकती है कि उड़ीसा-प्रान्त के राजा और मंत्री—दोनों एक साथ ही इनका शिष्यत्व स्वीकार कर भिक्षु बन गये थे तथा दोनों की गणना चौरासी सिद्धों में हुई है। इन लोगों का नाम 'दारिकपा' और 'डोंगिपा' था। इनके द्वारा लिखी सात पुस्तकों का अनुवाद 'तन्-जूर्' में अब भी प्राप्त है, जिनमें पाँच पुस्तकें तो पुरानी मगही भाषा में थीं और दो संस्कृत में।

५. भुसुक—इनका जन्म 'नालन्दा' के पास के किसी गाँव में, क्षत्रिय-कुल में, हुआ था। बौद्धभिक्षु बनकर शिक्षा ग्रहण करने के लिए जब ये नालन्दा-विश्वविद्यालय में आये, तब बिहार-प्रदेश पर राजा 'देवपाल' का शासन था। इन्हीं का नाम 'शान्तिदेव' था। यह देखने में बुद्धू-से लगते थे। अतः, एक बार राजा 'देवपाल' ने इन्हें 'भुसुक' कह दिया और तभी से लोगों ने इनका नाम ही भुसुक रख दिया। किन्तु आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने 'बौद्ध-धर्म-दर्शन' ग्रन्थ (पृ० १७४) में भुसुक नाम के लिए लिखा है—"*भुञ्जानोऽपि प्रभास्वरः, सुप्तोऽपि, कुटीं गतोऽपि तदेवेति भुसुकसमाधि-समापन्नत्वात् भुसुकनामख्याति सङ्घेऽपि*।" अर्थात्—"भोजन कर लेने पर, सोने पर, कुटी में बैठने पर भी अपनी समाधि-सम्पन्न गुण के कारण ये भास्वर दीख पड़ते थे; अतः इनका नाम 'भुसुक' पड़ा था।" इनके सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है[1] कि 'नालन्दा' में एक बार ज्येष्ठ-पूर्णिमा के दिन विद्वानों की गोष्ठी बैठी। गोष्ठी के प्रधान आचार्य समय पर नहीं आये। उनके आने में कुछ देर थी। विनोदी विद्वानों को इसी बीच मजाक सूझा। उन्होंने कहा—आज का सभापतित्व भुसुकजी ही करें। भुसुक वहाँ पहले से उपस्थित थे। उनके अस्वीकार करने पर भी विनोदी पंडितों ने जबरदस्ती इन्हें सभापति के आसन पर लाकर बिठा दिया। भुसुक ने जब आसन-ग्रहण कर लिया, तब तो सभापतित्व की मर्यादा निभाने के लिए इन्हें अपना पाण्डित्य प्रकट करना ही पड़ा। इन्होंने बड़े गम्भीर स्वर में कहा—"किमार्षं पठामि अर्थार्षं वा।" उपस्थित विद्वान् 'किमार्ष' और 'अर्थार्ष' का तात्पर्य नहीं समझ सके। उन्होंने इतने पर भी इन्हें भुसकौल ही जाना और पूछा—'भुसुकजी, किमार्ष और अर्थार्ष क्या है?' भुसुक ने उसी तरह पाण्डित्यपूर्ण श्लोक का पाठ किया—

यदर्थवत् धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेशनिबर्हणं वचः।
भवे भवेच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तद्वत् किमार्षं विपरीतमन्यथा[2] ॥

अर्थात्—"धर्मपदों के युक्त होकर त्रिधातु-जनित क्लेशों को दूर करनेवाला और

१. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) के सप्तम वार्षिकोत्सव के सभापति आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का भाषण द्रष्टव्य।—ले०

२. बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ०—१७४

संसार में शान्ति-शासन प्रदान करनेवाला जो अर्थयुक्त वचन है, वही 'अर्थार्ष' कहलाता है और इसके विपरीत वचन किमार्ष होता है।"

अब विद्वन्मण्डली ने समझा कि भुसुक कितने बड़े विद्वान् हैं। कहते हैं कि जब इनका धाराप्रवाह धर्मोपदेश होने लगा, तब भगवान् बुद्ध स्वयं उपस्थित होकर इन्हें तुषित-लोक (स्वर्ग) ले गये।

भुसुक माध्यमिक सम्प्रदाय के विद्वान् थे और वज्रयान-तंत्र के ग्रन्थों के प्रसिद्ध लेखक थे। इनके दर्शन के छह और तंत्र के तीन ग्रंथ तन्-जूर् में प्राप्त हैं। पुरानी मागधी में लिखी 'सहजगीति' का अनुवाद भी भोट भाषा में है।

६. **विरूपा**—इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि पालवंशी देवपाल के देश 'त्रिउर' नगर में इनका जन्म हुआ। त्रिउर के सम्बन्ध में आज कुछ भी पता नहीं चलता है; पर इतना निश्चित है कि इनकी शिक्षा नालन्दा-महाविहार में हुई और वहाँ के विद्वानों में इनकी भी गिनती होने लगी थी। जब ये 'श्रीपर्वत' गये, तब वहाँ इनकी 'नागबोधि' से भेंट हुई। ये वज्रयान के घोर उपासक 'नागबोधि' के शिष्यत्व में ही हुए। फिर लौटकर जब नालन्दा आये, तब इन्होंने देखा कि यहाँ सहचर्यावाली वस्तुओं—मद्य, मांस और मैथुन—का उपयोग खुलकर नहीं किया जा सकता। नालन्दा के बौद्धों ने इसका विरोध किया। अपनी चलती न देखकर ये गंगा के किनारे चले गये और वहीं सहजचर्यावाली वस्तुओं का सेवन कर रहने लगे। बाद, वहाँ से भी ये उड़ीसा चले गये। ज्ञात होता है, गंगा के किनारे की जनता ने भी इनकी प्रतिष्ठा नहीं बढ़ाई। ये 'यमारितंत्र' के सिद्ध कहे गये हैं।

इनकी शिष्य-मंडली में 'डोम्भिपा' और 'कण्हपा' प्रसिद्ध शिष्य हुए, जो चौरासी सिद्धों में अभिहित होते हैं। इनके द्वारा लिखे गये १८ तंत्र-ग्रन्थों का अनुवाद तन्-जूर् में प्राप्त है, जिनमें से आठ ग्रन्थ तो पुरानी मगही भाषा में थे।

७. **डोम्भिपा**—ये क्षत्रिय-कुल के थे और इनका जन्म मगध में ही हुआ था। उपर्युक्त 'विरूपा' के अतिरिक्त इनके दूसरे गुरु का नाम 'वीणापा' था। सिद्धों में 'वीणापा' को १२वाँ स्थान प्राप्त है और वे गौड़-देश के रहनेवाले थे। राहुल सांकृत्यानजी के कथनानुसार 'तारानाथ' ने लिखा है कि डोम्भिपा 'विरूपा' के दस वर्ष बाद हुए; पर 'वज्रघंटापा' से ये १० वर्ष पूर्व ही सिद्ध हुए थे। ये कण्हपा के भी गुरु और 'हेवज्रतंत्री' थे।

डोम्भिपा के नाम से लिखे २१ ग्रंथो का जो अनुवाद तन्-जूर् में प्राप्त है, उनमें से कौन ग्रन्थ इस डोम्भिपा के हैं और कौन द्वितीय 'डोम्भिपा' के, यह नहीं कहा जा सकता है। इनमें तीन ग्रंथ पुरानी मगही भाषा के थे।

८. **महीपा**—ये मगध-प्रदेश के एक शूद्र थे। ये गृहस्थ होकर भी सिद्ध थे। इन्होंने सिद्धों के सत्संग से ही तंत्र का ज्ञान प्राप्त किया; पर बाद में ये 'कण्हपा' के शिष्य बन गये। इनकी लिखी प्राचीन मगही की एक पुस्तक 'वायुतत्त्व-दोहा-गीतिका' तन्-जूर् में प्राप्त है।

९. **कंकणपा**—इनके जन्म-स्थान का नाम 'विष्णुनगर' है। म० पं० राहुल सांकृत्यायन ने

विष्णुनगर को बिहार-प्रदेश में माना है। ये राज-परिवार के वंशज थे और सिद्ध 'कंबलपा' के वंश से सम्बन्ध रखते थे। इनकी एक पुस्तक 'चर्यादोहाकोषगीतिका' का अनुवाद तन्-जूर् में मिलता है।

१०. **जयानन्दपा**—इन्हें कुछ लोग 'जयनंदीपा' भी कहते हैं। सिद्धों में इनका स्थान ५८वाँ है। ये भंगल (भागलपुर)—प्रदेश के राजा के मंत्री थे। ये ब्राह्मण थे। तन्-जूर् में इनके लिखे दो ग्रन्थों का अनुवाद प्राप्त है।

११. **तिलोपा**—ये बिहार-प्रदेश के 'भगु' नगर के निवासी थे। ये भी किसी राजकुल में ही उत्पन्न हुए थे। इनका बौद्ध नाम प्रज्ञाभद्र था; पर सिद्धि के लिए इन्होंने तिल कूटने का पेशा अपनाया था, इसलिए 'तिलोपा' कहे जाते थे। इनके गुरु का नाम 'विजयपाद' था, जो 'गुह्यपा' के शिष्य थे। तिलोपा की विद्वत्ता तथा सिद्धि-प्रशंसा के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि विक्रमशिला-विश्वविद्यालय के महातांत्रिक आचार्य 'नरोपन्त' इनके शिष्य थे और जिस 'नरोपन्त' के शिष्य 'श्रीज्ञान दीपंकर अतिश' थे। तन्-जूर् में इनके ग्यारह अनूदित ग्रन्थ प्राप्त हैं, जिनमें चार ग्रन्थ तो पुरानी मगही भाषा के थे।

१२. **नरोपन्त**—इनको 'नारोपा' और 'नाड़पा' भी कहा जाता है। तिब्बत का प्रसिद्ध कवि और विख्यात सिद्ध 'जे-चुन् मि-ला रे-पा' इन्हीं का शिष्य था, जिसने १०७६ ई० में इनसे दीक्षा प्राप्त की थी[१]। यद्यपि नारोपा के पिता कश्मीर-निवासी ब्राह्मण थे; पर पाल-

१. मि-ला-रे-पा का नाम अँगरेजी लेखकों ने 'मर्प' या 'मर्-बा' लिखा है। यह बचपन में बड़ा उजड्ड प्रकृति का बालक था। धर्म की शिक्षा के लिए पिता से झगड़ा कर और अपने हिस्से की संपत्ति बेचकर भारत आया था। धर्म के मर्म प्राप्त करने के लिए यह तीन बार भारत आया। पहली बार १२ वर्ष, दूसरी बार ६ वर्ष और तीसरी बार ३ वर्ष भारत में रहा। मि-ला-रे-पा ने नेपाल में ही 'नारोपा' की कीर्ति सुनी, और उनसे 'फुल्लहरि' स्थान में जाकर मिला। अच्छे पात्र जानकर नारोपा ने पहले इसे 'ज्ञान-गर्भ' के पास भेजा। बाद इसे उन्होंने 'कुक्कुरिपा' के पास दक्षिण-स्थित 'विष-सरोवर' प्रदेश में भेजा। १५ दिनों की कठिन यात्रा करके 'मर्प' विषसरोवर में कुक्कुरिपा से मिला। कुक्कुरिपा अपने हाथों से मुँह ढँककर बैठे थे। पक्षियों के परों को गूँथकर पहने हुए थे। उनका मुँह बन्दर-जैसा था। पहले तो कुक्कुरिपा ने मर्प को झिड़क दिया, पर नारोपा का प्रियपात्र जान कर कहा—'पंडित नारोपा की विद्या निस्सीम है। वे स्वयं महामाया का रहस्य जानते हैं। तुम्हें मेरे पास भेजने की आवश्यकता नहीं थी। पर उन्होंने शुद्ध भावना से तुम्हें मेरे पास भेजा है। मैं तुम्हें अवश्य शिक्षा दूँगा।' कुक्कुरिपा से बहुत दिनों तक शिक्षा प्राप्तकर जब मर्प नारोपा के पास लौटा, तब उन्होंने स्वयं इसे महामाया का विधिवत रहस्य बतलाया। इसपर मि-ला-रे-पा ने नारोपा से पूछा—'महाराज, जब आप महामाया का रहस्य स्वयं जानते थे, तब मुझे आपने विषसरोवर क्यों भेजा?' इसपर नारोपा ने कहा—'कुक्कुरिपा आदि परम्परा के गुरु हैं। वे अनादि काल से मंत्र जानते हैं। इसलिए तुम्हें उनके पास भेजा था।'

दूसरी बार जब मि-ला-रेपा भारत आया, तब नारोपा ने इसे डाकिनियों के हीरक-प्रासाद के अलौकिक ऐश्वर्य की भाष्य-सहित शिक्षा दी थी। इस बार जब मि-ला-रे-पा तिब्बत लौटने लगा, तब नारोपा ने कहा था—'अब इस बार यहाँ आओगे, तो तुम्हें मैं पूर्व-जन्म-स्मरण की शिक्षा दूँगा।' किन्तु जब तीसरी बार मर्प भारत आया, तब नारोपा परलोक सिधार चुके थे।

—'आर्यावर्त्त' (पटना), ५ अप्रैल, १९५६ ई०।

राजाओं के सम्बन्ध के कारण वे विहार में आ गये थे। यहीं 'नारोपा' का जन्म हुआ था। ये अतिविश्रुत मेधाशक्ति-सम्पन्न छात्र थे। 'नालन्दा' में इन्होंने विद्या प्राप्त की और ये देखते-ही-देखते प्रकांड विद्वान् बन गये। अपनी प्रकांड विद्वत्ता की ख्याति के कारण ये विक्रमशिला-विद्यालय के पूर्वी द्वार के पंडित नियुक्त हुए। विष्णुनगर में जब तिलोपा एक बार आये, तब उनकी सिद्धि की प्रसिद्धि सुनकर उनसे मिलने ये वहाँ गये। नरोपन्त 'तिलोपा' से प्रभावित हुए और वहीं उनके शिष्य बन गये। इनके लिखे तेईस अनूदित ग्रन्थ तन्-जूर् में मिलते हैं, जिनमें दो ग्रन्थ मगही भाषा के हैं।

१३. **शान्तिपा**—इनका दूसरा नाम 'रत्नाकरशान्ति' था। इनका जन्म मगध के एक नगर में, ब्राह्मण-वंश में, हुआ था। इन्होंने उदन्तपुरी के विहार में शिक्षा प्राप्त की, और सर्वास्तिवादी-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। यहाँ त्रिपिटक आदि बौद्ध ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन करके ये विशेष शिक्षा के लिए विक्रमशिला के पास रहनेवाले 'जेतारि' नामक भिक्षु के समीप गये। वहीं 'नरोपन्त' के सत्संग से भी इन्होंने लाभ उठाया। बाद में ये सोमपुर विहार (पहाड़पुर, पश्चिम बंगाल) के पीठस्थविर भी रहे। वहाँ से फिर मालवा चले गये और सात वर्षों तक चक्कर लगाते रहे। तब फिर विक्रमशिला पहुँचे। उसी समय सिंहल का राजा इन्हें अपने यहाँ ले जाने के लिए निमंत्रण देने को उपस्थित हुआ। उसकी प्रार्थना पर ये सिंहल चले गये और वहाँ छह वर्षों तक इन्होंने बौद्धधर्म का काम किया। उसके बाद पुनः ये विक्रमशिला में आये और महीपाल नामक राजा की प्रार्थना पर विश्वविद्यालय के पूर्वी द्वार के पंडित बन गये। कहते हैं कि चौरासी सिद्धों में इतना बड़ा विद्वान् कोई नहीं हुआ, इसलिए इन्हें 'कलिकाल-सर्वज्ञ' की उपाधि मिली थी। इनके लिखे अनेक ग्रन्थों का पता मिलता है, जिनमें नौ ग्रन्थों का अनुवाद तन्-जूर् में उपलब्ध है। छन्द-शास्त्र पर भी इनका 'छन्दोरत्नाकर' ग्रन्थ प्राप्त है।

१४. **कंकालिपा**—इनका जन्म मगध में हुआ था और ये जाति के शूद्र थे। इनको लोग 'कोंकलिपा' भी कहते थे। इनके गुरु कौन थे, यह पता नहीं चलता। इनकी जिस पुस्तक का अनुवाद तन्-जूर् में मिला है, उसका नाम 'सहजानन्तस्वभाव' है।

१५. **लीलापा**—ये जाति के कायस्थ और मगध के रहनेवाले थे। ये 'सरहपा' के प्रशिष्य थे। इनका दूसरा नाम 'लीलावज्र' है। इनके लिखे ग्रन्थ का नाम 'विकल्पपरिहारगीति' है, जो तन्-जूर् में प्राप्त है।

१६. **तन्तिपा**—ये जाति के ब्राह्मण और मगधवासी थे। ये भी राजा महीपाल के ही समय के थे। शान्तिपा के ये गुरुभाई और जालन्धर के शिष्य थे। इनके द्वारा लिखी किसी पुस्तक का पता नहीं चलता है।

१७. **चमरिपा**—इनका भी जन्म 'विष्णुनगर' (बिहार) में ही हुआ था। ये जाति के चमार थे। ये भी महीपाल के समय में हुए और जालन्धर के शिष्यों में थे। इनकी लिखी 'प्रज्ञोपायविनिश्चयसमुदय' नामक पुस्तक का अनुवाद तन्-जूर् में उपलब्ध है।

१८. **खड्गपा**—इनका जन्म मगध में हुआ और ये जाति के शूद्र थे। ५६ वें सिद्ध

'चर्पटी' के ये शिष्य थे। ये दोनों हाथों में खड्ग धारण करते थे और बड़े ही क्रोधी स्वभाव के थे।

१६. **शीलपा**—इन्हें लोग 'शलिपा' भी कहते थे। ये मगध के रहनेवाले और जाति के शूद्र थे। इनका भी समय महीपाल का ही समय (६७४ ई० से १०२६ ई०) है। 'श्रृगालीपाद' नाम से भी एक सिद्ध हो गये हैं, जो संभवतः ये ही हैं।

२०. **धर्मपा**—इनका जन्म 'विक्रमशिला' के आस-पास किसी गाँव में हुआ था। ये जाति के ब्राह्मण थे। ये 'कण्हपा' और 'जालन्धर' के शिष्य थे। इनकी लिखी पुस्तक का नाम 'कालिमावनामार्ग' है, जिसका अनुवाद तन्-जूर् में प्राप्त है। ये सदा धर्मोपदेश करते रहते थे। इनका सिर घुटा हुआ था और कानों तक ढकनेवाली टोपी पहनते थे।

२१. **मेकोपा**—ये भागलपुर-प्रदेश के निवासी और जाति के बनिया थे। ये 'अनङ्गवज्र' तथा 'कम्बलपा' के शिष्य थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ का नाम 'चित्तचैतन्यशमनोपाय' है, जिसका अनुवाद तन्-जूर् में प्राप्त है।

२२. **जोगीपा**—इनका दूसरा नाम 'अजोगिपा' भी था। ये जाति के डोम थे। इनका निवासस्थान उदन्तपुरी (बिहारशरीफ) था। इनके गुरु का नाम 'शबरीपा' था। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'चित्तसम्प्रदायव्यवस्थान' तन्-जूर् में प्राप्त है। इनका आसन 'ललितासन' था और मुद्रा 'वरद' थी।

२३. **चेलुकपा**—ये भी आधुनिक भागलपुर-प्रदेश के रहनेवाले थे। जाति के शूद्र थे। ये अत्रभूतिपा (मैत्रीपा) की शिष्यमंडली में प्रमुख थे। इनके द्वारा रचित 'षडङ्गयोगोपदेश' नामक ग्रन्थ तन्-जूर् में मिलता है। ये एक हाथ में त्रिशूल और दूसरे में नर-कपाल धारण करते थे। आभूषण पहनने का इन्हें व्यसन था।

२४. **लुचिकपा**—ये भी बंगाल-देश के ही निवासी थे। इनका जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इनके गुरु तथा शिष्य के नाम प्राप्त नहीं हैं। इनकी लिखी पुस्तक का नाम 'चण्डालिकाबिन्दुप्रस्फुरण' है, जो तन्-जूर् में प्राप्त है। ये कपड़े से शरीर को ढके रहते थे; पर कटि-वस्त्र नहीं पहनते थे। इनका आसन विचित्र था। ये सदा सर पर दोनों हाथ बाँधे, खड़े या चलते ही रहते थे।

२५. **चर्पटीपा**—इनका दूसरा नाम 'पचरीपा' भी था। ये भार ढोनेवाले (कहार) जाति के थे। इनका जन्म-स्थान 'चम्पा' था। ये 'मीनपा' के गुरु थे। इनकी लिखी पुस्तक का नाम 'चतुर्भूतभवाभिवासनकर्म' था, जिसका अनुवाद तन्-जूर् में प्राप्त है। ये बैल चराते, बैल की ही सवारी करते तथा बैल को ही देवता बनाकर पूजते थे।

२६. **चम्पकपा**—ये चम्पा-प्रदेश के रहनेवाले थे। इनकी जाति क्या थी, इसका उल्लेख नहीं मिलता। मीनपा के ये भी गुरु थे। ये सदा पुष्पयुक्त चम्पा की टहनियाँ साथ में रखते थे और जहाँ आसन लगाते, टहनियों को गाड़ देते थे। इनकी लिखी पुस्तक का नाम 'आत्मपरिज्ञानदृष्ट्युपदेश' था, जिसका अनुवाद तन्-जूर् में प्राप्त है।

२७. **चवरिपा**—ये मगध के निवासी तथा जाति के बनिया थे। इनको लोग

'जत्तरिपा' और 'अजपालिपा' नाम से भी सम्बोधित करते थे। ये 'करहपा' के प्रशिष्य थे। इनकी रचना का पता नहीं है। इनका उपासना-स्थान मंदिर ही था। ये वरद-मुद्रा में रहते थे।

२८. **घंटापा**—'चतुरशीतिसिद्धप्रवृत्ति' नामक ग्रन्थ (तन्-जूर् का ८६।१ ग्रन्थ) के अनुसार ये 'नालन्दा' के रहनेवाले थे। इन्हीं का दूसरा नाम 'वज्रघंटापा' था। ये जाति के क्षत्रिय थे। इनका स्थिति-काल राजा 'देवपाल' का समय (८१०-५१ ई०) है। इनकी लिखी पुस्तक का नाम 'आलिकालिमंत्रज्ञान' है, जो तन्-जूर् में है। ये शून्य में निराधार ही ललितासन में स्थित रहते थे। महामुद्रा साधनेवाली योगिनी सदा इनकी सेवा में खड़ी रहती थी, जो भद्रकुल की होती थी।

२९. **पुतुलीपा**—ये भागलपुर क्षेत्र के निवासी थे। इनका जन्म शूद्र-कुल में हुआ था। इनकी रचना 'बोधिचित्तवायुचरणभावनोपाय' नामक पुस्तक है। इसका भी अनुवाद तन्-जूर् में प्राप्त है। ये पीपल की शाखा के नीचे भगवान् बुद्ध की पुतली की पूजा करते थे। इसीलिए इनका नाम पुतुलीपा पड़ा था।

३०. **कोकालीपा**—ये चम्पारन जिले के एक राजकुमार थे। इनकी रचना 'आयुःपरीक्षा' नामक पुस्तक थी, जो तन्-जूर् में प्राप्त है तथा जिसकी संख्या ४८।६४ है। ये राजकुमार होने के कारण अत्यन्त सौम्य आकृतिवाले दिव्य पुरुष थे। सुन्दरी महामुद्राएँ इनकी सेवा में तत्पर रहती थीं और ये सदा फल-फूलों की सुखद छाया में ध्यानावस्थित रहते थे।[1]

उक्त वज्रयानी सिद्धों की परम्परा आठवीं सदी के अन्तिम भाग से बारहवीं सदी के अन्त तक बढ़ती ही गई। मुसलमानों के आक्रमण के बाद वज्रयान-सम्प्रदाय का पूर्ण ह्रास हुआ तथा १४वीं सदी के मध्य तक भारत से यह लुप्त हो गया। पीछे इसी की परम्परा में गोरखनाथ-पंथियों की परम्परा बनी, जिनके आदिगुरु इन्हीं सिद्ध में एक थे।

वज्रयान और सिद्धों की ऐतिहासिक परम्परा में आधुनिक भारतीय संस्कृति के विविध रूप अन्तर्निहित हैं। बौद्धमूर्त्ति-निर्माण-कला का तो यह भांडार ही है। इसमें नाथ, कबीर, नानक, दरियादास, सरभंग आदि सन्त-संप्रदायों की परम्परा का उत्स निहित है। इसमें हठयोग, स्वरोदय, त्राटक, कामरूप की योगिनी विद्या, भूतावेश आदि का भी क्रम-विकास छिपा है। हमारी राजनीतिक पराजय का भी यह प्रमुख कारण है। हिन्दी-भाषा और हिन्दी-कविता के विकास का आदि बीज भी इसी वज्रयान-सम्प्रदाय में हमें मिलता है।

---

१. इन सभी सिद्धों का परिचय 'सुलतानगंज' (भागलपुर) से प्रकाशित अस्तंगत मासिक पत्रिका 'गंगा' के 'पुरातत्त्वांक' विशेषांक में छपे पं० राहुल सांकृत्यायन के लेख और चित्रों के आधार पर तैयार किया गया है। —ले०

नवाँ परिच्छेद

बौद्धधर्म का अंधकार-युग मुस्लिम-काल

(सन् १२०१—१७५० ई०)

यह पहले कहा गया है कि १२०० ई० में मुहम्मद-बिन-बख्तियार-इख्तियार खिलजी के आक्रमण के बाद उदन्तपुरी (बिहारशरीफ) से ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण बिहार-प्रदेश से, सैकड़ों वर्षों से पालित बौद्धधर्म-रूपी वृक्ष की जड़ उखड़ गई।[1] बंगाल के सेनवंशी और बिहार के पालवंशी तथा कन्नौज-राजाओं के शासन को मटियामेट करके बौद्ध प्रदेशों में मुस्लिम-राज्य की स्थापना हो गई। इसके बाद कुछ दिनों तक यह प्रताड़ित बौद्धधर्म उड़ीसा में दम तोड़ता रहा, पर शीघ्र ही वहाँ भी इसका दम घुट गया। बिहार, बंगाल, उड़ीसा आदि के बौद्ध सिद्धों ने भागकर नैपाल, तिब्बत आदि देशों में अपने प्राण और धर्म जैसे-तैसे बचाये। निष्कंटक और निरंकुश होकर क्रूर काल के समान मुसलमान, बौद्ध स्मारकों के चिह्नों तक का संहार करते रहे और इस देश में बौद्धधर्म को अस्तित्व-रहित करने के लिए उसके इतिहास पर स्याही भी पोतते रहे! बौद्ध-धर्म की जड़ जहाँ भी जरा दिखाई पड़ती, ये खोदते चलते थे। यह क्रम निरन्तर चलता रहा। एक मुसलमान शासक के बाद जो भी दूसरा आया, वह बौद्धधर्म के विध्वंसन में अपने पूर्वज से आगे ही रहा। क्योंकि, उनका विश्वास था कि काफिरों के धर्म का जो जितना ही संहार करेगा, वह खुदा का उतना ही प्यारा बन्दा होगा। उनके इसी विश्वास के कारण बौद्धधर्म पर निरन्तर सर्वनाशी आघात होते रहे, जिसके फलस्वरूप कालक्रमानुसार बिहार-प्रदेशवासी जनता ने पहले तो नये शासकों के भय से बौद्धधर्म को भुलाया और फिर सार्वजनिक उपेक्षा के कारण बौद्धधर्म की ओर से अपना ध्यान बिलकुल हटा लिया।

बौद्धधर्म का अन्धकार-युग

बौद्धधर्म के विस्मृति के गर्त्त में पड़ जाने का एक दूसरा भी कारण रहा और वह था—ब्राह्मण-वर्ग का सामूहिक विरोध। उस समय भी ब्राह्मणों के हाथ में ही ज्ञान-दान और धर्म-शासन का सूत्र था। ब्राह्मण आरंभ से ही बौद्धधर्म के द्रोही थे; क्योंकि बौद्धों ने ब्राह्मणों की धर्मसत्ता पर प्रबल प्रहार किया था और समाज का शासन-सूत्र इनसे छीन लेना चाहा था। स्वयं बुद्ध ने भी ब्राह्मण-धर्म पर गहरी चोट की थी। इसलिए बौद्धों और ब्राह्मणों में पारस्परिक संघर्ष प्रारंभ से ही चला आता था। मुस्लिम-काल में ब्राह्मणों ने बौद्ध-धर्म की चर्चा तक करनी छोड़ दी। यहाँ तक कि कहानी के तौर पर भी यजमानों के सामने बौद्धधर्म की चर्चा करने को अधर्म मानने लगे। इतना ही नहीं, बौद्धधर्म के तीर्थों और

---

१. इस पुस्तक के पृ० २२७-२२८ द्रष्टव्य।

देवताओं तक को भी उन्होंने हिन्दू-तीर्थ और हिन्दू-देवता के रूप में उदरस्थ कर लिया तथा इतिहास-ज्ञान-हीन जनसाधारण ने उन्हें सचमुच हिन्दू-तीर्थ और हिन्दू-देवता मान भी लिया। फिर तो बौद्ध देवी-देवताओं की जो दुर्दशा भारत में हुई, वह किसी देश में, किसी एक धर्म के देवताओं की नहीं हुई। फलस्वरूप, भगवान् बुद्ध की मूर्त्ति कहीं 'भीम' कहीं 'जरासंध', कहीं 'ढेलुआ बाबा' और कहीं 'तेलिया भैरव' बन गई। कहीं-कहीं तो बुद्धदेव 'देवी मैया' बनकर सिन्दूर लगवाने और टिकुली सटवाने लगे। आज भी बुद्धदेव की ऐसी दुर्दशा कई जगहों में देखी जाती है। बेचारे अनेक 'बोधिसत्त्व' देवी बनकर चुनरी पहनते हैं। कई बोधिसत्त्व खास बोधगया-मंदिर के सामनेवाली कोठरियों में पंचपाण्डव बनकर अज्ञात वनवास का जीवन बिता रहे हैं। इसी तरह बौद्धों की 'तारा' और 'पारमिताएँ' अनेक जगहों में हिन्दुओं की देवी बनकर अपनेको पुजवाती हैं। इस प्रकार, मुस्लिम-काल में सारे-के-सारे बौद्ध देवता हिन्दू-देवता बनकर नामशेष हो गये।

इस तरह मुस्लिम-शासन के लगभग साढ़े पाँच सौ वर्षों तक, जिसमें विभिन्न मुस्लिम-वंशों ने शासन किया, बौद्धधर्म के लिए घनघोर अंधकार का युग रहा। यह लम्बी अवधि धर्मोद्योग की नहीं, बल्कि बौद्धधर्म-विध्वंस की अवधि रही। ऐसी स्थिति में बौद्धधर्म की रक्षा की आशा करना नितान्त दुराशामात्र है। इन ५५० वर्षों में बिहार-प्रदेश में या समस्त भारत में अन्यत्र भी कहीं बौद्धधर्म के लिए कोई उद्योग हुआ, इसका पता नहीं मिलता।

दसवाँ परिच्छेद

अँगरेजी शासन-काल के कार्य

(सन् १७५१ से १९४६ ई०)

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में अँगरेजों का पदार्पण हुआ। सन् १७७४ ई० में, कम-से-कम बंगाल में अँगरेजों का शासन-सूत्र दृढ़ हो गया। सत्ता दृढ़ हो जाने पर, पुरातत्त्व-प्रेम के कारण अँगरेजों का ध्यान भारतीय संस्कृति की ओर आकृष्ट हुआ।

अँगरेजों का पुरातत्त्व-प्रेम

भारत की प्राचीनता की ओर जब उनका ध्यान गया, तब उन्होंने यहाँ के धार्मिक तथा ऐतिहासिक स्मारकों के उद्धार तथा संरक्षण का कार्य हाथ में लेने का संकल्प किया। अँगरेज भी विदेशी थे और उनका धर्म ईसाई धर्म था, अतः भारत के सभी धर्म उनके लिए समान थे। किसी एक के प्रति उनका पक्षपात नहीं था और भारत के सभी धर्मों की जनता की सहानुभूति के वे इच्छुक थे। इसलिए भारत में जितने प्रकार के प्राचीन स्मारक उन्हें ज्ञात हुए, सभी की रक्षा के लिए वे तत्पर दिखाई पड़े। यद्यपि स्मारकों के उद्धार और संरक्षण में, उनके भारतीय धर्म के प्रति प्रेम की प्रेरणा नहीं थी, बल्कि एकमात्र पुरातत्त्व-सम्बन्धी जिज्ञासा ही थी, तथापि उनके इस कार्य से अन्य भारतीय धर्मों के समान बौद्धधर्म की भी प्राचीनता और महत्ता प्रतिष्ठित हुई, जिससे भारत का गौरव बहुत बढ़ गया। यह कहने में मुझे जरा भी संकोच नहीं है कि अँगरेजों ने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दिशाओं में हमारा चाहे जितना भी शोषण किया हो, पर पुरातत्त्वेतिहास के लिए उन्होंने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये और उनसे जो हमारे देश का गौरव संसार में बढ़ा, उसके लिए हम भारतीयों को उनका ऋणी होना चाहिए।

अँगरेजों की ओर से, पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोजों के सिलसिले में, बौद्धधर्म के लिए, बिहार-प्रदेश में जो कार्य हुए, उनसे बिहार की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक गरिमा सातवें आसमान तक उठ गई। किन्तु बिहार-प्रदेश में, अँगरेजी शासन-काल में, बौद्धधर्म के लिए जिन संस्थाओं और व्यक्तियों ने कार्य किये, उनके नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेंगे।

गवर्नर जनरल 'वारेन हेस्टिंग्स' के समय में और उनकी सहायता और प्रेरणा से सर्वप्रथम 'सर विलियम जोन्स' नामक पुरातत्त्वज्ञ अँगरेज ने १५ जनवरी, सन् १७८४ ई० में, कलकत्ता में

'एसियाटिक सोसाइटी' नामक संस्था की स्थापना की। संस्था का मुख्य कार्य यह रखा गया कि यह संस्था एसिया-खण्ड के इतिहास, साहित्य, स्थापत्य, धर्म, समाज, विज्ञान आदि विषयों की खोज करेगी। इस तरह इसी संस्था ने सर्वप्रथम भारत में ऐतिहासिक अनुसंधान और पुरातत्त्व-ज्ञान का बीजारोपण किया, जिसके कारण बिहार में बौद्धधर्म के प्रति अभिरुचि पैदा हुई।

एसियाटिक सोसाइटी

कलकत्ता की इस 'एसियाटिक सोसाइटी' ने ही 'एसियाटिक रिसर्चेज' नाम की एक पुस्तक-माला सन् १७८८ ई० में प्रकाशित की, जिसके पाँच भाग सन् १७९७ ई० तक प्रकाशित हो गये। उस समय के विद्वान् इतिहास-सम्बन्धी अन्वेषण करके जो विवरण प्रस्तुत करते, वे उक्त पुस्तक-माला में प्रकाशित होते थे। इस 'माला' का इंगलैंड में बड़ा ही सम्मान हुआ और एसिया के सांस्कृतिक विषयों में वहाँ के लोगों की अभिरुचि बढ़ी। यह पुस्तक-माला सन् १८३९ ई० तक नियमित रूप से प्रकाशित होती रही।

सर विलियम जोन्स के बाद सन् १७९४ ई० में 'हेनरी कोलब्रुक' ने उनके द्वारा आरंभ किये गये इस शुभ अनुष्ठान को पूरा करने का बीड़ा उठाया। कोलब्रुक ने भारतीय पुरातत्त्व-विषयक अनेक अन्वेषण-कार्य किये तथा इस विषय पर नैरन्तर्य रूप से सैकड़ों लेख लिखे। हेनरी कोलब्रुक सन् १८०७ ई० में 'एसियाटिक सोसाइटी' के अध्यक्ष चुने गये थे। इन्होंने ही इंगलैंड वापस होने पर वहाँ 'रॉयल एसियाटिक सोसाइटी' नामक संस्था की स्थापना की। इसी संस्था ने इंगलैंडवासियों को बृहत् मात्रा में भारतीय पुरातत्त्व तथा संस्कृत-भाषा की महत्ता का परिचय कराया था।

हेनरी कोलब्रुक के समय में ही, अँगरेजी-सरकार ने सन् १८०७ ई० में प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ डॉ० बुकानन को भारत में अन्वेषण-कार्य करने के लिए एक विशिष्ट पद पर प्रतिष्ठित किया। फलस्वरूप डॉ० बुकानन ने बिहार, बंगाल और आसाम प्रान्तों में घूम-घूम कर पुरातत्त्व-विषयक कार्य करते हुए सभी प्रान्तों के कई जिलों के विस्तृत विवरण प्रस्तुत किये। डॉ० बुकानन ने अपने बिहार-सम्बन्धी विवरण को सन् १८११-१३ ई० में ही तैयार कर दिया था, जिसका प्रकाशन अनेक वर्षों बाद 'बिहार-उड़ीसा-रिसर्च-सोसाइटी' (पटना) ने कई खण्डों में किया। इस प्रकाशन का व्यय हथुआ (सारन) के महाराज द्वारा दिये गये पाँच हजार रुपये से हुआ था।

किन्तु, अँगरेजों के शासन-काल में, भारतीय संस्कृति के उद्धार और संरक्षण का कार्य जैसा 'जनरल कनिंघम' ने किया, वैसा किसी व्यक्ति ने नहीं। उनका अथक परिश्रम और अटूट उत्साह इतिहास में बेजोड़ है, जिसके लिए प्रत्येक भारतवासी उनका आभारी है। उन्होंने अपने पुरातत्त्व-प्रेम के कारण सन् १८३४ ई० में और १८५१ ई० में भी मेजर मारहम किट्टो के साथ बौद्ध तीर्थ 'सारनाथ' में खुदाई का काम किया था। उस समय 'जनरल कनिंघम' उत्तर-प्रदेश में मुख्य इंजीनियर के पद पर थे और सारनाथ की खुदाई उनके वैयक्तिक उत्साह के कारण हुई थी।

भारत में ऐतिहासिक स्थानों के उत्खनन-कार्य का श्रीगणेश संघबद्ध होकर 'लार्ड-कैनिंग' ने किया। इसीलिए 'लार्ड कैनिंग' भारतीय पुरातत्त्व के जन्मदाता कहे जाते हैं। इन्होंने ही सन् १८६० ई० में भारतीय पुरातत्त्व-सर्वेक्षण-विभाग (आर्कोलॉजिकल सर्वे ऑफ् इंडिया) नाम की एक संस्था स्थापित की और सन् १८६२ ई० में जनरल कनिंघम को इस संस्था का निर्देशक (डाइरेक्टर) नियुक्त किया। संस्था के निर्देशक के पद पर प्रतिष्ठित होते ही जनरल कनिंघम ने घोर परिश्रम आरम्भ किया और सन् १८६२ ई० से सन् १८८४ ई० तक भारतीय पुरातत्त्व-अन्वेषण के विस्तृत विवरण २३ खंडों में प्रकाशित कर दिये। उस समय कनिंघम की देखा-देखी अन्यान्य विद्वानों ने भी विभिन्न प्रान्तों के पुरातत्त्व के विवरण प्रस्तुत किये थे। कुछ दिनों बाद सबसे बड़ी बात यह हुई कि लार्ड कर्जन ने कानून बनाकर भारतीय धर्म-स्मारकों की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया, जिससे सभी प्राचीन स्मारक नष्ट होने से बचा लिये गये। उक्त कनिंघम के उद्योग से ही बिहार-प्रदेश में बौद्धधर्म के स्मारकों के उद्धार-कार्य सम्पादित हुए थे।

भारतीय पुरातत्त्व-सर्वेक्षण-विभाग

बोधगया का उत्खनन-इतिहास

सन् १८२० ई० के कुछ वर्ष पहले ही, अपने बौद्धधर्म-प्रेम के कारण, बर्मा-देश के तत्कालीन राजा ने, बोधिवृक्ष का पता देनेवाले एक नक्शे के साथ, वास्तविक मंदिर का स्थान देख आने के लिए, अपना एक दूत बोधगया में भेजा। किन्तु वह व्यक्ति 'गया' नगर से ही लौट गया। गया के आगे घनघोर जंगलों को देखकर उसने थोड़ा और दक्षिण बढ़ने का साहस नहीं किया। फिर सन् १८२३ ई० में बर्मा के राजा 'बाजिदो' ने उत्साहित करके एक दूसरे बौद्ध भक्त को बोधगया के लिए रवाना किया। बाजिदो ने उसे आदेश दिया था कि बोधगया में जाकर बर्मा-राज्य की ओर से भगवान् बुद्ध की पूजा करना और सर्वदा पूजा-अर्चा होती रहे, इसका भी कुछ प्रबन्ध करके ही लौटना। इसका सारा व्यय बर्मा-राज्य वहन करेगा। उस बौद्धधर्म-भक्त ने ठीक वैसा ही किया। बोधगया पहुँचकर उसने बड़ी धूमधाम से बोधिवृक्ष और भगवान् बुद्ध की पूजा-अर्चा की और चढ़ावा चढ़ाया, और कुछ दिनों तक ठहरकर पूजा-अर्चा करता रहा। बुद्धमूर्त्ति की निरन्तर पूजा होती रहे, इसके लिए उसने स्थानीय महंत के एक शिष्य को बौद्ध-पूजा-प्रणाली की शिक्षा देकर और पूजा का प्रबन्ध महन्त के जिम्मे सौंपकर वह बर्मा-देश को लौट गया। पूजाअर्चा का सारा आर्थिक प्रबन्ध बर्मा की ओर से ही हुआ। उसी के बाद से बोधगया-मंदिर स्थानीय महन्त के अधिकार में रहने लगा। उस समय बोधगया में एक भी बौद्धधर्मावलम्बी व्यक्ति नहीं था और बोधगया का क्षेत्र जंगलों से भरा था।

बाजिदो के बाद बर्मा के राजा 'मिंडुमिन' हुए। मिंडुमिन ने सन् १८७४ ई० में बोधगया में एक धर्मशाला बनवाई, जो निरंजना नदी के किनारे और संन्यासी महन्त के मठ से दक्षिण में स्थित थी। संयोगवश आज वह धर्मशाला बोधगया के 'संन्यासी महन्त' के अधीन हो गई है और उनकी अतिथि-शाला (गेस्ट हाउस) बन गई है। इसे महन्त ने बाहर से

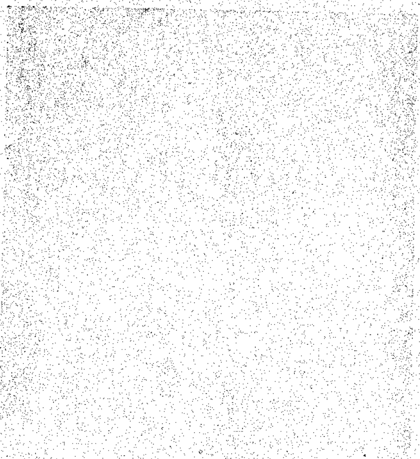
घेरकर अपनी चहारदीवारी के भीतर कर लिया है। इस धर्मशाला से सटे दक्षिण दिशा में जो दो छोटे-छोटे मन्दिर हैं, वे भी बर्मा के राजा मिंडुमिन के ही बनवाये हुए हैं। ये मंदिर भी अब संन्यासी महन्त के ही अधिकार में हैं।

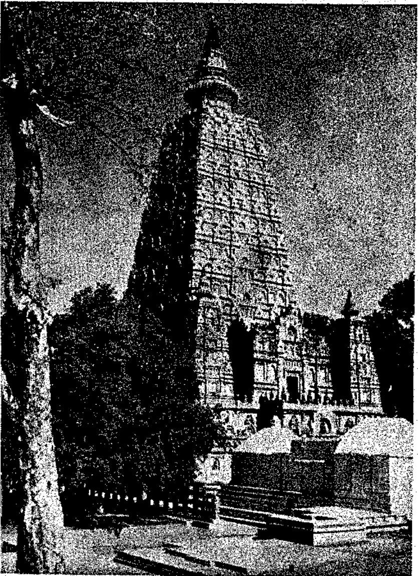
इससे बहुत पहले, सन् १८३२ ई० में ही, गया जिला के प्रधान न्यायाधीश मिस्टर 'हाउथोर्न' बोधगया के खँड़हर देखने आये थे। उस समय बोधगयावासियों ने हाउथोर्न से मुख्य मंदिर के संस्कार के लिए निवेदन किया था। हाउथोर्न ने बोधगया-मन्दिर की दुर्दशा पर काफी दुःख प्रकट किया; पर उन्होंने मंदिर के संस्कार के लिए कुछ किया-कराया नहीं।

हाउथोर्न के जाने के कुछ समय बाद बर्मा के राजा भी बोधगया आये थे। उन्होंने भगवान् बुद्ध की तथा बोधिवृक्ष की बड़े उत्सव-समारोह के साथ पूजा की थी तथा मंदिर के उद्धार के लिए नागरिकों को सान्त्वना दी और शायद भारत-सरकार से लिखा-पढ़ी भी की। पर, वे थोड़े ही दिनों बाद बर्मा लौट गये।

सन् १८४६ ई० में जनरल कनिंघम के सहकर्मी मेजर 'मारहम किट्टो' बोधगया में पधारे और उन्होंने ही सर्वप्रथम भारत-सरकार के पास बोधगया का विवरण भेजा। किन्तु अँगरेजी-सरकार ने इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। सन् १८६१ ई० में प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ जनरल कनिंघम भी बोधगया आये। इन्होंने भी अपनी विवरण-तालिका सरकार के पास भेजी; पर सरकार ने फिर कुछ नहीं किया। किन्तु, कनिंघम का व्यक्तित्व पुरातत्त्वज्ञों में पूर्ण प्रतिष्ठित था और ये अपनी धुन के धनी थे। जब ये सन् १८६२ ई० में 'आर्कोलॉजिकल सर्वे ऑफ् इंडिया' नामक संस्था के निर्देशक (डाइरेक्टर) होकर बोधगया आये, तब पुनः भारत-सरकार के पास इन्होंने अपनी विवरणिका भेजी। इस बार इन्होंने सरकार को लिखा कि 'भारत के हित की हिमायती अँगरेजी-सरकार यदि इन कामों को नहीं करेगी, तो फ्रांसीसी और पुर्तगाली करेंगे, हमारी सरकार यह अच्छी तरह जान ले।' इस बार भारत-सरकार के कानों पर जूँ रेंगी और उसने डॉ० राजेन्द्रपाल मित्र को बोधगया के निरीक्षण-परीक्षण के लिए अपनी ओर से भेजा। डॉ० राजेन्द्रपाल मित्र ने बोधगया में एक वर्ष रहकर बड़े परिश्रम के साथ अपना विवरण तैयार किया और सरकार के समक्ष उसे प्रस्तुत किया। डॉ० राजेन्द्रपाल मित्र के विवरण भेजने के पहले गया के जिला-जज 'फर्गुसन' साहब ने भी बोधगया पर अपनी एक विज्ञप्ति छपवाई थी और उन्होंने भी उसे भारत-सरकार के पास बोधगया-मंदिर के उद्धार के लिए लिखा था। इस तरह विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा, बोधगया-मंदिर के उद्धार के लिए, बार-बार भारत-सरकार पर दबाव डाला जाता रहा।

यह पहले कहा गया है कि बर्मा-देश की सरकार बोधगया-मंदिर के उद्धार के लिए पहले से ही आकांक्षी थी, इसलिए बर्मा-सरकार को भारत-सरकार ने बोधगया के उद्धार के लिए आदेश दे दिया। संस्कार-क्रम में भारत-सरकार की ओर से शर्त यह थी कि वहाँ मंदिर में बर्मी सरकार अपनी ओर से कोई नया काम नहीं करेगी। बर्मी सरकार की ओर से मंदिर का संस्कार-कार्य सन् १८७७ ई० के कुछ पहले ही आरम्भ हो गया था। किन्तु,





बोधगया के बोधि मंदिर और बोधिवृक्ष का दृश्य

सन् १८७७ ई० में डॉ० राजेन्द्रपाल मित्र अँगरेजी-सरकार की ओर से बोधगया का निरीक्षण करने के लिए भेजे गये। इनके निरीक्षण-विवरण-पत्र को देखकर भारत-सरकार ने बर्मी सरकार का संस्कार-कार्य बन्द करवा दिया और उनके कारीगरों को भी हटवा दिया। भारत-सरकार ने बोधगया की खुदाई का काम अब अपने हाथों में ले लिया और जनरल कनिंघम तथा डॉ० राजेन्द्रपाल की निगरानी में काम होने लगा। खुदाई करते समय ही मजदूरों की असावधानी से पीपल का वृक्ष गिर गया था, जहाँ कनिंघम ने अपने हाथों से एक नया वृक्ष लगा दिया। यह वृक्ष मंदिर से उत्तर की ओर है, जहाँ बोधिसत्त्व, गणेश, जम्भल आदि की मूर्त्तियाँ हैं और जहाँ हिन्दू पिण्डदान भी करते हैं।

मंदिर की खुदाई सुव्यवस्थित रीति से सन् १८७७ ई० में आरंभ हुई और तीन वर्षों की कड़ाचूर मिहनत के बाद सन् १८८० ई० में समाप्त हुई थी। इस उद्धार-कार्य में दो लाख रुपये व्यय हुए थे।

उत्खनन में प्राप्त सामग्री

इस उत्खनन में प्रधान बुद्ध-मंदिर का तल-भाग जमीन की तत्कालीन सतह से २५ फुट नीचे में मिला। लगभग ६०० फुट समचतुष्कोण वर्गाकार में मंदिर की खुदाई कराई गई। अब सतह से मन्दिर की ऊँचाई १८० फुट है। खुदाई के पहले मंदिर तक आने का मार्ग केवल पूर्व भाग के द्वार के सामने से था, जो अब चारों ओर से हो गया है। चारों ओर की ऊँची जमीन से प्रस्तर के सोपान बनाये गये हैं, जिनसे मंदिर तक मार्ग निर्मित है। चारों तरफ से रास्ते इसलिए बनाये गये हैं कि पहले भी ये मार्ग थे, जिनका वर्णन चीनी यात्री 'ह्वेनसांग' ने ७वीं सदी में किया है। खुदाई के पहले बोधगया-मंदिर के दर्शनार्थी पूरब की ओर से आकर केवल मन्दिर के ऊपरी भाग में ही पहुँचते थे, जहाँ बुद्ध की एक मूर्त्ति स्थापित है। इसी मूर्त्ति को लोग मन्दिर की प्रधान मूर्त्ति समझते थे और इस ऊपरी गर्भगृह को ही मुख्य मन्दिर का गर्भगृह मानते थे। खुदाई और संस्कार के पहले मन्दिर घनघोर जंगलों और टूटे-फूटे खँड़हरों के बीच में अवस्थित था। शाम होते ही बोधगयानिवासी भी मंदिर तक नहीं जाते थे, बाहरी व्यक्ति की तो बात ही क्या है? मन्दिर के पासवाली कँटीली झाड़ियों में भेड़िये और चीतों का स्वच्छन्द राज्य था।

प्रधान मंदिर

उपर्युक्त खुदाई के समय बोधगया में जो बहुमूल्य पुरातत्त्व-सामग्री मिली, उससे बौद्धधर्म पर विशद और विस्तृत प्रकाश पड़ा तथा अँगरेजी शासन-काल का यह प्रयत्न बौद्धधर्म के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। प्राप्त सामग्री में बौद्धधर्म की अनेक मूर्त्तियाँ मिलीं, जो कलकत्ता, पटना तथा मथुरा के संग्रहालयों में भेज दी गई हैं। अनेक स्तूप और मूर्त्तियाँ आज भी मन्दिर के आँगन में स्थित हैं और कुछ सन् १९५६ ई० में बने बोधगया के नवीन संग्रहालय में रख दी गई हैं। किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण मूर्त्तियाँ बोधगया के संन्यासी महन्त के मठ के आँगन में भी चली गई हैं

मूर्त्तियाँ

और कुछ तो उनकी चहारदीवारी की दीवारों में चुन दी गई हैं। यह अत्यन्त दुःखद दृश्य है! बोधगया-महन्त के आँगनवाली मूर्तियों में तीन मूर्त्तियाँ तो ऐसी हैं, जो अत्यन्त दुर्लभ हैं। इनमें से एक में भगवान् बुद्ध के गृह-त्याग का दृश्य अंकित है, जो मर्म को छूनेवाला है। एक ओर यशोधरा अपने बालक 'राहुल' को गोद में लिये सोई है और बगल में थोड़ी दूर पर दीप जल रहा है। सिद्धार्थ चुपके से दबे पाँव घर से निष्क्रमण करते हुए पीछे की ओर पत्नी और पुत्र को निहारते जा रहे हैं। निद्रित साध्वी यशोधरा के मुखमण्डल पर भोलापन का पवित्र भाव झलक रहा है और सिद्धार्थ की छलना, दर्शक के हृदय को, द्रवीभूत कर देती है। दूसरी मूर्त्ति महापरिनिर्वाण के दृश्य की है। इसमें एक बुद्धमूर्त्ति खड़ी है और ऊपर महापरिनिर्वाण का दृश्य अंकित है। वहाँ अगल-बगल देवताओं का दृश्य भी दर्शनीय है। तीसरी मूर्त्ति अवलोकितेश्वर की है, जिसकी त्रिभंगी आकृति और शरीर का गठन तथा तेजोदीप्त सुन्दर मुखमण्डल से कलाकार की अद्‌भुत कारीगरी का परिचय मिल रहा है। अनाड़ी भक्तों ने मूर्त्तियों पर सिन्दूर पोतकर इन्हें ऐसा विद्रूप कर दिया है,जिससे हृदय को बड़ा कष्ट होता है। इन मूर्त्तियों का उद्धार होना अति आवश्यक है।

यहाँ मैं एक मूर्त्ति की चर्चा का लोभ संवरण नहीं कर सकता, जिसका विषय हमारे इस ग्रन्थ से सम्बन्धित नहीं है। पर वह मूर्त्ति ऐसी है, जिसके जोड़ की हिन्दुस्तान में बहुत कम मूर्त्तियाँ होंगी। यह मूर्त्ति मुण्डेश्वरी दुर्गा की मूर्त्ति है, जो संन्यासी-मठ की, फल्गु नदी की ओर की पूर्वी द्वार के सटे दक्षिण, चहारदीवारी के कोटर में स्थित है। मूर्त्ति की चार भुजाएँ टूट गई हैं; पर और भुजाएँ तथा सम्पूर्ण मूर्त्ति सुरक्षित हैं। पता नहीं, कौन ऐसा कलाकार था, जिसने इस मूर्त्ति को गढ़ा और कहाँ से उसने इस मूर्त्ति में अमित सौन्दर्य तथा कोमलता का निखार भरा। फिर भी यह कैसी हृदयद्रावक घटना है कि ऐसी मूर्त्ति कूड़े-कचरों और मकड़ी के जालों से भरी रहती है। यह मूर्त्ति गुप्तकाल की पाँचवीं सदी से पूर्व की है; क्योंकि इसकी एक प्रतिच्छवि बोधगया मंदिर की ऊपरी दीवार में, पूर्व-उत्तर कोण में, स्थापित है। बौद्धमठ के संन्यासी साधुओं का कहना है कि जिन लोगों ने इस विशिष्ट मूर्त्ति की पूजा की है, वे सभी काल-कवलित हो गये हैं। पता नहीं, यह कैसा रहस्य है! लोगों का कहना है कि मठ के पुराने महन्त ने डुंगेश्वरी पहाड़ से लाकर यहाँ इसे रखा है। अस्तु;

उक्त खुदाई में मूर्त्तियों और स्तूपों के अतिरिक्त प्रधान मंदिर के द्वार के सम्मुख तीन बड़े प्रकोष्ठ मिले हैं, जिनकी छतें मगध-गृह-निर्माण-कला के अनुसार छज्जेदार हैं। इन कोठरियों के मध्यभाग में शिव-लिङ्ग स्थापित है और किनारे की दीवारों में बुद्ध और बोधिसत्त्वों की खड़ी मूर्त्तियाँ हैं। आजकल इसका नाम 'पञ्च-पाण्डव-मन्दिर' है।

पंचपाण्डव-मंदिर

यद्यपि बोधगया के प्रधान मंदिर पर से संन्यासी-मठ का अधिकार अब बिलकुल हट गया है, तथापि इस 'पञ्च-पाण्डव-मन्दिर' पर अभी तक उन्हीं का अधिकार है। इसका मुख्य कारण यही है कि इसमें शिव-लिङ्ग स्थापित है, जिससे शैव महन्त का अधिकार सरकार ने जायज मान लिया है। महन्त के शिष्य आगन्तुक भक्तों को इनमें स्थित

बुद्ध और बोधिसत्त्व की मूर्त्तियों को 'पञ्च-पाण्डव' बतलाते हैं, जो धृष्टता और मूर्खता की पराकाष्ठा है। कुछ लोगों का कहना है कि ये मन्दिर, खुदाई के बाद, महन्त द्वारा बनवाये गये हैं और इनमें महन्त ने ही शिव-लिंग स्थापित कर दिये हैं, पर यह बात भ्रमात्मक है; क्योंकि सन् १८८० ई० में खुदाई हुई और १८८१ ई० से ही इसकी देख-भाल जनकार्य-विभाग के अधिकार में आ गई। महन्त महाशय को ऐसा अवसर ही कब मिला होगा, जो यहाँ तीन कमरे बनवाकर शिव-लिंग स्थापित कर लेते। दूसरी बात ध्यान देने योग्य है कि जब बर्मी सरकार मंदिर का संस्कार कराने लगी, तब भारत-सरकार ने यही शर्त्त रखी थी कि वहाँ किसी तरह का नया काम नहीं हो सकता है। और, बर्मी कारीगरों ने जब थोड़ी-सी गड़बड़ी की, तब सरकार ने उनके कामों को शीघ्र ही बन्द करवा दिया। ऐसी स्थिति में महन्त किस तरह वहाँ कमरे बना सकते थे? इसके अतिरिक्त मैं चीनी यात्री 'ह्वेनसांग' की उन पंक्तियों की ओर भी ध्यान दिला रहा हूँ, जिनमें उसने मंदिर के साथ-साथ इन प्रकोष्ठों का भी वर्णन किया है। वह लिखता है—"मंदिर के पूरब भाग में तीन बड़े-बड़े प्रकोष्ठ सम्बद्ध थे, जिनकी लकड़ी की नक्काशी में सोने और चाँदी के तार आकर्षक ढंग से मढ़े थे। मन्दिर की बाईं ओर अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की मूर्त्ति थी और दाहिनी ओर चाँदी की बनी मैत्रेय की मूर्त्ति स्थित थी। बंगाल के राजा 'शशांक' ने बुद्धमूर्त्ति को तोड़कर शिव-मूर्त्ति प्रतिष्ठित करने की आज्ञा दी थी; पर जिसे यह काम सौंपा गया था, उस ब्राह्मण पुरोहित ने डरकर बुद्ध-मूर्त्ति को छिपा दिया[1]।"

ह्वेनसांग के उपर्युक्त वाक्यों से ही प्रतीत होता है कि वहाँ शिव-लिंग की स्थापना हुई; क्योंकि ब्राह्मण-पुजारी द्वारा बुद्ध-मूर्त्ति को छिपा देने के कथन का अभिप्राय इतना ही है कि मंदिर की बुद्ध-मूर्त्ति नष्ट नहीं हुई, बच गई। पर 'शशांक' की आज्ञा थी शिव-मूर्त्ति स्थापित करने की। इसलिए केवल बुद्ध-मूर्त्ति को छिपा देने से ही काम नहीं चलनेवाला था। पुजारी ने बुद्ध-मूर्त्ति को बचाने के लिए उसे छिपा तो दिया होगा; पर राजा की आज्ञा का पालन हो, इसके लिए उसने इन्हीं कमरों में शिवलिंग स्थापित कर शशांक का आदेश-पालन भी किया होगा। निश्चित है कि खुदाई के समय में ही शिवलिंग-युक्त यह मंदिर मिला, जिससे सरकार ने भी इसपर शैव महन्त का अधिकार माना।

खुदाई में मौर्यकालीन सिंहद्वार और स्तम्भ भी मिले हैं, जो मंदिर के सामने पूर्वी द्वार की तरफ आज भी खड़े किये गये हैं। किन्तु, उस समय सबसे महत्त्वपूर्ण जो वस्तु मिली, वह है—बोधिवृक्ष की आवेष्टन-सूचियाँ। ये सूचियाँ 'अशोक-रेलिंग' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

वेष्टन-वेदिकाएँ और चैत्य

इनमें कुछ तो मौर्यकालीन हैं और कुछ शुंग-कालीन तथा कुछ सातवीं सदी की हैं, जिन्हें 'पूर्णवर्मा' ने बनवाया था। पूर्णवर्मा द्वारा कराये गये प्राकार-संस्कार का वर्णन ह्वेनसांग ने भी किया है। आवेष्टन-सूचियों में जातक कहानियों के अनेक दृश्य उत्कीर्ण हैं और तत्कालीन भावना-बोधक कई अन्य चित्र भी

१. हर्षवर्द्धन (श्रीगौरीशंकर चटर्जी, प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, सन् १९५० ई०)—पृ० १७१

अंकित हैं। इन्हीं सूचियों में से एक पर सात घोड़ेवाले रथ पर आसीन सूर्य, किन्नर, जेतवन के क्रय, शालभंजिका, राशियों आदि के चित्र भली भाँति देखे जा सकते हैं। प्राप्त बौद्ध चैत्य तो वैसे ही हैं, जैसा कि बोधगया का प्रधान मन्दिर है। ये चैत्य समय-समय पर बुद्ध-भक्तों की ओर से बनवाकर दान में दिये गये हैं और जिन पर एक-से-एक बढ़कर कला की बारीकियाँ काढ़ी गई हैं। ऐसे चैत्य, मन्दिर के चारों ओर, समूह रूप में बिखरे पड़े हैं।

मुख्य मन्दिर के आँगन के तीन कोनों पर तीन छोटे-छोटे भग्न मंदिर प्रतीक-रूप में आज भी हैं, जिन्हें 'रत्नगृह', 'राजायतन' और 'रानाउल' कहते हैं। ये उन्हीं जगहों पर बतलाये जाते हैं, जहाँ-जहाँ मार ने सिद्धार्थ को भ्रम में डाल देने के लिए बोधिवृक्ष की तरह के और अश्वत्थ-वृक्ष भी प्रकट कर दिये थे, जिससे सिद्धार्थ को असली बोधिवृक्ष का पता न लग सके और वे भटक जायें। पर, बात ऐसी नहीं है। ये वे स्थान हैं, जहाँ बुद्ध ने सात सप्ताहों तक विमुक्ति का आनन्द लिया था। 'रत्नगृह' आँगन के पश्चिम-उत्तर कोण में स्थित है और 'राजायतन' पूरब-दक्षिण कोण में तथा 'रानाउल' दक्षिण-पश्चिम कोण में है। मंदिर की पूर्व दिशा में, थोड़ी दूर उत्तर हटकर 'अनिमेष चैत्य' है, जहाँ से भगवान् बुद्ध बुद्धत्व प्राप्त कर लेने पर एक सप्ताह तक खड़े होकर अनिमेष नयनों से बोधिवृक्ष को निहारते रह गये थे। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह चैत्य-प्रधान मंदिर से पहले बना था और स्वयं सम्राट् अशोक ने इसे ही बनवाया था। इसकी खुदाई अभी तक नहीं हुई है। निश्चित है कि खुदाई होने पर प्रधान मंदिर की तरह इसका भी निचला भाग प्राप्त होगा।

अन्य स्मारक

जिस तरह अनिमेष चैत्य के पास खड़ा होकर भगवान बुद्ध एक सप्ताह तक बोधिवृक्ष को देखते रह गये थे, उसी तरह उन्होंने एक सप्ताह तक चंक्रमण करते हुए बोधिवृक्ष का निरीक्षण भी किया था। उसी चंक्रमण-स्थान पर प्रतीक रूप में भक्तों ने कमल-पुष्प बनवा दिये थे। ये कमल-पुष्प भी खुदाई के समय में प्राप्त हुए। स्वराज्य के बाद १९५६ ई० में, बुद्ध-परिनिर्वाण की २५००वीं जयन्ती के अवसर पर, जब काँगरेसी सरकार ने मंदिर का संस्कार कराया, तब चंक्रमण के प्रतीक-स्वरूप इन कमल-पुष्पों का भी संस्कार हुआ। खुदाई के समय इन चरण-चिह्नों के सामने १६ नारी-मूर्त्तियाँ अर्द्ध नग्न अवस्था में खड़ी पाई गई थीं। सभी नारी-मूर्त्तियों के हाथ में सनाल कमलपुष्प थे, जो भगवान् बुद्ध के पदों में अर्पित करने के भाव व्यक्त करते थे। ये सभी नारी-मूर्त्तियाँ मार-कन्याओं की प्रतीक थीं, जो पराजित होकर उनके चरणों के आगे खड़ी थीं। बाद में इनमें से अधिकांश मूर्त्तियाँ गायब या नष्ट हो गई। बाकी जो दो बची थीं, वे सन् १९५६ ई० में 'बोधगया' के संग्रहालय में रख दी गई हैं।

बौद्धधर्म-सम्बन्धी उपर्युक्त सारी सामग्री अँगरेजों के पुरातत्त्व-उद्योग के कारण संसार को सुलभ हुई, अन्यथा सभी चीजें नष्ट हो गई थीं।

मंदिर का आधुनिक इतिहास

पहले बतलाया गया है कि सन् १८२३ ई० में बर्मा के राजा द्वारा प्रेषित एक व्यक्ति ने



गजलक्ष्मी, बोधगया-रेलिंग (पृ० १८७ और २४९-२५०)



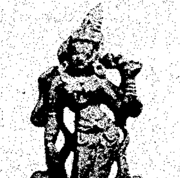
सरस्वती की कांस्य-मूर्त्ति, नालन्दा
(पृ० २६३)



श्रीमा— बोधगया रेलिंग
(पृ० २४६ और २८७)



अवलोकितेश्वर (बिसुनपुर, गया)
(पृ० २६७)



गंगा की कांस्य-मूर्त्ति, नालन्दा
(पृ० २६३)



ललितासन में बैठी तारा की कांस्य-मूर्ति (कुर्किहार, गया)—पृ० २६८



भूषण-भूषित बुद्ध, नालन्दा में प्राप्त



विक्रमशिला (भागलपुर) में प्राप्त मूर्त्ति (विवरण पृ० २१६-२१७ में)



बोधमंदिर की नित्य पूजा के लिए, संन्यासी-मठ के महन्त के एक शिष्य को नियुक्त कर दिया था और तभी से बोधिमन्दिर पर महन्त का अधिकार हो गया था। यह संन्यासी-मठ शंकर-सम्प्रदाय की कई गद्दियों में एक गद्दी मानी जाती है। इस मठ के आदि संस्थापक का नाम 'घमण्डी गिरि' था, जो केवल कम्बल-लोटा लेकर सन् १५६० ई० में बोधगया आये थे। उस समय भारत पर सम्राट् 'अकबर' का शासन था। घमण्डी गिरि ने प्रधान बोधिमन्दिर से थोड़ी दूर उत्तर में अपनी कुटिया बनाई, जो अब इस गद्दी का पुराना मठ है। आज भी यह मठ अपनी जीर्ण अवस्था में, उत्तर-दक्षिण लम्बाई लिये स्थित है। इस मठ के सामने ही तारादेवी की एक भव्य मूर्त्ति स्थापित है। पुराने मठ की नींव के कुछ ऊपर एक प्रस्तर-लिपि लगी है, जो पालकाल की प्रतीत होती है। मन्दिर के दोमंजिले दालान में स्लेट-पत्थर की बनी एक 'गरुडमूर्त्ति' अत्यन्त मनोमोहक है, जो गुप्तकाल की बनी जान पड़ती है। उत्तर-पूरब कोण में एक प्राचीन बड़ा-सा कूप है, जिसका पानी कभी नहीं सूखता है और न कभी उसकी सफाई ही होती है। यह स्थान 'घमंडी गिरि-बाग' के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। मठ से पहले इस स्थान पर एक प्रसिद्ध बौद्धविहार था।

इसी घमण्डी गिरि के कई पीढ़ी बाद, सन् १७२७ ई० में, तत्कालीन संन्यासी-मठ के महन्त को, महमूदशाह ने दो गाँवों की जमीन्दारी दी थी। इसी जमीन्दारी से बढ़ते-बढ़ते महन्त की सालाना आय लाखों रुपये की हो गई। इसी मठ के अधीन बोधगया-मंदिर था। किन्तु जब बर्मा के राजा 'मिंडुमिन' हुए और उन्होंने बोधगया-मंदिर का संस्कार कराया, तब नये सिरे से उन्होंने पूजा की व्यवस्था की और बौद्ध पुजारी रखा। सन् १८७८ ई० में मिंडुमिन की मृत्यु हो गई और इनका उत्तराधिकारी 'थीबो' बर्मा-राज्य की गद्दी पर बैठा। थीबो ने भी अपने पिता द्वारा संचालित कार्य को बोधगया में जारी रखा। किन्तु थोड़े ही दिन बाद अँगरेजों के साथ थीबो की अनबन हो गई और अँगरेजों ने उसे कैद करके बम्बई प्रेसिडेंसी के 'रत्नगिरि' नामक स्थान में भेज दिया। सन् १८८६ की पहली जनवरी से ही बर्मा पर अँगरेजों का शासन हो गया। अतः, अँगरेजी-सरकार ने बोधगया मन्दिर से बौद्ध पुजारी को हटा दिया और मन्दिर को पुनः बोधगया के संन्यासी-मठ के महन्त के अधीन कर दिया। उसी समय से मन्दिर पर पूर्णरूप से महन्त का अधिकार हो गया।

लंका के प्रसिद्ध बौद्धभिक्षु 'अनागारिक धर्मपाल' कुछ दिनों के बाद बोधगया में तीर्थयात्रा के लिए पधारे। बोधगया-मन्दिर में शैवसंन्यासी को पुजारी के रूप में देख और उसपर शैव महन्त का अधिकार जानकर उन्हें अत्यधिक कष्ट हुआ। धर्मपाल ने उसी समय शैव महंत के हाथ से बोधि मन्दिर को मुक्त कराने का संकल्प किया। सन् १८९१ ई० में उन्होंने कोलम्बो में 'महाबोधि-सोसाइटी' नामक एक संस्था की स्थापना की। उस समय इस संस्था की सदस्यता सिंहल, बर्मा, आराकान, जापान आदि देशों ने स्वीकार कर ली। अनागारिक धर्मपाल ने बोधगया-मन्दिर पर बौद्धों का अधिकार स्थापित करने के लिए उक्त संस्था के द्वारा आन्दोलन आरम्भ किया। धर्मपालजी के थोड़े ही प्रयास के बाद मन्दिर के विश्रामागार के दो

कमरों पर 'महाबोधि-सोसाइटी' का स्वत्व सरकार ने दे दिया और बौद्ध पुजारी के रखने का इन्तजाम भी कर दिया गया। इसी समय धर्मपाल ने लंका से ऐतिहासिक बोधिवृक्ष की टहनी लाकर वज्रासन के पास लगा दी, जो आज बोधगया का प्रसिद्ध बोधिवृक्ष है।

कुछ दिनों बाद संन्यासी-मठ के बूढ़े महन्त का देहावसान हो गया और नये महन्त गद्दी पर बैठे, जो आज भी हैं और बूढ़े हो गये हैं। इनका नाम 'हरिहरनाथगिरि' है। उस समय पटना में बौद्धों की एक बहुत बड़ी सभा हुई, जिसमें निर्णय किया गया कि बोधगया-मंदिर पर बौद्धों का पूर्णतया अधिकार होना चाहिए। फलस्वरूप बोधगया-मन्दिर में बौद्ध भिक्षुओं की भीड़ बढ़ने लगी। उस समय अनागारिक धर्मपाल को जापान में ७०० वर्ष पुरानी एक बुद्ध-मूर्त्ति मिली थी, जिसे वे बोधगया-मन्दिर में स्थापित करना चाहते थे। बौद्धों ने मन्दिर में झाड़ू-बुहारू करने के लिए एक वेतनभोगिनी डोमिन को रख लिया था। इन सारी बातों से और मन्दिर पर से अपना अधिकार हटता देखकर युवक शैव महन्त क्रुद्ध हो गये। उन्होंने लाठी के जोर से मूर्त्ति स्थापित नहीं होने दी, और गुंडों के द्वारा वे बौद्धों को नाना प्रकार से कष्ट पहुँचाने लगे। दोनों ओर से फौजदारी हो गई, जिसमें महन्त के आदमियों को अदालत ने सजा दे दी; पर यह सजा पीछे हाईकोर्ट से रद्द हो गई। किन्तु, हाईकोर्ट ने मन्दिर पर बौद्धों का ही अधिकार घोषित कर दिया और महन्त हार गये।

संयोग की बात, कुछ दिनों बाद, जापान से 'ओकाकोरा' नामक बौद्ध भारत आये और बोधगया में उन्होंने अपना आसन जमाया। मन्दिर के पास जमीन खरीदकर ये एक जापानी विश्रामागार बनाने का उद्योग करने लगे। इसी बीच इन्होंने स्वामी श्रद्धानन्द और सविता देवी को बोधगया में बुलाकर मुलाकात की। तीनों ने मिलकर निश्चय किया कि भारत में एक 'जापानी-हिन्दू-संघ' नामक संस्था स्थापित की जाय। अँगरेजी-सरकार को जब संघ स्थापित करने के निर्णय का पता चला, तब उसे इस निर्णय में षड्यंत्र की गन्ध मिली। सरकार ने तुरत आज्ञा जारी कर दी कि बोधगया से सारे बौद्ध हटा दिये जायँ और मन्दिर पर किसका हक है, इसके निर्णय के लिए एक समिति नियुक्त कर दी जाय, जो शीघ्र अपना विवरण प्रस्तुत करे।

उस समय भारत के वायसराय लार्ड कर्जन थे। इस कार्य के लिए इन्होंने न्यायाधीश सुरेन्द्रनाथ और हरप्रसाद शास्त्री—इन दो व्यक्तियों की समिति बनाई। समिति ने जाँच-पड़ताल करके जो विवरण दिया, उसमें दोनों की राय परस्पर भिन्न हो गई। हरप्रसाद शास्त्री की राय बौद्धों के पक्ष में थी और न्यायाधीश सुरेन्द्रनाथ की राय महन्त के पक्ष में। भारत-सरकार ने न्यायाधीश सुरेन्द्रनाथ की राय मानी और बोधगया से तुरत बौद्धों को निकाल बाहर किया।

अँगरेजी-सरकार को अनुकूल देखकर महन्तजी ने अवसर से लाभ उठाया और बोधि-मन्दिर के लिए दीवानी मुकदमा दायर कर दिया। इस समय 'महाबोधि-सोसाइटी' के सदस्यों में फूट पड़ गई तथा अन्य देशों ने सहायता से अपना हाथ खींच लिया। अब अनागारिक

धर्मपाल अकेले पड़ गये, फिर भी वे मन्दिर के लिए लड़ते रहे। इस समय अनागारिक की सहायता केवल 'मेरी फोस्टर' (एक विदेशी महिला) कर रही थी। पर, धर्मपालजी का सारा प्रयास व्यर्थ गया; क्योंकि अँगरेजी-सरकार का रुख बौद्धों के प्रतिकूल बना हुआ था। मन्दिर पर महन्त की डिग्री हो गई। मन्दिर के विश्रामागार की दो कोठरियों की कुंजी, जो बौद्धों के पास थी, वह भी छिन गई। सम्पूर्ण मन्दिर पर महन्त का अधिकार हो गया और यह अधिकार स्वराज्य-प्राप्ति के बाद भी सन् १९५२ ई० तक बना रहा।

बोधगया में अन्य धर्म-कार्य

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त बोधगया में, इस अरसे में, बौद्धधर्म के लिए कुछ स्थायी कार्य भी हुए, जिनका विवरण निम्नलिखित है—

महाबोधि-धर्मशाला—बोधगया-मन्दिर पर बौद्धों के अधिकार के लिए जब अनागारिक धर्मपाल प्रयास कर रहे थे, तभी सन् १९०१ ई० में इस धर्मशाला की नींव उन्होंने ही डाली थी। कारण यह था कि पहले मिंडुमिन-धर्मशाला में बौद्ध भिक्षु ठहरते थे, पर जब बर्मा पर अँगरेजी-शासन हुआ और सरकार ने बोधगया से बर्मियों को निकाल दिया, तब मन्दिर के साथ-साथ इस धर्मशाला पर भी महन्त का अधिकार हो गया और उन्होंने मठ की चहारदीवारी में घेर कर इसे अपना निजी अतिथि-निवास बना लिया। अब बौद्धों के लिए वहाँ कोई ऐसी जगह नहीं रह गई थी, जहाँ वे आकर दो-चार दिन भी ठहरें। इसलिए अनागारिक धर्मपाल ने इस धर्मशाला की नींव डाली। पर, इसके निर्माण में महन्तजी निरन्तर नाना विघ्न-बाधाएँ डालने लगे। अन्त में धर्मपाल ने ऊबकर जिला-परिषद् की सहायता ली। महाबोधि-धर्मशाला के निर्माण में अनागारिक को सिंहल तथा बर्मा के बौद्ध भक्तों ने आर्थिक सहायता की थी। किन्तु, जिला-परिषद् की जब मदद लेनी पड़ी, तब धर्मशाला पर उसका भी आधा अधिकार धर्मपाल को मान लेना पड़ा। धर्मशाला पर महाबोधि-सोसाइटी और गया-जिला-परिषद् का बराबर अधिकार आज तक कायम है। यह प्रधान मंदिर से थोड़ी दूर, कुछ उत्तर दिशा को लिये हुए, पश्चिम में है।

बर्मी धर्मशाला—यह धर्मशाला बोधगया नगर के उत्तर, गया और बोधगया-राजमार्ग के पश्चिमी किनारे, स्थित है। इसका निर्माण सन् १९३६ ई० में बर्मा के प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु 'उत्तम' ने कराया था। इसकी चहारदीवारी पर बोधि-वृक्ष के पत्तों के चिह्न अंकित कराये गये हैं।

तिब्बती मन्दिर—इसका निर्माण 'लद्दाख' के प्रसिद्ध लामा 'खन्-पो-डवंग-सोनम्' ने सन् १९३८ ई० में कराया था। यह 'महाबोधि-धर्मशाला' से सटे उत्तर और बोधगया-मन्दिर से पश्चिम-उत्तर कोण में विशाल भवन के रूप में खड़ा है। इसमें भगवान् बुद्ध की मूर्ति तिब्बती शैली में मिट्टी की बनी है। मूर्ति के आगे निरन्तर घी का एक अखण्ड दीप जलता रहता है। इसमें तिब्बती बौद्ध लामाओं की भरमार है।

चीनी मन्दिर—बोधगया-मन्दिर से ठीक पश्चिम दिशा में, थोड़ी दूर पर, चीन-देश द्वारा

निर्मित यह मन्दिर है। इसके निर्माण का सारा श्रेय प्रसिद्ध चीनी भिक्षुक 'सीह्-तिह्-छेन्' को है। मन्दिर का निर्माण सन् १९३५ ई०में हुआ था। इस मन्दिर में भी भगवान् बुद्ध की मूर्ति स्थापित है। मन्दिर की भीतरी दीवारों पर भी भगवान् बुद्ध की जीवन-घटनाओं के विविध चित्र अंकित हैं। मन्दिर की पूजा-अर्चा के लिए एक चीनी वृद्धा भिक्षुणी रहती हैं, जो इसकी सर्वेसर्वा हैं।

बिड़ला-धर्मशाला—बोधगया के यात्रियों की सुविधा के लिए दानवीर श्रीयुगलकिशोर बिड़ला ने भी, अन्यान्य नगरों की तरह, यहाँ एक धर्मशाला बनवा दी है। यह 'महाबोधि-धर्मशाला' से सटे पश्चिम में है। यह धर्मशाला सन् १९४० ई० में बनकर तैयार हुई थी। यात्रियों के ठहरने लिए यह सुविधाजनक है।

नालन्दा की खुदाई और उसमें प्राप्त सामग्री

नालन्दा की प्राचीनता और महत्ता के सम्बन्ध में इस पुस्तक में पहले बहुत-कुछ लिखा गया है[1]। 'ह्वेनसांग' का यात्रा-विवरण जब प्रकाशित हुआ और 'तारानाथ' का इतिहास प्रकाश में आया, तब आधुनिक अन्वेषण का कार्य भी 'जनरल कनिंघम' ने ही किया। इन्होंने सन् १८६२ ई० में ही पता लगाया कि ह्वेनसांग-द्वारा वर्णित नालन्दा, पटना जिले के 'बड़गाँव' के पास ही है, जिसकी चर्चा 'हंससोम' ने विक्रम-संवत् १५६५ में रचित अपनी 'पूर्वदेशचैत्य-परिपाटी' नामक पुस्तक में की है[2]। कनिंघम द्वारा तैयार किये गये 'नालन्दा-विवरण' के प्रकाशित होते ही चीन, जापान, स्याम, सिंहल, बर्मा, तिब्बत आदि देशों के बौद्ध यात्रियों की भीड़ नालन्दा में उमड़ने लगी। फलस्वरूप नालन्दा के भी जीर्णोद्धार के लिए सन् १९१५ ई० में खुदाई का काम आरम्भ हुआ। यह काम 'रॉयल सोसाइटी ऑफ ग्रेटब्रिटेन एण्ड आयरलैंड' नामक संस्था की मदद से, भारतीय पुरातत्त्व-विभाग के डाइरेक्टर जनरल सर 'जॉन मार्शल' तथा 'स्पूनर' साहब की देख-रेख में शुरू हुआ था, जिसे बाद में 'भारतीय पुरातत्त्व-सर्वेक्षण-विभाग' ने अपने हाथ में ले लिया। इसने वैज्ञानिक पद्धति से खुदाई कराने के लिए डॉ० हीरानन्द शास्त्री को नालन्दा भेजा। आर्थिक कठिनाइयों के कारण खुदाई का काम सन् १९३०-३१ ई० तक धीरे-धीरे चलता रहा और बाद में तो बंद ही हो गया। इस समय तक जितनी भी खुदाई हो सकी और उस क्रम में जो भी पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री प्राप्त हुई, उससे बौद्धधर्म-सम्बन्धी बिहार-प्रदेश की बहुत-सी विशेषताएँ संसार के सामने आईं। खुदाई में प्राप्त हुई विविध सामग्रियों से भारतीय इतिहास तथा बिहार-प्रदेश की महत्ता पर अत्यन्त उद्दीप्त प्रकाश पड़ा और बौद्धधर्म-सम्बन्धी हमारी अभिरुचि जागरित हुई।

नालन्दा के खँड़हरों के उत्खनन-क्रम में ९ विहारों की खुदाई हुई थी। ये विहार दक्षिण से उत्तर की ओर बिलकुल सीध में फैले हुए हैं। सभी एक ही प्रकार के समचतुरस्र हैं।

१. पृ० १९३, १९५, १९७, १९८, १९९ और २०० द्रष्टव्य।

२. नालन्दे पाडै चौद चौमास सुणीजै। हीडा लोक प्रसिद्ध ते बड़गाँव कहीजै॥



नालन्दा के द्वार-स्तम्भ



गया से प्राप्त शिव-पार्वती-विवाह (पटना-संग्रहालय)



भगवान् बुद्ध के जीवन की विभिन्न मुद्राओं के दृश्य (बोधगया)

इनके आँगन के चारों ओर के कोष्ठक और बरामदे खुले हैं। कोष्ठकों में भी खिड़कियों के कहीं नाम नहीं हैं। इन सभी विहारों में से केवल दो विहारों के नैऋत कोण में ढालुए रोशनदान मुझे दिखाई पड़े, जो धूप और हवा के लिए बने होंगे। सभी की दीवारों की चौड़ाई एक-जैसी आठ फुट चौड़ी पाई गई है। प्रत्येक विहार के बाद और दूसरे विहार के आरंभ होने के पहले, बीच में, पश्चिम से पूर्व की ओर जाते हुए गलियारे-जैसे पक्के मार्ग बने हुए हैं। विहारों की बनावट में लगता है, जैसे कारीगरों ने एकरूपता रखने का प्रयास किया है, जिससे धार्मिक स्थापत्य की पवित्रता बनी रहे। नालन्दा के स्थापत्य में पानी बहानेवाली नालियाँ, दीवारों में बनी आलमारियाँ और ताखे, स्नानागार, शयनासन, अन्नागार, देवमन्दिर, पूजागृह, चिकित्सालय आदि आज भी स्पष्ट दीख पड़ते हैं। इन सभी वस्तुओं के अवलोकन से आभास मिलता है कि तत्कालीन वास्तुकला उत्कृष्टता के शिखर पर पहुँच चुकी थी। नालन्दा के उत्खनन को सम्पन्न करानेवाले डॉ० हीरानन्द शास्त्री का कहना है कि इन विहारों के नीचे भी विहार के अवशेष हैं; क्योंकि खुदाई के समय नीचे की भित्तियों के परिच्छादन उन्हें मिले थे।

महाविहारों के आँगन में

पहली संख्यावाला विहार सब से दक्षिण है। इसमें एक के ऊपर एक करके आठ विहारों के अवशेष हैं। पुरातत्त्ववेताओं का खयाल है कि काल-क्रम से एक को ढँककर दूसरा, और दूसरे को ढँककर तीसरा—इस तरह क्रमशः आठों विहार बने हैं। पर, ये आठों तहवाले विहारों के अवशेष गुप्तकाल के ही हैं। गुप्तकाल के पहले का एक भी विहार प्राप्त नहीं है। किन्तु, ध्यानपूर्वक देखने से ऐसा अनुमान होता है कि यह अठमंजिला विहार एक समय में ही बना; क्योंकि दीवारों और ईंटों की बनावट में अन्तर नहीं है।

यह विहार गुप्तकाल का प्रमुख विहार माना गया है। इसमें भिक्षुओं के शयनासन के लिए कंकरीट के बने चबूतरों की मुटाई दीवारों के बराबर है। एक कोठरी में एक या दो शयनासन बने हैं, जिनकी बगल में ही आलमारीनुमा ताखे हैं। ये आलमारियाँ भिक्षुओं की पुस्तकों और मूर्त्तियों के रखने के काम में आती होंगी। गुप्तकालीन इसी मुख्य विहार में समुद्रगुप्त, धर्मपाल और देवपाल के ताम्रपट्ट मिले थे। इसी विहार में यशोदेव बर्मन का शिला-लेख भी मिला था, जिसकी चर्चा इस पुस्तक में पहले की गई है[1]। देवपाल का ताम्रशासन उसके राज्यारोहण के ३८वें वर्ष में लिखा गया था, जो ८६१ ई० का है। इसमें इस बात का उल्लेख है कि देवपाल की सम्मति प्राप्त कर यवद्वीप के तात्कालिक राजा 'बलपुत्र-देव' ने नालन्दा में एक विहार बनवाया था, जिसकी आर्थिक व्यवस्था के लिए उसने देवपाल से मगध के पाँच गाँवों की आय उस विहार में, अग्रहार के रूप में, दिलवा दी थी। इसके साथ इसी विहार की खुदाई में भगवान् बुद्ध की एक ऐसी मूर्त्ति मिली, जिसकी ठीक प्रतिकृति की बुद्ध-मूर्त्ति यवद्वीप में भी मिली है। इन दोनों मूर्त्तियों की एकरूपता प्रमाणित करती है कि दोनों राजाओं की मैत्री प्रगाढ़ थी और इनके बीच सभी तरह का आदान-प्रदान चलता था।

---

१. पृ० २०० द्रष्टव्य।

बौद्धधर्म-सम्बन्धी विभिन्न वस्तुओं के साथ इस विहार में राजसिंहासन का एक पाया भी प्राप्त हुआ था, जो अष्टधातु का बना हुआ था। सिंहासन में जो चित्र उत्कीर्ण है, वह गजराज को दमन करते हुए मृगेन्द्र का है। सिंहासन के पास ही दो तूणीर और एक राजदंड भी प्राप्त हुए। शिरस्त्राण के टुकड़े भी वहीं बिखरे हुए मिले। साथ ही, अष्टधातु की बनी एक मूर्त्ति भी मिली थी, जिसके हाथ-पैर टूटकर वहीं पड़े हुए थे। पुरातत्त्वज्ञों का कहना है कि यह मूर्त्ति उसी राजा की होगी, जिसने इस विहार को बनवाया होगा।

इसी मुख्य विहार के पूर्वीय भाग के बीचोबीच एक ऐसा कोष्ठक मिला, जो निश्चित रूप से पूजागृह होगा। भगवान् बुद्ध की सबसे बड़ी मूर्त्ति इसी कोष्ठक में स्थापित थी, जिसका केवल निचला अंश ही यहाँ खुदाई में मिला। जितना अंश प्राप्त हुआ, उससे ज्ञात होता है कि यह मूर्त्ति भूमिस्पर्श-मुद्रा में थी—जैसी तेलिया-भंडारवाली मूर्त्ति है। इसी पूजावाली कोष्ठक के ठीक सामने प्रवेश-द्वार का भग्नावशेष भी प्राप्त हुआ था। द्वार की सोपान-पंक्तियाँ अपनी सुदृढ बनावट के कारण उत्तम दशा में मिली हैं। इसी हिस्से में देवपाल का वह पूर्वोक्त ताम्र-शासन प्राप्त हुआ था। विहार के दक्षिण-पश्चिम कोण में एक 'त्रैलोक्य-विजय' की मूर्त्ति पाई गई, जो नवीं या दसवीं सदी की बनी है। मूर्त्ति परम रमणीय, पर खण्डित अवस्था में है। यह मूर्त्ति उमामहेश्वर को पददलित करती हुई खड़ी है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि बौद्धों के देव शिव-पार्वती से श्रेष्ठ हैं, जिनके पैरों के नीचे हिन्दू-देवता पड़े रहते हैं। त्रैलोक्यविजय की यह मूर्त्ति नालन्दा के संग्रहालय में आज भी सुरक्षित है, जिसकी संग्रहालय-संख्या २° है।

इसी विहार के आँगनवाले उत्तर भाग में दो ऐसे कोष्ठक हैं, जिन्हें लोग अन्न-भांडार मानते हैं। कोष्ठक की मेहराबदार बनावट बड़ी लुभावनी और 'बराबर पहाड़ी' (गया) की गुफाओं की आकृतिवाली है। इसकी निचली छत कमानीदार है तथा ईंटों की मिलावट इतनी चिकनी है कि कारीगर के हाथों की सफाई देखते ही बन पड़ती है। इसके अतिरिक्त विहार के पूर्व-दक्षिण कोण के तथा पूजा-कोष्ठक के उत्तर भाग की दीवारों की ताखों में तारादेवी की कई मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई थीं, जो खुदाई के समय भी अभी-अभी की बनाई मालूम हो रही थीं। पुरातत्त्वज्ञों ने मूर्त्तियों के दमकते ओप की सुरक्षा के खयाल से, उन्हें उसी तरह, और वहीं, ईंटों से चुनकर ढाँप दिया है। जब दर्शक इस बात को सुनते हैं, तब उन मूर्त्तियों के दर्शन के लिए उनकी उत्कण्ठा और तीव्र हो जाती है तथा उनकी बनावट के सम्बन्ध में नाना तरह की कल्पनाएँ मन में उठने लगती हैं।

इस मुख्य विहार के दक्षिण-पश्चिम कोण में एक दूसरे विहार का भी उद्‌घाटन किया गया है। डॉ० हीरानन्द शास्त्री ने इस विहार को औषध-निर्माणशाला माना है। क्योंकि, औषधों के तैयार करनेवाले ईंटों के बने बहुत-से चूल्हे यहाँ प्राप्त हुए हैं। साथ ही एक बढ़िया दशा में इनारा भी मिला है। इस विहार में भगवान् बुद्ध की सुधामयी छोटी-बड़ी अनेक मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इसमें धान भी मिले, जिनका उपयोग शायद औषध-निर्माण

में होता होगा। चूल्हों के पास से ही एक ऐसी बड़ी पक्की नाली चलती है, जो दक्षिण-पश्चिम कोण से होते हुए स्तूपवाले आँगन के दक्षिणी भाग से गुजरती है। यह औषधशाला होने की बात को पुष्ट करती है। इसके अतिरिक्त एक बात और है, जो इस विहार को औषधशाला प्रमाणित करने में सहायक होती है। वह यह है कि इस विहार से थोड़ी दूर पर ही, स्तूपवाले हिस्से में, एक ऊँचे चबूतरे पर छोटे मंदिर में, विख्यात तांत्रिक और भिषगाचार्य 'नागार्जुन' की मूर्त्ति मिली थी। अनुमान किया जा सकता है कि औषधशाला के निर्माता और प्राचार्यों ने, अपने विहार के समीप, भिषगाचार्य नागार्जुन की मूर्त्ति स्थापित की होगी। किन्तु, उपर्युक्त विचार से मेरा मत कुछ भिन्न है। मेरे विचार से यह विहार धातुओं के गलाने तथा ढालने का कारखाना था; जहाँ मूर्त्तियाँ ढलती थीं। साथ ही, नागार्जुन के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वे सोना बनाने का काम जानते थे। इसलिए कारीगरों ने अपने आचार्य नागार्जुन की मूर्त्ति बगल में स्थापित की होगी।

प्रथम संख्यावाले मुख्य विहार से जब हम उत्तर की ओर बढ़ते हैं; तब देखते हैं कि विहारों की पाँतियाँ सीध में खड़ी हैं। जिस विहार के आगे सरकार की ओर से संख्या ४ की पट्टिका लगी है, उसका निचला भाग पाँचवीं सदी में गुप्तवंश के कुमारगुप्त ने बनवाया था। इसी हिस्से में कुमारगुप्त का सिक्का मिला था। इस विहार का ऊपरी तल्ला पालराजा देवपाल का बनवाया हुआ है, जो ८१० (८१५) ई० से ८५१ (८५४) ई० के मध्य में शासन करता था।

संख्या ५ वाला विहार, जिसे लोग 'पत्थरकट्टी' कहते हैं, संख्या ४ से थोड़ा ईशान कोण लिये की पूर्व ओर है। इसके पास तक जाने के लिए संख्या ४ की उत्तर बगल से एक स्वच्छ और बढ़िया पक्का कुट्टिम बना हुआ है। यह 'पत्थरकट्टी' किसी बड़े और ऊँचे मन्दिर का भग्नावशेष ज्ञात होता है, जिसका निचला तल अथवा कटिभाग का ध्वस्त अंश आज दीख पड़ता है। इसके प्रस्तर-आलेख-चित्र गुप्तकाल के बने हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि यह वही मंदिर है, जिसे बालादित्य ने बनवाया था। इस मन्दिर के मध्य में भगवान् बुद्ध की एक बड़ी प्रतिमा स्थापित थी। नालन्दा के प्रायः सभी विहार पश्चिमाभिमुख हैं; पर इस मंदिर का प्रवेशद्वार पूर्वाभिमुख था। प्रवेशद्वार की छोटी-छोटी सीढ़ियों का ध्वंस आज भी है। मंदिर के चारों ओर उपष्टम्भ भाग में पत्थर की पट्टियों पर नाना ढंग के चित्र उत्कीर्ण हैं। इनमें कुछ आलेख-चित्र 'जातक कहानियों' के आधार पर और कुछ संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर काढ़े गये हैं। ऐसी आलेखपूर्ण पट्टियों की संख्या लगभग २१० है। इन पट्टियों के बीच-बीच में चतुष्कोण स्तम्भों पर पल्लवयुक्त कुंभ की आकृति खचित है। पल्लवों के खण्ड प्रायः त्रिदल और नुकीले हैं। पट्टियों में कई तो बिलकुल नष्ट हो गई हैं और कुछ नष्ट हो रही हैं। कुछ ऐसी हैं, जो चित्ताह्लादक और आश्चर्य में डालनेवाली हैं। हंसों की आकृतियाँ कलापूर्ण हैं, जिनकी चोंच में मोतियों के गुच्छे झूल रहे हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अपरिचित और विविध पक्षियों के चित्र उत्कीर्ण हैं। कुछ आलेख मिथुन रूप में पुरुष और नारी के हैं, जो शृंगार-रसभरित अपने अंग-विन्यासों के कारण अलङ्कृत

मनोमोहक हैं। ऐसे भी मिथुन-चित्र हैं, जो शिव-पार्वती के चित्र-जैसे लगते हैं। दक्षिण की अररियों में किन्नर-किन्नरियों के चित्र भावविभोर करनेवाले हैं। इस ओर गजलक्ष्मी, कुबेर और अग्नि-देवता के चित्र भी दीख पड़ते हैं। मृदंग बजाते हुए नर्त्तक और नृत्य मुद्रा-युक्त नर्त्तकी के चित्र तो दर्शकों के मन-प्राण पर एकाएक छा जाते हैं। उत्तर की अररियों में से एक पट्टिये पर 'कच्छप-जातक' की उस कहानी का चित्र खचित है, जिसमें कछुए और दो हंसों की कहानी है। दो हंस अपने चंचुओं में लकड़ी पकड़े उड़ रहे हैं और कछुआ मुँह से लकड़ी को थामे हुए है। यह कहानी 'पंचतंत्र' में भी मिलती है। पूर्वीय भाग के उत्तर की ओर गुप्तकाल की ब्राह्मी लिपि में एक लेख भी वर्त्तमान है।

उपर्युक्त मंदिर के चित्रों को देखने से ज्ञात होता है कि ह्वेनसांग ने नालन्दा की दीवारों पर के जिन चित्रों की चर्चा की है, वह शायद इसी 'पत्थरकट्टी' वाले भाग का संस्मरण है। नालन्दा में जब वह आया था, तब वह बालादित्य के इसी विहार में ठहरा हुआ था। इस मंदिर का उत्खनन अभी बाकी है। इसके ऊपरी सतह देखने से ज्ञात होता है कि जब इस मन्दिर का उद्‌घाटन किया जायगा, तब अनेक कलापूर्ण सामग्री प्राप्त हो सकेगी, जो नालन्दा के इतिहास में चार चाँद लगा देगी।

संख्या ६ वाले विहार की बनावट भी संख्या ४ वाले महाविहार के सदृश ही समचतुरस्र है। इसमें भी चूल्हों की पंक्तियाँ हैं। इसके साथ इसमें एक आठ पहलवाला पक्का इनारा भी है। इसकी बनावट से ज्ञात होता है कि आठ व्यक्ति एक साथ इस इनारे से पानी निकालते होंगे और जिस बरतन से पानी निकाला जाता होगा, उसका घर्षण इनारे की दीवार से नहीं होता होगा। चूल्हा या तो भोजन तैयार करने या वैज्ञानिक प्रयोग करने के काम में आता होगा। संख्या ७ वाले विहार की खुदाई से ज्ञात हुआ है कि एक के नष्ट होने पर दूसरा और दूसरे के नष्ट होने पर तीसरा तथा इस तरह एक-पर-एक करके तीन विहार बने हैं। इस विहार का पूजागृह दर्शनीय है और मध्य आँगन में ही चूल्हा बना है। संख्या आठ का विहार भी उसी आकार-प्रकार में है। इसमें भी आठ पहलवाला इनारा है। इसके पूजागृह तथा दक्षिण-पश्चिम के कोष्ठक की बनावट आकर्षक है। सभी विहारों की तरह इसमें भी पूर्व की ओर सभा-मंच है, जहाँ बैठकर विद्वान् भिक्षु भाषण करते थे तथा उनके बीच शास्त्रार्थ होता था। इन्हीं सभामंचों में किसी एक पर 'चन्द्रगोमिन' और 'चंद्रकीर्त्ति' का वह प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ होगा।

इस विहार से भी उत्तर संख्या ९ वाला विहार है। इसमें छह चूल्हे, अठपहला इनारा, मूर्त्तियाँ आदि मिले हैं। इस जगह की नाली बिलकुल ढालु और बड़ी है। ज्ञात होता है कि यहाँ पानी का खर्च बहुत ज्यादा था। इस विहार के पूर्व भाग के गलियारे में स्नानागार मिला है, जो विशिष्ट व्यक्तियों के स्नान के लिए बना होगा। इसमें सीढ़ियों के पास कोने पर रोशनदान भी दीख पड़ता है। इसी विहार में धातु की ढली बहुत-सी मूर्त्तियाँ

प्राप्त हुई थीं, जो प्रायः दसवीं सदी की बनी हुई हैं। इस काल में नालन्दा नगर पर पालराजा राज्यपाल, गोपाल द्वितीय, विग्रहपाल द्वितीय और महीपाल का शासन था।

उपर्युक्त विहारों के आमने-सामने, पश्चिम भाग में, दक्षिण से उत्तर की ओर फैले स्तूपों की कतार भी दर्शनीय है। देखने से ऐसा लगता है कि जैसे प्रत्येक विहार के निर्माता के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने विहार के सामने एक स्तूप या चैत्य बनावे।

स्तूप या चैत्य इन चैत्यों के भग्नावशेष पर मिट्टी की बनी बुद्ध की ध्यान-मुद्रावाली मूर्त्ति रहती थी, जिनका ध्वंस आज भी दीख पड़ता है। ये स्तूप या चैत्य प्रसिद्ध भिक्षुओं के शरीरावशेष को ढँकने के लिए अथवा ऋषियों के प्रवचन-स्थान के स्मारक के रूप में बनते थे। स्तूपों की रचना अर्धगोलाकार होती थी और शिखर पर एक या कई छत्र-जैसा होता था। इसके चारों ओर वेष्टन-वेदिका होती थी। बड़े स्तूप के चारों ओर छोटे-छोटे स्तूप खड़े किये जाते थे, जो बौद्ध भक्तों के द्वारा बनवाये होते थे।

उपर्युक्त स्तूपों में अभी केवल सबसे दक्षिणवाले स्तूप का ही उद्घाटन हो सका है। पुरातत्त्वज्ञों का अनुमान है कि यह स्तूप उस स्थान पर बना है, जहाँ बैठकर भगवान् बुद्ध ने नालन्दा में प्रवचन किया था; क्योंकि उद्घाटन के समय स्तूप के अन्दर से किसी प्रकार का शरीरावशेष नहीं प्राप्त हुआ। उत्खनन से पता चला कि इस स्तूप का परिच्छादन एक-पर-एक करके चार या पाँच बार हुआ है। इसमें विभिन्न काल का बना सोपान प्राप्त हुआ है, जो स्तूप के शिखर तक चला जाता है। आँगन में चारों ओर चैत्यों का जमघट लगा है। इस स्तूप के अग्निकोण में एक चबूतरे के ऊपर छोटे मन्दिर में, महायान-धर्म के प्रवर्त्तक और प्रसिद्ध तान्त्रिक 'नागार्जुन' की एक बड़ी पाषाण-मूर्त्ति मिली थी, जो थोड़ा खण्डित है। यह मूर्त्ति हर्षवर्द्धन के समय सातवीं सदी की बनी है। मूर्त्ति लीलासन में बैठी है। इसके मस्तक को सात फणोंवाला सर्पराज आच्छादित किये हुए है। मूर्त्ति में एक छोटा-सा लेख भी खुदा है। यह मूर्त्ति अब नालन्दा-संग्रहालय में स्थित है, जिसकी संख्या ४ है।

स्तूप की पूर्वी-उत्तरी दिशा की दीवार में बलुआही पत्थर की बहुत-सी मूर्त्तियाँ स्थित हैं, जो अब नष्ट हो रही हैं और बहुत-सी नष्ट हो गई हैं। स्तूप के दक्षिण-पश्चिम कोण में बहुत-सी बुद्ध-मूर्त्तियाँ मिली थीं, जो अब संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही हैं। ये मूर्त्तियाँ अन्तिम गुप्तकाल की बनी हुई हैं। इसी स्तूप के पश्चिम ओर के छोटे-छोटे स्तूपों से चौकोर ईंटें निकाली गई थीं, जो गुप्तकालीन हैं। इन ईंटों पर बौद्धधर्म का प्रसिद्ध सूत्र 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का उल्लेख है। इसकी टीका संस्कृत-भाषा में है, जो गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में है। इससे पहले संस्कृत-भाषा में प्रतीत्यसमुत्पाद की टीका कहीं नहीं मिली है। इस सूत्र में बुद्धत्व-प्राप्ति की चर्चा भी की गई है। इस स्तूप की तरह यदि अन्य स्तूपों की भी खुदाई हो, तो अनेक अमूल्य सामग्री प्राप्त हो सकती है। १३ सं० वाले स्तूप के ईशान कोण में स्वस्तिक आकार का बना एक अठमुँहा चूल्हा दर्शनीय है। १४ संख्यावाला स्तूप 'तेलिया-भंडार' के वायव्य कोण में है। इसकी स्थापत्य-कला अत्यन्त रमणीय है, जो इसके उत्तर की दीवार में देखी जा सकती है।

उत्खनन से प्राप्त होनेवाली कुछ मूर्त्तियों की चर्चा करने के पहले उन मूर्त्तियों की चर्चा आवश्यक है, जो जमीन पर पड़ी हैं। इन्हीं मूर्त्तियों में तेलिया-भंडार वाली बुद्ध-मूर्त्ति भी है। यह उत्तर दिशा के अन्तिम विहार से पश्चिम और स्तूप-संख्या १३ से पूरब स्थित है। यह मूर्त्ति एक प्राकार के मध्य में भूमिस्पर्श-मुद्रा में है। यह मुद्रा (आसन) वही है, जिसे 'उरुवेला' के पीपल-वृक्ष के नीचे, ज्ञान प्राप्त करने का संकल्प करके, सिद्धार्थ गौतम ने जमाया था। उन्होंने कमलासन में बैठकर भूमि को स्पर्श करते हुए दृढ संकल्प किया था कि 'हे पृथ्वी, यदि मैं पापी न होऊँ, तो आज बुद्धत्व प्राप्त कर लूँ।' इस दृढ संकल्प के कारण इस आसन को 'वज्रासन' भी कहा जाता है। मूर्त्ति के मुखभाग के किंचित् अंश टूट जाने से आकृति कुछ विकृत हो गई है; पर और अंग सुरक्षित हैं। वहाँ वाले इस मूर्त्ति को 'तेलिया भैरव' कहते हैं, जिससे इस स्थान का नाम ही तेलिया-भंडार पड़ गया है। मूर्त्ति काले पत्थर की है, जो तेलिया-पत्थर भी कहलाता है। जब भगवान् बुद्ध 'भैरव' बन गये, तब लोगों ने तेलिया-पत्थर के कारण इसकी थोड़ी और पद-वृद्धि कर दी तथा यह बुद्ध-मूर्त्ति 'तेलिया भैरव बाबा' बन गई। जिन लोगों के बच्चे जब दुबले हो जाते हैं, तब वे अपने बच्चों को उस विशाल मूर्त्ति के पास लाते हैं और उनसे पूजा कराते हैं। वे इस मूर्त्ति से इस बात की माँग करते हैं कि 'हे भैरव बाबा, मेरे बच्चे को अपने सदृश मोटा-ताजा बना दो।' वहाँ के लोगों का पूर्ण विश्वास है कि यह मूर्त्ति अवश्य मनस्कामना पूरी करती है। मुझसे भी लोगों ने इसकी ऐसी महिमा का बखान किया था।

मूर्त्तियाँ

नालन्दा-संग्रहालय में धर्मचक्र-मुद्रा में भगवान् बुद्ध की जो बड़ी प्रतिमा स्थित है और जिसकी संख्या ११ है, वह मूर्त्ति तेलिया-भंडार से थोड़ी दूर पर ही स्थित थी। यह सन् १९५६ ई० में संग्रहालय में ले जाई गई है। यह विशालकाय मूर्त्ति ११वीं या १२वीं सदी की बनी है। मूर्त्ति के पार्श्वरक्षक के रूप में, दोनों ओर, अवलोकितेश्वर और मैत्रेय की मूर्त्तियाँ अंकित हैं। ऊपर में उड़ते हुए सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन दिखाये गये हैं। इन चारों के नाम भी मूर्त्ति पर खुदे हैं। राजगृह की गलियों में घूमते हुए सारिपुत्र को बुद्ध के शिष्य 'अश्वजित्' ने पालि-भाषा का जो श्लोक[1] सुनाया था, वह अनुष्टुप् भी इस मूर्त्ति पर अंकित है।

यह मूर्त्ति जब तेलिया-भंडार के पास मैदान में पड़ी हुई थी, तब पता नहीं, कितने सौ वर्षों से इसकी घोर दुर्दशा हो रही थी। इसे लोग 'ढेलुवा बाबा' कहते थे। इस मूर्त्ति के पास से गुजरनेवाला प्रायः हर व्यक्ति इसे मिट्टी के ढेलों से पीटता था। किंवदन्ती थी कि ढेलों से पीटनेवाले का दुःख यह दूर करता है। यह ढेलुवा बाबा भगवान् के पास जाकर उनसे कहता है कि शीघ्र ही ढेलों से मारनेवाले का दुःख आप दूर कर दें, नहीं तो मुझे वह और मारेगा। फिर भी बेचारी मूर्त्ति को कभी राहत नहीं मिली, निरन्तर ढेलों की वर्षा

१. ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमणो॥

यह बरदाश्त करती ही रही। किन्तु, सन् १९५६ ई० के बाद इसके भी दिन फिरे और संग्रहालय में जाकर अब पाँचो देवता (बुद्ध सहित सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, अवलोकितेश्वर, और मैत्रेय) चैन की वंशी बजा रहे हैं।

तेलिया-भंडार से कुछ दूर ईशानकोणवाले खेतों में एक और विशाल मूर्त्ति पड़ी है, जो बौद्धदेवी मारीची की मूर्त्ति है। यह आलीढ-मुद्रा में खड़ी है। मूर्त्ति परम रमणीय है, पर इसके भी हाथ टूटे हैं। लोग इस मारीची को भी हिन्दू-देवी के रूप में पूजते हैं।

उत्खनन से प्राप्त होनेवाली मूर्त्तियों की चर्चा के बिना नालन्दा का परिचय अधूरा-सा रहेगा। नालन्दा-संग्रहालय में स्थित मूर्त्तियों में बौद्धदेवी *अपराजिता* की एक मूर्त्ति है, जो नवीं या दसवीं सदी की बनी है। इसकी संख्या २५ है। यह मूर्त्ति विघ्ननाशक गजवदन गणेश के शरीर को पददलित करती हुई खड़ी दिखाई गई है। संग्रहालय-संख्या ३७ वाली मूर्त्ति *रेवन्त* की है। यह भी नवीं-दसवीं सदी की ही है। यह अश्वारूढ है। संख्या ४५ वाली मूर्त्ति हिन्दू-देवता *सूर्य भगवान्* की है। यह उत्तम कोटि की कलापूर्ण मूर्त्ति है। सूर्य अपने सात घोड़ेवाले रथ पर आरूढ हैं और साथ में पार्श्वरक्षक भी विद्यमान हैं। इसके बाद मनोमोहक मूर्त्तियों में बौद्धदेवी *मारीची* की मूर्त्ति है, जो अपने *पिचुवारूप* में है। यह भी नवीं या दसवीं सदी की ही है और इसकी संख्या २७ है। मूर्त्ति अष्टभुजी है। यह अपने सभी हाथों में विभिन्न शस्त्र धारण किये हुई है। यों तो यहाँ की अधिकांश मूर्त्तियाँ वज्रयान-काल की ही हैं, पर संग्रहालय की *वज्रपाणि* वाली मूर्त्ति वज्रयान-सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करती है। इसका भी निर्माण-काल वही है और संख्या २८ है। वज्रपाणि मुद्रा साधनेवाली चार नारियों से घिरे हुए हैं, जो सूचित करती हैं कि वज्रसाधक महामुद्राओं में चतुर्दिक् निमग्न होकर ही सिद्धि लाभ कर सकता है। चारों नारियों में से दो ऊपर और दो नीचे दिखाई गई हैं। एक और *वज्रपाणि* की मूर्त्ति आकर्षक है, जो त्रिमुख है। इसमें वज्र के साथ दो महामुद्रा साधनेवाली नारियों के चित्र भी उत्कीर्ण हैं। इसकी संख्या १५ है और यह भी वज्रयानियों का ही प्रतिनिधित्व करती है। भगवान् बुद्ध की एक और मूर्त्ति दर्शनीय है, जिसके चारों ओर पाँच पद्म-पुष्पों पर पाँच देवता आरूढ दिखाये गये हैं और बीच में बुद्ध। इसके परिचय में लिखा हुआ है—*श्रावस्ती का चमत्कार*। इसकी संख्या १४ है और यह भी नवीं-दसवीं सदी की ही है। एक मूर्त्ति प्रत्यालीढ-आसन में *यमान्तक* की है। यह अद्भुत और आकर्षक मूर्त्ति नाथे हुए भैंसे पर प्रत्यालीढ-आसन में बैठी है। इसका निर्माण भी नवीं या दसवीं सदी में ही हुआ है और इसकी संख्या १३ है। इसके मुख पाँच और भुजाएँ छह हैं। मूर्त्ति के मस्तक को अपने फण से महासर्प आच्छादित किये हुए है। मूर्त्ति सचमुच अद्भुत और भयानक भी है।

इस संग्रहालय में एक पाषाण-निर्मित मंदिर की ठोस मूर्त्ति स्थित है, जो बोधगया-मन्दिर की आकृति की है। इसकी संख्या १६ है, और यह मन्दिर भी नवीं या दसवीं सदी का ही है। मन्दिर के ऊपर सर्वत्र भगवान् बुद्ध की जीवनी के आधार पर चित्र उत्कीर्ण हैं।

ग्यारहवीं या बारहवीं सदी की अपनी अद्भुत कलापूर्ण बनावट के कारण *उमा-महेश्वर* की मूर्त्ति बड़ी ही लुभावनी है। मूर्त्ति की बगल में जहाँ बसहा बैल की मूर्त्ति दर्शनीय है, वहीं एक ओर कीर्त्तिमुख की छवि भी आकर्षक है। इस मूर्त्ति में वात्सल्य और शृंगार का सामंजस्य अपूर्व है। इस संग्रहालय में आकर्षक मूर्त्तियों में एक *दैत्याकार नट* की मूर्त्ति भी अपनी अलग विशेषता रखती है। यह भी नवीं या दसवीं सदी की ही है। नट के एक हाथ में ढाल है और इसकी पैंतरेबाज मुद्रा दर्शकों के मन में हास्य और आश्चर्य का पुट एक साथ भर देती है।

नवीं या दसवीं सदी की बनी एक *सूकर-मूर्त्ति* भी इस संग्रहालय में दर्शकों को अपनी ओर बरबस आकृष्ट कर लेती है। संग्रहालय-संख्या ६ वाली मूर्त्ति *बोधिसत्त्व समन्तभद्र* की है। यह मूर्त्ति प्रधान स्तूप के उत्खनन में आँगन के ईशान कोण में मिली थी। यह सातवीं या आठवीं सदी की बनी है। समन्तभद्र की इस मूर्त्ति में अगल-बगल शक्तियाँ (नारियाँ) के चित्र भी उत्कीर्ण हैं। इसके मस्तक पर वैरोचन की मूर्त्ति है और पृष्ठ पर ध्यानी बुद्ध खचित हैं। संख्या ७ वाली मूर्त्ति १२वीं सदी की है, जब वज्रयान-सम्प्रदाय में नाना देव-देवियों ने अड्डा जमा लिया था। यह मूर्त्ति *खसर्पण अवलोकितेश्वर* की है। इस मूर्त्ति की बाईं ओर हयग्रीव और भृकुटी देवी हैं और दाईं ओर तारा देवी एवं सुधनकुमार की मूर्त्ति उत्कीर्ण है। इसके प्रभा-मण्डल पर पाँच ध्यानी बुद्ध विराजमान हैं। इस मूर्त्ति के शरीर में विविध आलेखनों से पूर्ण आभूषणों की छटा दर्शनीय है। एक पाषाण-मूर्त्ति *कलशधारिणी नागिन* की है। यह भी उत्खनन में ही प्राप्त हुई थी। यह भी नवीं या दसवीं सदी की ही होगी। इसकी संग्रह-संख्या ७७ है। इसकी बनावट ही ऐसी है, जिससे ज्ञात होता है कि प्रासाद-कक्ष की वल्लभियों में से किसी एक का यह टूटा अंश है। आकर्षक मूर्त्तियों में *वसुधारा* की मूर्त्ति भी अपना जोड़ नहीं रखती है। यह अर्द्धपर्यंक-आसन में मयूर पर आरूढ़ है। मयूर बाईं ओर दिखाया गया है। इसकी संख्या ५१ है और यह मूर्त्ति भी नवीं या दसवीं सदी की ही है।

उपर्युक्त पाषाणमयी सभी मूर्त्तियाँ नालन्दा-विहार की खुदाई के समय प्राप्त हुई थीं। किन्तु इनके अतिरिक्त बहुत-सी काँसे की मूर्त्तियाँ भी मिली हैं, जिनमें से कुछ नालन्दा के संग्रहालय में हैं। अन्य सामग्री के साथ कुछ काँसे की मूर्त्तियाँ भी कलकत्ता और पटना के संग्रहालय में चली गई हैं। नालन्दा के संग्रहालय की काँसे की मूर्त्तियों में कुछ आकर्षक मूर्त्तियों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट किया जाता है।

संग्रह-संख्या ५४ वाली मूर्त्ति *प्रज्ञापारमिता* की है। वज्रयान की इस देवी-मूर्त्ति की द्वादश भुजाएँ बड़ी ही आकर्षक हैं। यह भी नवीं या दसवीं सदी की ही है। इसकी पीठ पर बुद्धतंत्र खुदा है। काँसे की ही एक और मूर्त्ति लुभावनी है, जो *वज्रशारदा* की है। इसकी संग्रह-संख्या ५ है और यह आठवीं सदी की है। मूर्त्ति भद्रासन में बैठी है और चार पुरुषों से घिरी है। इसकी भुजाओं में केयूर, कमर में करधनी और वक्षःस्थल

पर मणिमाला दर्शनीय है। अष्टधातु का बना एक *कलापूर्ण हाथ* दर्शकों को अपनी भंगिमापूर्ण तर्जनी से अपनी ओर बुलाता हुआ दिखाई पड़ता है। थोड़ी देर के लिए यह आँखों की टकटकी अपनी ओर बाँध देता है। यह दसवीं सदी का है। संख्या १७० वाली मूर्त्ति *सरस्वती* की है। यह काँसे की बनी है और नवीं या दसवीं सदी की है। मूर्त्ति की भंगिमा आकर्षक है। यह रक्तकी वीणा के साथ स्थित है। काँसे की ही *गंगा* की छोटी-सी मूर्त्ति अत्यन्त लुभावनी है। इसकी संख्या २८ है और यह भी नवीं या दसवीं सदी की है। गंगा मकर पर आरूढ हैं और भंगिमा चित्ताह्लादक है। *वीणावादी किन्नर* की मूर्त्ति की संख्या ३६ है। यह भी काँसे की ही है। आकार में यह भी छोटी और रमणीय है। इसकी भंगिमा बड़ी ही रोचक और कलापूर्ण है। इन्द्रशाल गुफा के द्वार पर जिस पंचशिख गन्धर्व-पुत्र ने भगवान् बुद्ध को वीणावादन सुनाया था, ज्ञात होता है, उसी की मूर्त्ति किसी बुद्ध-भक्त ने बनवाई होगी।

बौद्धों के देव *जंभल* की एक मूर्त्ति भी ललितासन में बैठी है। जंभल हिन्दुओं के महावीर के सदृश बौद्धों का देव है। इस मूर्त्ति की पीठ पर बुद्ध-तंत्र के साथ दानी का नाम भी खुदा है। इसकी संख्या ११५ है और यह भी नवीं या दसवीं सदी की ही है। संग्रह-संख्या १६६ वाली मूर्त्ति भी नवीं या दसवीं सदी की ही है। यह *कृशोदरी चामुंडा* है। इसका मुँह खण्डित हो गया है; किन्तु आठ भुजाएँ दर्शनीय हैं। मूर्त्ति शिव को पददलित कर रही है। यद्यपि यह मुखहीन मूर्त्ति है; तथापि अपने शेष अंगों के भाव-विन्यासों और अपनी कलापूर्ण भंगिमाओं से दर्शकों की आँखों को रसाप्लावित कर देती है। इसके लुप्त मुखमंडल की शोभा देखने के लिए मन विकल हो उठता है। इस संग्रहालय में सबसे छोटी नन्हीं-सी काँसे की बनी मूर्त्ति बौद्धदेवी *मारीची* की है। यह भी नवीं या दसवीं सदी की ही है और इसकी संख्या १६२ है। इस मूर्त्ति के रचनेवाले कलाकार के हाथों की शिल्पकारिता सचमुच श्लाघ्य है। यह अष्टभुजी है और कमलासन में बैठी हुई है। इसके अतिरिक्त संख्या ६७ वाला तुंदिल *जंभल* भी दर्शनीय है। यह अर्द्धपर्यंकासन में स्थित है। इन समस्त मूर्त्तियों के अतिरिक्त भी भगवान् बुद्ध आदि की बहुत-सी दर्शनीय मूर्त्तियाँ हैं, जो नालन्दा के अतीत गौरव की हमें याद दिलाती हैं। इस तरह न जाने अभी गौरव का कितना भारी भांडार नालन्दा के गर्भ में छिपा हुआ है।

मृत्तिका-मुद्राएँ

उपर्युक्त सामग्री और मूर्त्तियों के अतिरिक्त जो बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री खुदाई के समय नालन्दा के खँड़हरों से हमें प्राप्त हुई है, वे हैं— मिट्टी की मुद्राएँ। हमारे इतिहास में इनका बहुत बड़ा महत्त्व है। इनकी चर्चा के बिना तो नालन्दा की खुदाई का परिचय अपूर्ण ही रह जायगा। ये मिट्टी की मुद्राएँ विविध प्रकार की हैं। नालन्दा-विश्वविद्यालय की धर्मचक्र-प्रवर्त्तनवाली मुद्रा तो हजारों की संख्या में मिली है। किन्तु आश्चर्य यह है कि इनका साँचा नहीं प्राप्त हुआ है। कई मुद्राएँ तो महाराजाओं की हैं और कई बड़े-बड़े राज्या-

धिकारियों की ओर से भेजी गई हैं। कुछ जानपद संस्थाओं की ओर से आई हैं, जो सातवीं सदी के अक्षरों में अंकित हैं। जान पड़ता है, म्युनिसिपल बोर्ड की तरह जगह-जगह जानपद[1] संस्थाएँ सातवीं सदी में भी कायम थीं। कई तो महान् विद्वानों की ओर से भेजी गई हैं। महाराजाओं की मुद्राओं में गुप्तों, मौखरियों, हर्षवर्द्धन, प्राग्ज्योतिष के राजा भास्करवर्मा तथा अन्यान्य अधिपतियों की हैं। गुप्त-नरेशों की मुद्राएँ गुप्तों की वंशावली पर पूर्ण प्रकाश डालती हैं। मौखरिनरेश शर्ववर्मा की मुद्रा अपनी कलाकारिता के कारण दर्शनीय है। गुप्त-राजाओं के सिक्कों के सदृश कुछ मुद्राओं पर छन्दों या वृत्तों का उल्लेख है। ये मृत्तिका-मुद्राएँ पत्रों के साथ रस्सी या तागे में बाँधकर प्रामाणिकता के लिए नालन्दा-विश्वविद्यालय में भेजी जाती थीं। कई मुद्राओं को तोड़ने पर पाया गया कि उनके भीतर बुद्ध के धर्म का सारश्लोक टंकित है। इससे ज्ञात होता है कि ये मुद्राएँ तीर्थस्थानों में चढ़ावे के तौर पर भी चढ़ती थीं। कुछ मुद्राएँ स्तूपाकार हैं, जिन पर मैत्रेय और अवलोकितेश्वर की मूर्त्तियाँ अंकित हैं। नालन्दा-विश्वविद्यालय की धर्मचक्र-प्रवर्त्तनवाली मुद्राओं पर धर्मचक्र के दोनों ओर दो शान्त मृग उत्कीर्ण हैं। यह प्रतीक नालन्दा-महाविहार का था, जो ज्ञान-प्रचार और शान्ति की सूचना देता था। इससे यह समझा गया है कि जिस तरह सारनाथ में भगवान् बुद्ध ने धर्म-प्रचार का चक्र चलाया था, उसी तरह नालन्दा-विश्वविद्यालय बौद्धधर्म-प्रचार का चक्र चला रहा है। नालन्दा के खँडहरों से प्राप्त और नालन्दा-संग्रहालय में सुरक्षित कुछ मुद्राओं का परिचय निम्नलिखित है—

महाराजाओं की मुद्राओं में सबसे प्राचीन कुमारगुप्त (तृतीय) की मुद्रा है, जो पाँचवीं सदी की है और जिसकी संख्या २७'१७४६ है। इसके बाद नरसिंहगुप्त बालादित्य की राजकीय मुद्रा है, जो ५वीं सदी की है और जिसकी संख्या २७'१७३६ है। फिर पाँचवीं सदी की ही बुधगुप्त की राजकीय मुद्रा है, जिसकी संख्या २७'१७४७ है। छठी सदी की ही विष्णुगुप्तवाली मृत्तिका-मुद्रा की संख्या २७'१७८७ है। छठी सदी की वैन्यगुप्त की भी राजकीय मुद्रा है और इसकी संख्या २७'१७८८ है।

सम्राट् हर्षवर्द्धन की राजकीय मुद्रा सबसे बड़ी है। बाणभट्ट ने हर्षचरित के सातवें उच्छ्वास में ऐसी ही मुद्रा का वर्णन करते हुए लिखा है कि हर्ष जब युद्ध-प्रयाण के लिए निकल रहा था, तब ग्रामाक्षपटलिक ने शासन-दान के निमित्त उसके हाथ में राजकीय मुद्रा दी। वह मुद्रा हर्ष के हाथ से सामने रखी गीली मिट्टी के पिण्ड पर अपने-आप गिर गई और सरस्वती नदी के किनारे की मुलायम मिट्टी पर उसके अक्षर स्पष्ट उभर आये, जिसे राज्याधिकारियों ने अमंगल समझा था। इससे प्रमाणित होता है कि नालन्दा की मृत्तिका-मुद्रा भी उसी तरह मुद्रांकित है, जिसे युद्ध-प्रयाण के समय शासन-दान में हर्ष अंकित करना चाहता था। यह सातवीं सदी की मुद्रा है और इसकी संख्या २७'२०११ है। सातवीं सदी की ही गया जिले के निवासी शर्ववर्मन् मौखरिनरेश की भी कलापूर्ण मुद्रा इस

१. इस पुस्तक के पृ० ४४ की पाद-टिप्पणी द्रष्टव्य।

संग्रहालय में है, जिसकी संख्या २७'१७७६ है। सातवीं सदी की ही मृत्तिका-मुद्रा कामरूपाधिपति भास्करवर्मा की भी है। भास्करवर्मा हर्षवर्द्धन का परम प्रिय मित्र था, और जिसने नालन्दा से ह्वेनसांग को दबाव डालकर अपने यहाँ बुलाया और सम्मानित किया था। बहुत संभव है कि यह वही मुद्रा हो, जिसे भास्करवर्मा ने ह्वेनसांग को नालन्दा से बुला लाने के लिए अपने पत्र में बाँधकर भेजा था। इस मुद्रा की संख्या २७'१८४० है।

नालन्दा-विश्वविद्यालय की मृत्तिका-मुद्रा के ऊपर में धर्मचक्र का चिह्न बना है और चक्र के दोनों ओर दो शान्त मृग बैठे दिखाये गये हैं। मुद्रा में नीचे लिखा है—*श्रीनालन्दा-महाविहारीय आर्यभिक्षुसंघस्य।*

जानपद या ग्राम तथा अधिकारियों की मुद्राओं को देखने से अनेक बातों का स्पष्टीकरण हो जाता है। जैसे एक मुद्रा में लिखा है—*जकुटका जानपदस्य*। दूसरे में है—*दण्डग्रामीय जानपदस्य।* तीसरे में—*अलोकपृष्ठ ग्राम जानपदस्य।* चौथे में है—*कालीग्रामकीय जानपदस्य।* इसी तरह पाँचवें में है—*चण्डकेय ग्राम जानपदस्य।* इनमें जकुटका, दण्डग्राम, अलोकपृष्ठग्राम, कालीग्राम और चण्डकेय ग्रामों का अन्वेषण होना चाहिए।

कुछ आधिकरणिक मुद्राएँ भी अपनी स्थिति के अन्वेषण के लिए पुरातत्त्व-प्रेमियों की बाट जोहती हैं। जैसे एक पर टंकित है—*गयाविषय अधिकरणस्य।* दूसरे पर है—*नगरभुक्तौ कुमारामात्य अधिकरणस्य।* तीसरे पर है—*मगधभुक्तौ कुमारामात्य अधिकरणस्य।* चौथे पर उल्लिखित है—*राजगृहे विषयाधिकरणस्य*। पाँचवें पर लिखा है—*शोण आन्तराल विषय अधिकरणस्य।* छठे पर उल्लेख है—*क्रमिला विषये सप्रधानस्य।* इसी तरह सातवें पर लिखा है—*गय अधिष्ठानस्य।* इनमें गया, नगरभुक्ति, मगधभुक्ति, राजगृह, शोणान्तराल, क्रमिला आदि ऐसे स्थान थे, जहाँ अधिकारी रहते थे और अपनी मुद्राओं के साथ नालन्दा में पत्र भेजते थे। ज्ञात होता है, जो व्यक्ति, संस्था, जानपद अथवा राज्याधिकारी नालन्दा महाविहार में दान की रकम भेजते थे या अन्य संवाद भेजते थे, उनके साथ पत्रों में ये मुद्राएँ बाँधकर आती थीं।

नालन्दा-संग्रहालय में कुछ और मुद्राएँ भी हैं, जो ध्यान देने योग्य हैं। एक पर दाईं ओर मयूर का चित्र अंकित है और लिखा है—*वल्लदीहित्याहट्टमहाजनस्य।* इसी तरह एक पर बाईं ओर सिंह अंकित है और नीचे लिखा है—*श्रीसागरसिंहस्य।* यह किसी राज्य के उच्चाधिकारी की मुद्रा ज्ञात होती है। फिर एक और ऐसी ही मुद्रा है। उसमें भी बाईं ओर सिंह अंकित है और नीचे *मानसिंह* नाम अंकित है। एक और ऐसी मुद्रा है, किन्तु इस पर सिंह अंकित नहीं है और लिखा है—*क्रमिला विषये कचालग्रामे विषयमहत्तमा नरस्वामिनः।*

संयुक्त मुद्राएँ चार हैं, जिनपर बाईं ओर जनपद का चिह्न है और आश्रम का चिह्न दाईं ओर है। एक पर लिखा है—*भट्टपुत्रनेकस्य, हर्षकस्य, तश्रीवस्य।* श्रीदुर्लभराज वाली मुद्रा में ऊपर त्रिशूल अंकित है। एक पर तीन नाम हैं—*गणकर्मदेव, श्रीमित्र* और *जनश्रीमित्र।* एक पर कुछ चिह्नों के साथ केवल यही लिखा है—*रहलस्य।* एक पर नीचे

लिखा है—*मल्लातवाटक अग्रहारे श्रीमत् त्रैविद्यस्य*। दूसरे पर ऊपर में ब्रह्मा की मूर्त्ति अंकित है और नीचे लिखा है—*श्रीमन् नवक त्रैविद्यस्य*। इससे ज्ञात होता है कि-*मल्लात-वाट* स्थान नालन्दा-महाविहार को दान में मिला था, जहाँ से किसी भिक्षु ने मुद्रा भेजी थी।

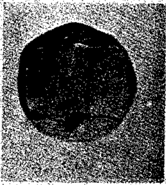
नालन्दा की महिमा और उसकी खुदाई में प्राप्त सामग्री का पूरा विवरण एक अलग महाग्रन्थ का विषय होगा। स्मरणीय है, यदि अँगरेजी-शासनकाल के पुरातत्त्वज्ञों की ओर से यह स्तुत्य प्रयास नहीं हुआ होता, तो बौद्ध विद्या-केन्द्र नालन्दा की गौरव-गरिमा की जानकारी संसार को कदापि नहीं हुई होती और न हमारे बिहार-प्रदेश को ही यह गौरव प्राप्त होता।

पाटलिपुत्र की खुदाई

पाटलिपुत्र की महत्ता का ज्ञान तो पहले से ही सबको था। भगवान् बुद्ध के समय में ही यहाँ अजातशत्रु के मंत्री 'वर्षकार' ने किला बनवाया और नगर को व्यवस्थित किया था, जहाँ भगवान् बुद्ध वैशाली जाते समय आये और ठहरे भी। बाद, बौद्धधर्म को जगत्-प्रसिद्ध करनेवाले सम्राट् अशोक की यह राजधानी ही हुई। अशोक ने यहाँ बौद्धधर्म की तृतीय संगीति भी कराई थी। उसने अनेक स्तूप और बुद्ध-शासन के लिए कई स्तम्भ खड़े कराये थे। बौद्धधर्म की प्रसिद्ध शिक्षण-संस्थाएँ—अशोकाराम विहार और कुक्कुटाराम विहार—इसी नगर में थीं। इसके अतिरिक्त गुप्तकाल और पालकाल में भी पाटलिपुत्र बौद्धधर्म का गढ़ रहा। इसलिए इस नगर की बौद्धधर्म-सम्बन्धी महिमा के बारे में किसी को कुछ संदेह क्यों रहता? इन सभी बातों के कारण पुरातत्त्वज्ञों ने यहाँ भी दो स्थानों में खुदाई कराई—एक, कुम्हरार में और दूसरी, बुलन्दीबाग में। इन जगहों की खुदाई से भी बौद्धधर्म के सम्बन्ध में हमारी जानकारी विस्तृत हुई।

पाटलिपुत्र की खुदाई सन् १९१५ ई० में सर 'स्पूनर' की देख-रेख में आरम्भ की गई। यहाँ की खुदाई में सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु एक विशाल सभा-भवन के रूप में मिली है, जिसमें जगह-जगह मोटे-मोटे पॉलिशदार प्रस्तर के स्तम्भ लगे थे। खम्भों की पॉलिश रमणीय ओप-वाली थी, जो अशोककालीन है। इस सभा-भवन को 'स्पूनर' ने अशोक का राजभवन कहा। पर सन् १९५२-५३ ई० की खुदाई से प्रमाणित हो गया कि यह राजभवन नहीं था; बल्कि बौद्ध भिक्षुओं का सभा-भवन था। सन् १९५२-५३ ई० की खुदाई में सभा-भवन के दक्षिण एक ऐसा विहार मिला, जिसमें रोगी भिक्षुओं के लिए दवा-दारू और निवास-स्थान का प्रबन्ध था। एक-एक चौकी बिछने के लायक कोठरियाँ मिली हैं। ये सब गुप्तकाल की प्रमाणित हुई हैं। प्रथम खुदाई में ही मिट्टी के बने विभिन्न प्रकार के खिलौने, बरतन और मूर्त्तियाँ मिली थीं, जिनसे अनेक तथ्यों पर प्रकाश पड़ा है।

बुलन्दीबाग की खुदाई राय साहब 'मनोरंजन घोष' ने कराई थी, जिसमें मेगास्थनीज द्वारा वर्णित चन्द्रगुप्त मौर्यकाल की लकड़ीवाली चहारदीवारी के भग्नाव-शेष मिले। इसी जगह शुंगकाल का एक स्तम्भ-शिखर भग्नावस्था में प्राप्त हुआ था।

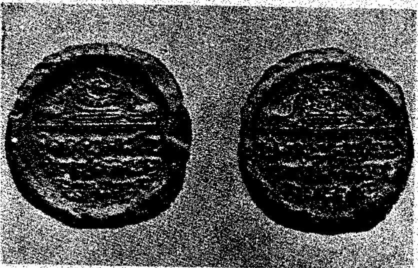




नालन्दा-विश्वविद्यालय की धर्मचक्र-प्रवर्त्तनवाली मृत्तिका-मुद्राएँ
(पृ० २२६)



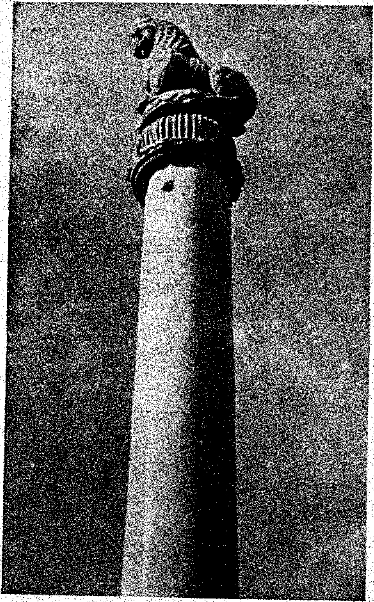
राजा देवपाल का ताम्र-शासन (नालन्दा)



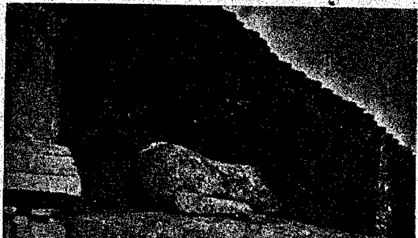
नालन्दा-विश्वविद्यालय की मृत्तिका-मुद्राएँ
(पृ० २६५)



श्रीशर्ववर्मा की मृत्तिका-मुद्रा
(पृ० २६४)



लौरियानन्दनगढ़ (चम्पारन) का स्तम्भ
(पृ० १७५)



नालन्दा के एक स्तूप का दृश्य
(पृ० २५६)

पटना का संग्रहालय—इसी समय अन्य प्राचीन सामग्री के साथ बौद्धधर्म-सम्बन्धी सामग्री की रक्षा के लिए पटना में एक संग्रहालय-भवन बना, जो आज भी हमें बौद्ध गौरव के गान सुनाता है और आगे आनेवाली पीढ़ियों को भी सुनाता रहेगा। इस संग्रहालय के निर्माण से बौद्धधर्म-सम्बन्धी वस्तुओं की समुचित रक्षा हुई है, जिससे हम अनेक प्रकार का ज्ञानार्जन कर रहे हैं। संग्रहालय की अपनी एक बहुत बड़ी महत्ता है।

सर्वप्रथम पटनासंग्रहालय की स्थापना की सन् १९१५ ई० में ही आवश्यकता समझी गई, जब कुम्हरार की खुदाई हो रही थी। इसी वर्ष जुलाई मास में इस काम के लिए एक समिति भी बन गई; पर आर्थिक कठिनाई के कारण भवन-निर्माण का कुछ भी काम न हो सका। परन्तु पुरातत्त्ववाले सामानों का संचय इसी वर्ष से होने लगा और पटना-हाईकोर्ट के एक हिस्से में वस्तुएँ रखी जाने लगीं। फिर भी, भवन-निर्माण के लिए उत्साही महापुरुषों का उद्योग जारी रहा। फलस्वरूप, सन् १९२९ ई० में वर्त्तमान संग्रहालय-भवन का निर्माण हो गया और इसका उद्घाटन तत्कालीन बिहार के गवर्नर सर 'स्टीफेन्सन' के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। उस समय पटना-संग्रहालय के सभापति 'पी० सी० मानुक' थे। आज यह संग्रहालय कई भागों में विभक्त है और भारत के प्रमुख संग्रहालयों में एक है। संग्रहालय में रखी बहुमूल्य सामग्री का तथा संग्रहालय का विस्तारपूर्वक वर्णन मेरा विषय तो नहीं है; पर इतना कहना आवश्यक है कि इसमें भगवान् बुद्ध की संचित मूर्त्तियों से बौद्धधर्म-सम्बन्धी इतिहास तथा मूर्त्ति-कला पर विशेष प्रकाश पड़ता है, जो मूर्त्तियाँ दर्शनीय हैं। इसमें देश के विभिन्न ऐतिहासिक स्थानों की मूर्त्तियों के अतिरिक्त बिहार-प्रदेश के बोधगया, नालन्दा, पाटलिपुत्र, कुर्किहार तथा अन्य कई स्थानों की बुद्ध-मूर्त्तियाँ सुरक्षित हैं। पुरातत्त्व-प्रेमियों और बौद्धधर्म-प्रेमियों को निश्चित रूप से इस संग्रहालय का अवलोकन-मनन करना चाहिए। नालन्दा और कुर्किहार की बौद्ध संस्कृति का विस्तृत अध्ययन यहाँ किया जा सकता है।

बिहार-अनुसन्धान-समिति—इस समिति का अँगरेजी नाम पहले 'बिहार-उड़ीसा-रिसर्च-सोसाइटी' था। इसकी स्थापना भी सन् १९१५ ई० की २०वीं जनवरी को हुई थी। इस समिति का मुख्य उद्देश्य इतिहास, पुरातत्त्व, मुद्राशास्त्र, मानव-विज्ञान और भाषा-तत्त्व के सम्बन्ध में अनुसंधान करना है। सदा से इस समिति का सभापति बिहार के गवर्नर (अब राज्यपाल) होते आये हैं। इसके प्रथम सभापति का नाम 'सर चार्ल्स बेली' था। इसका कार्यालय प्रारंभ से ही पटना-संग्रहालय के साथ रहा है। इसी के कार्यालय में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा तिब्बत से लाई गई वे प्राचीन हिन्दी की पोथियाँ हैं, जो पालकाल की हैं और जिनसे बौद्धों के वज्रयान-सम्प्रदाय, उसके चौरासी सिद्धों तथा हिन्दी-भाषा के सबसे प्राचीन रूप पर प्रकाश पड़ता है। आधुनिक काल में बौद्धधर्म-सम्बन्धी जो भी कार्य हुए हैं, उन सबमें राहुलजी का यह उद्योग सर्वोपरि है।

उक्त समिति से 'जर्नल ऑफ् दि बिहार-उड़ीसा-रिसर्च-सोसाइटी' नाम की त्रैमासिक

पत्रिका भी निकलती थी, जिसके सम्पादक बहुत वर्षों तक स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवालजी थे। इस पत्रिका ने अपने गवेषणात्मक निबंधों से बौद्धधर्म के अनेक विस्मृत पहलुओं पर विस्तृत प्रकाश डाला है और इतिहास की गूढ़ गुत्थियों को सुलझाया है। किन्तु, बिहार-प्रदेश से जब उड़ीसा-प्रान्त अलग हुआ, तब समिति का नाम 'बिहार-अनुसन्धान-समिति' और पत्रिका का नाम 'जर्नल ऑफ़ दि बिहार-रिसर्च-सोसाइटी' हो गया है। बिहार-प्रदेश में इस समिति ने और विषयों के साथ-साथ बौद्धधर्म तथा उसके इतिहास की अच्छी सेवा की है।

वैशाली की खुदाई और अन्वेषण-कार्य

बौद्ध और जैनग्रन्थों के अध्ययन से तथा 'ह्वेनसांग' के यात्रा-विवरण से जब 'जनरल कनिंघम' को 'वैशाली' स्थान का ठीक-ठीक पता मिला, तब सन् १८६२ ई० में वे वैशाली गये[१]। वैशाली का आधुनिक नाम 'बसाढ़' है और जैनग्रन्थों के 'वणिक् ग्राम' का आधुनिक नाम 'बनिया' है। ये दोनों ग्राम आज संयुक्त रूप में 'बनिया-बसाढ़' के नाम से अभिहित होते हैं और उत्तर-बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में स्थित हैं।

सन् १८६२ ई० में जब 'जनरल कनिंघम' वैशाली गये थे, तब वैशाली गढ़ के डीह की लम्बाई १७०० फुट और चौड़ाई ३०० फुट थी। डीह की ऊँचाई सर्वत्र बराबर नहीं थी। कनिंघम के कथनानुसार गढ़ के चारों ओर बुर्ज के चिह्न वर्त्तमान थे और चारों ओर की खाई पानी से भरी हुई थी। कनिंघम ने अपने विवरण में लिखा है कि गढ़ की दक्षिण खाई पार करने के लिए ऊँची सड़क थी तथा उत्तर की ओर भी सूखी और ऊँची जमीन है, जिससे अनुमान होता है कि उत्तर से भी प्रवेश करने के लिए सड़क होगी। खाई की चौड़ाई का अन्दाज उन्होंने १०० से १५० फुट तक का किया था। यद्यपि वैशाली के आस-पास की जनता उक्त डीह को राजा 'विशाल का गढ़' कहती थी, तथापि मुजफ्फरपुर जिले का 'बसाढ़' गाँव ही 'वैशाली' है, इस तथ्य को समग्र संसार के विद्वानों के समक्ष पहले-पहल मौसिये सेंट और जनरल कनिंघम ने ही उद्घाटित किया। इसके पहले सेंट मार्टिन, स्टीफेन्सन तथा बुकानन ने भी वैशाली के सम्बन्ध में काफी चर्चा की थी।

जनरल कनिंघम के वैशाली-विवरण को देखकर ही, सन् १६०३ अथवा १६०४ ई० में, इसकी खुदाई कराने के लिए 'भारतीय-पुरातत्त्व-सर्वेक्षण-विभाग' की ओर से 'डॉ० ब्लाश' नियुक्त हुए। किन्तु इस खुदाई में वहाँ जो भी सामान प्राप्त हुए, उनसे बौद्धधर्म पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ सका। इसमें गुप्तकाल की प्राचीन ईंटें मिलीं और 'जौनपुर' के सूबेदार 'हुसनशाह' की एक मुद्रा भी मिली, जिसका समय सन् १४५८ ई० से सन् १४७६ ई० तक का है। एक ऐसी कोठरी भी मिली, जिसमें कहीं खिड़की नहीं थी और न हवा जाने के लिए दीवार में कोई रिक्त स्थान था। कोठरी अत्यन्त छोटी थी। इससे अनुमान किया गया कि यह तहखाना है।

१. वैशाली के सम्बन्ध में यद्यपि 'श्रीमथुराप्रसाद दीक्षित' और प्रो० 'योगेन्द्रनाथ मिश्र' द्वारा लिखित पुस्तिकाएँ हिन्दी में प्रकाशित हैं, तथापि उनके अवलोकन का सौभाग्य मुझे नहीं प्राप्त हो सका। —ले०

इस अनुमान की पुष्टि इसलिए विशेष रूप से हुई कि इसमें गुप्तकालीन बहुत-से सिक्के प्राप्त हुए। इस खुदाई में जो बड़ा कमरा मिला, उसकी लम्बाई २५ फुट और चौड़ाई १५ फुट थी।

जनरल कनिंघम का विवरण सन् १८८० ई० में तैयार हुआ था, जिसमें उन्होंने वैशाली के १६ जलाशयों की चर्चा की है। बौद्ध जातकों में भी वैशाली के अनेक ह्रदों का वर्णन है, जिनमें 'मर्कटह्रद' और 'अभिषेक पुष्करिणी'[1] मुख्य हैं। मर्कटह्रद का आधुनिक नाम 'रामकुण्ड' है। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में इसी मर्कटह्रद के उत्तर में एक बौद्ध स्तूप और कोल्हुआ के अशोक-स्तम्भ का उल्लेख किया है। उसके कथनानुसार सिंहशीर्ष-वाले इस स्तम्भ की ऊँचाई ५० से ६० फुट थी। किन्तु सर स्टीफेन्सन सन् १८३४ ई० में इसकी ऊँचाई केवल ३२ फुट बतलाते हैं। सन् १८८० ई० के विवरण में कनिंघम ने इसकी ऊँचाई ३१ फुट ३ इंच लिखा है; किन्तु सन् १९०३ या १९०४ ई० में इस स्थान की खुदाई करानेवाले डॉ० ब्लाख् इसकी ऊँचाई ३० फुट ६ इंच कहते हैं। इन सम्पूर्ण विभिन्न मतों से ज्ञात होता है कि काल-क्रम से मिट्टी पड़ जाने के कारण, स्तम्भ का निचला हिस्सा ढँकता गया है और जमीन के ऊपरवाले भाग की माप ही उक्त विद्वान् लेते गये हैं। किन्तु, 'पारसनाथसिंह' का कहना है कि स्तम्भ की वास्तविक ऊँचाई ४५ फुट है[2]।

यहाँ सन् १८३४ ई० में भगवान् बुद्ध की एक भव्य मूर्त्ति मिली थी, जिसे 'रॉयल एसियाटिक सोसाइटी' (लन्दन) को दे दिया गया था। उसके बाद उक्त स्तम्भ से कुछ ही दूरी पर एक और भी बुद्ध की मूर्त्ति पाई गई थी।

जनरल कनिंघम ने जब वैशाली की खुदाई कराई थी, तब उन्हें बौद्धग्रन्थों में वर्णित 'कूटागारशाला' के भग्नावशेष का पता मिला था। इसकी मोटी दीवार की ईंटों की लंबाई, चौड़ाई और मुटाई क्रमशः १५½ × ६¾ × २ इंच थी। कूटागारशाला की ही यह दीवार है, इसका एक और प्रमाण यह था कि ह्वेनसांग ने जिस स्थान पर कूटागारशाला के होने का पता दिया था, वह स्थान यहीं था।

प्रसिद्ध चीनी भिक्षु 'फाहियान' ने वैशाली के 'धनुर्बाण-त्याग' और 'बहुपुत्रक' नामक दो चैत्यों के सम्बन्ध में लिखा है कि भगवान् बुद्ध ने अपने निर्वाण की सूचना 'आनन्द' को यहीं दी थी। इन दो चैत्यों के बारे में डॉ० स्मिथ का कहना था कि ये दोनों चैत्य 'कूटागार-शाला' से आध मील उत्तर-पश्चिम कोण में स्थित थे, जो अब टीले के रूप में हैं और इनकी खुदाई होनी चाहिए। डॉ० स्मिथ ने उस चैत्य के स्थान के सम्बन्ध में भी अनुमान किया था, जिसमें लिच्छवियों ने भगवान् बुद्ध के अवशेष रखे थे। स्मिथ के विवरण का यह अंश इस प्रकार है—

"..........सम्मतीय संघाराम, बुद्ध के भस्मावशेष पर निर्मित स्तूप तथा सारिपुत्र और विमलकीर्त्ति का स्मारक स्तूप—ये सब-के-सब 'खरौना पोखर' और 'उफरौल' गाँव के

१. इसका विवरण इस पुस्तक के पृ० २४ में देखिए।

२. मासिक पत्रिका 'गंगा', जनवरी, १९३१ ई० (सुलतानगंज, भागलपुर)

बीच में ही कहीं है। 'उफरौल' के नजदीक ही एक बड़ा टीला है। बाबू पी० सी० मुखर्जी का भी अनुमान बुद्ध-स्तूप के बारे में 'उफरौल' के पास ही है। बड़े आश्चर्य की बात है कि जनरल कनिंघम ने इस स्तूप की खोज के लिए कोई प्रयास नहीं किया। बौद्धधर्म की दृष्टि से यह स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा होगा और सम्भवतः उस स्थान पर आज भी बुद्ध का भस्मावशेष सुरक्षित है। .... मुझे इसमें सन्देह नहीं कि इस स्थान की यथोचित रीति से खुदाई की जाय, तो बुद्ध का शरीरांश नहीं मिले[1]।"

किन्तु, सन् १९०३ या १९०४ ई० में वैशाली की खुदाई जब डॉ० ब्लाश् करा रहे थे, तब उन्हें स्मिथ द्वारा निर्देशित स्थानों का पता ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल सका। इसके अतिरिक्त स्मिथ के विचारों से डॉ० ब्लाश् सहमत भी नहीं थे। उनका कहना था कि राजा विशाल के गढ़ और 'उफरौल' गाँव के बीच जो फासला है, वह ह्वेनसांग द्वारा निर्देशित बुद्ध-स्तूप के स्थान से बिलकुल मेल नहीं खाता है।

डॉ० ब्लाश् के बाद सन् १९१३-१४ ई० में कुम्हरार की खुदाई करानेवाले 'डॉ० स्पूनर' ने 'बसाढ़' की खुदाई कराई थी। इस बार की खुदाई में मौर्यकाल तक की सामग्री प्राप्त हुई, जिनमें बौद्धधर्म-सम्बन्धी कुछ मूर्त्तियाँ भी थीं। इसलिए अँगरेजी शासन-काल में वैशाली में भी कुछ कार्य हुए, फलतः बौद्धधर्म पर से आवरण बहुत-कुछ हट गया और जिससे बिहार-प्रदेश की गौरव-वृद्धि में चार चाँद लग गये।

× × ×

अँगरेजों के शासन-काल में उपर्युक्त कामों के अतिरिक्त कुछ बौद्धधर्म-सेवक महापुरुष भी हुए, जिनके संक्षिप्त जीवन-चरित्र और उनके द्वारा बौद्धधर्म-सम्बन्धी किये गये कार्यों की चर्चा के बिना यह परिच्छेद सर्वाङ्ग-सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। ये यशोलब्ध महापुरुष भौतिक विज्ञान की बढ़ती होड़ में भी आध्यात्मिक प्रेरणाओं का प्रकाश देते हुए उद्दीप्त नक्षत्रों के सदृश दीप्त-भासित दीख रहे हैं। इन्होंने अपने कार्यों से बौद्ध जगत् में बिहार-प्रदेश को महिमा-मण्डित किया है; अतः इनका उल्लेख यहाँ अपेक्षित है।

१. **महावीर स्वामी**—इनका जन्म, बिहार-प्रदेश के शाहाबाद जिले के भभुआ सबडिवीजन में स्थित 'रूपपुर' ग्राम में, राजपूत-वंश में १८३० ई० में हुआ था। इनका घरेलू नाम श्रीमहावीरसिंह था। ये अपनी युवावस्था में नामी-गरामी पहलवान और लठैत थे।

यह सर्वविदित है कि सन् १८५७ ई० में जगदीशपुर (शाहाबाद)-निवासी बाबू कुँवर-सिंह ने अपनी ८० वर्षों की अवस्था में, अँगरेजी सलतनत के विरुद्ध लोहा लिया था। बाबू महावीरसिंह ने भी अन्य भोजपुरी जवानों की तरह कुँवरसिंह का सहकर्मी होकर अँगरेजों से युद्ध किया। बाद, जब अँगरेजों ने भारतीय विद्रोह को कुचल दिया और कुँवरसिंह तथा अमरसिंह लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हो गये, तब अँगरेज उनके सहकर्मियों को ढूँढ़-ढूँढ़कर फाँसी पर लटकाने लगे। ऐसी अवस्था में बाबू महावीरसिंह अपने कुछ साथियों के साथ दक्षिण-भारत

१. मासिक पत्रिका 'गंगा',—प्रवाह १, तरंग १, जनवरी, १९३१ ई०।

भाग गये। घूमते-फिरते ये इन्दौर पहुँच गये। वहाँ महाराज होल्कर ने बाबू कुँअरसिंह का सहकर्मी जानकर इनका आगत-स्वागत किया। बाबू महावीरसिंह वहाँ कुछ दिन ठहरकर और महाराज होल्कर से कुछ सहायता लेकर दक्षिण की ओर आगे बढ़े। जब ये मद्रास पहुँचे, तब वहाँ के एक नामी मुसलमान पहलवान के साथ इनकी कुश्ती हुई। कुश्ती का आयोजन एक अँगरेज अफसर ने कराया था और इसमें १०००) रुपये का पुरस्कार था। बाबू महावीरसिंह ने अखाड़े में उतरते ही मुसलमान पहलवान को पछाड़कर १०००) रुपये का पुरस्कार जीत लिया। वहाँ इन्होंने अपना असली परिचय छिपाकर केवल एक पहलवान के रूप में अपनेको बताया था। फिर, मद्रास से ये रामेश्वरम् चले गये। रामेश्वरम् पहुँचते-पहुँचते इनके सभी साथियों ने इनका साथ छोड़ दिया और ये अकेले रह गये।

बाबू महावीरसिंह बड़े साहसी और उद्योगी पुरुष थे। ये समुद्र-पार चला जाना चाहते थे; क्योंकि घर लौटने में भी खतरा था। अतः ये सीलोन चले गये। कहते हैं कि भाग्यवान् का हल भूत जोतता है! वहाँ भी बाबू कुँवरसिंह के गाँव जगदीशपुर का एक व्यापारी रहता था। इनका समाचार जानकर उस व्यापारी ने काफी दिनों तक इनकी आर्थिक सहायता की। इधर-उधर जान-पहचान बढ़ते-बढ़ते लंका के प्रसिद्ध भिक्षु 'इन्द्रासम' से इनका परिचय हो गया। भिक्षु इन्द्रासभ के संग से ही ये बौद्धधर्म में निष्ठावान् हुए। भिक्षु ने इनसे कहा कि बिना पालि-भाषा जाने तुम बौद्धधम का मर्म नहीं जान सकते। इसलिए महावीरसिंह को इन्होंने पालि-भाषा का अध्ययन शुरू कराया। कुछ काल में ही अपने अथक परिश्रम से इन्होंने पालि-भाषा में पूरी निपुणता प्राप्त कर ली। यहाँ तक कि इनके पालि-भाषा के शुद्ध पाठ से प्रसन्न होकर एक व्यापारी ने नारियल का एक बागीचा ही इन्हें दान में दे दिया, जिसे महावीरसिंह ने अपने गुरु इन्द्रासम को, *त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये* कहकर समर्पित कर दिया।

कुछ वर्षों बाद महावीरसिंह ने बौद्धधर्म-देश बर्मा जाने की ठानी। इन्होंने सोचा कि बर्मा जाने के पहले भारत में जाकर मुझे भगवान् बुद्ध द्वारा निर्देशित तीर्थों का भ्रमण कर लेना चाहिए। इसलिए इन्होंने सर्वप्रथम भारत आकर बोधगया, सारनाथ, कुशीनगर आदि तीर्थों का भ्रमण किया। जब ये सारनाथ में थे, तब काशी के लोग सारनाथ-स्तूप की ईंटों को उजाड़-उजाड़कर अपना मकान बनाने के लिए ले जा रहे थे। महावीरसिंह ने इसका भरपूर विरोध किया और बात यहाँ तक बढ़ी कि काशी के तत्कालीन अँगरेज जिलाधीश को हस्तक्षेप करना पड़ा, और स्तूप के उजाड़ने का काम रोक दिया गया। इसी तरह कुशीनगर में भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण को जानकर वहाँ इन्होंने भी संकल्प किया कि मेरा भी निर्वाण यहीं होगा। अन्त में भारतीय बौद्ध तीर्थों का भ्रमण करके महावीरसिंह बर्मा-देश गये और वहाँ सन् १८८४ ई० इन्होंने बौद्धधर्म की उपसम्पदा ली। उपसम्पदा लेने के बाद इनका नाम महावीर स्वामी पड़ा।

'मेरा भी परिनिर्वाण कुशीनगर में ही होगा', अपने इस निश्चय के अनुसार महावीर स्वामी सन् १८९० ई० में सर्वत्र परिभ्रमण कर कुशीनगर आ गये। ये छह वर्षों तक बर्मा में

रहकर बौद्धधर्म की सेवा करते रहे। इनके साधुचरित के कारण बर्मा में इनकी अच्छी प्रतिष्ठा हो गई थी। पर, इन्हें तो यश या प्रतिष्ठा की भूख थी नहीं, अतः अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए ये कुशीनगर आये और यहाँ एक छोटी-सी कुटिया बनाकर धर्म की उपासना करने लगे। इन्होंने कुशीनगर आनेवाले यात्रियों की सुविधा के लिए वहाँ एक यात्री-निवास बनवाने का संकल्प किया और बर्मा के एक बौद्ध व्यापारी से इस पुण्य-कार्य में सहायता देने को लिखा। गोरखपुर के एक अँगरेज अफसर से इस धर्म-कार्य के लिए कुशीनगर में जमीन की माँग की और उसने जमीन दिला देने का आश्वासन भी दिया। पर, थोड़े ही दिनों बाद उस अफसर की वहाँ से बदली हो गई और मुफ्त जमीन नहीं मिल सकी। पर, महावीर स्वामी दृढ संकल्पवाले व्यक्ति थे, इस छोटी-सी बात के लिए वे क्यों घबराते। इन्होंने ६०) रुपये बीघे की दर से कुछ जमीन खरीदकर यात्री-निवास के बनवाने में काम लगा दिया। काम चलने भी लगा। इसी सिलसिले में ये कलकत्ता गये। वहाँ एक व्यापारी ने इन्हें इस काम के लिए एक सन्दूक में १२००) रुपये रखकर दिये। ये रुपये-पैसे छूते नहीं थे, अतः ये सन्दूक लेकर चले। स्टेशन से उतरकर जब ये बैलगाड़ी से कुशीनगर जा रहे थे, तब चोरों ने रास्ते में घेरकर इनका सन्दूक छीन लिया। ये खाली हाथ कुशीनगर आये। फिर भी यात्री-निवास का काम बन्द नहीं हुआ। रुपये लुट जाने का समाचार जब उक्त व्यापारी के पास पहुँचा, तब उसने और कुछ ज्यादा ही रुपये इनके पास भेज दिये। बर्मा के व्यापारी से भी यथोचित आर्थिक सहायता इन्हें इस काम के लिए मिलती रही। यात्री-निवास सन् १९०२ ई० में बनकर तैयार हो गया। इसके निर्माण में १५०००) हजार व्यय हुए। आज इस धर्मशाला में महावीर स्वामी का एक बड़ा-सा चित्र भी टँगा है। इस तरह हम देखते हैं कि जब बोधगया, राजगृह, वैशाली आदि बौद्ध स्थानों में भी इस तरह का काम नहीं हो पाया था, तभी बिहार-प्रदेश के सपूत महावीर स्वामी ने कुशीनगर में ऐसा बड़ा उद्योग कर दिखाया। इतना ही नहीं, इन्हीं के उद्योग से कुशीनगर के चैत्य का भी संस्कार हुआ था, जिसमें १८०००) हजार रुपये व्यय हुए थे[1]।

अन्त में महावीर स्वामी का निर्वाण कुशीनगर में ही, सन् १९१९ ई० के मार्च महीने में हुआ। उस समय इनकी आयु ८६ वर्ष की थी। ये अपने जीवन-काल में अपनी धर्मनिष्ठा और उद्योग के कारण पूज्य थे और निर्वाण के बाद भी बौद्धधर्मावलम्बियों के लिए प्रातःस्मरणीय हैं।

२. **महापण्डित राहुल सांकृत्यायन**—यद्यपि आपका जन्म उत्तर-प्रदेश के आजमगढ़ जिले के 'पन्दहा' नामक ग्राम में, सन् १८९३ ई० के ९ अप्रैल को हुआ था, तथापि आपका कर्मक्षेत्र बिहार-प्रदेश ही रहा है। बिहार-प्रदेश कर्मक्षेत्र होने के कारण बाहरी प्रान्तों के अधिकांश लोग आपको बिहार-निवासी ही समझते हैं। यहाँ तक कि 'हिन्दी-सेवी-संसार' नामक पुस्तक में आपका पता—'सारन' ही लिखा है। वस्तुतः, हम बिहार-निवासी भी राहुलजी को अपने ही प्रान्त के वासी मानते हैं। बहुत-से ऐसे महापुरुष जो अपने कर्मक्षेत्र के कारण वहीं के समझे गये हैं, उन्हीं लोगों में से राहुलजी भी एक हैं। अतः, आपके

१. 'बुद्ध और उनके अनुचर' (भदन्त आनन्द कौसल्यायन) पुस्तिका के आधार पर।

बिहार-वासी होने में किसी को संदेह नहीं करना चाहिए। आपका जन्म सरयूपारीण ब्राह्मण-वंश में हुआ है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की तरह समस्त भारतीय बौद्ध जगत् में, विशेषतः हिन्दी के क्षेत्र में विद्वान् और धुरंधर लेखक विरला ही होगा। आपका सम्पूर्ण जीवन ही तूफानों और संघर्षों का समवेत रूप है। आपके जैसा पर्यटक तथा लेखनी का धनी संसार में गिने-चुने लोग ही होंगे। अकेले आपने अपनी लेखनी के द्वारा हिन्दी और बौद्ध साहित्य की जो सेवा की है, वह एक सौ आदमियों के सम्मिलित प्रयास के भी बूते की बाहर है। ऐसे विद्वान् को प्राप्त कर बिहार-प्रदेश क्या, आज सारा भारत धन्य हो रहा है!

आपका घरेलू नाम केदार पाण्डेय था। आप अपनी १६-१७ वर्ष की अवस्था में ही बिहार के सारन जिले के 'परसामठ' के महन्त के पास आकर उनके शिष्य हो गये और मठ में एक बालक साधु बनकर रहने लगे। आपने १६१७ ई० तक संस्कृत, अरबी, फारसी और हिन्दी-भाषा का ज्ञान अच्छी तरह प्राप्त कर लिया। आप जब 'परसामठ' में शिष्य हुए, तब आपका नाम 'रामोदार दास' रखा गया। पर, सरस्वती का यह वरद पुत्र और परम उत्साही युवक उस मठ के दकियानूसी घेरे में कबतक घिरा रह सकता था। सन् १६२१ ई० में जब गांधीजी का असहयोग-आन्दोलन चल रहा था, तब आप भी उसमें सम्मिलित होकर जेल चले गये। जेल में भी आपका अध्ययन-क्रम जारी रहा। जेल से छूटने के कुछ वर्षों बाद पर्यटक राहुलजी सन् १६२६ ई० में लंका गये। लंका में ही आपने पालि-भाषा का विस्तृत अध्ययन किया। वहाँ आपने १६२६ से १६२८ ई० तक अध्यापन-कार्य भी किया। लंका जाने के पहले आप आर्य-समाज के उपदेशक रह चुके थे, जिस कारण वक्ता के रूप में भी आपकी ख्याति बढ़ी। लंका में उसी समय आपको 'त्रिपिटकाचार्य' की पदवी मिली।

आप सन् १६२६ ई० में तिब्बत गये और वहाँ तिब्बती भाषा का अध्ययन किया। तिब्बत में आपने दो वर्षों तक रहकर, अनेक भारतीय ग्रन्थों के अनुवादों का अध्ययन-मनन किया। वहाँ से आप बहुत-सी पुस्तकें खच्चरों पर लादकर भारत लाये, जिनमें कुछ पटना के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इसी समय आपने उन पुस्तकों का उद्धार किया, जो वज्रयान-सम्प्रदाय के सिद्धों की लिखी थीं, जिनसे प्राचीन हिन्दी और मगही-भाषा का विस्तृत इतिहास और रूप हमें प्राप्त हुआ। वे भी पुस्तकें पटना के 'बिहार-अनुसंधान-समिति' के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। इन ग्रंथों के उद्धार-कार्य से आपने बौद्धधर्म और हिन्दी की चिरस्मरणीय सेवा की है।

तिब्बत के बाद फिर आप लंका गये और इस बार आपने वहाँ विधिवत् बौद्धधर्म में प्रव्रज्या ले ली। सन् १६३१ ई० में आपने यूरोपीय देशों का भी भ्रमण कर अनेक प्रतीच्य भाषाओं का ज्ञान लाभ किया। बाद में आप भारत आये और बौद्ध साहित्य लिखते रहे। सन् १६३३ ई० में आपने भागलपुर के सुलतानगंज नगर से निकलनेवाली 'गंगा' नामक पत्रिका के विशेषांक 'गंगापुरातत्त्वांक' का सम्पादन किया और उसमें कई ऐसे बौद्ध पुरातत्त्व सम्बन्धी लेख लिखे, जिनसे विद्वानों के बीच हलचल-सी मच गई।

बिहार-प्रदेश में जब प्रथम बार, स्वराज्य के पहले, अपना मंत्रिमंडल बना, तब आपने स्वामी सहजानन्द सरस्वती के किसान-आन्दोलन में भाग लिया और उस कारण जेल-यातना भी भोगी। बाद, आपने समस्त एसिया का भ्रमण किया और रूस तथा तिब्बत का भ्रमण तो आपने तीन-तीन बार किया।

सन् १६३८ ई० में बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने आपको अपना सभापति चुनकर आपका सम्मान किया। सन् १६४७ ई० में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भी आप अध्यक्ष हुए थे।

आपके द्वारा अनेक विषयों पर लिखित सम्पादित तथा अनूदित १२५ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, पर बौद्धधर्म-सम्बन्धी जो ग्रन्थ हैं, उनका ब्योरा इस प्रकार है—

(१) 'बुद्धचर्या' सन् १६३० ई० में प्रकाशित।
(२) 'धम्मपद' सन् १६३३ ई० में,
(३) 'मज्झिम निकाय' का हिन्दी-अनुवाद सन् १६३३ ई० में,
(४) 'विनय पिटक' का हिन्दी-अनुवाद सन् १६३४ ई० में,
(५) 'दीघ निकाय' का हिन्दी-अनुवाद १६३५ ई० में,
(६) 'तिब्बत में बौद्धधर्म' सन् १६३५ ई० में,
(७) 'पुरातत्त्व-निबन्धावली' सन् १६३६ ई० में,
(८) 'बौद्धदर्शन' सन् १६४२ ई० में,
(९) 'बौद्ध संस्कृति' सन् १६४६ ई० में,
(१०) 'दोहाकोश'[1] १६५४ ई० में और
(११) 'बुद्ध' सन् १६५६ ई० में।

इसी तरह आपने बौद्धग्रन्थों पर टीकाएँ भी लिखीं, जो निम्नांकित वर्षों में प्रकाशित होकर हमारे ज्ञान की वृद्धि में सहायक हो रही हैं —

(१) 'अभिधर्म-कोश' सन् १६३० ई० में प्रकाशित।
(२) 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' सन् १६३४ ई० में,
(३) 'प्रमाणवार्त्तिकस्ववृत्ति' सन् १६३७ ई० में,
(४) 'हेतुबिन्दु' सन् १६४४ ई० में,
(५) 'निदानसूत्र' १६५० ई० में और
(६) 'महापरिनिर्वाणसूत्र' सन् १६५१ ई० में।

इस प्रकार आपने दर्शन-धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थों में 'वादन्याय, प्रमाणवार्त्तिक, विग्रह-व्यावर्त्तिनी, प्रमाणवार्त्तिक भाष्य, प्रमाणवार्त्तिक संवृति, प्रमाणवार्त्तिक वृत्तिटीका आदि लिखकर तथा प्रकाशित कराकर बौद्धधर्म का प्रचार भारत में खूब बढ़ाया है। आपने पालि-भाषा के अनेक ग्रन्थों का सम्पादन करके भी बौद्धधर्म की महती सेवा की है। आज हिन्दी-संसार में

१. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) द्वारा प्रकाशित।

बौद्ध साहित्य का पाठक और चिन्तक या लेखक कोई ऐसा नहीं होगा, जो आपकी पुस्तकों का सहारा नहीं लेता हो। इधर आपकी लिखी पुस्तक 'मध्य एसिया का इतिहास' दो खण्डों में विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) से प्रकाशित हुई है, जिससे मध्य एसिया की बौद्धधर्म-सम्बन्धी अनेक गुत्थियाँ सुलझी हैं[१]। सन् १९५८-५९ ई० की सर्वश्रेष्ठ हिन्दी-पुस्तक होने के नाते भारत-सरकार ने इस पर आपको ५०००) रु० का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार दिया है।

३. **भिक्षु जगदीश काश्यप**—आपका जन्म गया जिले के 'रौनिया' ग्राम में, सन् १९०९ ई० में, कायस्थ-परिवार में हुआ था। आपकी अँगरेजी की शिक्षा राँची, पटना और हिन्दू-विश्वविद्यालय (काशी) में हुई थी। हिन्दू-विश्वविद्यालय से ही आपने दर्शन और संस्कृत में एम० ए० पास किया। शिक्षा समाप्त कर आपने वैद्यनाथधाम के गुरुकुल महाविद्यालय में, सन् १९३२ और ३३ ई० में अध्यापन का कार्य किया। सन् १९३४ ई० में भ्रमण के लिए निकले और लंका गये। लंका में ही आपने बौद्धधर्म की प्रव्रज्या ग्रहण की। लंका के 'विद्यालंकार-कॉलेज' में आपने पालि-भाषा और बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया। तभी से आप बौद्ध जगत् में विख्यात हो गये।

आपने अपने बौद्धधर्म-प्रेम के कारण निश्चय किया कि मुझे समस्त बौद्धधर्मवाले देशों का भ्रमण करना और बौद्धधर्म का ज्ञान बढ़ाना चाहिए। अपने इस निश्चय के अनुसार आप सन् १९३५ और ३६ ई० में मलाया तथा वर्मा-देश गये। वहाँ के बौद्धधर्म की स्थिति का आपने अध्ययन तो किया ही, स्वयं उसका प्रचार भी किया। इन देशों के बाद आप चिनांग और सिंगापुर गये, जहाँ आपने चीनी भाषा सीखी। सिंगापुर में आप बौद्धधर्मोपदेशक के रूप में भ्रमण करते रहे। उसके बाद आप 'लंका' लौट आये।

कुछ वर्षों बाद जब आप स्वदेश लौटे, तब आप धर्मचक्रप्रवर्त्तनवाले स्थान 'सारनाथ' में रहे और वहाँ के हाई स्कूल में अध्यापक हो गये। यहाँ आपने सन् १९३८ से ४० ई० तक अध्यापन-कार्य किया। सन् १९४० ई० में आपको लंका से 'त्रिपिटकाचार्य' की उपाधि मिली। बाद में आप काशी-विश्वविद्यालय में पालि-भाषा के प्राध्यापक नियुक्त हो गये। यहाँ आप सन् १९४० ई० से १९५० ई० तक इस पद पर योग्यतापूर्वक काम करते रहे। तबतक भारत से अँगरेजी सल्तनत हट गई थी और स्वराज्य प्राप्त हो गया था।

सन् १९५१ ई० में संसार-प्रसिद्ध 'नालन्दा' स्थान में बिहार-सरकार ने बौद्धधर्म के अध्ययन, चिन्तन तथा मनन के लिए 'पालि-प्रतिष्ठान' नामक एक संस्था की स्थापना की। बिहार-सरकार के अनुरोध से आप काशी-विश्वविद्यालय की प्रोफेसरी छोड़कर उक्त संस्था के निर्देशक के रूप में नालन्दा चले आये। बाद, आपने निर्देशक का काम छोड़ दिया और प्रतिष्ठान की ओर से प्रकाशित होनेवाले नागरी-लिपि में 'त्रिपिटक' के मुद्रण का व्यवस्था-भार ग्रहण कर लिया, जिसका कार्य अब काशी में हो रहा है। अधुना आप वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय में पालि-विभाग के अध्यक्ष भी हैं।

१. श्रीगदाधरप्रसाद 'अम्बष्ठ' द्वारा प्राप्त जीवनी के आधार पर।

भिक्षु जगदीश काश्यप उन बौद्ध भिक्षुओं में हैं, जिनकी कीर्त्ति समस्त बौद्ध जगत् में फैली हुई है। भारत के गिने-चुने भिक्षुओं में भी आपकी विशेष प्रतिष्ठा है। आप जिस तरह बौद्धधर्मोपदेशक के रूप में अपनी वक्तृत्व-शक्ति के लिए प्रसिद्ध हैं, उससे भी अधिक आप उच्चकोटि के बौद्ध ग्रन्थ के प्रणेता के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इस रूप में आपने जो बौद्धधर्म की सेवा कर बिहार का मुख उज्ज्वल किया है, उसका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

(क) खुद्दक निकाय के ११ ग्रन्थों का नागरी-लिपि में सम्पादन (महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और भदन्त आनन्द कौसल्यायन के साथ), जिसका प्रकाशन बर्मा से हुआ है।

(ख) दीघ निकाय (हिन्दी-अनुवाद)

(ग) संयुक्त निकाय (हिन्दी अनुवाद), प्रकाशक—महाबोधिसभा, सारनाथ।

(घ) उदान (हिन्दी-अनुवाद) ,, ,,

(ङ) मिलिन्दपञ्ह (हिन्दी-अनुवाद) ,, ,,

(च) पालि-भाषा का व्याकरण (मौलिक ग्रन्थ, हिन्दी में)। इस पुस्तक का विद्वानों में ऊँचा सम्मान है।

(छ) बुद्धिज्म फॉर एवरी बडी (अँगरेजी-भाषा में, मौलिक)।

(ज) पाश्चात्य तर्कशास्त्र (मौलिक)।

इस प्रकार, पालि-साहित्य के यशोधन पण्डित होने के साथ ही आपने हिन्दी-साहित्य के विद्वानों में भी पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की है[1]।

---

१. श्रीगदाधरप्रसाद अम्बष्ठ-लिखित 'बिहार-शब्दकोश' (सन् १९५४ ई०) में मुद्रित परिचय के आधार पर।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

स्वराज्य के बाद

सन् १६४७ ई० की १५वीं अगस्त को भारतवर्ष ने अपने को दो टुकड़ों में विभक्त करके स्वराज्य प्राप्त किया। स्वराज्य के बाद भारत ने अपने को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया। किन्तु बौद्धधर्म, अपने सच्चे अर्थ में, किसी सम्प्रदायविशेष का धर्म तो है नहीं, यह तो वस्तुतः मानवधर्म है, मानवमात्र का धर्म है। इसलिए जाने या अनजाने इसके कई अंग राष्ट्रीय धर्म के रूप में माने गये हैं। सारनाथ के अशोक-स्तम्भ के सिंह-शिखर को राष्ट्र का प्रतीक बनाया गया और उसके नीचे 'सत्यमेव जयते' का आदर्श वाक्य उल्लिखित हुआ, जो भगवान् बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग में एक है। इतना ही नहीं, राष्ट्र-ध्वज पर भी अशोक-चक्र का प्रतीक अंकित हुआ, जो भगवान् बुद्ध के 'धर्मचक्रप्रवर्त्तन' का चिह्न है। राष्ट्र के प्रधान मंत्री भारतरत्न जवाहरलाल नेहरू ने शान्ति-स्थापन के लिए बौद्धधर्म के 'पंचशील' के अनुकरण पर ही 'पंचशील' अपनाने का नया नारा दिया, जिससे एसिया-खंड में नवजीवन का संचार हुआ तथा जिसके कारण भारत ने बहुत बड़ा आत्मबल प्राप्त किया और संसार में लब्धप्रतिष्ठ हुआ।

नवनालन्दा-महाविहार

केन्द्रीय सरकार की अहिंसात्मक नीति से प्रेरणा पाकर बिहार-सरकार ने 'नालन्दा' में 'पालि-प्रतिष्ठान' की स्थापना सन् १६५१ ई० में की, जिसका नाम 'नवनालन्दा-महाविहार' रखा गया। यह संस्था पालि-भाषा, पालि-साहित्य एवं बौद्धधर्म तथा दर्शन के उच्च ज्ञान-सम्पादन के लिए स्थापित हुई है। इसमें स्नातकोत्तर विद्यार्थियों को शिक्षा देने की व्यवस्था है। इसका एक दूसरा उद्देश्य भी है, जिसके द्वारा पालि-भाषा के ग्रन्थ सम्पादित और प्रकाशित होंगे। यहाँ समस्त बौद्ध देशों की भाषाओं पर अनुसंधान कराने का प्रबन्ध भी है, जिसमें तिब्बती, चीनी, जापानी, सिलोनी, बर्मी, स्यामी आदि भाषाएँ हैं। यहाँ के अध्ययनार्थी भारत, लंका, स्याम, वीएतनाम, फ्रांस, मंगोलिया, जापान, तिब्बत, बर्मा आदि देशों के निवासी हैं। संस्था के प्राध्यापक बौद्ध विद्वान् और बौद्ध देशों के निवासी हैं।

बिहार में २५००वीं बुद्ध-निर्वाण-जयन्ती

सन् १६५६ ई० तक भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के २५०० सौ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इसलिए केन्द्रीय सरकार ने उस वर्ष समस्त देशों में बुद्ध-जयन्ती मनाने का आयोजन किया। इस अवसर पर बोधगया में कई उल्लेखनीय कार्य हुए। मन्दिर का विधिवत्

संस्कार कराया गया। किन्तु इस संस्कार में मन्दिर की प्राचीन कारीगरी में कुछ हेर-फेर हो गया है। इसी समय यहाँ की प्रसिद्ध पुष्करिणी का भी संस्कार कराया गया है, जो मन्दिर से दक्षिण में है। इसी वर्ष बोधगया में भी, एक पुरातत्त्व-संग्रहालय के लिए नया भवन तैयार हुआ, जिसमें बोधगया और उसके आस-पास की बौद्धधर्म-सम्बन्धी मूर्त्तियाँ रखी गई हैं। मूर्त्तियों में अधिकांश पाल-काल की मूर्तियाँ हैं। हाँ, बोधगया-मंदिर के चंक्रमण-चैत्य के सामने की दो नारी-मूर्तियाँ भी इसी अवसर पर वहाँ से उठाकर संग्रहालय में लाई गई। बोधगया में सरकार की ओर से एक उत्तम यात्री-निवास (डायमेटरी) बना है। इसका विशाल और प्रशस्त भवन पश्चिम जानेवाली सड़क के दक्षिण भाग में, संग्रहालय-भवन से पश्चिम में, स्थित है।

बोधगया में सन् १९५६ ई० में ही वैशाख-पूर्णिमा को बड़े धूमधाम से जयन्ती मनाई गई। इस अवसर पर लाखों व्यक्तियों की भीड़ इकट्ठी हुई थी, जिसमें देश के बड़े नेताओं के साथ विदेश से भी बौद्धधर्म-भक्त पधारे थे। बोधगया की परिचय-पुस्तिका भी इस अवसर पर अँगरेजी, हिन्दी और बँगला में छपकर वितरित हुई थी। इसी साल राजगृह का भी संस्कार हुआ और सुन्दर रूप में यहाँ उपवन सजाये गये। यहाँ भी बोधगया की तरह यात्री-निवास का भवन खड़ा किया गया। राजगृह और नालन्दा के सम्बन्ध में भी परिचय-पुस्तिका मुद्रित हुई। इसी अवसर पर स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव-लिखित 'बौद्धधर्म-दर्शन' नामक महाग्रन्थ भी बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित हुआ। बौद्धधर्म-दर्शन के संबंध में यह ग्रन्थ हिन्दी-भाषा में अद्वितीय है।

काशीप्रसाद जायसवाल-शोध-प्रतिष्ठान—स्वराज्य के बाद ही प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ और इतिहासज्ञ महामहोपाध्याय डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल के नाम पर पटना में इस संस्था की स्थापना बिहार-सरकार ने की। इसका मुख्य उद्देश्य है—इतिहास और संस्कृति के निर्माण के लिए अनुसंधान करना। इसके निर्देशक थे—प्रौढ़ पुरातत्त्वज्ञ डॉ० अनन्त सदाशिव अलतेकर, जो महाराष्ट्र के निवासी थे। अभी-अभी गत २५ नवम्बर (सन् १९५९ ई०) को आपका निधन हो गया। इधर बिहार में उक्त संस्था की ओर से यत्र-तत्र प्राचीन स्थलों की खुदाई का काम हो रहा है। इस संस्था ने सन् १९५३ ई० में कुम्हरार की पुनः खुदाई कराई है, जिससे गुप्तकाल-निर्मित भिक्षु-आरोग्य-विहार का पता चला है। सन् १९५४ ई० में इसने पटनासिटी की सदर गली में खुदाई कराई, जिसमें अशोक-स्तम्भ का साँढ़-शीर्षवाला भग्नावशेष प्राप्त हुआ है। आशा है, इसके सत्प्रयास से आगे बिहार-प्रदेश में और भी बौद्ध-धर्म के रहस्य उद्घाटित होंगे।

परिशिष्ट

[जो विषय काल-क्रम के अनुसार विवेच्य नहीं थे, उन्हें परिशिष्ट में दिया गया है। वैसे विषयों में भाषा, साहित्य, स्थापत्य, मूर्ति-कला आदि सम्मिलित हैं।]

परिशिष्ट–१

भाषा और साहित्य को बौद्धधर्म की देन

यों तो भगवान् बुद्ध किस भाषा में प्रवचन करते थे, इसका कोई निश्चित पता नहीं चलता ; पर इतना निश्चित है कि वे जनपदीय भाषा के पक्षपाती थे। एक बार उनके दो शिष्यों ने उनसे कहा—*हन्द ! मयं भन्ते ! बुद्धवचनं छन्दसो आरो पेमाति*[1]। अर्थात्, 'भगवन्, अपने वचन को वैदिक भाषा में निबद्ध करने की अनुज्ञा दें।'

मागधी तथा पालि

इस पर भगवान् बुद्ध ने कहा—*अनुजानामि भिक्खवे, सकाय, निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितु*[2]। अर्थात्, 'हे भिक्षुओ ! मैं अपने वचन को प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी-अपनी भाषा में सीखने-समझने की आज्ञा देता हूँ।' वैदिक या संस्कृत-भाषा में अपने उपदेशों को बाँधना बुद्ध को स्वीकार नहीं था। इससे प्रमाणित है कि भगवान् बुद्ध को जनपदीय भाषा ही प्यारी थी। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि वे अपने उपदेशों को विद्वान् से अशिक्षित—कोरे देहाती—लोगों तक पहुँचाना चाहते थे।

अब प्रश्न यह है कि वह जनपदीय भाषा कौन-सी थी ? निश्चित है कि जिस मागधी में, उनके उपदेश पिरोये गये, वही उनकी उपदेश-भाषा थी। किन्तु, वह मागधी न तो अर्द्धमागधी थी और न संस्कृत के नाटकों में मिलनेवाली 'मागधी' ही। वह तो वही हो सकती है, जो अशोक के 'गिरनार-शिलालेख' में है, जिसका साम्य पालि से है और जिस पालि में 'त्रिपिटक' लंका में सुरक्षित थे। इसीलिए बुद्ध-वचनों की मौलिक महत्ता तथा अपनी मातृभाषा के प्रेम के कारण ही पाँचवीं सदी में मगध-निवासी 'बुद्धघोष' अट्ठकथाओं को लाने लंका गये। साथ ही, हम यह भी देखते हैं कि मागधी भाषा के प्रेम के कारण ही 'बुद्धघोष' के गुरु मगधवासी आचार्य 'रेवत' ने भी बुद्धघोष को लंका जाने और मूल बुद्ध-वचन को ले आने के लिए प्रेरित किया।

अशोक के शिला-लेखों में भाषा की जो विभिन्नता दिखाई देती है, उसका मूल कारण यही है कि भगवान् बुद्ध की आज्ञा के अनुसार ही सम्राट् ने तत्-तत् प्रदेश की भाषाओं का व्यवहार किया है—किसी एक भाषा का नहीं। फिर भी, उन लेखों में मागधी की मौलिकता उसने अक्षुण्ण रखी है। इसका मुख्य कारण भी यही मालूम होता है कि बुद्ध-वचन की मुख्य भाषा मागधी थी और जो 'गिरनार' के शिला-लेख में अनुबद्ध है। भगवान् बुद्ध और सम्राट् अशोक के समय में अधिक-से-अधिक अन्तर ढाई-पौने तीन सौ वर्षों का

१. चुल्लवग्ग—५, ३३, १।
२. तत्रैव।

होता है। एक भाषा के बदलने में काफी समय लगता है। इतने वर्षों के अन्तर में यह कदापि सम्भव नहीं है कि गिरनार-शिलालेख की भाषा बुद्ध-वचन की भाषा से बिलकुल बदल जाय। उसमें भी यह भाषा एक तरह से धर्म-भाषा थी, जिसकी अक्षुण्णता पर धर्म-पुरुषों ने बहुत बल दिया होगा। बुद्ध-वचन की भाषा की एक मागधी परम्परा भी मिलती है, जिसे मगध-निवासी महाकाश्यप ने राजगृह की प्रथम संगीति में दृढ किया था। जिस भाषा में त्रिपिटक का अनुग्रथन प्रथम संगीति में हुआ, उसके नियामक मागधीभाषी महाकाश्यप ही थे और जिसका अक्षरशः अनुकरण सम्राट् अशोक ने किया होगा। बाद में भले ही उसे पालि-भाषा कहा गया हो।

यह विचारना आवश्यक है कि मगध-प्रदेश की उस भाषा का नाम पालि क्यों पड़ा और उसका व्यवहार कब से होने लगा? पालि शब्द का प्रथम-प्रथम व्यवहार हमें पाँचवीं सदी में, आचार्य बुद्धघोष की रचनाओं में प्राप्त होता है। किन्तु इन्होंने भी पालि शब्द का व्यवहार भाषा के अर्थ में नहीं किया है; बल्कि बुद्ध-वचन, मूल त्रिपिटक तथा उसके पाठ के अर्थ में किया है। 'विशुद्धिमग्ग' में उनका वाक्य है— "नेव पालियं न अट्ठ-कथायं दिस्सति।" अर्थात् न यह पालि में दीखता है, न अट्ठकथा में। स्पष्ट है कि यहाँ 'पालि' का अर्थ भाषा नहीं है। किन्तु इसी आधार पर १४वीं सदी के बाद, पालि शब्द भाषा के अर्थ में व्यवहृत होने लगा। आज तो पालि शब्द का मुख्य अर्थ यह माना जाता है —"बौद्धधर्म के स्थविरवाद के त्रिपिटक और उसके अन्य साहित्य जिस भाषा में लिपिबद्ध हैं, वही पालि-भाषा है[1]।"

हमें यहाँ देखना चाहिए कि 'पालि' शब्द का मूल रूप कौन-सा शब्द है और भाषा के अर्थ में इसका पालि नाम क्यों पड़ा? इससे भी मागधी और पालि की एकरूपता पर प्रकाश पड़ सकता है। भाषाशास्त्रियों ने अपने-अपने विचारानुसार कई शब्दों को इसका मूल रूप माना है, जिनमें 'परियाय', 'पाठ', 'पंक्ति', 'पाल', 'पल्ली' आदि हैं। किन्तु इन सब शब्दों में युक्तियुक्त तथा ग्राह्य शब्द 'परियाय' माना गया है, जिसका अर्थ होता है—'बुद्ध-वचन'[2]। भाषाशास्त्रियों का कहना है कि 'परियाय' का 'अपभ्रंश' 'पलियाय' है। इसी पलियाय का प्रथम अक्षर दीर्घ होकर 'पालियाय' बन गया तथा इसी का संक्षिप्त रूप 'पालि' हो गया[3]। इस विचार से बौद्ध विद्वान् भिक्षु जगदीश काश्यप भी सहमत हैं[4]। किन्तु, मेरी दृढ धारणा है कि मागधी का 'पालि' नाम मगध के जनपद-विशेष के नाम पर पड़ा है। जिस तरह मैथिली, भोजपुरी मागधी, बँगला, गुजराती आदि भाषाओं का नाम जनपद

१. श्रीभरतसिंह उपाध्याय-लिखित 'पालि-साहित्य का इतिहास'।
२. भगवता अनेक परियायेन धम्मो पकासितो। —दीघ निकाय—१, २ (सामञ्ञफलसुत्त)
३. पालि-साहित्य का इतिहास (भरतसिंह उपाध्याय)—पृ० ४
४. पालि-महाव्याकरण (भिक्षु जगदीश काश्यप), वस्तुकथा—पृ० ८-१२ में इसका विस्तृत विवेचन द्रष्टव्य।

या प्रदेश-विशेष के नाम पर पड़ा है, उसी तरह 'पालि' का नाम भी मगध के जनपद-विशेष के नाम पर पड़ा। लंका में जब त्रिपिटक और अट्ठकथाएँ पहुँचीं, तब बहुत संभव है कि गया जिले के टेकारी के पास के 'पालि' जनपद-क्षेत्र से गई होंगी। यह पालि-जनपद बौद्धधर्म का अड्डा था और इसीलिए गुप्तकाल में भी वह एक प्रमुख स्थान रहा। आज भी वहाँ बौद्धमूर्त्तियाँ और गुप्तकाल के अवशेष देखे जा सकते हैं, जिनसे पता चलता है कि किसी समय मगध के प्रमुख स्थानों में इस जनपद का अपना विशिष्ट स्थान था। 'पालि' नामक दूसरा स्थान भी पटना जिले के पश्चिमी क्षेत्र में अवस्थित है, जो एक प्रसिद्ध स्थान है। लंका में बौद्धधर्म के ग्रन्थ इन्हीं स्थानों के प्रमुख भिक्षुओं के द्वारा गये होंगे, अतः बहुत अधिक संभावना है कि इन्हीं स्थानों के आधार पर जनपदीय पालि-भाषा का नामकरण हुआ होगा।

अनेक विद्वानों का मत है कि 'पालि' मगध की भाषा नहीं थी, अपितु उज्जैन-प्रदेश की भाषा थी; क्योंकि सम्राट् अशोक ने अपने सभी शिला-लेख तत्-तत् प्रदेशों की भाषाओं में ही लिखवाये थे। अतः, उज्जैन-प्रदेश के पास में स्थित 'गिरनार' का शिला-लेख, जो पालि से मिलता-जुलता है, उज्जैन-प्रदेश की भाषा में ही सम्राट् ने लिखवाया होगा। इनका दूसरा तर्क भी है कि चूँकि अशोक के पुत्र महेन्द्र का जन्म-स्थान उज्जैन-प्रदेश था, इसलिए लंका में जाकर उसने अपनी मातृभाषा में ही बुद्ध-वचनों को लिपिबद्ध कराया होगा। किन्तु ये सारी बातें केवल कल्पना के महल हैं। पहली बात तो यह है कि महेन्द्र की मातृभाषा मागधी थी अथवा उज्जैन की भाषा थी, यही निश्चित करना कठिन है; क्योंकि केवल उज्जैन में जन्म लेने से ही उसकी मातृभाषा वहाँ की होगी, यह कैसे मान लिया जाय? यदि ऐसा मान भी लिया जाय, तो यह कैसे नहीं माना जाय कि 'गिरनार-शिला-लेख' को सम्राट् अशोक ने अपनी मातृभाषा में न लिखवाया हो? अशोक की भी अपनी मातृभाषा पर किसी से कम ममता नहीं होगी। दूसरी बात यह है कि उज्जैन अशोक की दूसरी राजधानी था, जहाँ अशोक के समय में लगभग १०० वर्षों से मौर्यों का शासन स्थिर था। अशोक स्वयं भी वहाँ का शासक रह चुका था। वहाँ के राजकीय व्यवहार के कार्य अशोक की प्रधान राजधानी के कार्यालय की भाषा में ही होते होंगे, जिससे दोनों में एकरूपता रहती होगी। अतः, उज्जैन के नागरिकों और कर्मचारियों के लिए प्रधान राजधानी की भाषा मागधी का ज्ञान नितान्त आवश्यक होगा। इसलिए गिरनार-शिला-लेख निश्चित रूप से तत्कालीन मागधी में ही लिखा गया। तीसरी बात भी मुझे जो कहनी है, वह यह कि जब आज से ८०० वर्ष पहले जिस भाषा को मागधी कहा गया और जिन ग्रन्थों में ऐसा कहा गया, उनकी और बातें तो हम प्रमाण मानते हैं, तब कोई कारण नहीं दीखता कि उसकी मागधी भाषावाली बात हम प्रमाण-रूप में न मानें। लंका का प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ 'महावंस' है। इसके ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा तक यह ग्रन्थ चौथी सदी में लिखा गया। इसका परिवर्द्धित संस्करण सन् १२४० ई० से सन् १२७५ ई० के बीच में 'धर्मकीर्त्ति' ने किया, जिसका नाम 'चूलवंस' रखा गया। इसी में 'बुद्धघोष'

की जीवनी है। इसके अनुसार बुद्धघोष के गुरु 'रेवत' ने उनसे कहा—"बुद्ध की कथाएँ सिंहली भाषा में सुरक्षित हैं। लोक-कल्याण के लिए तुम उसे 'मागधी' में रूपान्तरित करके ले आओ'।" इसके बाद गुरु की आज्ञा पाकर बुद्धघोष ने जिस भाषा में सिंहली कथाओं का रूपान्तरित किया, वही 'पालि' मानी जाती है। यहाँ ध्यान रहे कि गुरु ने मागधी में रूपान्तरित करने को कहा था और तब बुद्धघोष की रूपान्तरित भाषा (जिसे हम पालि कहते हैं) कैसे मागधी नहीं होगी। इसी तरह १२वीं सदी में लिखे गये पालि-भाषा के 'मोग्गलान व्याकरण' का प्रथम सूत्र भी कहता है—"मासिस्सं *मागधं* सद्द-लक्खनं।"—अर्थात् मागधी भाषा का शब्द-लक्षण प्रतिपादित करता हूँ। यहाँ भी मागधी का ही नाम लिया गया है। 'कच्चान व्याकरण' में भी इसी तरह कहा गया है—

"सा *मागधी* मूलभासा सम्बुद्धा चापि भासरे।'

स्वयं बुद्धघोष (पाँचवीं सदी का पूर्वार्द्ध) ने भी अपनी 'समन्त पासादिका' नामक पुस्तक में लिखा है—'सम्मा सम्बुद्धेन वुत्तपकारो *मागधको* वोहारो।' अर्थात्, सम्यक् सम्बुद्ध के द्वारा प्रयुक्त *मागधी* का यहाँ व्यवहार है। इन्होंने अपनी दूसरी पुस्तक 'विसुद्धिमग्ग' में भी लिखा है—'*मागधिकाय* सब्बसत्तानं मूलभासाय।'—अर्थात्, सभी प्राणियों की मूल भाषा *मागधी* के लिए।

इस तरह हम देखते हैं कि आज से १५०० वर्ष पहले भी मागधी ही बुद्धोपदेश की भाषा कही गई और जिस भाषा में ग्रन्थों की रचना की गई है, वह (पालि-भाषा) मागधी के अतिरिक्त दूसरी हो ही नहीं सकती और न वह दूसरे प्रदेश की भाषा हो सकती है।

व्याकरण के जिस आधार पर कुछ लोग पालि को मागधी से भिन्न होने का दावा करते हैं, किन्तु उसका भी आधार दृढ़ दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे कहा जाय कि पालि मागधी से भिन्न भाषा है। उनका कहना है कि मागधी में 'स' के स्थान पर 'श' होता है। इसी तरह 'र' नहीं होता, इसके स्थान पर 'ल' होता है। पालि में पुंलिंग अकारान्त के एक-वचन में ओकारान्त होता है और नपुंसकलिंग अकारान्त शब्द की एकवचन विभक्ति अनुस्वरान्त होती है, जो मागधी में दोनों लिंगों के एकवचन में एकारान्त हो जाती है। पालि में 'श' अक्षर तो होता ही नहीं। पर, पालि में भी कहीं-कहीं 'र' के स्थान पर 'ल' मिलता है और एकारान्त शब्द भी कहीं-कहीं मिलते हैं। जैसे, अशोक के शिला-लेख में भी और 'सुत्त-निपात' में 'राहुलोवादः' की जगह 'राहुलोवादे', 'बुद्धः' के स्थान पर 'बुधे' तथा 'मृगः' की जगह 'मृगे' आदि रूप प्राप्त होते हैं; पर ये प्रयोग कम हैं। फिर भी थोड़ा-बहुत दोनों रूप हैं। किन्तु जिस मागधी से पालि का इस तरह मिलान किया जाता है, वह मागधी तो अशोक के बहुत काल के बाद की मागधी है और जो हमें अभिलेखों और नाटकों में प्राप्त होती है। पाँच-सात सौ वर्ष बाद की मागधी से अति प्राचीन मागधी का स्वरूप निर्धारण करना न्याय-संगत

१. कता सिंहलभासाय सींहलेसु पवत्तति।
तं तत्थ गन्त्वा सुत्वा त्वं मागधानां पवत्तति॥ —महावंस, परि० ३७

नहीं है। यह तो अतिप्राचीन मागधी का रूपान्तरित मागधी हो सकती है। यों तो अशोक के ही विभिन्न शिला-लेखों में पालि के एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूप प्राप्त होते हैं। जैसे—'लिख्' धातु के णिजन्त रूप गिरनार में 'लेखापिता' है ; शहबाजगढ़ी में 'लिखपितु', जौगढ़ में 'लिखापिता' और मानसेरा में 'लिखपित' मिलता है। और, इसी धातु का मागधी रूप 'मृच्छकटिक' नाटक में 'लिहावइश्श' है।

इन सारी बातों पर अच्छी तरह विचार करने से पता चलता है कि प्राचीन काल की मागधी ही पालि-भाषा है, जो बिहार-प्रदेश के मगध-क्षेत्र की भाषा थी तथा जिसकी देन बौद्धधर्म के विकास में अनिर्वचनीय है। इसके अतिरिक्त जेम्स एल्विस, चाइल्डर्स, विंडिश, विंटरनित्ज, ग्रियर्सन, गायगर आदि विदेशी विद्वानों ने भी पालि को मागधी ही माना है—किसी दूसरे क्षेत्र की भाषा नहीं।

बौद्धधर्म के विकास में बिहार-प्रदेश की मागधी भाषा की देन अतुलनीय और अनिर्वचनीय है। सच पूछिए, तो बौद्धधर्म के विकास का सम्पूर्ण भाण्डार ही मागधी (पालि) की देन है, यानी सारा बौद्धसाहित्य-सागर ही मागधी भाषा के धारा-प्रवाहों से भरा है, जिसका लेखा-जोखा दुष्कर है। मागधी ने केवल बौद्धधर्म के अस्तित्व, सुरक्षा और विकास का ही कार्य नहीं किया है, अपितु समस्त भारत की संस्कृति, सभ्यता, इतिहास तथा विविध कलाओं की विपुल रचना के साथ-साथ उसका विकास भी किया है। इस सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ न कहकर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के ही कुछ वाक्य उद्धृत कर देना श्रेयस्कर समझता हूँ। इन्होंने भरतसिंह उपाध्याय द्वारा लिखित 'पालि-साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है—"ईसवी सन् के पहले और पीछे की पाँच शताब्दियों के भारत के विचार, साहित्य, समाज सभी क्षेत्रों की हमारी जानकारी बिलकुल अधूरी रह जाती, यदि हमारे पास पालि-साहित्य नहीं होता। हमारे इतिहास के कितने अंधकारावृत भागों पर पालि-साहित्य ने प्रकाश डाला है। हमारे ऐतिहासिक नगरों और गाँवों में बहुतों को विस्मृति के गर्भ से बाहर निकालने का श्रेय पालि-साहित्य को है।" इस तरह हम पालि-भाषा की महत्ता और विशेषता से अवगत हो जाते हैं।

बौद्ध साहित्य को मागधी की देन

बिहार-प्रदेश की प्राचीन नगरी 'राजगृह' में जो सर्वप्रथम बौद्ध संगीति बैठी और बुद्ध-वचनों के पाठ स्थिर किये गये, उसके अनुसार सुत्तपिटक, विनयपिटक और बुद्धघोष के कथनानुसार अभिधम्म की रचना भी इसी संगीति में हुई। किन्तु 'चुल्लवग्ग' के बारहवें खन्धक के लेखानुसार हमें ज्ञात होता है कि 'रेवत' को धर्म, विनय और मातृका कण्ठस्थ थे। पिटक शब्द का उल्लेख इस जगह नहीं मिलता है। विद्वानों का कहना है कि 'मातृका' का निर्माण ही महाकाश्यप ने किया[1], अभिधम्म का नहीं। 'दिव्यावदान' में भी—*सूत्रस्य, विनयस्य, मातृकायाः* वाक्य का ही उल्लेख हमें प्राप्त होता है। जो हो, किन्तु आज

1. बौद्धधर्म-दर्शन (आचार्य नरेन्द्रदेव)—पृ० २७

बौद्धों के सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक अतिप्राचीन ग्रन्थ माने गये हैं और उनकी प्रामाणिकता में किसी को भी कुछ सन्देह नहीं है। ये सभी ग्रन्थ अतिप्राचीन मागधी से अभिन्न पालि-भाषा में ही हैं।

सुत्तपिटक में पाँच निकाय हैं—(१) दीघ निकाय, (२) मज्झिम निकाय, (३) संयुत्त निकाय, (४) अंगुत्तर निकाय और (५) खुद्दक निकाय। इन निकायों की संख्या शताधिक है।

१. **दीघ निकाय** में ३४ सूत्र-ग्रन्थ हैं। इसमें दूसरों के साथ हुए भगवान् बुद्ध के वार्तालापों का उल्लेख है। इसके 'ब्रह्मजालसुत्त' में तत्कालीन धार्मिक और दार्शनिक मन्तव्यों का जो दिग्दर्शन कराया गया है, वह हमारे देश के दार्शनिक इतिहास की कुछ ऐसी रेखाएँ हैं, जिनसे हम भारतीय दार्शनिक पद्धति और उसकी आधार-भूमि का बहुत-कुछ महत्त्वपूर्ण आभास प्राप्त कर लेते हैं। साथ ही इस सुत्त से हमें तात्कालिक धर्मोपदेशक और उनके विचार, वर्णाश्रम-व्यवस्था, आचार, नियम और इन सब पर भगवान् बुद्ध के अभिमत आदि हमें प्राप्त हो जाते हैं। यह ग्रन्थ भारतीय समाज-व्यवस्था का एक सुन्दर और स्पष्ट चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है तथा वैदिक धर्म का धुँधला-सा प्रकाश भी देता है, जिसपर भगवान् बुद्ध की प्रतिक्रिया का रूप भी सामने खड़ा कर देता है। इन सारी बातों से इसकी विशेष महत्ता प्रकट होती है।

२. **मज्झिम निकाय** में १५२ सूत्र-ग्रन्थ गुम्फित हैं। इसमें भी बुद्ध के उपदेश भरे हैं और उनके संवादों की विस्तृत चर्चा है। इसमें चार आर्यसत्य, निर्वाण, कर्म, सत्कायदृष्टि, अनात्मवाद, ध्यान आदि विषयों पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की गई है। साथ ही तत्कालीन भारतीय समाज का जैसा विशद चित्रण, दृष्टान्तों और उपमाओं के साथ, ग्रन्थ में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। बौद्ध भिक्षुओं के जानने-मानने योग्य नियम-ज्ञान आदि की एक विस्तृत तालिका भी इसमें ग्रथित है। बुद्धकालीन भारत की वास्तविक सामाजिक स्थिति के लिए यह एक प्रामाणिक कोष-ग्रन्थ है।

३. **संयुत्त निकाय** में ५४ संयुत्त हैं, जो पाँच वर्गों में बँटे हैं। यह ग्रन्थ अपनी अन्य विशेषताओं के साथ कथोपकथनात्मक ढंग का श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ है। भिक्षुणी-संयुक्त में लोक-गीतों का श्रेष्ठतम संग्रह है, जिसमें समाज की अनेक स्थितियों के साथ काव्य का अद्भुत चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। उपनिषद् और प्रातिशाख्य ग्रन्थों की शैली पर इसमें बौद्ध साहित्य का निर्माण किया गया है।

४. **अंगुत्तर निकाय** एक अति विशाल ग्रन्थ है। इसके ११ निपातों (समूहों) में २३०८ सूत्र दिये गये हैं। अंगुत्तर एकादशोत्तर शब्द का पालि रूप है, जिसका तात्पर्य है—एकादश उत्तरों का निकाय। ऐसा विद्वानों का मत है। पर, मेरी समझ में इसका अर्थ है—अंकों के द्वारा उत्तर दिया जानेवाला निकाय। प्रथम निपात में एक क्या-क्या है, इसे बताया गया है। द्वितीय में दो क्या-क्या हैं, तृतीय में तीन क्या-क्या हैं, बताये गये हैं। इसी तरह बढ़ते-बढ़ते ११वें निपात में ११ वस्तुएँ क्या-क्या हैं, उनकी तालिका दी गई है। इस

ग्रन्थ की विषय-विविधता के साथ शिक्षा देने की रोचक प्रणाली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें भी ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों की शैली दृष्टिगत होती है।

५. **खुद्दक** निकाय में भगवान् बुद्ध के छोटे-छोटे उपदेशों और छोटी-बड़ी कथाओं का संग्रह है। यह ग्रन्थ १५ भागों में विभक्त है। यह बौद्ध साहित्य में हिन्दुओं के १८ पुराणों के स्थान की पूर्ति करता है। पन्द्रह भागों के नाम इस प्रकार हैं–

१. खुद्दक पाठ
२. धम्मपद
३. उदान
४. इतिवुत्तक
५. सुत्तनिपात
६. विमानवत्थु
७. पेतवत्थु
८. थेरगाथा
९. थेरी गाथा
१०. जातक
११. निद्देस
१२. परिसमिदावग्ग
१३. अवदान
१४. बुद्धवंस
१५. चरिया पिटक[1]

इनमें से एक-एक भाग भारतीय संस्कृति, इतिहास, सभ्यता, भूगोल, धर्म, रीति-रिवाज तथा बौद्ध साहित्य का भांडार है। ये ग्रन्थ भारतीय संस्कृति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

विनय पिटक तीन भागों में विभक्त है। इन भागों के नाम हैं—सुत्तविभंग, खन्धक और परिवार। प्रथम सुत्तविभंग के भी दो भाग हैं—पाराजिक और पाचित्तिय। इसी तरह खन्धक भी दो भागों में बँटा है—महावग्ग और चुल्लवग्ग। इस प्रकार 'परिवार' के साथ इसके पाँच भाग होते हैं।

सुत्तविभंग विनयपिटक का प्रथम भाग है। इसमें २२७ नियमों का विधान करने-वाली सुत्तों की व्याख्या प्रतिपादित है। खन्धक के 'महावग्ग' में प्रव्रज्या, उपोसथ, वर्षावास, प्रवारण आदि विषयों से संबद्ध नियमों का उल्लेख किया गया है। इस तरह खन्धक के दूसरे भाग चुल्लवग्ग में भिक्षुओं के पारस्परिक व्यवहार तथा संघाराम-सम्बन्धी आचारों का वर्णन है। भिक्षुणियों के लिए इसमें विशेष आचारों का प्रतिपादन किया है। महावग्ग और चुल्लवग्ग—इन दोनों खण्डों में भगवान् बुद्ध की जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनाओं की चर्चा भी दी गई है। महावग्ग में बुद्ध के प्राथमिक धर्म-प्रचार का संक्षिप्त इतिहास भी प्राप्त होता है।

'परिवार' विनय-पिटक का तीसरा अंश है। इसके सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि यह बहुत बाद का प्रक्षिप्त अंश है। इसे सिंहल-देश के किसी बौद्ध भिक्षु ने जोड़ा है[2]। इसमें वैदिक अनुक्रमणिकाओं की तरह विभिन्न प्रकार की तालिकाएँ प्रस्तुत हैं।

अभिधम्मपिटक सात भागों में बँटा है। सातों के नाम इस प्रकार हैं—

१. इन सब पर विशेष प्रकाश के लिए भरतसिंह उपाध्याय-लिखित 'पालि-साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक का अवलोकन आवश्यक होगा।—ले०

२. बौद्धधर्म-दर्शन—(आचार्य नरेन्द्रदेव)—पृ० २०

(१) धम्मसंगणि, (२) विभंग, (३) धातुकथा, (४) पुग्गल पञ्ञत्ति, (५) कथावत्थु, (६) यमक और (७) पट्ठान। ये सातों बौद्धधर्म के दार्शनिक ग्रन्थ हैं। इन ग्रंथों में धर्मों का वर्गीकरण, वर्गीकृत धर्मों का विस्तार और उसपर मंगजाल का प्रसार, धातुओं की प्रश्नोत्तर के रूप में व्याख्या, मानव-अंगों का वर्गीकरण, बौद्धधर्म का विकासात्मक इतिहास, मतान्तरों का पूर्व-पक्ष में समर्थन और खण्डन, अनेक बौद्ध सिद्धान्तों की स्थापना आदि बड़े ही युक्तिसंगत एवं वैज्ञानिक ढंग पर प्रतिपादित किये गये हैं। 'कथावत्थु' तक के पाँच ग्रन्थों में जिन शंकाओं के समाधान नहीं किये गये थे, उन शंकाओं के समाधान 'यमक' के विवरणों में दिये गये हैं। इसी तरह 'पट्ठान' में नाम और रूप के २४ प्रकार के कार्य-कारण-सम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया है। इनमें क्रमशः पाँच दार्शनिक ग्रन्थों का निर्माण मौर्यकाल तक हो चुका था और 'यमक' तथा 'पट्ठान' की रचना उसके बाद में हुई।

इन उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त भी प्राचीन मागधी (पालि) ने बौद्ध साहित्य को खूब भरा-पूरा किया है। ऐसे ग्रन्थों में बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धर्मपाल की लिखी अट्ठकथाएँ हैं, जो पालि-साहित्य के गौरव-ग्रन्थ हैं। इनका यथास्थान पहले उल्लेख हो चुका है[1]। बुद्धघोष के पूर्व जिन मान्य बौद्ध ग्रन्थों की रचना हुई, उनमें *नेत्तिपकरण*, *पेटकोपदेश*, तथा *मिलिन्दपञ्ह* प्रमुख हैं।

'नेत्तिपकरण' के रचयिता 'गन्धवंस'[2] के अनुसार बुद्ध के शिष्य 'महाकात्यायन' थे। इसमें १६ हार ग्रथित हैं। इन १६ हारों में यह ग्रन्थ बुद्धधर्म और दर्शन का भाष्य है। जैसे वेदों का भाष्य निरुक्त है, उसी तरह बौद्धधर्म-दर्शन का भाष्य 'नेत्तिपकरण' है। इसका रचना-काल ईसवी सन् के आरंभ के आस-पास माना गया है[3]। धर्मपाल ने पाँचवीं सदी में इस ग्रन्थ की 'नेत्तिप्पकरणस्स अत्थु संवण्णना' नामक अट्ठकथा लिखी थी[4]।

'पिटकोपदेश' के रचयिता भी महाकात्यायन ही माने गये हैं, जो अतिशय संदिग्ध है। यह भी 'विनयपिटक' का एक भाष्य है। इसकी भाषा 'नेत्तिपकरण' की भाषा से अधिक सुलझी और मँजी है। इसलिए दोनों के रचयिता एक नहीं हो सकते। यह उससे बहुत बाद का ज्ञात होता है। फिर भी इसकी प्राचीनता असंदिग्ध है।

'मिलिन्दपञ्ह' का रचयिता कौन है? यह प्रश्न आज तक निरुत्तर ही बना हुआ है। इस ग्रन्थ में बुद्ध के विनय और अभिधर्म की चर्चा विशद रूप में है। बौद्ध ग्रन्थों में इसका खूब समादर है। प्रामाणिकता में पिटकों के बाद इसी का स्थान माना जाता है। यह ग्रन्थ मिनान्दर (मिलिन्द) और गुरु नागसेन के प्रश्नोत्तर-रूप में निबद्ध है, जिससे शुंगकाल की अनेक घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। इसका निर्माण-काल ईसा-पूर्व दूसरी या पहली शती है।

१. देखिए—इस पुस्तक का पृ० २०८
२. गंधवंस—पृ० ४६
३. पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज (गायगर), पृ०—२६
४. पालि-साहित्य का इतिहास—पृ० ४७१

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त पालि-भाषा में सिंहल-देश के वंश-ग्रन्थ हैं, जिनमें महावंस चूलवंस, गंधवंस, सासनवंस, महाबोधिवंस और थूपवंस आदि हैं। इस तरह हम देखते हैं कि प्राचीन मागधी में संसार की बृहत् संस्कृति समन्वित है।

(क) धर्मसेनापति *सारिपुत्र* भगवान् बुद्ध के अत्यन्त प्रिय और प्रधान शिष्य थे। ये मगधवासी थे, जिनके सम्बन्ध में चर्चा पहले की गई है। भगवान् बुद्ध को इनकी विद्वत्ता और ज्ञान पर इतना भरोसा था कि अपनी ओर से भिक्षुओं में इनसे उपदेश कराते थे। सारिपुत्र के उपदेशों के जो संग्रह मिलते हैं, उनके नाम हैं—दसुत्तरसुत्त और संगीति परियायसुत्त[1]। संगीति परियायसुत्त एक संख्या से १० संख्या तक के वर्गीकरण में बुद्ध-मन्तव्यों की विस्तृत तालिका है। इसमें विनय और अभिधम्म का मूल तत्त्व समाविष्ट है। 'धर्मस्कन्धपाद' भी इन्हीं की रचना मानी जाती है।

बौद्ध साहित्य को बिहारी विद्वानों की देन

(ख) आचार्य बुद्धघोष के 'समन्तपासादिका' के अनुसार 'अभिधम्मपिटक' की रचना मगध-देशवासी और प्रथम संगीति के नियामक *महाकाश्यप* ने ही की है। वह बौद्ध दर्शन का मूल ग्रन्थ है।

(ग) सम्राट् अशोक के गुरु 'मोग्गलिपुत्रतिष्य' ने तृतीय संगीति के अवसर पर अभिधम्मग्रन्थ 'कथावत्थु' की रचना की, जो बौद्ध दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें १८ बौद्ध सम्प्रदायों में से एक स्थविरवाद की मान्यता दी गई है। शेष १७ दार्शनिक पद्धतियों का निराकरण किया गया है। विरोध-पक्ष के २१६ सिद्धान्तों का इस ग्रन्थ में खण्डन है, जो २३ अध्यायों में विभक्त है। पण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इसकी प्रामाणिकता पर संदेह प्रकट करते हुए अपनी 'पुरातत्त्व-निबन्धावली' नामक पुस्तक में लिखा है कि २१६ सिद्धान्तों में से कई सिद्धान्त अशोक के बाद के हैं। इसलिए 'कथावत्थु' में कई अंश पीछे के हैं, जो ईसा-पूर्व पहली शताब्दी तक में जोड़े गये हैं। इसमें तत्कालीन जिन आठ सिद्धान्तों के खण्डन हैं, उनमें दो ही महासंघिकों के हैं'—बाकी छह सिद्धान्त तो स्थविरवाद के ही हैं। कथावत्थु पर पाँचवीं सदी में बुद्धघोष ने अट्ठकथा भी लिखी है।

(घ) सम्राट् अशोक ने अनेक महान् धर्मोद्योगों की तरह बौद्ध साहित्य का भी दान किया, जिसमें उसके शिला-लेख और स्तम्भ-लेख हैं, जो इतिहास के जीवित साक्ष्य हैं[2]।

(च) आर्य मोग्गलान की कृति 'प्रज्ञप्तिशास्त्रपाद' नामक रचना मानी जाती है। मोग्गलान भी मगध-निवासी ही थे, जिनके सम्बन्ध में पहले ही विवरण प्रस्तुत कर दिया गया है।

(छ) कनिष्क के समय में पाटलिपुत्र के 'अश्वघोष' ने बौद्ध साहित्य का जैसा सर्जन किया है, वह सर्वविदित है। इसका भी उल्लेख यथास्थान इस पुस्तक में द्रष्टव्य है[3]।

१. दीघ निकाय—३-१०

२. देखिए इसी पुस्तक का परिशिष्ट—४

३. इस पुस्तक के पृ०—१८६-१६०

(ज) गुप्तकाल के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् बुद्धघोष की विपुल कृतियों की देन तो अनुपम है ही[1], जिसने समस्त बौद्धधर्म के साहित्य का उद्धार किया है।

इन सबके अतिरिक्त सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक बिहार के जिन विद्वानों ने, अपने देश तथा विदेश (जैसे चीन, बर्मा, तिब्बत, लंका आदि) में जाकर बौद्धसाहित्य-सर्जन का जो महाप्रयास किया है, वह तो अवर्णनीय है। फिर भी इन सबका संक्षिप्त परिचय पहले ही दिया जा चुका है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्धसाहित्य के प्रणयन और उन्नयन में बिहार-प्रदेशवासी विद्वानों ने जितने कार्य किये हैं, उन सबकाउल्लेख दुष्कर है। आज भी महा पण्डित राहुल सांकृत्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप-जैसे बिहारी विद्वान् बौद्धसाहित्य का भांडार भरते ही जा रहे हैं।

---

१. देखिए—इस पुस्तक के पृ०—२०७-२०८

परिशिष्ट–२

बौद्ध स्थापत्य और शिल्पकला के क्षेत्र में—

अशोक के पूर्व

बिहार-प्रदेश के कुशल शिल्पियों तथा बौद्ध भक्तों ने चैत्य, विहार, मंदिर, भित्तिचित्र एवं बुद्धमूर्ति का निर्माण करके अथवा कराके बौद्धधर्म के विकास में जो सहयोग दिया, उसका मूल्य किसी भी धर्मोद्योग से कम नहीं है। बिहार की स्थापत्य-कला और शिल्पकला ने भी उसी तरह बौद्धधर्म के निर्माण, रक्षा एवं विस्तार में स्तुत्य प्रयत्न किया है, जिस तरह बिहार के राजाओं, विद्वानों एवं साहित्य ने किया है। बौद्धधर्म की रक्षा तथा प्रसार के लिए ही भगवान् बुद्ध की धातुओं का आठ भागों में विभाजन हुआ था, जिनपर चैत्यों का निर्माण हुआ। बिहार-प्रदेश में बुद्ध की धातुओं पर जिन लोगों ने चैत्यों का निर्माण कराया, उनमें वैशाली के लिच्छवि, अल्लकप्प के बुल्ली और मगध के सम्राट् अजातशत्रु मुख्य थे। चम्पारन जिले (पिप्पली-कानन) के मोरियों ने भी बुद्ध के भस्मावशेष पर चैत्य तैयार कराया था। इन चैत्यों में कैसी कारीगरी शिल्पियों ने की, कितना धन व्यय हुआ और इनकी क्या महत्ता थी, इसका पता राजगृह के चैत्य-निर्माण से चलता है। इस चैत्य-निर्माण का वर्णन 'दीघ निकाय' के 'परिनिब्बाणसुत्त' की 'अट्ठकथा' में बुद्धघोष ने किया है[1], जिसका सारांश यहाँ दिया जाता है—

"चैत्य-निर्माण के लिए ८० हाथ गहरा गड्ढा खोदा गया। उसमें लोहे की चादर बिछाकर 'थूपाराम' चैत्य-घर के बराबर ताँबे का घर बनवाया गया। बाद, भगवान् बुद्ध की धातु एक छोटी पिटारी में रखी गई[2]। उसके ऊपर ताम्रगृह, रजतगृह और तब सर्वरत्नमय गृह का निर्माण हुआ। इसके बाद महामुनि महाकाश्यप ने गृह के ऊपर बालू और पुष्पों को बिखरवाकर भरवा दिया। इसके ऊपर साढ़े पाँच सौ जातकों, अस्सी स्थविरों, बुद्ध के पिता शुद्धोधन, माता मायादेवी आदि की सुवर्णमय मूर्त्तियाँ भी बनवाई गईं। पाँच सौ रजत-सुवर्णमय घट स्थापित किये गये, पाँच सौ ध्वज फहरवाये, पाँच सौ सुवर्ण-दीपों और पाँच सौ रजत-दीपों में घी डालकर स्वच्छ दुकूल-बत्तियाँ जलाई गईं। तब महामुनि महाकाश्यप ने उसपर यह वाक्य लिखवाया—'भविष्य में दरिद्र राजा मणियों को ग्रहण कर इन धातुओं की पूजा करें।' बाद में सम्राट् अजातशत्रु ने चारों ओर वृद्धों के निवास करने लायक शिला-परिक्षेप कराया और ऊपर एक भारी शिला-खण्ड से बन्द करवाकर मिट्टी डलवाई और उस स्तूप को समतल करवा दिया।"

स्थापत्य-निर्माण की यह प्रथा भगवान् बुद्ध से भी पहले की, अतएव बहुत पुरानी थी।

---

१. बुद्धचर्या (महापण्डित राहुल सांकृत्यायन) पृ०—५४७

२. विस्तृत विवरण इस पुस्तक के पृ०—२५३-२५४ पर देखिए।

इस तरह के स्तूप धर्माचार्यों और राजाओं के अवशेषों पर बनते थे, जिन्हें देखकर ही अपने परिनिर्वाण के समय बुद्ध ने शिष्यों से कहा था—'मेरे निर्वाण के बाद मेरे अवशेषों पर स्तूप बनवाये जायँ।' स्वयं भगवान् बुद्ध ने वैशाली के कई पुराने स्तूपों की चर्चा की है।

सम्राट् अशोक ने अपने धर्मोद्योग-काल में भगवान् बुद्ध के स्मृति-रक्षार्थ तथा धर्म की चिरस्थिति के लिए राजगृह तथा अन्य छह स्तूपों में रखी गई बुद्ध-धातुओं को निकालकर उनपर लगभग तीन वर्षों में ही ८४ हजार स्थानों में स्तूपों का निर्माण कराया। इन ८४ हजार स्तूपों के निर्माण-सम्पादन का समाचार अशोक को पाटलिपुत्र में एक साथ ही मिला[1]। समाचार प्राप्त होने पर प्रियदर्शी अशोक ने पाटलिपुत्र में तथा अपने सम्पूर्ण राज्य में बड़ी धूमधाम से उत्सव मनाया और राज्य-सीमा के एक-एक योजन पर अमित दान दिया था[2]। इन स्तूपों में एक को काफिरिस्तान (जलालाबाद) में, एक को कुसीनारा में, एक को शाहाबाद जिले के 'मसाढ़' ग्राम से पूरब ६ मील पर, एक को वैशाली में और एक को पाटलिपुत्र में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने, सातवीं शताब्दी में भी, देखा था।

अशोक के काल में—

उपर्युक्त स्तूपों के अतिरिक्त सम्राट् अशोक ने धर्म की चिरस्थिति के लिए वैशाली, लौरिया-नन्दनगढ़, रामपुरवा, लुम्बिनी-वन, नैपाल की तराई के गाँव निग्लिवा, सारनाथ, काशी (वरुणा नदी के किनारे), कोसाम्बी, श्रावस्ती, साँची, टोपरा, मेरठ आदि स्थानों में कुशल शिल्पियों द्वारा निर्मित प्रस्तर-स्तम्भ गड़वाकर धर्मलेख खुदवाये। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न स्थानों में धर्म-प्रचार के लिए सम्राट् ने शिला-लेख भी अंकित कराये, जो हमारे गौरवमय इतिहास के ज्वलन्त प्रतीक हैं। इसके अलावा अनेक बौद्ध विहारों[3] एवं गुहाओं[4] का भी निर्माण कराया था। स्तम्भों के निर्माण में, उनपर लेप चढ़ाने में तथा स्तम्भ-शिखर की नानाविध मूर्त्तियों[5] में बिहार-प्रदेश के कलाकारों ने जो आश्चर्यजनक कौशल दिखलाया है, उनका सादृश्य संसार में नहीं मिलता। स्तम्भों पर अंकित अधोमुख कमलपुष्प, उष्णीष (पगड़ी), चौकी, पाश (रस्सी) और साँड़ तथा सिंह की मूर्त्ति में जिस कला-कौशल का प्रदर्शन किया गया है, वह सर्वथा दर्शनीय है। उन स्तम्भों की स्फटिक-स्निग्ध पॉलिश किस विधि से बनाई गई थी, इसका पता आजतक किसी को नहीं लगा। इसी तरह इन विशालकाय स्तम्भों का निर्माण, उस युग में, कैसे हुआ और चुनार में बने हुए ये स्तम्भ इतनी दूर-दूर तक कैसे लाये गये, उनमें कितनी धन-राशि व्यय हुई, ये सारी बातें आजतक रहस्यमय ही बनी हुई हैं।

---

१. महावंस—परि० ५, १७६
२. तत्रैव—परि० ५, १७७—१८०
३. पाटलिपुत्र का 'असोकाराम' और 'कुक्कुटाराम' विहार।
४. गया जिले के 'बराबर पहाड़' की गुफाएँ।
५. सारनाथ-स्तम्भ की सिंहमूर्त्ति और रामपुरवा के स्तम्भ की वृषभ-मूर्त्ति।

यूरोप के डॉ० स्मिथ भारतीय पुरातत्त्ववेत्ताओं में अपना प्रमुख स्थान रखते थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'अर्ली हिस्टरी ऑफ् इंडिया' में दिल्ली-स्तम्भ की एक घटना का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—"दिल्ली से कुछ दूर टोपरा गाँव में अशोक का बनवाया एक प्रस्तर-स्तम्भ खड़ा था। भारत के बादशाह फिरोजशाह तुगलक ने अपनी राजधानी दिल्ली की शोभा बढ़ाने के लिए, उस स्तम्भ को दिल्ली लाने का निश्चय किया। बड़े-बड़े देशी-विदेशी इंजीनियर इस काम के लिए नियुक्त किये गये। गिरने पर स्तम्भ टूटे-फूटे नहीं, इसके लिए इंजीनियरों ने उसके आस-पास—चारों तरफ रुई बिछाकर अम्बार लगवा दिया। स्तम्भ के पास ही ४२ बैलगाड़ियाँ खड़ी कराई गईं। बड़ी कठिनाई से रस्सों के सहारे स्तम्भ को बैलगाड़ियों पर रखा गया और उसकी सुरक्षा के लिए सम्पूर्ण स्तम्भ में गद्दीदार घास-पुआल बाँधा गया। उन बैलगाड़ियों को खींचने में ८४०० (आठ हजार चार सौ) आदमी लगाये गये, जो बैलगाड़ियों के दोनों किनारे बाँधे गये एक मोटे और लम्बे रस्से में लगे थे। यमुना नदी तक इसी तरह स्तम्भ खींचकर लाया गया और तब नावों के जरिये वह दिल्ली पहुँचाया गया।" इस एक छोटी-सी घटना से हम अशोक के इंजीनियरों की और उस काल के यातायात की थोड़ी कल्पना कर सकते हैं।

अशोक के समय में भगवान् बुद्ध के मूर्त्ति-निर्माण का पता नहीं चलता है। इसके यह अर्थ नहीं हैं कि उस समय तक मूर्त्ति-निर्माण-कला का विकास नहीं हुआ था। उस समय जब सिंह, साँड़ आदि पशु-मूर्त्तियाँ बनती थीं, तब मनुष्य-मूर्त्ति कैसे न बनती होगी? इसके अतिरिक्त 'कौटिल्य' के 'अर्थशास्त्र' में देव-देवी की मूर्त्तियों का प्रचुर उल्लेख प्राप्त होता है। मौर्यकाल की दीदारगंज की यक्षिणी-मूर्त्ति (जो कला की अनुपम देन है) के अतिरिक्त उससे हजारों वर्ष पहले के नगर 'हरप्पा' और 'मोहनजोदड़ो' की खुदाई से भी हमें अनेक मूर्त्तियाँ मिल चुकी हैं। स्वयं बौद्ध ग्रन्थों की बुद्धकालिक वार्त्ताओं में भी मूर्त्ति-निर्माण की चर्चा हुई है। मगध के पिप्पलीमाणवक (महाकाश्यप) की पत्नी कैसी होनी चाहिए, इसके लिए उसके माता-पिता ने कारीगरों से नमूने के लिए सुवर्ण की एक नारी-मूर्त्ति बनवाई थी और उसे देकर तद्रूप वधू की खोज में ब्राह्मणों को 'साकल'-प्रदेश में भिजवाया था[1]। स्वयं अजातशत्रु ने राजगृह के चैत्य-निर्माण में बुद्ध के माता-पिता और स्थविरों की मूर्त्ति बनवाकर बैठाई थी। इसके अतिरिक्त 'खारवेल' के शिला-लेख से यह ज्ञात होता है कि मगध-सम्राट् नन्दिवर्द्धन कलिंग को जीतकर वहाँ से एक जिनमूर्त्ति को पाटलिपुत्र उठा लाया था[2], जो अशोक के बहुत पहले की घटना थी। बाद में उस मूर्त्ति को 'खारवेल' (अशोक के बाद) बृहद्रथ मौर्य को जीतकर प्रचुर वैभव के साथ पाटलिपुत्र से कलिंग ले गया। इन सारी बातों से भली भाँति पता चलता है कि अशोक-काल में मूर्त्ति-निर्माण की कला पूरी तरह विकसित थी।

---

१. देखिए इस पुस्तक का पृ०—७१

२. इस पुस्तक का पृ०—१८७ द्रष्टव्य।

सम्राट् अशोक ने भगवान् बुद्ध की मूर्त्ति बनवाकर उसे स्थापित नहीं कराया, इसका मुख्य कारण यह था कि अशोक हीनयान-सम्प्रदाय को माननेवाला था। हीनयान में बुद्ध-मूर्त्ति का निर्माण वर्जित है। इस सम्प्रदाय के अनुसार बुद्ध के प्रतीकों की ही पूजा की जा सकती है, जैसे—वज्रासन, वृक्ष, उष्णीष, चक्र, स्तूप, पदचिह्न, चंक्रम-स्थान आदि। भगवान् बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण-काल में प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था कि मेरे निर्वाणोपरान्त मेरी धातुओं की पूजा हो, मेरी मूर्त्ति की नहीं[1]। बुद्ध के इस आदेश का हीनयान (स्थविरवाद) ने कड़ाई के साथ पालन किया। यही कारण रहा कि अशोक-काल में बुद्ध-मूर्त्ति का निर्माण नहीं हो सका, केवल उनकी जीवन-लीला और उनके उपकरणों को ही मूर्त्त रूप दिया गया।

शुंगकाल में— मूर्त्ति-निर्माण-कला के लिए शुंगकाल परम प्रसिद्ध काल है। इस की मूर्त्तियाँ भारतीय मूर्त्ति-कला की मुकुट-मणि हैं। किन्तु इस काल में भी हीनयान-सम्प्रदाय का ही बोलबाला था, तबतक महायान पनप नहीं सका था, अतः बुद्ध-मूर्त्ति-निर्माण के नमूने कम मिलते हैं। फिर भी, इस काल में बुद्ध-कथाओं के आधार पर बौद्ध वेष्टन-वेदिकाओं में अनेक और विविध मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हुई हैं। स्तूपों में जातक-कथाओं को चित्रित करके जनता में धर्म-भावना को पूर्ण जागरित किया गया है। बौद्ध स्थापत्य-कला को भी यथोचित आश्रय मिला। फलस्वरूप, साँची और बोधगया में इसके उदाहरण उपस्थित किये गये। इस काल की बौद्ध कलाओं के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है[2]।

कनिष्क-काल— कनिष्क-सम्राट् का काल तो बौद्ध शिल्पकला के उत्थान का स्वर्णयुग है। इस काल में महायान-सम्प्रदाय पूर्ण विकसित हो गया था। नागार्जुन, पार्श्व और अश्वघोष ने महायान के विकास में भरपूर परिश्रम किया और भगवान् बुद्ध देवता की कोटि में आकर पूजित होने लगे। बुद्ध की पूजा के लिए प्रतिमाएँ बनने लगीं। मूर्त्तिकला-विशारदों का कहना है कि भगवान् बुद्ध की शुद्ध प्रतिमा का निर्माण 'मथुरा' और 'अमरावती' में साथ-साथ हुआ। मथुरा की बुद्ध-मूर्त्ति भारतीय कला का विशुद्ध रूप है, जिसमें मगध की यक्ष-यक्षिणी-मूर्त्ति की सौम्यता, मृदुलता और पौष्टिकता का अनुपम निखार हुआ है। बिहार-प्रदेश में बुद्ध की जो पहली मूर्त्ति बनी, वह बोधगया में मिली है, जिसका समय विक्रमीय संवत् ६४ माना गया है। श्रावस्ती-मूर्त्ति की तरह ही यह भी मथुरा की लाल पत्थर से बनी है। इस मूर्त्ति के निर्माता का नाम 'त्रिकमल' था। कनिंघम ने इस मूर्त्ति का निर्माण-काल दूसरी सदी माना है[3]। मूर्त्ति पर जो प्राकृत-भाषा का लेख मिला है, उसके आधार पर 'श्रीवेणीमाधव बरुआ' ने इसे दूसरी और तीसरी सदी के बीच का कहा है। किन्तु इसी लेख के आधार पर 'श्रीरामप्रसाद चन्दा' ने इसे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय का बतलाया है। जो हो, पर इस मूर्त्ति की आकृति की शान्ति तथा कान्ति

---

१. दीघ निकाय (परिनिब्बाणसुत्त) देखिए।
२. देखिए पृ०—१८७ और १८८
३. महाबोधि—पृ० २१—२२

गुप्तकालीन ही जान पड़ती है। मूर्त्ति के दोनों कन्धों को बारीक और स्वच्छ चादर ढँके हुई है और वक्षःस्थल के दोनों ओर फैली है। पाटलिपुत्र की खुदाई में भी बोधिसत्त्व का एक कबन्ध मिला है, जो कनिष्ककालीन बतलाया जाता है।

गुप्तकाल की कला-संबंधी देन

गुप्तकाल तो विविध विद्याओं, ललित कलाओं, संस्कृतियों तथा वैभव का स्वर्णिम युग माना गया है। इस काल में बौद्ध विहार, संघाराम और बुद्ध तथा अन्य बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ प्रचुर और प्रसिद्ध हैं। बोधगया का मंदिर इस काल की भास्कर्य-कला की अनुपम देन है। इसका वर्णन फाहियान ने और ह्वेनसांग ने भी किया है। ह्वेनसांग ने बोधगया-मंदिर की उत्तर-पूर्व दिशा में एक ऐसी बुद्धमूर्त्ति देखी थी, जिसकी आँखें ऊपर की ओर उठी और बोधि-वृक्ष की ओर लगी हुई थीं। ज्ञात होता है, अनिमेष-चैत्य के पास यह मूर्त्ति थी। इस मंदिर के प्रांगण की अनेक मूर्त्तियों की चर्चा वह करता है, जिनमें अनेक आज भी देखी जा सकती हैं। इसके कथनानुसार चूने और बालू-मिट्टी की बनी अनेक मूर्त्तियाँ बोधगया-मंदिर के ताखों पर प्रतिष्ठित थीं। बोधिवृक्ष के पश्चिम एक बुद्धमूर्त्ति उसने देखी थी, जो काँसे की बनी थी और उसमें कीमती नगीने जड़े हुए थे। इसने गया के 'कपोतविहार' के समीप की एक पहाड़ी पर भी बौद्धमन्दिर देखा था, जिसमें शांत गम्भीर मुद्रा में 'अवलोकितेश्वर' की एक प्रभावशालिनी मूर्त्ति स्थापित थी। ये सभी मूर्त्तियाँ गुप्तकाल की ही बनी थीं।

सारनाथ के 'धाम्मेक स्तूप' और 'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन' की मुद्रावाली बुद्धमूर्त्ति गुप्तकाल की ही कृति है। सारनाथ-संग्रहालय में रखी ३०० बौद्ध मूर्त्तियाँ गुप्तकाल की मानी गई हैं।

संसार-प्रसिद्ध नालन्दा-महाविहार गुप्तकाल में ही बना, जिसके सम्बन्ध में काफी विवरण दिया जा चुका है[1]। ह्वेनसांग लिखता है कि जिस तरह बोधगया विहार की अनुकृति पर बालादित्य ने नालन्दा में विहार बनवाया, उसी तरह बोधगया की बुद्धमूर्त्ति की अनुकृति पर ही बालादित्य-विहार में एक बुद्धमूर्त्ति प्रतिष्ठित थी। नालन्दा के प्रधान स्तूप की दीवार पर चारों ओर स्थित तारादेवी और अवलोकितेश्वर की मूर्त्तियाँ चूने और बलुही मिट्टी की बनी हुई थीं, जो गुप्तकाल की कला का सजीव निदर्शन थीं। उसके लेखानुसार नालन्दा के बालादित्य-विहार में मगध के 'पूर्णवर्मा' राजा ने छहमहला विहार बनवाया था, जिसमें ८० फुट ऊँची ताँबे की बनी विशालकाय बुद्धमूर्त्ति थी, जिसका वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण तथा कल्पनातीत प्रतीत होता है। नालन्दा के आस-पास भी उसने अनेक बुद्ध-प्रतिमाओं को देखा था। तिलहड़ा गाँव के पास भी उसने एक ३० फुट ऊँची बुद्धमूर्त्ति देखी थी, जो सुदृढ़ पाषाण की बनी हुई थी[2]। इस जगह तारा और अवलोकितेश्वर की भी मूर्त्तियाँ उसने देखी थीं।

सुलतानगंज (भागलपुर) में मिली गुप्तकालीन अष्टधातुवाली बुद्धमूर्त्ति अब लन्दन के

१. देखिए पृ०—१६७ से २०० और २५४ से २६६

२. ह्वेनसांग का यात्रा-वर्णन, भाग २, पृ० १०५—१०६

संग्रहालय में चली गई है। इस मूर्त्ति में आत्मा तथा शरीर के सौन्दर्य का एक अद्भुत सामंजस्य स्थापित हुआ है, जो आजतक बहुत कम मूर्त्तियों में दृष्टिगोचर हुआ है। बिहार-प्रदेश के ऐसे मूर्त्ति-शिल्पकारों की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी होगी। पाटलिपुत्र के कुम्हरार स्थान में मिली गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमा के सिर की सौम्यता भी अतुलनीय है।

गुप्तकाल में बौद्धधर्म के प्रसार में जिस तरह धातु-प्रस्तर-निर्मित मूर्त्तियों ने साहाय्य प्रदान किया, उससे कहीं अधिक बालू और चूने की बनी बौद्ध मूर्त्तियों ने योगदान किया है। नालन्दा के स्तूप की दीवार पर स्थित मूर्त्तियों की तरह 'मनियारमठ' (राजगृह) के ताखों पर स्थित मूर्त्तियों का विवरण भी ह्वेनसांग प्रस्तुत करता है। उसने चाँदी-सोने की बुद्ध-मूर्त्तियों का भी कई जगह उल्लेख किया है और एक सुवर्णमूर्त्ति तो वह स्वयं अपने देश 'चीन' ले गया था। बोधगया-मन्दिर के शिखर के ताखों पर भी चूने-बालू की बनी मूर्त्तियों की चर्चा उसने की है। 'अवलोकितेश्वर' और 'मैत्रेय' की मूर्त्तियों के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि ये मूर्त्तियाँ चाँदी की बनी दस फुट ऊँची थीं[1]। नालन्दा तथा अन्य स्थलों में पाई गई इस काल की मूर्त्तियों के सम्बन्ध में पहले भी यथास्थान उल्लेख किया गया है।

गुप्तकाल में मूर्त्ति-निर्माण के तीन केन्द्र थे—पाटलिपुत्र, मथुरा और सारनाथ। सुलतानगंज की मूर्त्ति पाटलिपुत्र-केन्द्र की थी, सारनाथ की मूर्त्ति सारनाथ-केन्द्र की और मथुरा की मूर्त्ति मथुरा-केन्द्र की ही थी। ये कला के अनुपम आदर्श हैं। ये मूर्त्ति-निर्माण-केन्द्र गुप्तराजाओं की छत्र-च्छाया में मूर्त्ति-कला का निर्द्वन्द्व विकास कर रहे थे।

पालकालीन मध्ययुगीन शिल्पकला अपनी पूर्ववर्त्ती कलाओं से भिन्न तथा वैशिष्ट्य-पूर्ण थी। इस काल की कला में अपने युग की अमिट छाप है। इस काल की मूर्त्तियों में कला के आत्मिक विकास से कहीं अधिक आलंकारिक भाव का प्रयोग प्राप्त होता है। इस काल की मूर्त्तियाँ मुँगेर जिले की खड़गपुर पहाड़ी के स्लेट-पत्थर की बनी होती थीं और इनके आभूषणों की सजावट घनी थी। इस काल में तारादेवी और बोधिसत्त्व की मूर्त्तियों का इतना अधिक निर्माण हुआ कि उनका अम्बार लग गया। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने इस काल के विहार-प्रदेशवासी दो शिल्पियों का नामोल्लेख किया है, जिनमें एक का नाम 'धीमान' और दूसरे का 'वित्तपाल' था[2]। धीमान का समय राजा 'धर्मपाल' का शासन-काल और 'वित्तपाल' का समय राजा 'देवपाल' का कहा गया है। दोनों अपने समय के शिल्पाचार्य माने गये हैं।

पालकालीन देन

पालयुग में बौद्ध मातृदेवियों की भी प्रचुर परिमाण में मूर्त्तियाँ बनीं और भगवान् बुद्ध के करुणामय सुखाकृति एवं सुडौल अंगों का कलात्मक प्रदर्शन हुआ। इस काल की बनी बोधगया की बुद्धमूर्त्ति पर्यङ्कासन पर बैठी दिखलाई गई है। उसके दोनों कर-कमल

१. ह्वेनसांग का यात्रा-विवरण, भाग २, पृ० १४६

२. भारतीय कला को बिहार की देन (डॉ० विन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह)—पृ० २८

आगे गोद में एक-पर-एक स्थित दिखाये गये हैं। एक बड़ा कटोरा ऊपरवाले दूसरे हाथ की तलहथी पर है और दाहिनी ओर एक वानर कटोरा लिये खड़ा है[१]।

नालन्दा से कुछ दूर पर स्थित जगदीशपुर गाँव में प्राप्त इस काल की एक बुद्ध-प्रतिमा वज्रासन पर ध्यानावस्थित है। सेना के साथ मदन पराजित हो लौट रहा है। इसी भाव की बनी और बोधगया में मिली बुद्ध-प्रतिमा पटना-संग्रहालय में सुरक्षित है। इनका निर्माण 'जातकट्ठकथा' के आधार पर हुआ है।

लक्खीसराय (मुँगेर) की बुद्ध-प्रतिमा साढ़े पाँच फुट ऊँची अभयमुद्रा में है। ब्रह्मा दाहिनी ओर तथा इन्द्र बाईं ओर मूर्त्ति पर छत्र ताने खड़े हैं। बिहारशरीफ (ओदन्तपुरी) की बुद्धमूर्त्ति के सिर पर मुकुट तो नहीं है, पर गले का हार मूर्त्ति की शोभा बढ़ा रहा है। नालन्दावाली मूर्त्ति का सिर मुकुट-मण्डित है, गले में एकावली झूल रही है और भुजाएँ केयूर-कलित हैं। आजकल यह मूर्त्ति भी पटना-संग्रहालय में सुरक्षित है[२]। इस काल की एक बुद्धमूर्त्ति भारतीय संग्रहालय (कलकत्ता) की शोभा संवर्द्धित कर रही है, जो वज्रपर्यङ्कासीन होकर भूमि-स्पर्श-मुद्रा में बनी है। यह दृष्टिसुखद मूर्त्ति, दुहरे और खिले कमल-कुसुम पर बैठाई गई है। इसके माथे पर मुकुट और कण्ठ में हार लटक रहा है, किन्तु भुजाएँ अलंकार-विहीन तथा कान फटे दिखाये गये हैं। यह अपनी बनावट से ज्ञात होती है कि अन्तिम पालकालीन मूर्त्ति है, जब गोरख-पंथ का देश में प्रचार हो चुका था, जिसका स्पष्ट लक्षण इस मूर्त्ति में दिखाई दे रहा है।

गया जिले के 'बिसुनपुर' गाँव की विशाल बुद्धमूर्त्ति भूमि-स्पर्श-मुद्रा में अवस्थित है, जो आजकल पटना-संग्रहालय में रखी गई है[३]। इस मूर्त्ति के मस्तक का केश-पाश जटाजूट के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इसकी आँख अर्द्ध निमीलित दीख रही है और शरीर पर उत्तरीय बाईं काँख से चलता हुआ बायें कंधे को पार कर नीचे झूल रहा है। 'बिसुनपुर' में प्राप्त मैत्रेय की मूर्त्ति भी भुलाने योग्य नहीं है, जो त्रिभंग-स्थिति में खड़ी, अतः मनोमोहक है। इसका प्रत्येक अंग आँखों के लिए नवनीत-सा कोमल तथा सुखद है। इसके युगल गोल उभरे कपोलों के कुछ ऊपर मध्य भाग में नासिका ऊँची है, जो बुद्ध के आर्य-जाति के होने की सूचना देती है। यह उत्तम-उदात्त प्रतिमा भी आज पटना-संग्रहालय में है[४]। इसी काल की 'कहलगाँव' (भागलपुर) में प्राप्त हुई 'अवलोकितेश्वर' की मूर्त्ति ध्यानावस्थित अवस्था में पद्मासन में स्थित है। इसके आगे गोद में कर-युगल ऊर्ध्वाभिमुख स्थित हैं और विविध आभूषणों से अंग सजे हैं। अवलोकितेश्वर की यह मूर्त्ति अपनी कोमलता और

१. 'कुरंग-जातक' के आधार पर (पटना-संग्रहालय की चित्र-संख्या ८०,११८)
२. पटना-संग्रहालय—चित्र-सं० ८४
३. चित्र-सं ८८, संग्रहालय-सं० १६८१
४. चित्र-सं० १००, संग्रहालय-सं० १६८२

आभूषणों के कारण नारी-मूर्त्ति-सी प्रतिभासित होती है। यह भी आजकल पटना-संग्रहालय की ही शोभा बढ़ा रही है[1]।

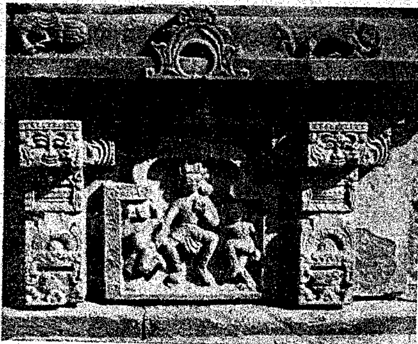
पालकाल में पालराजाओं की राजधानी 'ओदन्तपुरी' (बिहारशरीफ) नगरी थी, जो आजकल पटना जिले का एक सबडिवीजन है। पालकाल में यहाँ मूर्त्तियों की भरमार थी। यहाँ भी एक मूर्त्ति प्राप्त हुई, है जो ललितासन में है और वह 'लोकनाथ' की मूर्त्ति है। यह एक दुहरे उत्फुल्ल कमल पर आसीन है। इस मूर्त्ति का दाहिना पैर आसन से नीचे लटका है और वाम पाद आसन पर ही मुड़ा है। मूर्त्ति के कण्ठ में एकावली हार लटक रहा है और भुजाओं में भुजंगाकार वलय सुशोभित हो रहे हैं। पालकाल की बनी नालन्दा में अवलोकितेश्वर की जो एक मूर्त्ति[2] मिली है, वह विष्णु की तरह चतुर्भुज है। बौद्ध देवताओं की मूर्त्तियों की यह एक विशेषता है कि हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों के सम्पूर्ण देवताओं के विभिन्न रूप उनमें ही दिखा दिये गये हैं। अर्थात्, हिन्दू-देवताओं की कोई भी विशेषता बौद्धों से छूटने नहीं पाई है। नालन्दा में तारादेवी की मूर्त्ति का केवल धड़ ही प्राप्त हो सका है। वह मूर्त्ति खण्डित होती हुई भी पालकालीन कोमल कलाओं का एक उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित करती है। इसकी, एक हाथ में सनाल कमल धारण करने की, मधुर भंगिमा दर्शक के हृदय का स्पर्श करती है।

इस काल की बनी मूर्त्तियों और स्तूपों की छटा आज भी बोधगया-मन्दिर के प्रांगण में अच्छी तरह देखी जा सकती है, जो अपने युग का गौरव प्रकट करती है। बोधगया के संन्यासी-मठ के प्रांगण में अनेक कलापूर्ण मूर्त्तियाँ अव्यवस्थित रूप में रखी हैं, जिनके कला-कौशल को देखकर शिल्पी स्तब्ध रह जाते हैं। गया जिले के 'कुर्किहार' गाँव में पालकाल में अष्टधातु, ताँबे, चाँदी, और सोने की असंख्य मूर्त्तियाँ ढलती थीं और पत्थर की भी बनती थीं। ताँबे और अष्टधातु की अनेक मूर्त्तियाँ, जो कुर्किहार से प्राप्त हुई हैं, आज पटना-संग्रहालय में देखी जा सकती हैं।

---

१. चित्र-सं० १०२, संग्रहालय सं० ८५

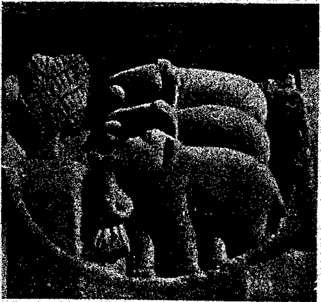
२. नालन्दा की पालकालीन बौद्ध मूर्त्तियों' की चर्चा इस पुस्तक के पृ० २६० से २६३ पर द्रष्टव्य।



नालन्दा की पत्थरकट्टी की अररियों का दृश्य
(पृ० २५७)



नालन्दा की पत्थरकट्टी की अररियों का दृश्य
(पृ० २५७)



हाथियों के द्वारा बोधिवृक्ष की पूजा (बोधगया)
(वर्णन पृ० १८७ और २४६)



मायादेवी के स्वप्न में श्वेत हस्ती (बोधगया)



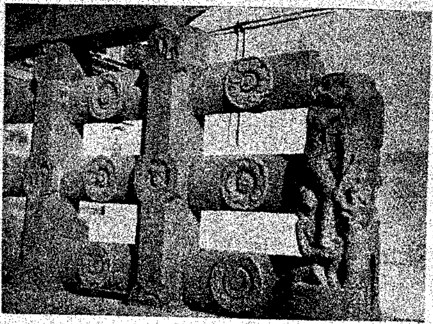
इन्द्र-मूर्त्ति (बोधगया-रेलिंग) पृ० १८७



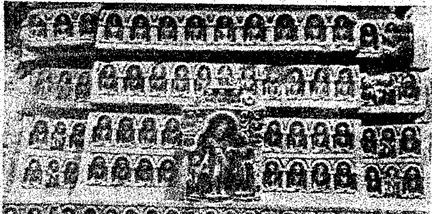
इन्द्राणी (बोधगया-रेलिंग) पृ० १८७



कृषि-भारद्वाजसुत्त के आधार पर भूमि-कर्षण का दृश्य (बोधगया) पृ० १८७ और २५४



शालभंजिका (बोधगया-रेलिंग)
(विवरण पृ० १८७ और २४६)



बोधगया के एक स्तूप का दृश्य
(पृ० २५०)



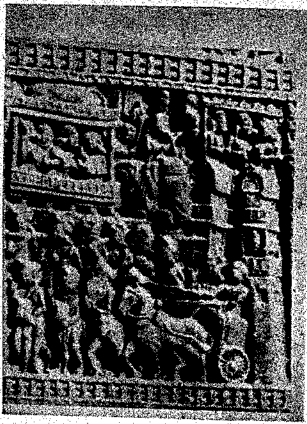
कमल-नाल (बोधगया-रेलिंग)
(वर्णन पृ० १८७ और २४६)



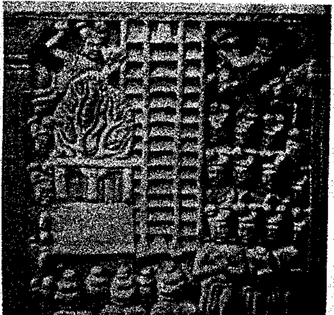
रामपुरवा (चम्पारन)—स्तम्भ का सिंहशीर्ष
(पृ० १७५)



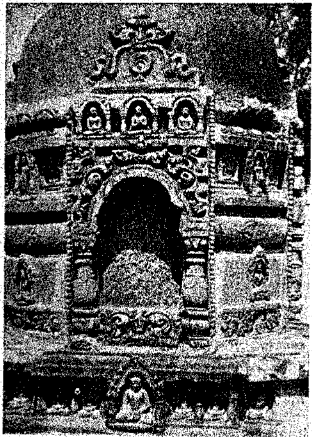
सात घोड़ों वाले रथ पर आसीन सूर्य (बोधगया-रेलिंग)
(पृ० २५०)



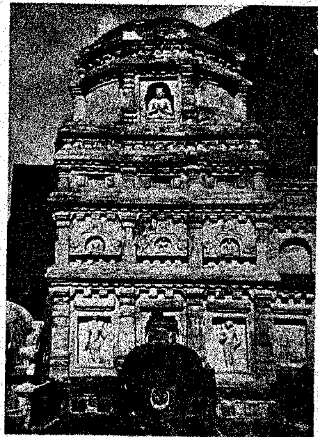
अजातशत्रु के भगवान् बुद्ध के पास जाने का दृश्य (पृ० १२७)



सांकाश्य में तुषित-लोक से भगवान् बुद्ध के उतरने का दृश्य
(पृ० २२९)



बोधगया का एक स्तूप (पृ० २५४)



नालन्दा के चैत्य का एक दृश्य (पृ० २५६)



बोधगया के संन्यासीमठ में रखी अवलोकितेश्वर की मूर्त्ति
(पृ० २४८)



बोधिवृक्ष की पूजा (बोधगया-रेलिंग)

परिशिष्ट—३

[बिहार के किन स्थानों में किन बौद्धसूत्रों की रचना हुई तथा बिहार के किन विषयों पर बौद्धग्रन्थों के किन भागों का निर्माण हुआ एवं बिहार के किन स्थानों में, भगवान् बुद्ध के तत्त्वावधान में, किन बातों (कथाओं) की चर्चा हुई, उनकी संकेत-तालिका नीचे प्रस्तुत है।]

*महावग्ग**

इस ग्रन्थ में 'खन्धक' शीर्षक जो भाग हैं, उनमें 'भाणवार' नाम के विभाग हैं। उन विभागों में 'कथा' नामक प्रकरण हैं। उन प्रकरणों में 'कथाखण्ड' शीर्षक प्रसंग है। उन खण्डों में भी छोटी-छोटी कथाएँ सूत्र-रूप में निबद्ध हैं। यथाक्रम उन सबकी संख्याओं के साथ उनके निर्माण के स्थानों का उल्लेख निम्नांकित है —

महाखन्धक

बुद्धत्व-प्राप्ति की कथा	(१, १, १, १—६)	बोधगया	मगध
अजपाल-कथा	(१, १, २, १—३)	निरंजना का तट	,,
मुचलिन्द-कथा	(१, १, ३, १—२)	बोधगया	,,
राजायतन-कथा	(१, १, ४, १—५)	,,	,,
ब्रह्मयाचन-कथा	(१, १, ५, १—७)	अजपाल (निरंजना-तट)	,,
उपदेश का विचार	(१, १, ६, १—५)	,,	,,
भद्रवर्गियों की दीक्षा	(१, २, ८, १—२)	कपासियवन (सासाराम)	शाहाबाद
उरुवेल काश्यप	(१, ३, १, १–३५)	निरंजना का तट	मगध
नदी काश्यप	(१, ३, २, १—२)	,,	,,
गया काश्यप	(१, ३, ३, १—३)	गया	,,
आदित्य परियाय का उपदेश	(१, ३, ४, १—५)	गयाशीर्ष (गया)	,,
बिम्बिसार और बुद्ध-मिलन	(१, ४, १, १–१५)	यष्टिवन	,,
सारिपुत्र-मौद्गल्यायन की प्रव्रज्या	(१, ४, २, १–१७)	राजगृह (पटना)	,,
उपाध्याय-शिष्य प्रस्थापना	(१, ५, १, १—५)	,,	,,

* प्रकाशक—बंबई-विश्वविद्यालय, बंबई, (प्रथम भाग सन् १९४४ ई० और द्वितीय भाग सन् १९५२ ई०।) सम्पादक—एन्० के० भागवत।

समावर्त्तन, उपाध्याय और व्रत	(१, ५, २, १)	राजगृह (पटना)	मगध
समावर्त्तन, शिष्य और व्रत	(१, ५, ३, १)	,,	,,
शिष्य की कर्त्तव्य-वर्णना	(१, ५, ४, १)	”	”
ज्ञप्ति, चतुष्कर्म और उपसम्पदा	(१, ५, ५, १—४)	”	”
उपसम्पदा-याचक ही उपसम्पदा	(१, ५, ६, १—३)	”	”
भिक्षु के लिए चार निश्चय	(१, ५, ७, १—३)	”	”
कुछ वर्ष परीक्षा लेने पर ही उप-सम्पदा	(१, ६, १, १—५)	”	”
आचार्य और अन्तेवासी का परस्पर कर्त्तव्य	(१, ६, २, १—४)	”	”
समावर्त्तन के नियम	(१, ६, ३, १)	”	”
अन्तेवासी का कर्त्तव्य	(१, ७, १, १)	”	”
निश्रय-दान	(१, ७, २, १—२)	”	”
उपसम्पदा देनेवाले पाँच गुरु	(१, ७, ३, १)	”	”
छह बातोंवाले को उपसम्पदा नहीं	(१, ७, ४, १)	”	”
अन्य तैर्थिक और उपसम्पदा	(१, ७, ५, १—७)	”	”
प्रव्रज्या और उपसम्पदा के लिए अयोग्य व्यक्ति	(१, ८, १, १—७)	”	”
बिम्बिसार के सैनिकों की प्रव्रज्या	(१, ८, १, १—४)	”	”
अंगुलिमाल डाकू की धर्म-प्रवेश-कथा	(१, ८, १, १—८)	”	”
छोटे बच्चों को उपसम्पदा नहीं	(१, ८, १, १)	”	”
उपालि की कथा	(१, ८, १, ११)	”	”
अयोग्य व्यक्तियों की कथा	(१, ८, २, १—४)	”	”

उपोसथ खन्धक

उपोसथ-विधान	(२, १, १, १—४)	गृद्धकूटपर्वत, राजगृह	,,
उपोसथ-कर्म	(२, १, २, १—२)	”	,,
महाकप्पिन की कथा	(२, १, ३, १—३)	मद्दकुच्छिमृगदाव, राजगृह	,,
सीमा की सम्मति	(२, १, ४, १)	”	”
उपोसथागार आदि के बनाने की सम्मति	(२, १, ५, १)	”	”
त्रिचीवर विधान की कथा	(२, १, ६, १—४)	”	”
एक उपोसथ की सीमा	(२, १, ७, १)	”	”

उपोसथ और उपोसथ-कर्म	(२, १, ८, १—२)	मद्रकुक्षिमृगदाव, राजगृह	मगध
प्रातिमोक्ष के उद्देश्य से उपोसथ	(२, १, ९, १—२)	"	"
संघ-सम्मत-कर्म आदि	(२, १, १०, १–१६)	"	"
किस आधार पर प्रातिमोक्ष	(२, २, १, १– ४)	चोदनावस्तु	"
उपोसथ के पूर्व करणीय	(२, २, २, १—९)	राजगृह	"
वर्ग और संघ कब उपोसथ नहीं करे	(२, २, ४, १—५)	राजगृह	"
उन्मत्त के लिए अनुमति-दान	(२, २, ५, १—२)	"	"
प्रातिमोक्ष-विधान	(२, २, ६, १—७)	"	"
अन्य तैर्थिकों की उपस्थिति में दोषरहित प्रातिमोक्ष	(२, ३, १, १–१५)	"	"
" " सदोष प्रातिमोक्ष	(२, ३, २, १–१५)	"	"
" " अनुपस्थिति में संदेह-युक्त उपोसथ	(२, ३, ३, १–१५)	"	"
" " अनुपस्थिति में संकोच-युक्त सदोष उपोसथ	(२, ३, ४, १–१५)	"	"
कटूक्तिपूर्वक सदोष उपोसथ	(२, ३, ५, १–१५)	"	"
अन्य आवासियों को जाने बिना उपोसथ	(२, ३, ६, १)	"	"
अन्य आवासियों की अनुपस्थिति जाने बिना	(२, ३, ७, १)	"	"
उपोसथ-आपत्ति-अनापत्ति	(२, ३, ८, १—८)	"	"
उपोसथ के दिन जाने, न जाने का विनिश्चय	(२, ३, ९, १)	"	"
किसको प्रातिमोक्ष नहीं	(२, ३, १०, १—५)	"	"
वर्षावास-विधान	(३, १, १, १—२)	वेणुवनकलन्दक-निवाप,	राजगृह
वर्षावास में यात्रा निषिद्ध	(३, १, २, १—२)	"	"

चम्म खन्धक

सोणकोटिविंश की कथा	(५, १, १—१७)	गृद्धकूटपर्वत	राजगृह
उपानह के रंग और भेद	(५, २, १—५)	"	"

भेषज्ज खन्धक

गुडादि परिभोग-आदेश	(६, २, १, १—३)	राजगृह	"
संगृहीत और स्वयं पकाये भोजन का निषेध	(६, २, २, १—६)	"	"

निर्जन स्थान में भोजन-विधान	(६, २, ३, १—४)	वेणुवन	राजगृह
श्रद्धादत्त भोजन, जो अतिरिक्त न हो, ग्रहण की अनुमति	(६, २, ४, १—४)	"	,,
गुप्तस्थान में वस्तिकर्म आदि का निषेध	(६, २, ५, १—३)	राजगृह	,,
वेलट्ठकच्चान की कथा	(६, २, १०, १-१०)	राजगृह का मार्ग	,,
परासीयग्राम निर्वाण-कथा	(६, २, ११, १-६)	पाटलिग्राम	,,
महामात्य वर्षकार की कथा	(६, २, १२, १-८)	,,	,,
आर्यधर्म परियाय	(६, २, १३, १-२)	कोटिग्राम, वज्जि, (मुजफ्फरपुर और सारन का पूर्वी अंश)	
अम्बपाली की कथा	(६, ३, १, १—४)	"	,,
अम्बपाली-कथा	(६, ३, १—५)	नादिका, वज्जि, (मुजफ्फरपुर और सारन का पूर्वी अंश)	
अम्बपाली का भोजन-स्थान	(६, ३, १, ६,)	वैशाली	वज्जि
धर्मोपदेश के बाद	(६, ३, १, ७,)	महावनकूटागारशाला, वैशाली	"
सिंहसेनापति की कथा	(६, ४, १—१७)	वैशाली	"
दुर्भिक्ष में प्रतिग्रह की अनुज्ञा	(६, ४, २, १—३)	,,	,,
वस्तुओं के रखने का स्थान	(६, ४, ३, १—५)	,,	,,
मेण्डक गृहपति की कथा	(६, ५, १, १—२१)	भद्दिया	भागलपुर
केणिय-कथा	(६, ५, २, १—५)	आपण-निगम, अगुंत्तराप (सहरसा)	

चीवर खन्धक

जीवक-कौमारभृत्य-कथा	(८, १, १, १—१८)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
बिम्बिसार की रोगपरिहार-कथा	(८, १, २, १—३)	,,	,,
राजगृह-श्रेष्ठी को रोग-रहित करना	(८, १, ३, १—९)	,,	,,
वाराणसीवासी श्रेष्ठीपुत्र का रोग	(८, १, ४, १—४)	,,	,,
प्रद्योत की बीमारी	(८, १, ५, १—८)	,,	,,
प्रद्योत का दान और चीवर-प्रतिग्रह की अनुज्ञा	(८, १, ६, १—१०)	,,	,,
काशिराज का दान और कम्बल-ग्रहण की अनुज्ञा	(८, २, १, १—२)	,,	,,
छह प्रकार के चीवरों का धारण	(८, २, २, १—२)	,,	,,
चीवर के साथ पांसुकुल-धारण	(८, २, ३, १—५)	,,	,,

चीवरों का बँटवारा	(८, २, ४, १)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
चीवर-ग्राहक की योग्यता और अन्य बातें	(८, २, ४, १)	,,	,,
चीवरों की रँगाई	(८, २, ५, १—३)	,,	,,
दक्षिणागिरि की कथा	(८, २, ६, १)	दक्षिणागिरि	मगध
चीवर-निर्माण-विधान	(८, २, ६, २)	राजगृह	,,
चीवरों का संख्या-विधान	(८, २, ६, ३—६)	वैशाली	वज्जि

चाम्पेय खन्धक

काश्यपगोत्र भिक्षु को अभयदान	(९, १, १, १—११)	गर्गरा-पुष्करिणी, चम्पा	भागलपुर
संघकर्म और उसका अधिकार	(९, १, २, १—५)	,,	,,
निस्सारण और दुर्निस्सारण	(९, १, ४, १—२)	,,	,,
उपालि का प्रश्न	(९, २, १, १—१५)	,,	,,
भगवान् बुद्ध का उत्तर	(९, २, २, १—७)	,,	,,
झगड़ालु भिक्षु के लिए दण्ड-कर्म	(९, ३, १, १—२८)	,,	,,

●

*चुल्लवग्ग**

समथ खन्धक

स्मृतिविनय	(४, २, १)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
अमूढविनय	(४, २, २)	,,	,,
प्रतिज्ञातकरण	(४, २, ३)	,,	,,
यद्भूयसिक	(४, २, ४)	,,	,,
तत्पापीयसिक	(४, २, ५)	,,	,,
तिणवत्थारक	(४, २, ६)	,,	,,
चार अधिकरण	(४, ३, १)	,,	,,
अधिकरणों के मूल	(४, ३, २)	,,	,,
अधिकरणों के भेद	(४, ३, ३)	,,	,,
अधिकरणों का नामकरण	(४, ३, ४)	,,	,,
अधिकरणों का शमन	(४, ३, ४)	,,	,,

खुद्दकवत्थु खन्धक

स्नान, प्रसाधन, एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं का विधान	(५, १, १—१३)	राजगृह	मगध

* प्रकाशक—नालन्दा देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, सन् १९५८ ई०।

थैली का विधान	(५, १, १४)	वैशाली	वज्जि
जलछक्के का विधान	(५, १, १५)	,,	,,
सर्वसाधनसम्पन्न विहार-निर्माण का विधान	(५, २, १—६)	कूटागारशाला	वैशाली

शयन-आसन खन्धक

सर्वसाधनसम्पन्न विहार का दान	(६, १, १—६)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
विहार की रँगाई और नाना प्रकार के घर	(६, २, १—११)	,,	,,
अनाथपिण्डक की दीक्षा	(६, ३, १)	राजगृह	मगध
नवकर्म-विधान	(६, ३, २—५)	वैशाली	वज्जि
नवकर्म का निषेध	(६, ५, ४)	अग्गालावचैत्य (अरवल या आरा)	
विहार का सामान हटाना	(६, ५, ५)	,,	,,
वस्तुओं का परिवर्त्तन	(६, ५, ६)	,,	,,
आसन और दीवार की सफाई	(६, ५, ७)	,,	,,
संघ के कर्मचारियों का चुनाव	(६, ६, १—१२)	वेणुवन	राजगृह
देवदत्त की महन्थी की याचना	(७, १, ४—६)	राजगृह	मगध
देवदत्त का विद्रोह	(७, २, १—१०)	,,	,,
संघ-भेद की व्याख्या	(७, ३, १—३)	,,	,,
संघ-भेदक को पाप	(७, ४, १—२)	,,	,,

भिक्खुनी खन्धक

स्त्रियों का संघ-प्रवेश	(१०, १, १-६)	कूटागारशाला	वैशाली
प्रातिमोक्ष की आवृत्ति आदि	(१०, २, १—५)	,,	,,

पञ्चशतिका खन्धक

प्रथम संगीति की कथा	(११, १, १—३)	राजगृह	मगध
आनन्द पर दोषारोपण	(११, २, १—३)	,,	,,
भिक्षु पूर्ण का संगीति में सम्मिलित होने से इनकार करना	(११, ३, १)	वेणुवन	,,
उदयन को उपदेश और छन्न को दंड	(११, ४, १)	,,	,,

सप्तशतिका खन्धक

द्वितीय संगीति	(१२, १, १—३)	वैशाली	वज्जि
सर्वकामी द्वारा यश का पक्ष-ग्रहण	(१२, २, ५)	,,	,,
संगीति की कार्यवाही	(१२, ३, १—२)	,,	,,

मज्झिम निकाय

अनङ्गण सुत्त	(१, १, ५)	राजगृह	मगध
महासीहनाद सुत्त	(१, २, २)	अवरपुर वनखण्ड	वैशाली
चूलदुक्खक्खन्धक सुत्त	(१, २, ४)	गृद्धकूटपर्वत	राजगृह
रथविनीत सुत्त	(१, ३, ४)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	”
महासारोपम सुत्त	(१, ३, ९)	गृद्धकूटपर्वत	”
चूलगोसिङ्ग सुत्त	(१, ४, १)	गिंजकावसथ, नादिका	वज्जि
महागोसिंग सुत्त	(१, ४, २)	गोसिंग सालवन, ”	”
चूलगोलक सुत्त	(१, ४, ४)	उक्काचेल	”
चूलसच्चक सुत्त	(१, ४, ५)	महावन कूटागारशाला	वैशाली
महासच्चक सुत्त	(१, ४, ६)	”	”
महाअस्सपुर सुत्त	(१, ४, ९)	अश्वपुरग्राम	अंग
चूलअस्सपुर सुत्त	(१, ४, १०)	”	”
चूलवेदल्ल सुत्त	(१, ५, ४)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
कन्दरक सुत्त	(२, १, १)	गर्गरा-पुष्करिणी	चम्पा
अट्ठकनागर सुत्त	(२, १, २)	वेलुवग्राम	वैशाली
पोतलिय सुत्त	(२, १, ४)	आपण अंगुत्तराप	सहरसा
जीवक सुत्त	(२, १, ५)	राजगृह	मगध
उपालि सुत्त	(२, १, ६)	प्रावारिक आम्रवन	नालन्दा
अभयराजकुमार सुत्त	(२, १, ८)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
अम्बलट्ठिक राहुलोवाद सुत्त	(२, २, १)	”	”
लकुटिकोपम सुत्त	(२, २, ६)	आपण अंगुत्तराप	सहरसा
गुलिस्सानि सुत्त	(२, २, ९)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
तेविज्जवच्छगोत्त सुत्त	(२, ३, १)	कूटागारशाला	वैशाली
महावच्छ गोत्त सुत्त	(२, ३, ३)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
दीघनख सुत्त	(२, ३, ४)	गृद्धकूटपर्वत	राजगृह
महासुकुलुदायि सुत्त	(२, ३, ७)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
चूलसुकुलुदायि सुत्त	(२, ३, ९)	”	”
मखादेव सुत्त	(२, ४, ३)	मखादेव आम्रवन	मिथिला
ब्रह्मायु सुत्त	(२, ५, १)	विदेह-प्रदेश	”
सेल सुत्त	(२, ५, २)	आपण अंगुत्तराप	सहरसा
धानंजानि सुत्त	(२, ५, ७)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह

* प्रकाशक—नालन्दा पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, सन् १९५८ ई०।

सुनक्खत्त सुत्त	(३, १, ५)	कूटागारशाला	वैशाली
गोपक मोग्गलान सुत्त	(३, १, ८)	वेणुवन	राजगृह
इसिगिलि सुत्त	(३, २, ६)	ऋषिगिरिपर्वत	„
बकुल सुत्त	(३, ३, ४)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
दन्तभूमि सुत्त	(३, ३, ५)	„	„
भूमिज सुत्त	(३, ३, ६)	„	„
महाकच्चायन भद्देकरत्त सुत्त	(३, ४, ३)	तपोदाराम	„
महाकम्मविभंग सुत्त	(३, ४, ६)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	„
धातुविभंग सुत्त	(३, ४, १०)	राजगृह	मगध
छन्नोवाद सुत्त	(३, ५, २)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	„
पिण्डपातपारिशुद्धि सुत्त	(३, ५, १०)	„	„
इन्द्रियभावना सुत्त	(३, ५, १०)	सुवेणुवन	कंजंगल-प्रदेश

●

दीघ निकाय*

ब्रह्मजाल सुत्त (सम्पूर्ण)	अम्बलट्ठिकावन	नालन्दा	मगध
सामञ्ञफल सुत्त „	जीवक आम्रवन	राजगृह	„
सोणदण्ड सुत्त „	गर्गरा-पुष्करिणी		चम्पा
कूटदन्त सुत्त „	खाणुमत ब्राह्मणग्राम		मगध
महालि सुत्त „	कूटागारशाला		वैशाली
केवट्ट सुत्त „	प्रावारिक आम्रवन	नालन्दा	मगध

महापरिनिब्बाणसुत्त	(१६, १, १—१२)	गृद्धकूट	राजगृह
„ „	(१६, १, १३—१४)	अम्बलट्ठिका	मगध
„ „	(१६, १, १५—१८)	नालन्दा	„
„ „	(१६, १, १९—३४)	पाटलिपुत्र	„
„ „	(१६, २, १—४)	कोटिग्राम	वज्जि
„ „	(१६, २, ५—१०)	नादिका	„
„ „	(१६, २, ११—२६)	वैशाली	„
„ „	(१६, ३, १—५१)	„	„
„ „	(१६, ४, १—४)	भण्डग्राम	„
„ „	(१६, ४, ५)	हस्तिग्राम अम्बग्राम जम्बुग्राम	
„ „	(१६, ४, ६—१२)	भोगनगर „	„
जनवसभ सुत्त	(१८, १, १—२९)	गिंजकावसथ, नादिका	वज्जि

* प्रकाशक—नालन्दा देवनागरी-पालि-ग्रन्थमाला, बिहार, सन् १९५८ ई०।

महागोविन्द सुत्त	(१९, १, १—६०)	गृद्धकूट	राजगृह
सक्कपञ्ह सुत्त	(२१, १, १—५)	अम्बषण्ड ब्राह्मणग्राम	गिरिव्रज
”	(२१, १, ६—१३)	अजपालवृक्ष, बोधगया	मगध
”	(२१, २, १—१०)	”	”

●

संयुत्त निकाय*

समिद्धि सुत्त	(१, २, १०)	तपोदाराम	राजगृह
सकलिक सुत्त	(१, ४, ८)	मद्रकुक्षिमृगदाव	”
पज्जुन्नधीतु सुत्त	(१, ४, ९)	कूटागारशाला	वैशाली
चुल्ल पज्जुन्नधीतु सुत्त	(१, ४, १०)	”	”
दीघलट्ठि सुत्त	(२, २, ३)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
नन्दन सुत्त	(२, २, ४)	”	”
चन्दन सुत्त	(२, २, ५)	”	”
वासुदत्त सुत्त	(२, २, ६)	”	”
सुब्रह्म सुत्त	(२, २, ७)	”	”
उत्तर सुत्त	(२, २, ९)	राजगृह	मगध
नाना तित्थिय सुत्त	(२, ३, १०)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
तपोकम्म सुत्त	(४, १, १)	उरुवेला	बोधगया
नागसुत्त	(४, १, २)	”	”
सुभसुत्त	(४, १, ३)	”	”
सप्प सुत्त	(४, १, ६)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
सोप्पसि सुत्त	(४, १, ७)	”	”
आयु सुत्त	(४, १, ९)	”	”
आयु सुत्त	(४, १, १०)	राजगृह	मगध
पाषाण सुत्त	(४, २, १)	गृद्धकूटपर्वत	राजगृह
सकलिक सुत्त	(४, २, ३)	मद्रकुक्षिमृगदाव	”
आयतन सुत्त	(४, २, ७)	महावन कूटागारशाला	वैशाली
पिण्ड सुत्त	(४, २, ८)	पंचशाल ब्राह्मणग्राम	मगध
गोधिक सुत्त	(४, ३, ३)	वेणुवनकलकन्दक-निवाप	राजगृह
सत्तवस्सानि सुत्त	(४, ३, ४)	अजपालवृक्ष, निरंजनातट	मगध
मारदुहिता सुत्त	(४, ३, ५)	”	”

* अनु०—भिक्षु जगदीश काश्यप और भिक्षु धर्मरक्षित। प्रकाशक-महाबोधि-सभा, सारनाथ (बनारस), सन् १९५४ ई०।

आयाचन सुत्त	(६, १, ६)	अजपालवृक्ष, निरंजनातट	मगध
गारव सुत्त	(६, १, २)	"	"
सनंकुमार सुत्त	(६, १, २)	सर्पिणी नदी का तट	राजगृह
देवदत्त सुत्त	(६, २, २)	गृद्धकूटपर्वत	"
अन्धकविन्द सुत्त	(६, २, ३)	अन्धकविन्द ग्राम	मगध
धनञ्जानि सुत्त	(७, १, १)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
अक्कोस सुत्त	(७, १, २)	"	"
असुरिन्द सुत्त	(७, १, ३)	"	"
बिलङ्गिक सुत्त	(७, १, ४)	"	"
अभिक सुत्त	(७, १)	"	"
कसिसुत्त	(७, २, १)	एकनाला ब्राह्मणग्राम	मगध
निक्खन्त सुत्त	(८, १)	अग्गालाव चैत्य,	आलवी (आरा)
अरति सुत्त	(८, २)	"	"
अतिमञ्ञना सुत्त	(८, ३)	"	"
कोण्डञ्ञ सुत्त	(८, ६)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
मोग्गलान सुत्त	(८, १०)	ऋषिगिरि की कालशिला	"
गग्गरा सुत्त	(८, ११)	गर्गरा-पुष्करिणी, चम्पा (भागलपुर)	
वज्जिपुत्त सुत्त	(९, ९)	वनखण्ड	वैशाली
इन्दक सुत्त	(१०, १)	इन्द्रकूटपर्वत	राजगृह
सक्क सुत्त	(१०, २)	गृद्धकूटपर्वत	"
सूचिलोम सुत्त	(१०, ३)	टंकितमंच	गया
मणिभद्र सुत्त	(१०, ४)	मणिमालक चैत्य	मगध
सुदत्त सुत्त	(१०, ८)	शीतवन	राजगृह
सुक्का सुत्त	(१०, ९)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
सुक्का सुत्त	(१०, १०)	"	"
चीरा सुत्त	(१०, ११)	"	"
आलवक सुत्त	(१०, १२)	अग्गालाव चैत्य,	आलवी (आरा)
ततियवत सुत्त	(११, २, ३)	महावन कूटागारशाला	वैशाली
दलिद्द सुत्त	(११, २, ४)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
यजमान सुत्त	(११, २, ६)	गृद्धकूटपर्वत	"
अचेल सुत्त	(१२, २, ७)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
अञ्ञतित्थिय सुत्त	(१२, ३, ४)	"	"
ञातिका सुत्त	(१२, ५, ५)	गिञ्जकावसथ,	नादिका (वज्जि)

सुसीम सुत्त	(१२, ७, १०)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
गिञ्जकावसथ सुत्त	(१३, २, ३)	गिञ्जकावसथ,	नादिका (वज्जि)
चङ्कम सुत्त	(१३, २, ५)	गृद्धकूटपर्वत	राजगृह
गङ्गा सुत्त	(१४, १, ८)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
पुग्गल सुत्त	(१४, १, १०)	गृद्धकूटपर्वत	"
तिंसति सुत्त	(१४, २, ३)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
वेपुल्ल पब्बत सुत्त	(१४, २, १०)	गृद्धकूटपर्वत	"
जिण्ण सुत्त	(१५, ५)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
पठम ओवाद सुत्त	(१५, ६)	"	"
दुतिय ओवाद सुत्त	(१५, ७)	"	"
ततिय ओवाद सुत्त	(१५, ८)	"	"
चीवर सुत्त	(१५, ११)	"	"
पक्कन्त सुत्त	(१६, ४, ५)	गृद्धकूटपर्वत	"
रथ सुत्त	(१६, ४, ६)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
अट्ठिपेस सुत्त	(१८, १, १)	"	"
गोघातक सुत्त	(१८, १, २)	"	"
पिण्ड साकुणी सुत्त	(१८, १, ३)	"	"
निच्छवो रब्भि सुत्त	(१८, १, ४)	"	"
असिसूकरिक सुत्त	(१८, १, ५)	गृद्धकूटपर्वत	"
सत्ति मागवी सुत्त	(१८, १, ६)	"	"
उसुकारणिक सुत्त	(१८, १, ७)	"	"
सूचि सारथी सुत्त	(१८, १, ८)	राजगृह	मगध
सूचक सुत्त	(१८, १, ९)	"	"
गामकूटक सुत्त	(१८, १, १०)	"	"
कूपनिमुग्ग सुत्त	(१८, २, १)	गृद्धकूटपर्वत	राजगृह
गूथखादिक सुत्त	(१८, २, २)	"	"
निच्छवित्थी सुत्त	(१८, २, ३)	"	"
मङ्गुलित्थि सुत्त	(१८, २, ४)	"	"
सीसच्छिन्न सुत्त	(१८, २, ६)	"	"
भिक्खु सुत्त	(१८, २, ७)	"	"
भिक्खुणी सुत्त	(१८, २, ८)	"	"
सिक्खमाना सुत्त	(१८, २, ९)	"	"
सामणेर सुत्त	(१८, २, १०)	"	"

सामखेरी सुत्त	(१८, २, ११)	गृद्धकूटपर्वत	राजगृह
कलिङ्गर सुत्त	(१६, ८)	महावन कूटागारशाला	वैशाली
विसाख सुत्त	(२०, ७)	,,	,,
थेरनाम सुत्त	(२२, १०)	राजगृह	मगध
पठम सोण सुत्त	(२१, १, ५, ७)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
दुतिय सोण सुत्त	(२१, १, ५, ८)	,,	,,
महालि सुत्त	(२१, २, १, ८)	महावन कूटागारशाला	वैशाली
अनुराध सुत्त	(२१, २, ४, ४)	,,	,,
वक्कलि सुत्त	(२१, २, ४, ५)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
अस्सजि सुत्त	(२१, २, ४, ६)	,,	,,
सूचीमुखी सुत्त	(२७, १०)	,,	,,
आदित्त सुत्त	(३४, १, ३, ६)	गयाशीर्षपर्वत	गया
अन्धभूत सुत्त	(३४, १, ३, ७)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
सारुप्य सुत्त	(३४, १, ३, ८)	,,	,,
समिद्धि सुत्त	(३४, २, २, ३)	,,	,,
,, ,,	(३४, २, २, ४-६)	,,	,,
उपसेन सुत्त	(३४, २, २, ७)	शीतवन	,,
छन्दस्सायतनिक सुत्त	(३४, २, २, ९)	,,	,,
,, ,,	(३४,२,२,१०-११)	,,	,,
छन्न सुत्त	(३४, २, ४, ४)	वेणुवनकलन्दक-निवाप	,,
पुण्ण सुत्त	(३४, २, ४, ५)	,,	,,
बाहिय सुत्त	(३४, २, ४, ६)	,,	,,
एज सुत्त	(३४, २, ४, ७-८)	,,	,,
द्वय सुत्त	(३४, २, ४, ९-१०)	,,	,,
संगह्य सुत्त	(३४, २, ५, १-२)	,,	,,
परिहान सुत्त	(३४, २, ५, ३)	,,	,,
सक्क सुत्त	(३४, ३, २, ५)	गृद्धकूटपर्वत	,,
पञ्चसिख सुत्त	(३४, ३, २, ६)	,,	,,
वेसालि सुत्त	(३४, ३, ३, १)	कूटागारशाला	वैशाली
वज्जि सुत्त	(३४, ३, ३, २)	हस्तिग्राम (हथुआ, सारन)	वज्जि
नालन्दा सुत्त	(३४, ३, ३, ३)	प्रावारिक आम्रवन,	नालन्दा (मगध)
सोण सुत्त	(३४, ३, ३, ५)	वेणुवणकलन्दक-निवाप	राजगृह

पठम जीवकम्बवन सुत्त	(३४, ४, १, ५)	जीवक आम्रवन	राजगृह
दुतिय जीवकम्बवन सुत्त	(३४, ४, १, ६)	"	"
पठम कोट्ठित सुत्त	(३४, ४, १, ७)	"	"
दुतिय ततिय कोट्ठित सुत्त	(३४, ४, १, ८-९)	"	"
मिच्छादिट्ठि सुत्त	(३४, ४, १, १०)	"	"
सक्काय सुत्त	(३४, ४, १, ११)	"	"
अत्त सुत्त	(३४, ४, १, १२)	"	"
सट्ठिपेय्याल सुत्त	(३४, ४, २,१-६०)	"	"
पठम दुतिय गेलञ्ञ सुत्त	(३४, ५, १, ७-८)	महावनकूटागारशाला,	वैशाली
अनिच्च सुत्त	(३४, ५, १, ९)	"	"
फस्समूलक सुत्त	(३४, ५, १, १०)	"	"
रहोतकवग्ग के दस सुत्त	(३४, ५, २,१-१०)	"	"
सीवक सुत्त	(३४, ५, ३, १)	वेणुवनकलन्दक-निवाप,	राजगृह
अट्ठसत्त सुत्त	(" " " २)	"	"
भिक्खु सुत्त	(" " " ३)	"	"
पुब्बेञान सुत्त	(" " " ४)	"	"
भिक्खु सुत्त	(" " " ५)	"	"
पठम, दुतिय, ततिय समण ब्राह्मण सुत्त	(" " " ६)	"	"
सुद्धिक निरामिस सुत्त	(३४, १, " ९)	"	"
वापामनाप सुत्त	(३५, १, १-२)	"	"
आवेणिक सुत्त	(" " ३)	"	"
तीहि सुत्त	(" " ४)	"	"
कोधन सुत्त	(" " ५)	"	"
उपनाही सुत्त	(" " ६)	"	"
इस्सुकी सुत्त	(" " ७)	"	"
मच्छरी सुत्त	(" " ८)	"	"
अतिचारी सुत्त	(" " ९)	"	"
दुस्सील सुत्त	(" " १०)	"	"
अप्पसुत्त सुत्त	(" " ११)	"	"
कुसीत सुत्त	(" " १२)	"	"
मुट्ठस्सति सुत्त	(" " १३)	"	"
पञ्चवेट सुत्त	(" " १४)	"	"
अकोधन सुत्त आदि	(३५, २, १-१०)	"	"

विसारद आदि	(३५, ३, १-१०)	वेणुवनकलन्दक-निवाप,	राजगृह
निब्बान आदि	(३६, १-१६)	नालकग्राम	मगध
निब्बान सुत्त आदि	(३७, १-१६)	उक्काचेल	वज्जि
पुत्त सुत्त आदि	(४०, २-५)	वेणुवनकलन्दक-निवाप,	राजगृह
पच्छाभूमक सुत्त आदि	(४०, ६-९)	प्रावारिक आम्रवन,	नालन्दा
मणिचूल सुत्त	(४०, १०)	वेणुवनकलन्दक-निवाप,	राजगृह
अनुराध सुत्त	(४२, २)	महावनकूटागारशाला,	वैशाली
समिय सुत्त	(४२, ११)	गिञ्जकावसथ, नादिका,	वैशाली
पठम, दुतिय, ततिय गिलान सुत्त	(४४, २, ४-६)	वेणुवन	राजगृह
पारगामी सुत्त आदि	(४४, २, ७-१०)	,,	,,
उदायी वर्ग	(४४, ३, १-१०)	,,	,,
नीवरण वर्ग	(४४, ४, १-१०)	,,	,,
चक्रवर्त्ती वर्ग	(४४, ५, १-१०)	,,	,,
अभय सुत्त	(४४, ६, ६)	गृद्धकूटपर्वत	,,
अम्बपाली सुत्त	(४५, १, १)	अम्बपालीवन	वैशाली
सतो सुत्त	(४५, १, २)	,,	,,
गिलान सुत्त	(४५, १, ९)	वेलुव ग्राम	,,
नालन्द सुत्त	(४५, २, २)	प्रावारिक आम्रवन	नालन्दा
चेल सुत्त	(४५, २, ४)	उक्काचेल	वज्जि
ब्रह्म सुत्त	(४५, २, ८)	उरुवेला (बोधगया)	मगध
सील सुत्त	(४५, ३, १)	कुक्कुटाराम	पाटलिपुत्र
ठिति सुत्त	(४५, ३, २)	,,	,,
परिहान सुत्त	(४५, ३, ३)	,,	,,
सिरिवड्ढ सुत्त	(४५, ३, ९)	वेणुवन	राजगृह
मानदिन्न स	(४५, ३, १०)	,,	,,
ब्रह्म सुत्त	(४६, ६, ७)	अजपालवृक्ष (उरुवेला)	बोध०
सूकरखात सुत्त	(४६, ६, ८)	गृद्धकूटपर्वत	राजगृह
चेतिय सुत्त	(४९, १, १०)	महावनकूटागारशाला,	वैशाली
सब्ब सुत्त	(५०, १, ९)	अम्बपाली आम्रवन	,,
वेसाली सुत्त	(५२, १, ९)	महावनकूटागारशाला	,,
दीघावु सुत्त	(५३, १, ३)	वेणुवनकलन्दक-निवाप,	राजगृह
पठम, दुतिय, ततिय गिञ्जकावसथ सुत्त	(५३, १, ८-१०)	नादिका	वज्जि
पठम, दुतिय विज्जा सुत्त	(५४, ३, १-२)	कोटिग्राम	,,

चिन्ता सुत्त	(५४, ५, १)	वेणुवनकलन्दक-निवाप,	राजगृह
पपात सुत्त	(५४, ५, २)	गृद्धकूटपर्वत	"
परिलाह सुत्त	(५४, ५, ३)	"	"
कूटागार सुत्त	(५४, ५, ४)	"	"
पञ्चम छिग्गल सुत्त आदि	(५४, ५, ५-१०)	कूटागारशाला	वैशाली
अभिसमय वर्ग	(५४, ६, १-१०)	"	"
सप्तम वर्ग	(५४, ७, १-१०)	"	"
अप्पका विरत वर्ग	(५४, ८, १-१०)	"	"
आमकधाना पेय्याल वर्ग	(५४, ९, १-१०)	"	"
बहुतरसत्त वर्ग	(५४, १०, १-१०)	"	"
गतिपञ्चक वर्ग	(५४, ११, १-३०)	"	"

●

जातक-कथाएँ*

चुल्लसेट्ठि जातक	४	जीवक आम्रवन	राजगृह
लक्खण जातक	११	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
कुरुंगमिग जातक	२१	"	"
महिलामुख जातक	२६	"	"
वट्टक जातक	३५	मगध में चारिका करते हुए	"
मकस जातक	४४	"	"
वानरिन्द जातक	५७	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
तयोधम्म जातक	५८	"	"
सीलव नागराज जातक	७२	"	"
सच्चंकिर जातक	७३	"	"
मंगल जातक	८७	"	"
लोमहंस जातक	९४	पाटिकाराम	वैशाली
तेलपत्त जातक	९६	सेतकण्णिक निगम	हजारीबाग
बाहिय जातक	१०८	महावनकूटागारशाला	वैशाली
सिगाल जातक	११३	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
दुम्मेध जातक	१२२	"	"
असम्पादान जातक	१३१	"	"
उभतोभट्ठ जातक	१३९	"	"
गोध जातक (२)	१४१	"	"

* अनु०—भदन्त आनन्द कौसल्यायन। प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।

सिगाल जातक	१४२	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
विरोचन जातक	१४३	"	"
एकपण्ण जातक	१४६	महावन कूटागारशाला	वैशाली
सञ्जीव जातक	१५०	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
सिगाल जातक	१५२	महावन कूटागारशाला	वैशाली
विनीलक जातक	१६०	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
समिद्धि जातक	१६७	तपोदाराम	"
दुब्भिय मक्कट जातक	१७४	वेणुवनकलन्दक-निवाप	"
गिरिदत्त जातक	१८४	"	"
दधिवाहन जातक	१८६	"	"
मणिचोर जातक	१९४	"	"
कुरङ्गमृग जातक	२०६	"	"
कन्दगलक जातक	२१०	"	"
धम्मद्ध जातक	२२०	"	"
चुल्लनन्दिय जातक	२२२	"	"
कुम्भाल जातक	२२४	"	"
उपाहन जातक	२३१	"	"
हरितमात जातक	२३९	"	"
सब्बदाठ जातक	२४१	"	"
गुत्तिल जातक	२४३	"	"
तेलोवाद जातक	२४६	महावन कूटागारशाला	वैशाली
मणिकण्ठ जातक	२५३	अग्गलाव चैत्य (अरवल, गया)	आलवी
महापणाद जातक	२६४	भद्दिया (भदरिया, भागलपुर)	अंग
रोमक जातक	२७७	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
जम्बुखादक जातक	२९४	"	"
अन्त जातक	२९५	"	"
पुचिमन्द जातक	३११	"	"
ब्रह्मदत्त जातक	३२३	अग्गलाव चैत्य (अरवल, गया)	आलवी
कक्कार जातक	३२६	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
कालबाहु जातक	३२९	"	"
जम्बुक जातक	३३५	"	"
थुस जातक	३३८	"	"
वानर जातक	३४२	"	"

लट्ठकिक जातक	३५७	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
सालिय जातक	३६७	”	”
मूसिक जातक	३७३	”	”
सुवण्णकक्कटक जातक	३८६	”	”
मनोज जातक	३६७	”	”
अहिसेन जातक	४०३	अगलाव चैत्य (अरवल)	आलवी
परन्तप जातक	४१६	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
दीपि जातक	४२६	गिरिव्रज (गिरियक) वर्त्तमान	मगध
गिज्झ जातक	४२७	गृद्धकूटपर्वत (अतीतकथा)	राजगृह
तित्तिर जातक	४३८	”	”
निग्रोध जातक	४४५	वेणुवनकलन्दक-निवाप	”
कुक्कुट जातक	४४८	”	”
महामंगल जातक	४५३	संस्थागार (सभाभवन)	”
कालिंगबोधि जातक	४७६	अतीतकथा	महाबोधि-महिमा
रुरु जातक	४८२	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
सरभमिग जातक	४८३	सारिपुत्र की धर्मव्याख्या के लिए	
तच्छसूकर जातक	४६२	अजातशत्रु और प्रसेनजित् का युद्ध	
रोहन्तमिग जातक	५०१	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
हंस जातक	५०२	”	”
सत्तिगुम्ब जातक	५०३	मद्रकुच्छिमृगदाव	”
चम्पेय जातक	५०६	मगध की अंगविजय-कथा	
महाकपि जातक	५१६	वेणुवनकलन्दक-निवाप	राजगृह
सरभङ्ग जातक	५२२	”	”
सोनक जातक	५२६	मगध के राजपुत्र और पुरोहित-पुत्र की कथा	
संकिच्च जातक	५३०	जीवक आम्रवन	राजगृह
चुल्लहंस जातक	५३३	वेणुवनकलन्दक-निवाप	”
महाहंस जातक	५३४	”	”
महाजनक जातक	५३६	अतीतकथा	विदेह
निमि जातक	५४१	मखादेव आम्रवन	मिथिला
खण्डहाल जातक	५४२	गृद्धकूटपर्वत	राजगृह
महानारद काश्यप जातक	५४४	लट्ठिवन	मगध
महाउम्मग जातक	५४६	मिथिलाराज के ८०० पण्डितों की अतीतकथा	

सुत्तनिपात*

धनिय सुत्त	महीनदी का तट	वज्जि
कसिभारद्वाज सुत्त	एकनाला ब्राह्मणग्राम	दक्षिणागिरि, मगध
आलवक सुत्त	अग्गलाव चैत्य (अरवल, गया)	आलवी
रतन सुत्त	वैशाली का दुर्भिक्ष	वैशाली
सूचिलोम सुत्त	टंकित मंच	गया
वङ्गीय सुत्त	अग्गलाव चैत्य	आलवी
पब्बज्जा सुत्त	राजगृह	मगध
पधान सुत्त	निरंजना नदी का तट	उरुवेला
माघ सुत्त	गृद्धकूटपर्वत	राजगृह
सभिय सुत्त	वेणुवनकलन्दक-निवाप	,,
सेल सुत्त	आपण निगम	अंगुत्तराप
सारिपुत्त सुत्त	सारिपुत्र और बुद्ध की वार्त्ता	—
पारायण सुत्त	पाषाणक चैत्य	मगध

* मूल पालि तथा हिन्दी-अनुवाद-सहित। अनु०—भिक्षु धर्मरत्न एम० ए०। प्रकाशक—महाबोधि-सभा, वाराणसी, सन् १९५१ ई०।

परिशिष्ट–४

बिहारवासी सम्राट् अशोक ने साम्राज्य-संचालन के साथ-साथ बौद्धधर्म के विस्तार के लिए जैसा उद्योग किया, वैसा उद्योग दूसरे सम्राट् के लिए दुर्लभ रहा है। उनके द्वारा लिखवाये गये धर्म-लेखों की चर्चा इस पुस्तक के पृ० १७४, १७५ और १७६ में की गई है। वे धर्मलेख ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि में हैं, जिनकी भाषा पालि के बहुत समीप है, उनका यहाँ उल्लेख देवनागरी लिपि में किया जा रहा है। पाठकों की सुविधा के लिए मूल भाषा के साथ धर्मलेखों का हिन्दी-रूप भी प्रस्तुत है।

लघु शिला-लेख

सासाराम, रूपनाथ, वैराट और गुर्जरा

देवानं पिये हेवं आहा···सातिलेकानि अढतियानि वयसुमि पाका उपासके नो चु बाढं सकंते सातिलके चु सद्वछले य सुमि हकं सघ उपेते [।] बाढं च लकंते [।] यि इमाय कालाय जंबुदीपसि अंमिसं देवा संता मुनिसा मिस देव हुसु ते दा दानि मिसा कटा [।] पकमसि हि एस फले [।] नो च एसा महतता पापोतवे [।] खुदकेन हि क पि कममीनेना सकिये पिपुले पि स्वगे आरोधवे [।] एतिय अठाय च सावने कटे खुदका च उडाला च पकमंतु ति [।] अन्तापि च जानंतु इयं पकरव किति [?] चिलठितिके सियां [।] इय हि अठे वढि वढिसिति विपुलं च वढिसति, अपलधियेना दियढिय वढिसत [।] इय च अठे पवतिसु लेखापेत वालत हध च [।] अथि सिलाठुभे सिलाटंभसि लाखापत वयत [।] (एतिना च वयजनेना यावतक तुपक अहाले सवर विवसेतवायुति) विवुथेन दुवे सपंना लातिसता विवुथाति २५६—सत विवासा त* [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय इस तरह कहते हैं—ढाई वर्ष से अधिक हुए कि मैं उपासक हुआ; पर मैंने अधिक उद्योग नहीं किया। किन्तु, एक वर्ष से अधिक हुए कि मैं संघ में आया हूँ—तबसे मैंने अच्छी तरह उद्योग किया है। इस बीच जम्बूद्वीप में जो देवता सच्चे

* यह पाठ सासाराम-लेख का है। केवल ( ) कोष्ठकवाला पाठ 'सासाराम' में नहीं है, वह 'रूपनाथ'-वाले लेख से लिया गया है।—ले०

माने जाते थे, वे अब झूठे सिद्ध कर दिये गये। यह उद्योग का फल है। यह केवल बड़े ही लोग पा सकें, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि, छोटे लोग भी उद्योग करें, तो महान् स्वर्ग का सुख पा सकते हैं। इसलिए यह अनुशासन लिखा गया कि छोटे और बड़े उद्योग करें। मेरे पड़ोसी राजा भी इस अनुशासन को जानें और मेरा उद्योग चिरस्थित रहे। इस बात का विस्तार होगा और अच्छा विस्तार होगा— कम-से-कम डेढ़गुना विस्तार होगा। यह अनुशासन यहाँ और दूर के प्रांतों में, पर्वतों की शिलाओं पर लिखा जाना चाहिए, जहाँ-कहीं शिला-स्तम्भ हो, वहाँ यह अनुशासन शिला-स्तम्भ पर भी लिखा जाना चाहिए। इस अनुशासन के अनुसार जहाँ-जहाँ आपलोगों का अधिकार हो, वहाँ-वहाँ आपलोग सर्वत्र इसका प्रचार करें। यह अनुशासन उस समय लिखा, जब (मैं) प्रवास कर रहा था और अपने प्रवास का २५६वाँ दिन बिता रहा था।

ब्राह्मगिरि, सिद्धपुर, जतिंगरामेश्वर, राजुल और येर्रागुडी

(प्रथम लघुलेख)

सुवंणगिरीते अयपुतस महामातारणं च वचनेन इसिलसि महमाता आरोगियं वतविया हेवं च वतविया [।] देवाणं पिये आणपयति [।] अधिकानि अढातियानि वसानि य हकं··· नो तु खो बाढं पकंते हुसं [।] एकं सवछरं उतिरेके तु खो संवछरं यं मया संघे उपयाते बाढं च मे पकंते [।] इमिना चु कालेन अमिसा समाना मुनिसा जंबुदीपसि मिसा देवहि [।] पकमस हि इयं फले [।] नो हीयं सक्ये महात्पेनेव पापोतवे [।] कामं तु खो खुदकेनपि पकमं मिणेण विपुले स्वगे सक्ये आराधेतवे [।] एतायठाय इयं सावणे सावापिते [।] ···महात्पा च इमं पकमेयुति अंता च मे जानेयु चिरठितीके च इयं प (कमे होतु) [।] इयं च अठे वढिसिति विपुलं पि च वढिसिति अवरधिया दियढियं (वढि) सिति [।] इयं च सावणे सावपते व्यूथेन २५६ [।]

हिन्दी

सुवर्णगिरि से आर्यपुत्र और महामात्यों की ओर से 'इसिला' के महामात्यों को आरोग्य कहना और यह सूचित करना कि देवताओं के प्रिय आज्ञा देते हैं कि ढाई वर्ष से अधिक हुए कि मैं उपासक हुआ, परन्तु अधिक उद्योग नहीं किया। किन्तु, एक वर्ष से अधिक हुए, जबसे मैं संघ में आया हूँ, तबसे मैंने प्रचुर पराक्रम किया है। इस बीच जम्बूद्वीप में जो मनुष्य सच्चे माने जाते थे, वे अब अपने देवताओं के सहित मिथ्या सिद्ध कर दिये गये हैं। पराक्रम का ही यह फल है। यह केवल महान् लोग ही नहीं प्राप्त कर सकते हैं; बल्कि छोटे लोग भी पराक्रम करें, तो वे भी इस महान् स्वर्ग-सुख को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए शासन लिखा गया कि छोटे और बड़े—सभी लोग ऐसा पराक्रम करें। मेरे पड़ोसी लोग भी इस बात को जानें (और ऐसा पराक्रम करें) तथा मेरा यह शासन चिरस्थायी रहे। इस शासन का विस्तार होगा और अपरिमित विस्तार होगा—कम-से-कम

ढाईगुना विस्तार होगा। यह अनुशासन (मैंने) अपने प्रवास के २५६वें दिन प्रचारित किया।

(उक्त स्थानों के द्वितीय लघुलेख)

से हेवं देवानं पिये आह [—] मातापितिसु सुसूसितविये [।] हेमेव गरुत्वं प्राणेसु द्रढितव्यं [।] सचं वतविये [।] से इमे धंमगुण पवतितविया [।] हेमेव अंतेवासिना आचरिये अपचायितविये [।] जातिकेसु, च कु यथारहं पवतितविये एसा पोराणा पकिती दिघावुसे च [।] एस हेवं एस कटिविये च [।] पडेन लिखितं लिपिकरेण* [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय इस तरह कहते हैं—माता-पिता की सेवा करनी चाहिए। (प्राणियों के) प्राणों का आदर दृढ़ता से करना चाहिए और सत्य बोलना चाहिए। यही धर्म के गुण हैं, इनका प्रचार करना चाहिए। इसी प्रकार छात्रों को अपने आचार्य की सेवा करनी चाहिए तथा अपने बन्धु-बान्धवों के प्रति आदर प्रकट करना चाहिए। यही प्राचीन रीति है और इससे आयु बढ़ती है तथा इतना ही रहस्य है—यही कर्त्तव्य है। पड नामक लिपिकार ने इसे लिखा है।

मास्की, पाल्कीगुण्डु और गवीमठ का लघुलेख

देवानं पियस असोकस···दत नि वसानि यं अं सुमि बु' पा सके······तिरेके··· मि संघं उपगते वा···मि उपगते [।] पुरे जंबु···सि (देवा हुसु) ते दानि मिसिभूता [।] इय अठे खुद के न हि धमयु तेन सके अधिगतवे न हेवं दखितविये उडा लके व इम अधिगटेया ति [।] खुदके च उडालकेक च वतविया हेवं वे कलंतं भदके ठेति···तक च वधिसिति चा दिय डिय हेसति [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय अशोक की ओर से ऐसा कहना—ढाई वर्ष से अधिक हुए कि मैं उपासक हुआ हूँ; पर पूरा पराक्रम नहीं किया। किन्तु, एक वर्ष से अधिक हुए कि जब से मैं संघ में आया हूँ, तब से मैंने प्रचुर पराक्रम किया है। पहले जम्बूद्वीप में जो देवता थे, वे सब मिथ्या सिद्ध हो गये हैं। यह रहस्य छोटे लोग भी धर्म के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि केवल महान् लोगों से ही यह प्राप्य है। बड़े और छोटे—सभी लोगों को यह बतलाना चाहिए कि ऐसा करना (सबके लिए) कल्याणकारक है। मेरा यह शासन चिरस्थायी होगा और इसका विस्तार होगा—कम-से-कम ढाईगुना विस्तार होगा।

* उक्त दोनों अभिलेख ब्रह्मगिरि के पाठ हैं।—ले०

भाब्रू शिला-लेख*

पियदसि लाजा मागधं संघं अभिवादेतं आहा [।] अपाबाधत च फासु विहालतं चा [।] विदितमे भंते आवतके हमा बुधसि धंमसि संघसीति गलवे च पसादे च [।] ए केचि भंते भगवता बुधेन भासिते सवे से सुभासिते वा ए चु खो भंते हमियाये दिसेया हेवं सधंमे चिलठितीके होसतीति अलहामि हकं तं वतवे [।] इमानि भंते धंम पलियायानि *विनयसमुकसे अलियवसानि अनागतभयानि मुनिगाथा मोनेयसूते उपतिसपसिने ए चा लाघुलोवादे* मुसावादं अधिगिच्य भगवता बुधेन भासिते एतानि भंते धंमपलियायानि इछामि किंति [?] बहु के भिखुपाये च भिखुनिये चा अभिखिनं सुनयु चा उपधालेयेयु चा हेवं हेवा उपासका चा उपासिका चा [।] एतेनि भंते इमं लिखापियामि अभिहेतं म जानंतति [।]

हिन्दी

प्रियदर्शी राजा मगध के संघ को अभिवादन कहते हैं कि (वे) विघ्नहीन और सुख से रहें। हे भदन्तगण, आपको मालूम है कि बुद्ध, धर्म और संघ में हमारी कितनी भक्ति और गौरव है। हे भदन्तगण, जो-कुछ भगवान् बुद्ध ने कहा है, सो सब-के-सब सुभाषित हैं। इसलिए हे भदन्तगण, मैं अपनी ओर से देखता हूँ कि सद्धर्म इस तरह चिरस्थित रहेगा। अतः मैं कहना चाहता हूँ कि ये सब धर्म के रूप हैं—विनय समुत्कर्ष, अरियवंश, अनागतभय, मुनिगाथा, मौनेयसूत्र, उपतिष्य प्रश्न और राहुलवाद, जिसे भगवान् बुद्ध ने मिथ्यावादन के सम्बन्ध में कहा है। हे भदन्तगण, मैं चाहता हूँ कि इन धर्म-वाक्यों को बहुत-से भिक्षुक और भिक्षुणी बार-बार श्रवण करें और धारण करें। इसी प्रकार उपासक और उपासिका भी सुनें तथा धारण करें। हे भदन्तगण, मैं इसलिए लेख लिखवाता हूँ कि लोग मेरा अभिप्राय जानें।

चतुर्दश शिला-लेख†

कालसी, गिरनार, सहबाजगढ़ी, मानसेरा, येरागुडी, सोपारा, धौली और जौगढ़

(प्रथम प्रज्ञापन)

इयं धंमलिपी देवानं प्रियेन प्रियदसिना राञा लेखापिता [:-] इध न किं—चिजीवं आरभित्पा प्रजूहितव्यं न च समाजो कतथवो [।] बहुकं हि दोसं समाजंहि पसति देवानं प्रियो-प्रियदसि राजा [।] अस्ति पि तु एकचा समाजा साधुमता देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो [।] ...पुरा महानसंहि देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो अनुदिवसं बहूनि प्राणसतसहस्रानि आरभिसु सूपाथाय [।] से अज यदा अयं धंमलिपी लिखिता ती एव प्राणा आरभरे सूपथाय द्वो मोरा एको मगो [।] सोपि मगो न ध्रुवो [।] एते पि त्री प्राणा पछा न आरभिसरे [।]

* यह शिला-लेख अब कलकत्ता के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसके मुख्यांशों का विवरण इस पुस्तक के पृ० १७७-१७८ पर देखिए।—ले०

† यहाँ जो चतुर्दश शिला-लेख के पाठ दिये गये हैं, वे गिरनारवाले ही हैं।—ले०

हिन्दी

यह धर्मलेख देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ने लिखवाया है। यहाँ (राज्य में) कोई जीव मारकर होम न किया जाय और न समाज किया जाय। क्योंकि, देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत-से दोष देखते हैं। तथापि एक प्रकार के ऐसे समाज हैं, जिन्हें देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा पसन्द करते हैं। पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में प्रतिदिन कई सहस्र जीव सूप (शोरवा) बनाने के लिए मारे जाते थे, पर अब जबकि यह धर्म-लेख लिखा जा रहा है, केवल तीन ही जीव मारे जाते हैं—दो मोर और एक मृग। पर मृग का मारा जाना निश्चित नहीं है। ये तीनों प्राणी भी भविष्य में न मारे जायेंगे।

(द्वितीय प्रज्ञापन)

सर्वत विजितंहि देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो एवमपि प्रचंतेसु यथा चोडा पाडा सतियपुतो केतलपुतो आतंब पंणी अंतियको योनराजा ये वा पि तस अंतियकस सामीपं राजानो सर्वत्र देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो द्वे चिकीछ कता मनुसचिकीछा च पसुचिकीछा च [।] ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च मूलानि च फलानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपितानि च [।] पंथेसू कूपा च खानापिता व्रछा च रोपापिता प्रति भोगाय पसुमनुसानं [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के राज्य में सब स्थानों पर तथा जो उनके पड़ोसी राज्य हैं, वहाँ—जैसे चोड, पाण्ड्य, सत्यपुत्र, कोलपुत्र, ताम्रपर्णी में और अन्तियोक नामक यवन राजा और उस अन्तियोक के पड़ोसी राजाओं के यहाँ—देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की—एक मनुष्य की और दूसरे पशुओं की—चिकित्सा का प्रबन्ध किया है। औषधियाँ भी मनुष्यों और पशुओं के लिए जहाँ-जहाँ नहीं थीं, वहाँ-वहाँ लाई और रोपी गई। इसी तरह मूल और फल भी जहाँ-जहाँ नहीं थे, वहाँ-वहाँ लाये और रोपे गये। मार्गों में पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिए वृक्ष लगवाये और कूप खुदवाये गये हैं।

(तृतीय प्रज्ञापन)

देवानं प्रियो पियदसि राजा एवं आह [—] द्वादसवासाभिसितेन मया इदं आञपितं [—] सर्वत विजिते मम युता च राजुके च प्रादेसिके च पंचसु पंचसु वासेसु अनुसं-यानं नियातु एतायेव अथाय·········इमाय धंमानुसस्टिय यथा अञा-य पि कंमाय [—] साधु मातरि च पितरि च सुस्रूसा मितासंस्तुत ञातीनं बाम्हण-समणानं साधु दानं प्राणानं साधु अनारंभो अपव्ययता अपभांडता साधु [।] परिसा पि युते आञपयिसति गणनायं हेतुतो च व्यंजनतो च [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के बारह वर्ष बाद मैंने यह आज्ञा दी है—मेरे राज्य में सब जगह युत (युक्त), लाजुक (रज्जुक) और प्रादेशिक (शासक) पाँच-पाँच वर्ष पर इस काम के लिए धर्मानुशासन के लिए तथा और-और कामों के लिए (कहते हुए) दौरा करें कि 'माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित स्वजातीय ब्राह्मण और श्रमण को दान देना अच्छा है। जीवहिंसा न करना अच्छा है। थोड़ा व्यय करना और थोड़ा संचय करना अच्छा है।' परिषद् भी युक्तों (एक प्रकार के कर्मचारी) को भाण्डार का निरीक्षण करने और हिसाब-किताब की जाँच करने के लिए आज्ञा देगी।

(चतुर्थ प्रज्ञापन)

अतिकातं अंतरं बहूनि वाससतानि वढितो एव प्राणारंभो विहिंसा च भूतानं ञातीसु असंप्रतिपती ब्राम्हण स्रमणानं असं प्रतीपती [।] तेअज देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो धंम चरणेन भेरीघोसो अहो धंमघोसो विमान—दसणा च हस्तिदसणा च अगिखंधानि च अञानि च दिव्यानि रूपानि दसयित्पा जनं [।] यारिसे बहूहि वास सतेहि न भूतपुवे तारिसे अज वढिते देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो धंमानुसस्टिया अनारं भो प्राणानं अविहीसा भूतानं ञातीनं संपटिपती ब्रम्हण समणानं संपटिपती मातरि पितरि सुस्रुसा थैर सुस्रुसा [।] एस अञे च बहुविधे धंमचरणे वढिते [,] वढयिसति चेव देवानं प्रियो प्रियदसि राजा धंमचरणं इदं पुत्रा च पोत्रा च प्रपौत्रा च देवानं प्रियस पियदसिनो राञो वधयिसंति इदं धंमचरणं··· आव संवटकथा धंमम्हि सीलम्हि तिस्टंतो धंमं अनुसासिसंति [।] एस हि सेस्टे कंमे य धंमानुसासनं [।] धंमचरणे पि न भवति असीलस [।] त इमम्हि अथम्हि वधीच अहीनी च साधु [।] एताय अथाय इदं लेखापितं [—] इमस अथस वधि युजंतु हीनि च मा लोचेतव्या [।] द्वादसवधि युजंतु हीनि च मालोचेतव्या [।] द्वादस वासाभिसितेन देवानं प्रियेन प्रियदसिना राजा इदं लेखापितं [।]

हिन्दी

बहुत दिनों से, कई सौ वर्षों से, प्राणियों का वध, जीवों की हिंसा, बन्धुओं का अनादर, श्रमण और ब्राह्मणों का अनादर बढ़ता ही गया। पर आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण द्वारा भेरी के घोष, नहीं-नहीं—धर्म के घोष के साथ विमान और हाथियों को दिखाया जाता है। आतिशबाजी और अन्य दिव्यरूपों के दर्शन कराये जाते हैं। जैसा सैकड़ों वर्ष पहले से कभी नहीं हुआ था, वैसा देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन से आजकल प्राणियों का न मारा जाना, जीवों की अहिंसा, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों तथा श्रमणों का आदर, माता-पिता तथा वृद्धजनों की सेवा में वृद्धि हुई है। ये तथा दूसरे अनेक प्रकार के धर्माचरण बढ़े हैं। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस धर्माचरण को (और भी) बढ़ावेगा। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र इस धर्माचरण को कल्पान्त

तक बढ़ावेंगे तथा धर्म और शील में (स्थित) रहते हुए धर्म का अनुशासन करेंगे (क्योंकि) धर्मानुशासन ही श्रेष्ठ कर्म है। बिना शीलवाले का धर्माचरण भी नहीं होता है। इसलिए इस बात की बढ़ती होना तथा घटती न होना श्रेष्ठ है। इसी प्रयोजन से यह लिखा गया कि (लोग) इस उद्देश्य की वृद्धि में लगें और उसकी हानि न देखें। राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने यह (प्रज्ञापन) लिखवाया।

(पञ्चम प्रज्ञापन)

देवानं प्रियो पियदसि राजा एवं आह कलाणं दुकरं ये आदिकरे कलाणेस सोदुकरं करोति त मया बहु कलाणं कतं त मम पुता च पोत्रा च परं च तेन य मे अपचं आवसंवटक्या अनुवतिसरे तथा सो सुकतं कासति यो तु एत देसं पि हापेसति सो दुकतं कासति सुकरं हि पापं···अतिकातं अंतरं न भूतपुवं धंममहामाता नाम त मया त्रैदस वासाभिसितेन···धंम-महामाता कता ते सवपासंडेसु व्यापता धामधिस्टानाय···धंमयुतस च योणकंबोजगंधारानं रिस्टिकपेतेणिकानं ये वा पि अंञे अपराता भतमयेसु व···सुखाय धंमयुतानं अपरिगोधाय व्यापता ते बधनबधस पटिविधानाय···प्रजा कता भीकारेसु वा थैरेसु वा व्यापता ते पाटलिपुते च बाहिरेसु च···येवा पि मे अञे आतिका सर्वत व्यापता ते यो अयं धंमनिस्रितो ति व···, ···धंममहामाता एताय अथाय अयं धंमलिपी लिखिता··· [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने इस प्रकार कहा है। कल्याण (करना) कठिन है। जो कल्याण करता है, वह कठिन काम करता है। सो मैंने बहुत कल्याण किया। इसलिए मेरे पुत्र, पौत्र तथा उनसे आगे जो मेरे वंशज होंगे, वे कल्पान्त तक वैसा अनुसरण करेंगे (तो) वे सुकृत करेंगे। जो इस आज्ञा के अंश मात्र में भी हानि पहुँचावेंगे, वे बुरा काम करेंगे। क्योंकि पाप सहज में फैलता है। बहुत काल बीता कि धर्ममहामात्र नहीं नियत हुए। इसलिए मैंने अभिषिक्त होने के तेरहवें वर्ष धर्ममहामात्र नियत किये। वे सब धर्मों के लिए नियुक्त हैं। वे धर्म के अधिष्ठान और धर्म की वृद्धि तथा धर्मानुयायी लोगों के हित और सुख के लिए हैं। वे यवनों, कम्बोजों, गान्धारों, राष्ट्रिकों, पैठनिकों तथा पश्चिमी सीमा-प्रान्त पर रहनेवाले दूसरे लोगों के, वेतनभोगी नौकरों, ब्राह्मणों और धनवानों, अनाथों और बुड्ढों के हित और सुख तथा अधीनस्थ धर्माधिकारियों की (=से ?) बाधा न पहुँचने के लिए नियुक्त हैं। वे कैद करने और प्राणदण्ड देने को नियंत्रित करने, बाधा को दूर करने और छुड़ाने के लिए नियुक्त हैं। यह अनुबंध बाल-बच्चेवालों या जो राज्याधिकार कर चुके हैं, या बूढ़ों के लिए नियत हैं। ये लोग यहाँ पाटलिपुत्र में तथा बाहर के सब नगरों में, मेरे तथा मेरे भाई और बहनों के महलों तथा दूसरे सम्बन्धियों के लिए सब जगह नियुक्त हैं। जो यों धर्म के काम में अधिकृत अथवा अधिष्ठित अथवा दान के काम में अधिकार पर मेरे सब विजित देशों में, सारी पृथ्वी में, धर्म के अधिकारियों पर नियुक्त हैं, वे धर्ममहामात्र हैं। इसलिए यह धर्मलिपि लिखवाई।

(षष्ठ प्रज्ञापन)

देवानं प्रि···सि राजा एवं आह अतिक्रातं अंतरं न भूतप्रुव सव कलं अथकंमे व पटिवेदना वात मया एवं कतं सवे काले भुंजमानस मे ओरोधनम्हि गभागारम्हि वचम्हि व विनीतम्हि च उपानेसु च सवत्र पटिवेदका स्तिता अथे मे जनस पटिवेदेथ इति सर्वत्र च जनस अथे करोमि य च किंचि मुखतो आञपयामि स्वयं दापकं वा स्रावापकं वा य वा पुन महामात्रेसु आचायिके आरोपितं भवति ताय अथाय विवादो निझती व संतो परिसायं आनंतरं पटिवेदेतव्यं मे सर्वत्र सर्वे काले एवं मया आञपितं नास्ति हि मे तोसो उस्टानम्हि अथसंतीरणाय व कतव्य मते हि मे सर्वलोकहितं तस च पुन एस मूले उस्टानं च अथसंतीरणा च नास्ति हि कंमतरं सर्वलोकहितप्पा य च किंचि पराक्रमामि अहं किंति भूतानं आनंणं गछेयं इध च नानि सुखापयामि परत्रा च स्वयं आराधयंतु त एताय अथाय अयं धंमलिपी लेखापिता किंति चिरं तिस्टेय इति तथा च मे पुत्रा पोता च प्रपोत्रा च अनुवतरां सवलोकहिताय दुकरं तु इदं अञत अगेन पराक्रमेन [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने इस प्रकार कहा है। बहुत दिन बीत गये, सब समय में राज्य का कार्य और विज्ञप्ति नहीं होती। इसलिए मैंने इस प्रकार (प्रबन्ध) किया कि सब समय में—चाहे मैं खाता होऊँ, चाहे महल में होऊँ, चाहे अपने महल में, चाहे टहलने में, चाहे (स्थान-स्थान पर बदलनेवाली सवारी की) डाक से लम्बी यात्रा में और चाहे बागीचे में—सर्वत्रप्रतिवेदक प्रजा के कार्य की (मुझे) सूचना दें। मैं सब जगह प्रजा का कार्य करता हूँ। दिलानेवाले और सुनानेवाले अधिकारियों को जो कुछ मौखिक आज्ञा मैं दूँ, उसके विषय में या अत्यन्त आवश्यकता पर जितना अधिकार महामात्रों को दिया गया है, उसके सम्बन्ध में संदेह या मतभेद और पुनर्विचार होने पर परिषद् बिना विलम्ब के सब जगह मुझे सूचित करे। इस प्रकार मैंने आज्ञा दी; (क्योंकि) उद्योग करने में और कार्य चलाने के लिए मुझे संतोष नहीं होता। सबलोगों की भलाई करना ही मैंने कर्त्तव्य माना है और उसका मूल उद्योग और कार्य-संचालन है। सबलोगों की भलाई के अतिरिक्त मुझे अधिक करणीय काम कोई नहीं है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ, वह क्यों? इसीलिए कि जीवधारियों के ऋण से मुक्त होऊँ, कुछ को इस लोक में सुख दूँ (जिसमें) वे दूसरे लोक में स्वर्ग प्राप्त करें। इस प्रयोजन से यह धर्मलिपि लिखवाई। यह चिरस्थायी हो तथा मेरे स्त्री, पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र सब लोगों की भलाई के लिए उद्योग करें। बिना अत्यधिक प्रयत्न के यह दुष्कर है।

(सप्तम प्रज्ञापन)

देवानं पियो पियदसि राजा सर्वत इछति सवे पासंडा वसेयु सवे ते सयमं च भावसुधिं च इछति जनो तु उचावचछंदो उचावचरागो ते सर्वं व कासंति एकदेसं व कासंति विपुले तु पि दाने यस नास्ति सयमे भावसुधिता व कतंञता व दिढभतिता च निचा बाढं [।]

हिन्दी

देवताओं का प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब धर्मवाले सर्वत्र बसें। वे सभी संयम और भावशुद्धि चाहते हैं। मनुष्यों के ऊँच-नीच विचार और ऊँच-नीच राग होते हैं। वे पूरी तरह अथवा कोई अंश (पालन) करेंगे। जिसके बहुत दान नहीं है, उसमें भी संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़भक्ति तो अवश्य ही नित्य है।

(अष्टम प्रज्ञापन)

अतिकातं अंतरं राजानो विहारयातां अयासु एत मगव्या अञानि च एतारिसानि अभीरमकानि अहुंसु सो देवानं पियो पियदसि राजा दसवसाभिसितो संतो अयाय संबोधिं तेनेसा धंमयाता एत यं होति ब्राह्मणसमणानं दसणे च दाने च थैरानं दसणे च हिरंणपटिविधानो च जानपदस च जनस दसनं धंमानुसस्टी च धमपरिपुछा च तदोपया एसा भुय रति भवति देवानं पियस प्रियदसिनो राञो भागे अंञे [।]

हिन्दी

बहुत काल बीत गया (कि) देवताओं के प्रिय राजा लोग विहार-यात्रा के लिए निकलते थे। इसमें शिकार तथा वैसी ही मन बहलानेवाली दूसरी बातें होती थीं। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अभिषिक्त होने के दसवें वर्ष में सम्यक् ज्ञान के मार्ग पर पैर रखा। इससे यह धर्मयात्रा चली। इसमें ये होते हैं (कि) श्रमणों और ब्राह्मणों का दर्शन, दान, बुड्ढों का दर्शन, सोने का वितरण, जनपद के लोगों का दर्शन, धर्म का उपदेश और धर्म विषय की जिज्ञासा। उससे (विहार-यात्रा से) यह (धर्मयात्रा) बहुत ही आनंददायक होती है। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा का भाग ही दूसरा है।

(नवम प्रज्ञापन)

देवानं पियो प्रियदसि राजा एवं आह अस्ति जनो उचावचं मंगलं करोते आबाधेसु वा आवाह वीवाहेसु वा पुत्रलाभेसु वा प्रवासंम्हि वा एतम्ही च अञम्हि च जनो उचावचं मंगलं करोते एत तु महिडायो बहुकं च बहुविधं च छुदं च निरथं च मंगलं करोते त कतव्व मेव तु मंगलं अपफलं तु खो एतरिसं मंगलं अयं तु महाफले मंगले ये धंममंगले तत दासभटकम्हि सम्यप्रतिपती गुरूनं अपचिति साधु पाणेसु सयमो साधु बम्हणसमणानं साधु दानं एत च अञ च एतारिसं धंममंगलं नाम त वतव्वं पिता व पुतेन वा भात्रा वा स्वामिकेन वा इदं साधु इदं कतयत्रं मंगलं आव तस अथस निस्टानाय अस्ति च पि वुतं साधु दनं इति न तु एतारिसं अस्ति अस्ति दानं व अनगहो व यारिसं धंमदानं च धंमानुगहो व त तु खो मित्रेन व सुहदयेन वा ञतिकेन व सहायन व ओवादितव्यं तम्हि तम्हि पकरणे इदं साध इति इमिना सकं सवगं आराधेतु इति कि च इमिना कतट्वतरं यथा सवगारधि* [।]

---

* कालसी, शहबाजगढ़ी और मानसेरा में अन्तिम कुछ पंक्तियों का पाठभेद है, जिसका उल्लेख अत्यन्त आवश्यक नहीं जान पड़ा।—लै०

हिन्दी

देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है। लोग ऊँचा-नीचा (थोड़ा-बहुत) मंगल करते हैं। बीमारी, बुलाहट, विवाह, पुत्रजन्म, परदेश जाने तथा और ऐसे ही दूसरे अवसरों पर मनुष्य बहुत मंगल-कामना करता है। ऐसे अवसरों पर बच्चेवाली स्त्रियाँ अनेक प्रकार की छोटी और निरर्थक मंगल-कामना करती हैं। ये मंगल-कामनाएँ अवश्य करनी चाहिए, किन्तु इनका फल थोड़ा होता है। इस (दूसरे) धर्म-मंगल से तो निश्चय बड़ा फल होता है। उसमें ये बातें हैं कि दास और नौकरों से उचित व्यवहार, गुरुजनों की पूजा, प्राणों का संयम (प्राणियों पर दया), श्रमणों और ब्राह्मणों को दान। ये तथा ऐसे ही दूसरे कार्य धर्म-मंगल के। इसलिए पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र और परिचित यहाँतक कि पड़ोसी भी यह उपदेश करें कि जबतक अर्थ की सिद्धि न हो, तबतक यह मंगल उत्तम है, कर्त्तव्य है। यह भी कहा है कि दान उत्तम है, किन्तु कोई दान या अनुग्रह ऐसा नहीं है, जैसा कि धर्मदान और धर्मानुग्रह। इसे मित्र, सुहृद्, कुटुम्बियों और सहायकों को समय-समय और देकर अवश्य कहना चाहिए कि यह कर्त्तव्य है, यह उत्तम है, इससे स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। इससे बढ़कर अधिक कर्त्तव्य और क्या हो सकता है कि स्वर्ग की प्राप्ति हो।

(दशम प्रज्ञापन)

देवानं प्रियो पियदसि राजा यसो व कीति व न महाथावहा मंत्रते अञत तदात्पनो दिघाय च मे जनो धंम सुस्रु सा सुस्रु सतां धंमवुतं च अनुविधियतं एतकाय देवानं पियो पियदसि राजा यसो व किति व इछति यं तु किंचि पराकमते देवानं प्रियदसि राजा त सर्व पारत्रिकाय किंति सकले अपपरिस्रवे अस एस तु परिस्रवे य अपुंञं दुकरं तु खो एतं छुदकेन व जनेन उसटेन व अञत्र अगेन पराकमेन सवं परिचजित्पा एत तु खो उसटेन दुकरं [।]

हिन्दी

देवताओं का प्रिय पियदर्शी राजा यश या कीर्त्ति को परलोक के लिए बहुत काम की वस्तु नहीं मानता। जो वह यश या कीर्त्ति को चाहता है, तो इसलिए कि मेरी प्रजा वर्त्तमान और भविष्यत् में धर्म की शुश्रूषा करे और धर्मव्रत का पालन करे। इसीलिए देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यश या कीर्त्ति की इच्छा करता है। जिसमें सब दोष-रहित हों। यही दोष है कि अपुण्य (पुण्य न करना)। यह (अपुण्य-रहित) बिना बड़े भारी पराक्रम के छोटे या बड़े जनवर्ग के लिए अवश्य दुष्कर है। चाहे, सब-कुछ छोड़ दे, पर यह तो छोटे-बड़े सब के लिए दुष्कर है। बड़े के लिए तो और भी दुष्कर है।

(एकादश प्रज्ञापन)

देवानं प्रियो पियदसि राजा एवं आह नास्ति एतारिसं दानं यारिसं धंमदान धंमसंस्तवो वा धंमसंविभागो व धंमसंबंधो व तत इदं भवति दासभतकम्हि सम्यप्रतिपती मातरि पितरि साधु सुस्रु सा मितसस्तुतञातिकानं बाम्हणसमणानं साधु दानं प्राणानं अनारंभो साधु एत

वतव्यं पिता व पुत्रेण व भाता व मितसस्तुतञातिकेन व आव पटिवेसियेहि इदं साधु इदं कतव्यं सो तथा करु इलोक च स आरधो होति परत च अनंतं पुंञं भवति तेन धंम-दानेन [।]

हिन्दी

देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहता है। जैसा धर्म का दान, धर्म का व्यवहार, धर्म का लेन-देन और धर्म का सम्बन्ध है, वैसा और कोई दान नहीं है। इनमें ये-ये बातें होती हैं—दास और वेतनभोगी सेवकों से अच्छा बर्त्ताव, माता-पिता की सेवा, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान तथा प्राणों की अहिंसा। पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र, परिचित, सम्बन्धी यहाँ तक कि पड़ोसी (सब) को यह कहना चाहिए कि यही उत्तम है। यही कर्त्तव्य है। ऐसा करता हुआ यह (मनुष्य) इस लोक की (सब बातों) को सिद्ध करता है और उसी धर्मदान से परलोक में अनंत पुण्य को उत्पन्न करता है।

(द्वादश प्रज्ञापन)

देवानं पिये पियदसि राजा सव पासंडानि च पवजितानि च घरस्तानि च पूजयति दानेन च विविधाय च पूजाय पुजयति ने न तु तथा दानं व पूजा व देवानं पियो मंजते यथा किति सारवढी अस सवपासंडानं सारवढी तु बहुविधा तसतस तु इदं मूलं य वचिगुती किंति आत्प पासंडपूजा व परपासंड गरहा व नो भवे अपकरणम्हि लहुका व अस तम्हि तम्हि प्रकरणे पूजेतया तु एव परपासंडा तेन तन प्रकरणेन एवं करुं आत्पपासंडं च वढयति परपासंडस च उपकरोति तदंनथा करोतो आत्प पासंड च छणति पर पासंडस च पि अपकरोति यो हि कोचि आत्प पासंडं पूजयति परपासंडं वा गरहति सवं आत्प पासडभतिया किंति आत्प पासंडं दीपयेम इति सो च पुन तथ करातो आत्पपासंडं बाढतरं उपहनाति त समवायो एव साधु किंति अंञमंञंस धंमं स्रुणारु च सुसुसेर च एवं हि देवानं पियस इछा किंति सवपासंडा बहुस्रुता च असु कलाणागमा च असु ये च तत्र तत्रे प्रसंना तेहि वतव्यं देवानं पियो नो तथा दानं व पूजा व मंञते यथा किंति सारवढी अस सर्वपासंडानं बहका च एताय अथा व्यापता धंममहामाता च इथीझखमहामाता च वचभूमीका च अञे च निकाया अयं च एतस फल य आत्प पासंडवढी च होति धंमस च दीपना [।]

हिन्दी

देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मवालों का—त्यागी, गृहस्थ, दान और अनेक प्रकार की पूजा से सत्कार करता है। दान या पूजा को देवताओं का प्रिय उतना नहीं मानता, जितना कि क्या? यह कि सब धर्मवालों की सारवृद्धि हो। सारवृद्धि कई प्रकार की होती है। इसका मूल वाणी का संयम है; (क्योंकि) कि जिसमें अपने धर्मवालों का आदर और दूसरे धर्मवालों की निन्दा न हो और बिना प्रयोजन हलकाई न की जाय। अवसर-अवसर पर भिन्न-भिन्न रीति से दूसरे धर्मवाले (भी) आदर के योग्य हैं। जो ऐसा

करता है, वह अपने धर्म की बहुत उन्नति करता है और दूसरे धर्मवाले का भी उपकार करता है। जो इसके विपरीत करता है, वह अपने धर्म को क्षीण और परधर्म का अपकार करता है। जो कोई अपने धर्मवालों का आदर और दूसरे धर्मवालों का अनादर करता है, वह अपने धर्म को भक्ति से ही करता है क्यों? कि जिसमें अपने धर्म का प्रकाश हो, किन्तु वैसा करने से वह अपने धर्म को अत्यंत हानि पहुँचाता है। इसलिए आपस का मेल-जोल ही अच्छा है कि (लोग) एक-दूसरे के धर्म को सुनें और उसकी शुश्रूषा करें। यही देवताओं का प्रिय चाहता है। क्या कि सब धर्मवाले बहुश्रुत हों और उनका ज्ञान कल्याणमय हो। जो लोग जिस-जिस (धर्म) पर दृढ़ हों, वे यह कहें कि देवताओं का प्रिय दान और पूजा को वैसा नहीं मानता, जैसा कि सब धर्मवालों की सारवृद्धि और बड़ाई हो। इसी उद्देश्य से धर्ममहामात्र, स्त्रियों के अध्यक्ष महामात्र, व्रजभूमिक तथा दूसरी संस्थाएँ नियत हैं। इसका फल यह है कि अपने मत की उन्नति और धर्म का प्रकाश।

(त्रयोदश प्रज्ञापन*)

अस्तवषअभिसितस देवन प्रियस प्रियद्रशिस रञो कलिग विजित दियधमत्रे प्रणशतसहस्रे येतता अयवुढे शतसहस्रमत्रे तत्र हते बहुतवतके मुटे ततो पछ अधुन लधेषु कलिगेषु तिव्रे ध्रमपलनं ध्रमकमत ध्रमनुशस्ति च देवन प्रियस सो अस्ति अनुसोचनं देवन प्रियस विजिनितु कलिगनि अविजितं हि विजिनमनि ये तत्र वधो च मरणं व अपवहो व जनस तं बढं वेदनियमतं गुरुमतं च देवनं प्रियस इमं पि श्रु ततो गुरुमत रं देवनं प्रियस तत्र हि वसति ब्रमण व श्रमण व अंञे व प्रषंड ग्रहथ व येसु विहित एष अग्रभुटि सुश्रष मत पितुषु सुश्रुष गुरुनं सुश्रुष मित्र-संस्तुत सहय ञतिकेषु दसभटकनं संम प्रतिपति दिढभतित तेषं तत्र भोति अपग्रथो न वधो व अभिरतन व निक्रमणं येषं व पि संविहितनं नेहो अविप्रहिनो एतेष मित्रसंस्तुतसहयञतिक वसन प्रपुणति तत्र तं पि तेष वो अपग्रथो भोति प्रतिभगं च एतं सव्र मनुशनं गुरुमतं च देवनं प्रियस (नथि चा से जनपदे यता नथि इमे निकाया, आनंता येनेष बंह्मने चा समने चा नथि, चा कुवापि जनपदषि यता नथि मनुषानं) एकतरस्पि पि प्रषंडस्पि न नम प्रसदो सो यमत्रो जनो तद कलिगे (ल० पु) हतो च मुटो च अववुढो च ततो शतभगे व सहस्रभगं व अज गरुमतं वो देवनं प्रियस यो पि च अपकरेयति छमितवियमते वो देवनं प्रियस यं शको छमनये य पि च अटवि देवनं प्रियस विजिते भोति त पि अनुनेति अनुनिझपयेे अनुतपे पि च प्रभवे देवनं प्रियस वचति तेष किति अवत्रपेयु न च हंञेयसु इछति हि देवनं प्रियो सव्रभुतन अछति संयमं समचरियं रभसिये एषे च मुखमुते देवनं प्रियस यो ध्रमविजयो सो च पुन लधो देवनं प्रियस इह च सव्रेषु च अंतेषु अषषु पि योजनशतेषु यत्र अंतियोको नम योजरज परं च तेन अंतियोकेन चतुरे रजनि तुरमये नम अंतिकिनि नम मक नम अलिकसुदरो नम निच चोड पंड

* यह प्रज्ञापन सहबाजगढ़ी का है। सहबाजगढ़ी में जहाँ-जहाँ वाक्य टूट गये हैं। वहाँ का अंश—कालसी-शिलालेख से लिया गया है, जो कोष्ठक ( ) के भीतर है। गिरनारवाले प्रज्ञापन में उसके बहुत अंश नष्ट हो गये हैं, अतः सहबाजगढ़ीवाला ही पाठ दिया गया है।—ले०

अव तंवपंनिय एवमेव हिदराज विषवत्रि योनकंबोयेपु नभके नभितिन भोजपितिनिकेपु अंध्र-पुलिदेपु सवत्र देवनं प्रियस ध्रमनुशस्ति अनुवटंति यत्र पि (दुता) देवनं प्रियस दुत न व्रचंति ते पि श्रु तु देवनं प्रियस ध्रमवुटं विधेनं ध्रमनुशस्ति ध्रमं अनुविधियंति अनुविधियिशंति च यो च लधे एतकेन भोति सवत्र विजयो सवत्र पुन विजयो प्रितिरसो सो लध भोति प्रिति (पिति) ध्रमविजयस्पि लहुक तु खो स प्रिति परित्रिकमेव महफल मेन्नति देवनं प्रियो एतये च अठये अयो ध्रमदिपि दिपिस्त किति पुत्र पपोत्र मे असु नवं विजयं म विजेतवियं मनिषु (पयकपि) यो विजये क्षंति च लहुदंडतं च रोचेतु तं एव विजमज यो ध्रमविजयो सो हिद-लोकिको परलोकिको सम्र च निरति भोतु य व्रमरति स हि हिदलोकिक परलोकिक [।]

हिन्दी

अभिषिक्त होने के आठवें वर्ष देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंगों को जीता। वहाँ से डेढ़ लाख प्राणी बाहर ले जाये गये, एक लाख आहत हुए और उससे भी अधिक मरे। इसके अनन्तर जीते हुए कलिंगों में देवताओं के प्रिय का खूब धर्मविस्तार, धर्मकामना और धर्मानुशिष्टि हुई। इस पर कलिंगों को जीतनेवाले देवताओं के प्रिय को बड़ा पछतावा होता है; (क्योंकि) जहाँ लोगों का वध, मरण, या देशनिकाला हो, उस देश को मैं जीतने पर भी नहीं जीता हुआ मानता हूँ। यह देवताओं के प्रिय को अत्यन्त दुःखद और भारी जान पड़ता है। यह देवताओं के प्रिय को और भारी जान पड़ता है कि वहाँ सर्वत्र ब्राह्मण, श्रमण तथा दूसरे धर्मवाले और गृहस्थ रहते हैं, जिनमें सबसे पहले भरण-पोषण विहित है, जिनमें माता-पिता की शुश्रूषा, गुरु की शुश्रूषा, मित्र, परिचित, सहायक, सम्बन्धी तथा नौकर-चाकरों का उचित आदर और (उनकी ओर से) दृढ़ भक्ति का विधान है। ऐसे लोगों का वहाँ घात, वध या सुख से रहते हुओं का देश-निकाला होता है। जिन सुव्यवस्थित लोगों का स्नेह नहीं घटा है, उनके मित्रों, परिचितों, सहायकों तथा कुटुम्बियों को दुःख होता है। उनका भी उपघात होता है। यह दशा सब मनुष्यों की है, पर देवताओं के प्रिय को यह अधिक दुःखद जान पड़ती है। कोई ऐसा जनपद नहीं है, जहाँ ब्राह्मण, श्रमण आदि के अनंत सम्प्रदाय न हों। ऐसा कोई जनपद भी नहीं है, जिसमें मनुष्यों की किसी-न-किसी धर्म से प्रीति न हो। जितने मनुष्य कलिंग-विजय के समय आहत हुए, मारे गये और बाहर निकाले गये, उनका सौवाँ या हजारवाँ भाग भी आहत होता, मारा जाता या निकाला जाता, तो आज देवताओं के प्रिय को भारी दुःख देनेवाला होता। देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार करता है, वह भी क्षमा के योग्य है, यदि वह क्षमा किया जा सके। जो वन-निवासी देवताओं के प्रिय के विजित देश में हैं, उनको भी वह मानता और उनका भी ध्यान रखता है कि जिसमें देवताओं के प्रिय को पछतावा न हो। वे अपने कर्मों पर लज्जित हों और नष्ट न हों। देवताओं का प्रिय सब जीवों की अक्षति, संयम, सम-चर्या तथा प्रसन्नता चाहता है। जो धर्म की विजय है, वही देवताओं के प्रिय की मुख्य विजय है। यह विजय देवताओं के प्रिय को यहाँ तथा सब सीमान्त प्रदेशों में छह सौ योजन

तक, जिसमें अंतियोकस नाम का यवन राजा तथा अन्य चार राजा—तुरमय, अंतकिन, मग तथा अलिकसुन्दर हैं तथा जिससे दक्षिण की ओर चोड़, पाण्ड्य, ताम्रपर्णीवाले हैं, प्राप्त हुई। यहाँ विष, वृज्जि, यवन, कंबोज, नाभिति, भोज, पैठनिक, अंध्र, पुलिन्द आदि सब देशों में देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन माना जाता है। जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जाते, वहाँ के लोग भी देवताओं के प्रिय के धर्मवृत, धर्मविधान और धर्मानुशासन को सुनकर उसका अनुसरण करते हैं और (बराबर) करेंगे। अबतक जो विजय प्राप्त हुई है, उस प्रेम की विजय से आनंद होता है, पर यह आनंद हलका है। देवताओं का प्रिय उसको महाफलदायक मानता है, जो परलोक-सम्बन्ध रखता है। इसीलिए मैंने यह धर्मलिपि लिखवाई कि जिसमें मेरे पुत्र और प्रपौत्र शस्त्रों द्वारा प्राप्त नई विजय को प्राप्त करने योग्य न मानें। शान्ति और लघुदंडता में रुचि रखें और धर्म की विजय को ही विजय समझें। क्योंकि वह इहलोक और परलोक (दोनों) में फल देनेवाली होती है। उद्यम में रति ही सब प्रकार की जीत है, वह इहलोक और परलोक—दोनों में फल देनेवाली है।

(चतुर्दश प्रज्ञापन)

अयं धंमलिपी देवानं प्रियेन प्रियदसिना राञा लेखापिता अस्ति एव संखितेन अस्ति मझमेन अस्ति विस्ततन न च सर्व सर्वत घटितं महालके हि विजितं बहु च लिखितं लिखापयिसं चेव अस्ति च एतकं पुनपुन वुतं तस तस अथस माधूरताय किंति जनो तथा पटिपजेथ तत्र एकदा असमातं लिखितं असदेसं व सछायकारणं व अलोचेत्पा लिपिकरा परधेनव [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने यह धर्मलिपि लिखवाई। (इनमें) कोई संक्षिप्त है, कोई मध्यम है, कोई विस्तृत है; क्योंकि सब जगह एक-सी नहीं ठीक होती। बड़े-बड़े लोक जीते और बहुत कुछ लिखाया तथा निरंतर लिखवाऊँगा। इनमें (कहीं-कहीं एक ही बात) फिर-फिर लिखी गई है। (इसका कारण कि) उसके अर्थ की मधुरता है, जिसमें लोग उसका प्रतिपादन करें। यह हो सकता है कि उसके कुछ अंश को विचारने योग्य समझकर कुछ अधूरा लिखा गया हो। इसमें लिपिकार का दोष (हो सकता है।)

कलिंग-शिलालेख—धौली और जौगड़

(१)

(देवा) नं पिय (स व) चनेन तोसलियं महामात नगलवियोहालका वतविय अंछि द (खा) मि हकं तं इछामि किंति (कंम) न पटि (वे) दये हं उवालते च आलभे हं एस च मे मोख्यमत (दुवलस) अठसि अं तुफे (सु) अनुसथि तुफे हि बहूसु पानसहसेसु आ (यता) पन गछेम सुमुनिसानं सवे मुनिसे पजा ममा अथा पजाये इछामि हकं किंति सवेन हितासुखेन हिदलोकिक पाललोकिका (ये) यूजेवू ति तथा मुनिसेसु पि इछामि हकं नो च पापुनाथ अवागमके इयं अठे केछ व एक पुलिसे नाति एतं से पि देसं नो सवं देखत

हि तुफे एतं सुविहिता पि निति इयं एक पुलिसे पि (अथि) ये बंधनं वा पलिकिलेसं वा पापुनाति तत होति अकस्मा तेन बंधनंतिक अंने च बहुजने दविये दुखीयति तत इछितविये तुफे हि किंति मझं पटिपादयेमा ति इमे हि यु जतेहि नो संपटिपजति इसाय आसुलोपेन निथूलियेन तूलनाय अनावृतिय आलसियेन कलमथेन से इछितविये किंति एते जाता नो हुवेवु ममाति एतस च सवस मूले अनासुलोपे अतलना च नितियं ए किलंते सिया ते उगछ संचलितविये तु वजितविये एतविये वा हेवंमेव ए दखिये तुफाक तेन वतविये अनं ने देखत हेवं च हेवं च देवानं पियस अनुसथि से महा ले एतस संपटिपाद महाअपाये असंपटिपति विपटिपादयमीनेहि एतं नथि स्वगस आलधि नो लाजालधि दुआहले हि इमस कंमस मे कुतं मने अतिलेके संपटिपजमीने चु एतं स्वगं आलाधयिसथ (त)···(आ) ननियं एहथ इयं च लिपी तिसनखतेन सो (त) विय अंतला पि च (तिसे) खनसि ख(न) सि एकेन पि सोतविय हेवं च कलंतं तुफे चघथ संप (टि) पादयितवे एताये अथाये इयं लिपि लिखित हिद एन नगलकवियो (हा) लका सवतं समयं यु (जे) वू (ति नगलज) नस अकस्मा पलिबोधे व अकस्मा पलिकि (लेसे) व नो सिया ति एताये च अठाये हकं (धं) मते पंचसु पंचसु वसे सु (नि) खामयिसामि ए अखखसे अ (चं) ड सखिनालं भे होसति एतं अटं जानितु (त) था कलंति अथ मम अनुसथी ति उजेनिते पि चु कुमाले एतायेव अठाये निखामयिस हेदिसंमेव वगं नो च अतिकामयिसति तिंनि वसानि हेमेव तखसिलाते पि अदा अ...ते महामाता निखमिसंति अनुसयानं तदा अहापयितु अतने कंयं एतं पि जानिसंति तं पि तथा कलंति अथ लाजिने अनुमथी ति [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय की आज्ञा से तोसली नगर में शासन करनेवाले महामात्रों से वहाँ ऐसा कहना—जो कुछ मेरा मत है, उसके अनुसार मैं चाहता हूँ कि कार्य हो और अनेक उपायों से कार्य का आरंभ किया जाय। मेरे विचार से इस कार्य की सिद्धि के लिए आपलोगों के प्रति मेरी यह शिक्षा है कि आपलोग कई सहस्र प्राणियों के ऊपर इसीलिए रखे गये हैं कि हमलोग अच्छे लोगों के स्नेहपात्र बनें। सभी मनुष्य मेरे पुत्र हैं और मैं चाहता हूँ कि मेरे पुत्र सभी तरह के कल्याण और सुख प्राप्त करें। मैं यह भी चाहता हूँ कि सब मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक—दोनों सुख प्राप्त करें। पर आपलोग इस तत्त्व को अच्छी तरह नहीं समझ रहे हैं। हो सकता है कि आपमें से एकाध व्यक्ति इस तत्त्व को समझते भी हों। पर वे भी कुछ ही अंशों में, पूरी मात्रा में नहीं समझते हैं। आपलोग इस बात पर ध्यान दें; क्योंकि यह नीति अच्छी है। ऐसा हो सकता है कि कोई व्यक्ति कैद में छोड़ दिया जाय या क्लेश पावे और जब बिना कारण के किसी को कैद किया जाता है, तो बहुत-से लोगों को भी बड़ा दुःख होता है। ऐसी अवस्था में आपलोगों को मध्यम मार्ग का अवलम्बन करने की चेष्टा करनी चाहिए। पर बहुत-सी ऐसी निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके कारण सफलता नहीं मिलती। जैसे—ईर्ष्या, श्रम का अभाव, निष्ठुरता, शीघ्रता,

अकर्मण्यता, आलस्य और तन्द्रा। आपलोगों को ध्यान रखना चाहिए कि ऐसी प्रवृत्तियाँ आपलोगों में न आनी चाहिए। इस नीति के अनुसार कार्य करने में श्रम और धैर्य ही उनका मूल कारण होते हैं। इस तरह करते रहो और उद्योग करो। (इसके अनुसार) चलना चाहिए और अग्रसर होकर प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार आप जो समझते हैं, उसके अनुसार आपको यह कहना चाहिए कि देवताओं के प्रिय का यह आदेश है। इस आदेश को पूरा करने से बड़ा फल मिलता है और नहीं पूरा करने से बड़ी विपत्ति आती है। जो इससे चूक जाते हैं, वे न तो स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं और न राजा को प्रसन्न कर सकते हैं। इस विषय में सच्चे उत्साह के साथ काम करने से तो फल मिलते हैं, अर्थात् यदि आप मेरा आदेश पूरा करेंगे, तो स्वर्ग प्राप्त करेंगे और मेरे प्रति जो आपका ऋण है, उससे भी उऋण हो जायेंगे। इस लेख को प्रत्येक पुष्य नक्षत्र के दिन सुनना चाहिए और बीच-बीच में उपयुक्त अवसर पर अकेले एक को भी पुष्य नक्षत्र के दिन इसे सुनना चाहिए। इस तरह करते हुए आप मेरी इच्छा पूरी करें। यह लेख इसलिए लिखा गया कि जिसमें नगर-व्यावहारिक (नगर-शासक) सदा इस बात का प्रयत्न करें कि नगर-निवासियों को अकारण बन्धन या दण्ड न दो। और, इसलिए मैं धर्मानुसार पाँच-पाँच वर्ष पर (ऐसे कर्मचारियों को) बाहर भेजा करूँगा, जो कोमल, क्रोध-रहित और दयालु होंगे और जो इस कार्य को ध्यान में रखते हुए मेरी आज्ञा के अनुसार चलेंगे। उज्जयिनी में भी कुमार इस कार्य के लिए इसी प्रकार कर्मचारियों को तीन-तीन वर्ष के अन्दर भेजेंगे। पर, तीन वर्ष से अधिक का अन्तर न देंगे। तक्षशिला के लिए भी यही आज्ञा है। जब उक्त महामात्र दौरे पर निकलेंगे, तो अपने साधारण कार्यों को करते हुए इस बात पर भी ध्यान देंगे और राजा के आदेश के अनुसार कार्य करेंगे।

द्वितीय शिला-लेख *

देवानं पियस वचनेन तोस लियं कुमाले महामाता च (लजवचनिक) वतविय अं किछि दखामि हकं (तं इछामि हकं किति कंकंम न पटिपातये हं) दुवालते च आलमे हं एस च मे मोख्यमत दुवाला एतसि अठसि अं तुफे (सु अनुसथि सवमुनि सा) मम अथ पजाये इछामि हकं किंति सवेन हितसुखेन (युजेयू अथ पजाये इछामि किंति मे सवेन हित-सुखेन युजेयू ति) हिद लोकिक पाललोकिकाये युजेवू ति हेव (मेव मे इछ सवमुनिसेसु) सिया अंतानं अविजितानं किछंद सु लाज (अ) फेस (ति एता) मवे इछ मम अंतेसु पापुनेवु (लाजा) ते इति देवानं पिय अ विगन ममाये हुवेवू ति अस्वसेयु च सुखंमेव लहेवु मम ते नो दुखं हेवं पापुनेवू (इ) ति खमिसति ने देवानं पिये अफाकं ति ए चकिये खमितवे मम निमितं च धंमं चलेवू हिद लोके पलकोकं च आलाधयेवू एतसि अठसि हकं अनुसासामि तुफे अनने एतकेन हकं (तुफेनि) अनुसासितु छंदं च वेदितु आहि धिति पटिंया च

* यह लेख भी धौली का है, पर कोष्ठकवाला पाठ, जो धौली में नहीं है, जौगड़-पाठ से लिया गया है। —ले०

ममा अजला से हेवं कटु कंमे चलितविये अस्वा (स) नि च तानि एन पापुनेवू इति अथ पिता तथ देवानं पिये अफाक अथा च अतानं हेवं देवानं पिये (अ) नुकंपति अफे अथा च पज हेवं मये देवानं पियस से हकं अनुसासितु छंदं च व (दितु) धितिपटिंना चा अचल) देसाबुतिके होसामि एताये अथाये पटिबला हि तुफे अस्वासनाये हितसुखाये च (ते) म हिद-लोकिकपालोकिकाये हेवं च कलंतं तुफे स्वगं आलाधयिसथ मम च आननियं एहथ एताये च अठाये इयं लिपि लिखिता हिद एन महामाता स्वसतं (स) म युजिसंति अस्वासनाये धंमचलनाये च तेस अंतानं इयं च लिपि अनुचातुमांसं (सोतविया) तिसेन नखतेन सोतविया कामं च खणसि खनसि अंतला पि तिसेन एकेन पि सोतविये हेवं कलंतं तुफे चघथ संपटिपादयितवे [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय ऐसा कहते हैं—समापाम तथा तोसली में कुमार और महामात्रों को राजा की ओर से ऐसा कहना (कि) मेरा जो मत है, उसके अनुसार मैं चाहता हूँ कि कार्य हो और अनेक उपायों से कार्य का आरंभ किया जाय। मेरे विचार में इस कार्य को सिद्ध करने का मुख्य उपाय आपलोगों के प्रति मेरी (यह) शिक्षा है—'सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं।' जिस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरे पुत्र सब तरह के हित और सुख का लाभ प्राप्त करें, उसी प्रकार मैं यह भी चाहता हूँ कि सब मनुष्य भी इहलोक और परलोक में सब प्रकार के हित और सुख का लाभ प्राप्त करें। कदाचित् जो सीमान्त जातियाँ अभी नहीं जीती गई हैं, उनके सम्बन्ध में हमलोगों के प्रति राजा की क्या आज्ञा है, तो मेरा उत्तर यह है कि राजा चाहते हैं कि वे (जातियाँ) मुझसे न डरें, मुझ पर विश्वास करें और मुझसे सुख ही प्राप्त करें, कभी दुःख न पावें।' वे यह भी विश्वास रखें कि जहाँ तक क्षमा का व्यवहार हो सकता है, वहाँ तक राजा हमलोगों के साथ क्षमा का वर्त्ताव करेंगे। मेरे लिए उन्हें धर्म का अनुसरण करना चाहिए, जिससे उनका इहलोक और परलोक दोनों बने। इस काम के लिए मैं आपलोगों को शिक्षा देता हूँ। इससे मैं उऋण हो गया। आपलोगों को शिक्षा देने तथा अपना आदेश प्रकट करने में मेरा दृढ़ निश्चय तथा दृढ़ प्रतिज्ञा है। अब इसके अनुसार चलते हुए आपको ऐसा काम करना चाहिए कि सीमान्त जातियाँ मुझ पर भरोसा करें और समझें कि राजा हमारे लिए वैसे ही हैं, जैसे पिता। वे हम पर वैसा ही प्रेम रखते हैं, जैसा अपने ऊपर। हमलोग राजा के वैसे ही हैं, जैसे उनके पुत्र। आपलोगों को शिक्षा देने तथा अपनी आज्ञा बताने में मेरा दृढ़ निश्चय तथा दृढ़ प्रतिज्ञा है। मैं स्थानीय कर्मचारियों को इस काम के लिए तैयार कर सकूँगा; क्योंकि आप मेरे ऊपर लोगों का विश्वास उत्पन्न करा सकते हैं तथा इहलोक और परलोक में उनके हित और सुख का सम्पादन करा सकते हैं। इस प्रकार करते हुए आप लोग स्वर्ग-लाभ कर सकते हैं और मेरे प्रति आपलोगों का जो ऋण है, उससे उऋण हो सकते हैं। यह लेख इस उद्देश्य से लिखा गया है कि महामात्र सीमान्त जातियों में विश्वास पैदा करने के लिए और उन्हें धर्म-मार्ग पर चलाने के लिए

निरन्तर प्रयत्न करें। इस लेख की प्रति चातुर्मास्य, अर्थात् चार-चार मास की प्रत्येक ऋतु के आरंभ में तथा बीच-बीच में पुष्यनक्षत्र के दिन सुनना चाहिए और अवसर-अवसर पर हर एक को अकेले भी सुनना चाहिए। ऐसा करते हुए आप लोग मेरी आज्ञा के पालन का प्रयत्न करें।

गुहाभिलेख

(१)

लाजिना पियदसिना दुवाडस (वसाभिसितेना) इयं (निगो) कुभादि (ना) आ-(जी)-विकेहि [।]

(२)

लाजिना पियदसिना दुवाडस वसाभिसितेना इयं कुभा खलतिक पवतसि दिना (अग) जीविकेहि [।]

(३)

ला (जा) पियदसी ए (कु) नवी सतिवसा (भि) सित···उधा त···सुपि ख······[।]

हिन्दी

राजा प्रियदर्शी ने राज्याभिषेक के बारह वर्ष बाद खलतिक पर्वत पर यह गुहा आजीविकों को दी।

राजा प्रियदर्शी ने राज्याभिषेक के उन्नीस वर्ष बाद खलतिक पर सुपिया गुहा आजीवकों को दी।

राजा प्रियदर्शी ने राज्याभिषेक के उन्नीस वर्ष बाद खलतिक पर्वत पर सुपिया गुहा आजीवकों को दी।

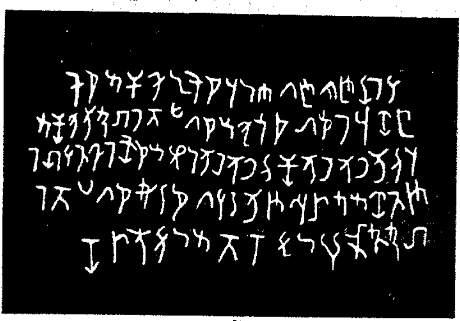
तराई स्तम्भ-लेख

रुम्मिनी देई-स्तंभ

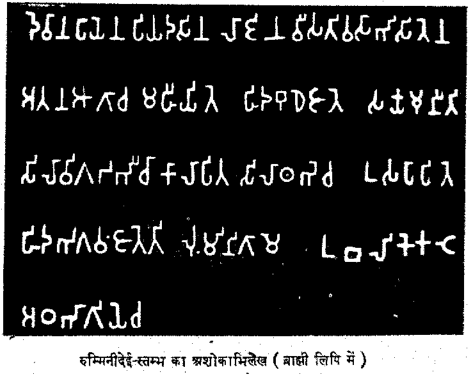
देवान पियेन पियदसिन लाजिन वीसतिवसाभिसितेन अतन आगाच महीयिते हिद बुधे जाते सक्य मुनिति सिला विगडभीचा कालापित सिलाथभे च उसपापिते हिद भगवं जातेति लुंमिनिगामे उबलिके कटे अठभागिये च [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के २० वर्ष बाद स्वयं आकर (इस स्थान की) पूजा की। यहाँ शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ था, इसलिए यहाँ पत्थर का एक प्राचीर स्थापित किया गया और पत्थर का एक स्तम्भ खड़ा किया गया। यहाँ भगवान् जन्मे थे, इसलिए लुम्बिनी ग्राम का कर उठा दिया गया और (पैदावार का) आठवाँ भाग भी उसी ग्राम को दे दिया गया।



खरोष्ठी लिपिवाला सहबाजगढ़ी का सप्तम शिला-लेख (यह दाहिनी ओर से बाईं ओर को पढ़ा जाता है।)—पृ० १७५ और ३२०



रुम्मिनीदेई-स्तम्भ का अशोकाभिलेख (ब्राह्मी लिपि में)

निग्लीवा स्तम्भ-लेख

देवानं पियेन पियदसिन लाजिन चोदसवसा (भिसि) तेन बुधस कोनाकमनस थुबे दुतियं वढिते (वीसतिव) साभिसितेन च अतन आगाच महीयते······पापिते [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के चौदह वर्ष बाद कनकमुनि बुद्ध के स्तूप की द्वितीय बार मरम्मत कराई और राज्याभिषेक के (बीस) वर्ष बाद स्वयं आकर (स्तूप) की पूजा की और (शिलास्तम्भ) खड़ा किया।

प्रधान स्तम्भ-लेख*

[टोपरा, मेरठ, कौशाम्बी (प्रयाग), लौरिया-अरेराज, लौरिया-नन्दनगढ़, और रामपुरवा]

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आह—सडुवीसति वसाभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापित हिदतपालते दुसंपटिपादये अंनत अगाय धंम कामताय अगाय पलीखाय अगाय सुसूसाय अगेन भयेन अगेन उसाहेन एस चु खो मम अनुसथिय धंमा पेख धंमकामता च सुवे सुवे वढीता वढिसति चेव पुलिसा पि मे उकसा च गेवया च मझिमा च अनुविधीयंति संपटिपादयंति च अलं चपलं समादपयितवे हेमेव अंतमहामाता पि एसा हि विधि या इयं धंमेन पालन धंमेन विधाने धंमेन सुखीयन धंमेन गोती ति [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद मैंने यह धर्म-लेख लिखवाया। एकान्त धर्मानुराग, विशेष आत्म-परीक्षा, बड़ी शुश्रूषा, बड़े भय और महान् उत्साह के बिना ऐहिक और पारलौकिक दोनों उद्देश्य दुर्लभ हैं। पर मेरी शिक्षा से लोगों का धर्म के प्रति आदर और अनुराग दिन-पर-दिन बढ़ा है और आगे बढ़ेगा। मेरे पुरुष (कर्मचारी), चाहें वे उच्च पद पर हो या नीच पद पर अथवा मध्यम पद पर, मेरी शिक्षा के अनुसार कार्य करते हैं और ऐसा उपाय करते हैं कि चंचलमति (दुर्विनीत) लोग भी धर्म का आचरण करें। इसी तरह अन्तमहामात्र भी आचरण करते हैं। धर्म के अनुसार पालन करना, धर्म के अनुसार सुख देना और धर्म के अनुसार रक्षा करना यही विधि है।

द्वितीय स्तम्भ-लेख

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आह—धंमे साधु कियंचु धंमे ति अपासिनवे बहुकयाने दय दाने सचे सोचेयेति चखुदाने पि मे बहुविधे दिंने दुपद चतुपदेसु पखिवालि चलेसु

* यहाँ छह अभिलेख तो लौरिया-अरेराज स्तम्भ के दिये गये हैं, पर सातवाँ मेरठ और टोपरा का है। विशेष विवरण इस पुस्तक के पृ० १७५-१७६ पर द्रष्टव्य। —लें०

विविधे मे अनुगहे कटे आपानदखिनाये अंनानि पि च मे बहूनि कयानानि कटानि एताये मे अठाये इयं धंमलिपि लिखापित हेवं अनुपटिपजंतु चिलंथितीका च होतूति ये च हेवं संपटि-पजिसति से सुकटं कछति ति [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—धर्म करना अच्छा है। पर, धर्म क्या है? धर्म यही है कि पाप से दूर रहे, बहुत-से अच्छे काम करे। दया, दान, सत्य और शौच का पालन करे। मैंने कई प्रकार से पारमार्थिक दृष्टि का दान भी लोगों को दिया है। दोपायों, चौपायों, पक्षियों और जलचर प्राणियों पर मैंने अनेक प्रकार की कृपा की है। यहाँ तक कि मैंने उन्हें प्राण-दक्षिणा तक भी दी है। और भी बहुत-से अच्छे काम मैंने किये हैं। यह लेख मैंने इसलिए लिखवाया है कि लोग इसके अनुसार कार्य आचरण करें और यह चिर-स्थायी रहे। जो इसके अनुसार कार्य करेगा, वह पुण्य का काम करेगा।

तृतीय स्तम्भ-लेख

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आह—कयानंम एव देखंति इयं मे कयाने कटे ति नो मिन पापं देखंति इयं मे पापे कटे ति इयं व आसिनवे नामा ति दुपटिवेखे चु खो एस हेवं चु खो एस देखिये इमानि आसिनवगामीनि नामाति अथ चंडिये निठूलिये कोधे माने इस्या कालनेन व हकं मा पलिभसयिसं ति एस बाढं देखिये इयं मे हिदतिकामे इयं मन मे पालति-काये ति [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—मनुष्य अपने अच्छे ही काम को देखता है (और मन में कहता है) 'मैंने यह अच्छा काम किया है।' पर, वह अपने पाप को नहीं देखता (और मन में नहीं कहता)—'यह पाप मैंने किया है या यह दोष मुझमें है।' इस प्रकार की आत्म-परीक्षा बड़ी कठिन है। तथापि मनुष्य को यह देखना चाहिए कि चंडता, निष्ठुरता, क्रोध, मान और ईर्ष्या यह सब बातों के कारण हैं, (उसे अपने मन में सोचना चाहिए)—'इन सब बातों के कारण मेरी निन्दा न हो।' इस बात की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए कि 'इससे मुझे इस लोक में सुख मिलेगा और इससे मेरा परलोक बनेगा।'

चतुर्थ स्तम्भ-लेख

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आह—सडुवीसति वसाभिसितेन मे इयं धंम लिपि लिखापित लजूका मे बहूसु पानसतसहसेसु जनसि आयत तेसं ये अभिहाले व दंडे व अत-पतिये मे कटे किंति लजूक अस्वथ अभीत कंमानि पवतयेवू ति जनस जानपदस हितसुखं उपदहेवु अनुगहिनेवु च सुखीयन दुखीयनं जानिसंति धंम युतेन च वियोवदिसंति जनं जान-पदं किंति हिदतं च पालतं च आलाधयेवु लजूका पि लघंति पटिचलितवे मं पुलिसानि पि मे

छुंदंनानि पटिचलिसंति ते पि च कानि वियोवदिसंति येन मं लजूक चघंति आलाधयितवे अथा हि पजं वियताये धातिये निसिजितु अस्वथे होति—वियत धाति चघति मे पजं सुखं पलिहटवे ति हेवं मम लजूक कट जानपदस हित सुखाये ये न एते अभीत अस्वथा संतं अविमन कंमानि पवतयेवू ति एतेन मे लजूकानं अभिहाले व दंडे व अत पतिये कटे इछितविये हि एस किंति वियोहाल समता च सिय दंड समता च आवा इते पि च मे आवुति बंधनबधानं मुनिसानं तीलितदंडानं पतवधानं तिंनि दिवसानि मे योते दिंने नातिका कानि निझपयिसंति जीविताये तानं नासंतं व निझपयितवे दानं दाहंति पालतिकं उपवासं व कछंति इछा हि मे हेवं निलुधसि पि कालसि पालतं आलाधयेवू ति जनस च वढति विविधे धंमचलने सयमे दान-संविभागे ति [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद मैंने इस लेख को लिखवाया। मेरे रज्जुक नाम के कर्मचारी लाखों मनुष्यों के ऊपर नियुक्त हैं। पुरस्कार तथा दण्ड देने का अधिकार मैंने उनके अधीन कर दिया है, जिससे कि वे निश्चिन्त और निर्भय होकर अपना कर्तव्य करें, लोगों के हित और सुख का खयाल रखें और लोगों पर अनुग्रह करें। वे सुख और दुःख का कारण जानने का प्रयत्न करेंगे और 'धर्मयुक्त' नामक छोटे कर्मचारियों के द्वारा लोगों को ऐसा उपदेश देंगे कि जिससे वे (लोग) ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करें। रज्जुक लोग मेरा आज्ञा-पालन करने का भरपूर प्रयत्न करते हैं और मेरे 'पुरुष' (एक प्रकार के कर्मचारी) भी मेरी इच्छा और आज्ञा के अनुसार काम करेंगे और वे भी कभी-कभी ऐसा उपदेश देंगे कि जिससे रज्जुक लोग मुझे प्रसन्न करने का प्रयत्न करें। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने लड़के को निपुण धाई के हाथ में सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है (और सोचता है)—'यह धाई मेरे लड़के को सुख पहुँचाने की भरपूर चेष्टा करेगी।' उसी प्रकार लोगों को हित और सुख पहुँचाने के लिए मैंने रज्जुक नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं। वे निर्भय, निश्चिन्त और शान्त-भाव से काम करें, इसलिए मैंने पुरस्कार या दण्ड देने का अधिकार उनके अधीन कर दिया है। व्यवहार (मुकदमा) करने तथा दण्ड देने में पक्षपात न होना चाहिए। इसीलिए आज से मेरी यह आज्ञा है कि कारागार में पड़े हुए जिन मनुष्यों को मृत्यु का दण्ड निश्चित हो चुका है, उन्हें तीन दिन की मुहलत दी जाय। जिन लोगों को वध का दण्ड मिला है, उनके जाति-कुटुम्बवाले उनके जीवन के लिए ध्यान करेंगे और अन्त तक ध्यान करते हुए परलोक के लिए दान देंगे तथा उपवास करेंगे; क्योंकि मेरी इच्छा है कि कारागार में रहने के समय भी दण्ड पाये हुए लोग परलोक का चिन्तन करें और लोगों में अनेक प्रकार के धर्माचरण, संयम और दान करने की इच्छा बढ़े।

पंचम स्तम्भ-लेख

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आहा—सडुवीसतिवसाभिसितस मे इमानि पि

जातानि अवधियानि कटानि से यथा सुके सालिक अलुने चकवाके हंसे नंदीमुखे गेलाटे जतूक अंबाकिपिलिक दुडी अनठिकमछे वेदवेयके गंगापुपुटके संकुजमछे कफटसेयके पंनससे सिमले संडके ओकपिंडे पलसते सेतकपोते गामकपोते सवे चतुपदे ये पटिभोगं न एति न च खादियति अजका नानि एडका च सूकली च गभिनी व पायमीना व अवध्य पोतके च कानि आसंमासिके वाधकुकुटे नो कटविये तुसे सजीवे नो झापयितविये दावे अनठाये व विहिसाये व नो झापयितविये जीवेन जीवे नो पुसितविये तीसु चातुमासीसु तिस्यं पुंनमासियं तिंनि दिवसानि चावुदसं पनडसं पटिपदं धुवाय च अनुपोसथं मछे अवध्ये नोपि विकेतविये एतानि येव दिवसानि नागवनसि केवटभोगसि यानि अंनानि पि जीवदिकायानि नो हंतवियानि अठमिपखाये चावुदसाये पंनडसाये तिसाये पुनावसुने तीसु चातुंमासीसु सुदिवसाये गोने नो नीलखितविये अजके एडके सूकले एवापि अंने नीलखियति नो नीलखितविये तिसाये पुनावसुने चातुंमासिये चातुंमासिपखाये अस्वस गोनस लखने नो कटविये याव सडुवीसतिवसाभिसितस मे एताये अंतलिकाये पंनवीसति बंधनमोखानि कटानि [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद मैंने इन प्राणियों का वध करना मना कर दिया है। यथा—सुग्गा, मैना, अरुण, चकवाक, हंस नान्दीमुख, गेलाड़, चमगीदड़, अम्बाकपीलिका, दुडि, अस्थिहीन मछली, वेदवेयक (जीवं जीवक), गंगा पुपुटक, संकुजमत्स्य, कछुआ, साहील, पर्णशश, बारहसिंहा, साँढ़, ओकपिण्ड, मृग, सफेद कपोत, ग्रामकपोत और सब तरह के वे चतुष्पद, जो न उपभोग में आते हैं या न खाये जाते हैं। गाभिन या दूध पिलाती हुई बकरी, भेड़ी और सूअरी तथा इनके बच्चों को, जो छह मास से कम के हों, नहीं मारना चाहिए। मुर्गों को बधिया न करना चाहिए। जीवित प्राणियों के साथ भुसे को न जलाना चाहिए। अनर्थ करने के लिए या प्राणियों के वध के लिए वन में आग न लगानी चाहिए। एक जीव को मारकर दूसरे जीव को न खिलाना चाहिए। प्रति चातुर्मास्य महीने की तीन ऋतुओं की तीन पूर्णिमासी के दिन, पौष मास की पूर्णिमा के दिन, चतुर्दशी, अमावस्या और प्रतिपदा के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली न मारना चाहिए, और न वेचना चाहिए। इन सब दिनों को वन में हाथी और तालाबों में कोई दूसरे प्रकार के भी प्राणी न मारे जायँ। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या या पूर्णिमा तथा पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य के त्योहारों के दिन बैल को दागना नहीं चाहिए। बकरा, मेंढ़ा, सूअर तथा इसी प्रकार के दूसरे प्राणी भी, जो दागे जाते हैं, इन दिनों दागे नहीं जायँ, पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य की पूर्णिमा के दिन तथा प्रत्येक चातुर्मास्य के शुक्ल पक्ष में घोड़े और बैलों को न दागना चाहिए। राज्याभिषेक के बाद २६ वर्ष के भीतर मैंने २५ बार कारागार से लोगों को मुक्त किया है।

षष्ठ स्तम्भ-लेख

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आह—दुवाडसवसाभिसितेन मे धंमलिपि लिखापित लोकस हित सुखाये से तं अपहट तं तं धंमवढि पापोव हेवं लोकस हितसुखे ति पटिवेखामि अथा इयं नातिसु हेवं पत्यासंनेसु हेवं अपकठेसु किंमं कानि सुखं आवहामी ति तथा च विदहामि हेमेव सवनिकायेसु पटिवेखामि सवपासंडा पि मे पूजित विविधाय पूजाय ए चु इयं अतन पचूपगमने से मे मुख्यमुते सडुवीसतिवसाभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापित [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के बारह वर्ष बाद मैंने धर्मलेख लोगों के हित और सुख के लिए लिखवाये, जिसमें कि वे (पाप-पथ को) त्याग कर किसी-न-किसी प्रकार से धर्म की वृद्धि करें। इसी प्रकार मैं लोगों के हित और सुख को लक्ष्य में रखकर यह देखता हूँ कि जाति के लोग, दूर के लोग तथा पास के लोग किस प्रकार से सुखी रह सकते हैं। इसी के अनुसार मैं कार्य भी करता हूँ। इसी प्रकार सब निकायों (जातिवालों) के (हित और सुख को) मैं ध्यान में रखता हूँ। मैंने सब पाषण्डों (सम्प्रदायों) का भी विविध प्रकार से सत्कार किया है। फिर भी अपने धर्म के प्रति अनुराग मेरे मत में मुख्य वस्तु है। राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद मैंने यह धर्मलेख लिखवाया।

सप्तम स्तम्भ-लेख

मेरठ और टोपरा

पूर्वार्द्ध

देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा—ये अतिकंतं अंतलं लाजाने हुसु हेवं इछिसु कथं जने धंमवढिया वढेया [।] नो चु जने अनुलुपाया धंमवढिया वढि था [।] एतं देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा [।] एस मे हुथा अतिकंतं च अंतलं हेवं इछिसु लाजाने कथं जने अनुलुपाया धंमवढिया वढेयाति नो च जने अनुलुपाया धंमवढिया वढि था [।] से किनु सुजने अनुपटिपजेया किन सुजने अनुलुपाया धंमवढिया वढेयाति [,] किन सुकानि अभ्युं नाम— येहं धंमवढिया ति [।] एतं देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा—एस मे हुथा [,] धंमसावनानि सावापयामि धंमानुसथि नि अनुसासामि [।] एतंजने सुतु अनुपटीपजीससि अभ्युंनमिसति [।]

उत्तरार्द्ध

धंमवढिया च बाढं वढिसति [।] एताये मे अठाये धंमसावनानि सावापितानि धंमानुसथिनि विविधानि आनपितानि यथा मे पुलिसापि बहुने जनसि आयता एते पलियोवदिसंति पि पवियलिसंति पि [।] लजूकापि बहुकेसु पानसतसहसेसु आयता ते पि मे आनपिता हेवं च हेवं च पलियोवदाय जनं धंमयुतं [।] देवानं पिये पियदसि हेवं आहा—एतम् एव मे अनुवेखमाने धंमथभानि कटानि [,] धंममहामाता कटा धंमसावने कटे [।] देवानं पिये पियदसि

लाजा हेवं आहा—मगेसु पि मे निगोहानि लोपापितानि छायोपगानि होसंति पसुमुनिसानं अंबावडिक्या लोपापिता अढकोसिक्यानि पि मे उदपानानि खानापापितानि निंसिधिया च कालापिता आपानानि मे बहुकानि तत तत कालापितानि पटिभोगाये पसुमुनिसानं [।] लहुके चु एस पटी भोगे नाम [।] विविधाया हि सुखायनामा पुलिमेहि पि लाजीहि ममया च सुखयिते लोके इमं चु धंमानुपटीपती अनुपटीपजंतु तिए तदथा मे एस कटे [।] देवानं पिये पियदसि हेवं आहा—धंममहामातापि मे ते बहुविधेसु अटेसु आनुगहिकेसु वियापटा से पवजीतनं चेव गिहियानं च सवपासंडेसु पि च वियापटा से [।] संघटसि पि मे कटे इमे वियापटा होहंतिति हेमेव बाभनेसु आजीविकेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंतिति [,] निगंठेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति नानापासंडेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंतिति [।] पटिविसिठं पटिविसिठं तेसु तेसु ते ते महामाता [।] धंममहामाता चु मे एतेसु चेव वियापटा सवेसु च अंनेसु पासंडेसु [।] देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा, एते च अंने च बहुका मुखा दानविसगसि वियापट से मम चेव देविनं च [,] सवसि च मे ओलोधनसि ते बहुविधेनं आकालेन तानि तानि तुठायतनानि पटीपादयंति हिद चेव दिसासु च [।] दालकानं पि च मे कटे अंनानं च देविकुमालानं इमे दान विसगेसु वियापटा होहंति ति धंमापदानठाये धंमानुपटिपतिये [।] एस हि धंमापदाने धंमपटीपति च या इयं दया दाने सचे सोचवे मदवे साधवे च लोकस हेवं वढिसतिति [।] देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा—यानि हि कानि चि ममिया साधवानि कटानि तं लोके अनुपतीपंने तं च अनुविधियंति तेन वढिता च वढिसंति च मातापितिसु सुसुसाया गुलुसु सुसुसाया वयोमहालकानं अनुपटी पतिया बाभनसमनेसु कपनवलाकेसु आव दासभटकेसु संपटीपतिया [।] देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा—मुनिसानं चु या इयं धंमवढि वढि दुवेहि येव आकालेहि धंमनियमेन च निझतिया च [।] तत च लहु से धंमनियमे निझतिया व भुये [।] धंमनियमे च खो एस ये मे इयं कटे इमानि च इमानि जातानि अवधियानि [।] अंनानि पि चु बहुकानि धंमनियमानि यानि मे कटानि [।] निझतिया वचु भुये मुनिसानं धंम वढि वढिता अविहिंसाये भुतानं अनालंभाये पानानं [।] से एसमे अठाये इयं कटे पुतापपोतिके चंदमसुलियिके होतु ति तथा च अनुपटीपजंतु ति [।] हेवं हि अनुपटीपजंतं हिदत पालते आलधे होति [।] सतविसतिवसाभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापायिता ति [।] एतं देवानं पिये आहा—इयं धंमलिबि अत अथि सिलाथंभानि वा सिलाफलकानि वा तत कटविया एन एस चिलठितिके सिया [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—बहुत दिन हुए, जो राजा हो गये हैं, उनकी इच्छा थी कि किसी प्रकार लोगों में धर्म की वृद्धि हो। पर लोगों में आशानुरूप धर्म की वृद्धि नहीं हुई। इसलिए देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—यह विचार मेरे मन में उदय हुआ कि पूर्व समय में राजा लोग यह चाहते थे कि किसी प्रकार लोगों में उचित रूप से धर्म की वृद्धि हो; पर लोगों में उचित रूप से धर्म की वृद्धि नहीं हुई।

तो, अब किस प्रकार से लोगों को (धर्मपालन में) प्रवृत्त किया जाय, किस प्रकार लोगों में उचित रूप से धर्म की वृद्धि की जाय, किस प्रकार मैं धर्म की वृद्धि से कम-से-कम कुछ लोगों को तो धर्म में तत्पर करा सकूँ? इसलिए देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—यह विचार मेरे मन में आया कि धर्म-श्रवण कराऊँ और उन्हें धर्म का उपदेश दूँ, जिसमें कि लोग उसे सुनकर उसी के अनुसार आचरण करें, उन्नति करें और विशेष रूप से धर्म की वृद्धि करें। इसी उद्देश्य से धर्म-श्रवण कराया गया और विविध प्रकार से धर्म का उपदेश दिया गया, जिसमें कि मेरे 'पुरुष' नामक कर्मचारीगण, जो बहुत-से लोगों के ऊपर नियुक्त हैं, मेरे उपदेशों का प्रचार करें और उनका खूब विस्तार करें। रज्जुकों को भी, जो लाखों मनुष्यों पर नियुक्त हैं, यह आज्ञा दी गई है कि 'धर्मयुत' नामक कर्मचारियों को इस प्रकार उपदेश देना।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ऐसा कहते हैं—इसी उद्देश्य से मैंने मनुष्यों और पशुओं को छाया देने के लिए बरगद के पेड़ लगवाये, आम्रवृक्ष की वाटिकाएँ लगवाई ; आठ-आठ कोस पर कूप खुदवाये, सरायें बनवाईं और जहाँ-तहाँ पशुओं तथा मनुष्यों के उपकार के लिए अनेक पनशाले बैठाये। किन्तु यह उपकार कुछ भी नहीं है। पहले के राजाओं ने और मैंने भी विविध प्रकार के सुखों से लोगों को सुखी किया है। किन्तु मैंने यह इसलिए किया है कि लोग धर्म के अनुसार आचरण करें।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ऐसा कहते हैं—मेरे धर्ममहामात्र भी उन बहुत तरह के उपकार के कार्यों में नियुक्त हैं, जिनका सम्बन्ध संन्यासी और गृहस्थ दोनों से है। वे कई सम्प्रदायों में नियुक्त हैं। मैंने उन्हें संघों में, ब्राह्मणों में, आजीवकों में, निर्ग्रन्थों में तथा विविध प्रकार के सम्प्रदायों में नियुक्त किया है। भिन्न-भिन्न महामात्र अपने-अपने कार्य में लगे हुए हैं, किन्तु धर्ममहामात्र अपने-अपने कार्य के अलावा सब सम्प्रदायों का निरीक्षण भी करते हैं।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—ये तथा अन्य दूसरे प्रधान कर्मचारी मेरे तथा मेरी रानियों के दानोत्सर्ग-कार्य के सम्बन्ध में नियुक्त हैं और यहाँ (पाटलिपुत्र में) तथा प्रान्तों में मेरे सब अन्तःपुरवालों को बताते हैं कि कौन-कौन से अवसरों पर कौन-कौन-सा दान करना चाहिए। वे मेरे पुत्रों और दूसरे राजकुमारों के दानोत्सर्ग-कार्य की देखभाल करने के लिए नियुक्त हैं, जिसमें धर्म की उन्नति और धर्म का आचरण हो। धर्म की उन्नति और धर्म का आचरण इसी में है कि दया, दान, सत्य, शौच, मृदुता और साधुता लोगों में बढ़े।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—जो कुछ अच्छा काम मैंने किया है, उसे लोग स्वीकार करते हैं और उसका अनुसरण करते हैं, जिससे उनके ये गुण बढ़े हैं और बढ़ेंगे—अर्थात् माता-पिता की सेवा, गुरुओं की सेवा, वयोवृद्ध का सत्कार और ब्राह्मण-श्रमणों के साथ, दीन-दुःखियों के साथ तथा दास-नौकरों के साथ उचित व्यवहार।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं— मनुष्यों में जो यह धर्मवृद्धि हुई है, वह दो प्रकार से हुई है, अर्थात् एक धर्म के नियम से और दूसरे ध्यान के द्वारा। इन दोनों में धर्म के नियम कोई बड़े महत्त्व के नहीं है, पर ध्यान बड़े महत्त्व की बात है। पर मैंने धर्म के नियम इसलिए बनाये हैं कि अमुक-अमुक प्राणी न मारे जायँ। और भी बहुत-से धर्म के नियम मैंने बनाये हैं। पर ध्यान की बदौलत मनुष्यों में धर्म की वृद्धि, प्राणियों की अहिंसा और यज्ञों में जीवों का अनालंभ बढ़ा है। यह लेख इसलिए लिखा गया है कि जबतक सूर्य और चन्द्रमा हैं, तबतक मेरे पुत्र और प्रपौत्र इसीके अनुसार आचरण करें; क्योंकि इसके अनुसार आचरण करने से इहलोक और परलोक दोनों सुधरेंगे। राज्याभिषेक के २७ वर्ष बाद मैंने यह लेख लिखवाया है।

देवताओं के प्रिय यह कहते हैं—जहाँ-जहाँ पत्थर के स्तम्भ या पत्थर की शिलाएँ हों, वहाँ-वहाँ यह धर्मलेख खुदवाया जाय, जिसमें कि यह चिरस्थित रहे।

गौण स्तम्भ-लेख*

सारनाथ

देवा [नं पिये पियदसि लाजा] ए (ल)······पाट (लिपुते)······ये केन पि संघे भेतवे [।] ए चुं खो भिखू वा भिखुनि वा संघं भखति से ओदातानि दुसानि संनं धापयिया आनावाससि आवासियिये [।] हेवं इयं सासने भिखुसंघसि च भिखुनीसंघसि च विंनपयित विये [।] हेवं देवानं पिये आहा हेदिसा च एका लिपी तुफाकं तिकं हुवाति संसलनसि निखिता [।] इकं च लिपिं हेदिसमेव उपासकानंतिकं निखिपाथ [।] ते पि च उपासका अनुपोसथं यावु एतमेव सासनं विस्वंसयितवे [।] अनुपोसथं च धुवाये इकिके महामाते पोसथाये याति एतमेव सासनं विस्वंसयितवे आजानितवे च [।] आवतके च तुफाकं आहाले सवत निवासयाथ तुफे एतेन वियंजनेन [।] हेमेव सवेसु कोटविसवेसु एतेन वियंजनेन विवासापयाथा [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं कि पाटलिपुत्र तथा प्रान्तों में कोई संघ में फूट न डाले। जो कोई चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी—संघ में फूट डालेगा, वह सफेद वस्त्र पहनाकर उस स्थान में रख दिया जायगा, जो भिक्षुकों या भिक्षुणियों के लिए उचित नहीं है। इसी प्रकार हमारी यह आज्ञा भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ को बता दी जाय। देवताओं के प्रिय ऐसा कहते हैं—इस तरह का एक लेख आपलोगों के समीप भेजा गया है, जिससे कि आप लोग उसे याद रखें। ऐसा ही एक लेख आपलोग उपासकों के लिए भी लिख दें, जिससे कि वे हर उपवास के दिन आकर इस आज्ञा के मर्म को समझें। वर्ष-भर प्रत्येक उपवास के दिन प्रत्येक महामात्र उपवास-व्रत-पालन करने के लिए इस आज्ञा के मर्म

* विवरण के लिए इस पुस्तक का पृ० १७६ द्रष्टव्य।

को समझाने तथा इसका प्रचार करने के लिए जायगा। जहाँ-जहाँ आपलोगों का अधिकार हो, वहाँ-वहाँ आप सवत्र इस आज्ञा के अनुसार प्रचार करें। इसी प्रकार आपलोग सब कोटों (गढ़ों) और विषयों (प्रान्तों) में भी इस आज्ञा को भेजें।

प्रयाग

······ये [आ] नपयति कोसंबिय महामात······म······संघसि नचि ये······ [संघं भो] खति भिखु व भिखुनि वा [पि] च [ओ] दा [ता] नि दुसानि, नं धापयितु आन [ये] स···व···य··· [।]

हिन्दी

देवप्रिय प्रियदर्शी कौशाम्बी के महामात्रों को इस प्रकार आज्ञा देते हैं—संघ के नियमों का उल्लंघन न किया जाय। जो कोई संघ में फूट डालेगा, वह श्वेत वस्त्र पहनाकर उस स्थान से हटा दिया जायगा, जहाँ भिक्षु या भिक्षुणियाँ रहती हैं (वहाँ से)।

साँची

······ये संघं भोखति भिखु वा भिखुनि वा ओदातानि दुसानि सनंधापयितु अनावसि विसयेतविये [।] इछाहि मे किंति संघस मगे चिलथितीके सियाति [।]

हिन्दी

······भिक्षु और भिक्षुणी दोनों के लिए मार्ग नियत किया गया है······जो कोई भिक्षुणी या भिक्षु-संघ में फूट डालेगा, वह उस स्थान में हटा दिया जायगा, जो भिक्षुओं या भिक्षुणियों के लिए उचित नहीं है। मेरी इच्छा है कि संघ का मार्ग चिरस्थित रहे।

अशोक की रानी का स्तम्भ-लेख*

देवानं पियया वचनेना सवंत महा मता वतविया, ए हेत दुतियाये देवीये दाने अंबा वडिका वा आलमे व दानग [हि वा ए वापि] अंने कीछि गनीयति ताये देविये ये नानि···व··· दुतियाये देवियेति तीवलमातु कालुवाकिये।

हिन्दी

देवताओं के प्रिय सर्वत्र महामात्रों को यह आज्ञा देते हैं—दूसरी रानी ने जो कुछ दान किया हो, चाहे वह आम्रवाटिका हो या उद्यान या दान-गृह अथवा और कोई चीज हो, वह सब उस रानी का दान गिना जाना चाहिए। यह सब कार्य दूसरी रानी, अर्थात् तीवर की माता 'कारुवाकी' के (पुण्य के निमित्त) किये गये हैं।

* यह लेख प्रयाग-स्तम्भ पर है। इसकी लिपि अशोक के धर्मलेखों की लिपि से भिन्न है।—ले॰

शब्दानुक्रमणी

ख

ग

छ

ज

प

सहायक ग्रन्थों की सूची

१. महावग्गो (दो भाग—मूलपालि)—सम्पादक, एन० के० भागवत । प्रकाशक, बंबई विश्वविद्यालय, बंबई—१, सन् १९४४-४५ ई०

२. दीघ निकाय (तीन भाग—मूलपाली)—प्रकाशक, नालन्दा-देवनागरी पालि-ग्रन्थमाला, नालन्दा, सन् १९५८ ई०

३. चूलवग्गो (मूलपालि)—प्रकाशक, नालन्दा-देवनागरीपालि-ग्रन्थमाला, नालन्दा, सन् १९५८ ई०

४. सुत्तनिपात (मूलपालि-सहित हिन्दी)—सम्पादक, भिक्षुधर्मरत्न, महाबोधि-सभा, सारनाथ (बनारस), सन् १९५१ ई०

५. मज्झिम निकाय (मूलपालि)—प्रकाशक,नालन्दा-देवनागरीपालिग्रन्थमाला, नालन्दा, सन् १९५८ ई०

६. जातकट्ठकथा (मूलपालि—बुद्धघोष)—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५१ ई०

७. प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि (अनंगवज्र)—गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ोदा

८. ज्ञानसिद्धि ” ” ”

९. धम्मपद (भिक्षु धर्मरक्षित)—प्रकाशक, मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, कचौड़ी-गली, बनारस, सन् १९५३ ई०

१०. उदान (उत्तम भिक्षु)—महाबोधिसभा, सारनाथ (बनारस), सन् १९३७ ई०

११. अंगुत्तर निकाय (रोमनस्क्रिप्ट, पालि—१-६ तक)—सम्पादक, रेवरेंड-रिचार्ड्स मोरिस, सन् १८८३-१८९६ ई० और ७ से ११ भाग—सम्पादक, ई० हार्डी, सन् १८९९-१९०० ई० ; प्रकाशक—पालिटेक्स्ट सोसायटी ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी, लन्दन

१२. सासनवंस (मोबिलबोर्ड)—प्रकाशक ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी, लन्दन

१३. ललितविस्तर (संपा० डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र) प्रकाशक—जे० डब्लू० थॉमस, बपतिस्ट मिशन प्रेस, ५७ पार्कस्ट्रीट, कलकत्ता, १८८२ ई०

१४. दीघ निकाय (हिन्दी)—महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक—महाबोधि-सभा, सारनाथ, बनारस

१५. विनय पिटक (हिन्दी)—पं० राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि-सभा, सारनाथ, बनारस, सन् १९३६ ई०

१६. मज्झिम निकाय (हिन्दी)—पं० राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि-सभा, सारनाथ (बनारस), सन् १९३३ ई०

१७. संयुत्त निकाय (अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप और धर्मरक्षित)—महाबोधि-सभा, सारनाथ (बनारस), सन् १९५४ ई०
१८. मिलिन्द पञ्ह (अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप) — प्रकाशक, धर्मोदय-सभा, कलकत्ता, सन् १९५१ ई०
१९. थेरी-गाथा (अनु० भरत सिंह उपाध्याय)—प्रकाशक, सस्तासाहित्य-मंडल, नई दिल्ली
२०. जातक (छह भागों में)—अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग
२१. महावंस (गायगर का संस्करण)—भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग
२२. ऋग्वेद-संहिता-(सम्पा० दामोदर सातवलेकर)—स्वाध्याय-मण्डल, सतारा (पूना)
२३. अथर्ववेद—आर्य-साहित्य-मण्डल, अजमेर, विक्रम-संवत् १९८९
२४. महाभारत—भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना
२५. वाल्मीकीय रामायण—पाण्डुरंगजावजी, बंबई
२६. श्वेताश्वतरोपनिषद्—खेमराज-श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई
२७. छान्दोग्योपनिषद्— " " "
२८. बृहदारण्यकोपनिषद्— " " "
२९. तैत्तिरीयोपनिषद्—गीता-प्रेस, गोरखपुर (उत्तर प्रदेश)
३०. मुण्डकोपनिषद्— " " "
३१. मनुस्मृति (कुल्लुकभट्ट-टीका)—निर्णयसागर प्रेस, बंबई
३२. हरिवंशपुराण—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
३३. विष्णुपुराण—श्रीरामचन्द्र शर्मा, बंबई
३४. हर्षचरितम् (बाणभट्ट)—चौखम्भा-संस्कृत सीरीज, बनारस
३५. मालविकाग्निमित्रम् (कालिदास) — " "
३६. मृच्छकटिकम् (शूद्रक)—प्रका०, मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड संस, बनारस
३७. युगपुराण (सम्पा० डॉ० आर० मनकद)—प्रका०, चारुतर-प्रकाशन, वलभ्विद्या-नगर, सन् १९५१ ई०
३८. बुद्धचर्या (पं० राहुल सांकृत्यायन)—प्रका०, शिवप्रसाद गुप्त, सेवा-उपवन, काशी, विक्रमसंवत् १९८८
३९. तिब्बत में बौद्धधर्म (पं० राहुल सांकृत्यायन)—प्रका०, किताब-महल, इलाहाबाद, १९४८ ई०
४०. पालि-साहित्य का इतिहास (श्रीभरतसिंह उपाध्याय)—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, सन् १९४९ ई०

४१. बौद्धधर्म-दर्शन (आचार्य नरेन्द्रदेव)—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना
४२. भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कोसम्बी)—साहित्य एकाडमी, नई दिल्ली, सन् १९५६ ई०
४३. पालिमहाव्याकरण (भिक्षु जगदीश काश्यप)—प्रका०, महाबोधिसभा, सारनाथ (बनारस)
४४. चीनी बौद्धधर्म का इतिहास (डॉ० चाउ-सियांग-कुआंग)—प्रका०, भारती-भंडार, इलाहाबाद
४५. अशोक की धर्मलिपियाँ (महामहोपाध्याय गौरीशंकर-हीराचन्द ओझा)—प्रका०, नागरीप्रचारिणीसभा, काशी, वि० सं० १९८०
४६. नालन्दा (डॉ० हीरानन्द शास्त्री)—प्रकाशक, मैनेजर ऑफ पब्लिकेशन, देहली, सन् १९३८ ई०
४७. प्राचीन भारत (श्रीगंगाप्रसाद मेहता)—हिन्दी-प्रकाशन-मण्डल, बनारस, सन् ९४८ ई०
४८. पाटलिपुत्र की कथा (श्रीसत्यकेतु विद्यालंकार)—हिन्दुस्तानी एकाडमी, इलाहाबाद
४९. प्राचीन भारत क इतिहास (श्रीभगवतशरण उपाध्याय)—प्रका०, हिन्दुस्तानी प्रेस, पटना
५०. बुद्ध और उनके अनुचर (भदन्त आनन्द कौसल्यायन)—प्रधान-पब्लिशिंग हाउस, प्रयाग, सन् १९५० ई०
५१. बिहार—एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन (श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार और श्रीपृथ्वीसिंह मेहता)—प्रका०, पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय, १९४० ई०
५२. हिन्दूराज्यतंत्र (दूसरा खंड)—डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल, प्रकाशक—नागरी-प्रचारणी-सभा, काशी, संवत् १९९९
५३. अंधकारयुगीन भारत (मूल-लेखक, डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल)—अनु० श्रीरामचन्द्र वर्मा, प्रका०—नागरीप्रचारिणी-सभा, काशी
५४. बोधगया-इतिकथा (श्रीजगन्नाथदास)—बोधगया, सन् १९५६ ई०
५५. भारतीय इतिहास का उन्मीलन (श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार)—५वाँ संस्करण
५६. जयन्तीस्मारक-ग्रन्थ (प्रका० पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय)—सन् १९४२ ई०
५७. हर्षवर्द्धन (श्रीगौरीशंकर चटर्जी)—प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग, सन् १९५० ई०
५८. तपोभूमि (श्रीरामगोपाल मिश्र)—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, संवत् २००७
५९. सुयेनच्वांग (श्रीजगन्मोहन वर्मा)—हिन्दी-पुस्तक-एजेंसी, कलकत्ता, संवत्—१९८०
६०. प्राक्मौर्य बिहार (डॉ० देवसहाय त्रिवेद)—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना

निग्लीवा स्तम्भ-लेख

देवानं पियेन पियदसिन लाजिन चोदसवसा (भिसि) तेन बुधस कोनाकमनस थुवे दुतियं वढिते (वीसतिव) सामिसितेन च अतन आगाच महीयते······पापिते [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के चौदह वर्ष बाद कनकमुनि बुद्ध के स्तूप की द्वितीय बार मरम्मत कराई और राज्याभिषेक के (बीस) वर्ष बाद स्वयं आकर (स्तूप) की पूजा की और (शिलास्तम्भ) खड़ा किया।

प्रधान स्तम्भ-लेख*

[टोपरा, मेरठ, कौशाम्बी (प्रयाग), लौरिया-अरेराज, लौरिया-नन्दनगढ़, और रामपुरवा]

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आह—सड़ुवीसति वसाभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापित हिदतपालते दुसंपटिपादये अंनत अगाय धंम कामताय अगाय पलीखाय अगाय सुसूसाय अगेन भयेन अगेन उसाहेन एस चु खो मम अनुसथिय धंमा पेख धंमकामता च सुवे सुवे वढीता वढिसति चेव पुलिसा पि मे उकसा च गेवया च मझिमा च अनुविधीयंति संपटिपादयंति च अलं चपलं समादपयितवे हेमेव अंतमहामाता पि एसा हि विधि या इयं धंमेन पालन धंमेन विधाने धंमेन सुखीयन धंमेन गोती ति [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद मैंने यह धर्म-लेख लिखवाया। एकान्त धर्मानुराग, विशेष आत्म-परीक्षा, बड़ी शुश्रूषा, बड़े भय और महान् उत्साह के बिना ऐहिक और पारलौकिक दोनों उद्देश्य दुर्लभ हैं। पर मेरी शिक्षा से लोगों का धर्म के प्रति आदर और अनुराग दिन-पर-दिन बढ़ा है और आगे बढ़ेगा। मेरे पुरुष (कर्मचारी), चाहे वे उच्च पद पर हों या नीच पद पर अथवा मध्यम पद पर, मेरी शिक्षा के अनुसार कार्य करते हैं और ऐसा उपाय करते हैं कि चंचलमति (दुर्विनीत) लोग भी धर्म का आचरण करें। इसी तरह अन्तमहामात्र भी आचरण करते हैं। धर्म के अनुसार पालन करना, धर्म के अनुसार सुख देना और धर्म के अनुसार रक्षा करना यही विधि है।

द्वितीय स्तम्भ-लेख

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आह—धंमे साधु कियंचु धंमे ति अपासिनवे बहुकयाने दय दाने सचे सोचेयेति चखुदाने पि मे बहुविधे दिंने दुपद चतुपदेसु पखिवालि चलेसु

* यहाँ छह अभिलेख तो लौरिया-अरेराज स्तम्भ के दिये गये हैं, पर सातवाँ मेरठ और टोपरा का है। विशेष विवरण इस पुस्तक के पृ० १७५-१७६ पर द्रष्टव्य। —ले०

विविधे मे अनुगहे कटे आपानदखिनाये अंनानि पि च मे बहूनि कयानानि कटानि एताये मे अठाये इयं धंमलिपि लिखापित हेवं अनुपटिपजंतु चिलंथितीका च होतूति ये च हेवं संपटिपजिसति से सुकटं कछति ति [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—धर्म करना अच्छा है। पर, धर्म क्या है? धर्म यही है कि पाप से दूर रहे, बहुत-से अच्छे काम करे। दया, दान, सत्य और शौच का पालन करे। मैंने कई प्रकार से पारमार्थिक दृष्टि का दान भी लोगों को दिया है। दोपायों, चौपायों, पक्षियों और जलचर प्राणियों पर मैंने अनेक प्रकार की कृपा की है। यहाँ तक कि मैंने उन्हें प्राण-दक्षिणा तक भी दी है। और भी बहुत-से अच्छे काम मैंने किये हैं। यह लेख मैंने इसलिए लिखवाया है कि लोग इसके अनुसार कार्य आचरण करें और यह चिर-स्थायी रहे। जो इसके अनुसार कार्य करेगा, वह पुण्य का काम करेगा।

तृतीय स्तम्भ-लेख

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आह—कयानंम एव देखंति इयं मे कयाने कटे ति नो मिन पापं देखंति इयं मे पापे कटे ति इयं व आसिनवे नामा ति दुपटिवेखे चु खो एस हेवं चु खो एस देखिये इमानि आसिनवगामीनि नामाति अथ चंडिये निठूलिये कोधे माने इस्या कालनेन व हकं मा पलिभसयिसं ति एस बाढं देखिये इयं मे हिदतिकाये इयं मन मे पालतिकाये ति [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—मनुष्य अपने अच्छे ही काम को देखता है (और मन में कहता है) 'मैंने यह अच्छा काम किया है।' पर, वह अपने पाप को नहीं देखता (और मन में नहीं कहता)—'यह पाप मैंने किया है या यह दोष मुझमें है।' इस प्रकार की आत्म-परीक्षा बड़ी कठिन है। तथापि मनुष्य को यह देखना चाहिए कि चंडता, निष्ठुरता, क्रोध, मान और ईर्ष्या यह सब पापों के कारण हैं, (उसे अपने मन में सोचना चाहिए)—'इन सब बातों के कारण मेरी निन्दा न हो।' इस बात की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए कि 'इससे मुझे इस लोक में सुख मिलेगा और इससे मेरा परलोक बनेगा।'

चतुर्थ स्तम्भ-लेख

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आह—सडुवीसति वसाभिसितेन मे इयं धंम लिपि लिखापित लजूका मे, बहूसु पानसतसहसेसु जनसि आयत तेसं ये अभिहाले व दंडे व अतपतिये मे कटे किंति लजूक अस्वथ अभीत कंमानि पवतयेवू ति जनस जानपदस हितसुखं उपदहेवु अनुगहिनेवु च सुखीयन दुखीयनं जानिसंति धंम युतेन च वियोवदिसंति जनं जानपदं किंति हिदतं च पालतं च आलाधयेवु लजूका पि लघंति पटिचलितवे मं पुलिसानि पि मे

छंदंनानि पटिचलिसंति ते पि च कानि वियोवदिसंति येन मं लजूक चघंति आलाधयितवे अथा हि पजं वियताये धातिये निसिजितु अस्वथे होति—वियत धाति चघति मे पजं सुखं पलिहटवे ति हेवं मम लजूक कट जानपदस हित सुखाये ये न एते अभीत अस्वथा संतं अविमन कंमानि पवतयेवू ति ऐतेन मे लजूकानं अभिहाले व दंडे व अत पतिये कटे इछितविये हि एस किंति वियोहाल समता च सिय दंड समता च आवा इते पि च मे आवुति बंधनबधानं मुनिसानं तीलितदंडानं पतवधानं तिंनि दिवसानि मे योते दिंने नातिका कानि निझपयिसंति जीविताये तानं नासंतं व निझपयितवे दानं दाहंति पालतिकं उपवासं व कछंति इछा हि मे हेवं निलुधसि पि कालसि पालतं आलाधयेवू ति जनस च वढति विविधे धंमचलने सयमे दान-संविभागे ति [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद मैंने इस लेख को लिखवाया। मेरे रज्जुक नाम के कर्मचारी लाखों मनुष्यों के ऊपर नियुक्त हैं। पुरस्कार तथा दण्ड देने का अधिकार मैंने उनके अधीन कर दिया है, जिससे कि वे निश्चिन्त और निर्भय होकर अपना कर्त्तव्य करें, लोगों के हित और सुख का खयाल रखें और लोगों पर अनुग्रह करें। वे सुख और दुःख का कारण जानने का प्रयत्न करेंगे और 'धर्मयुक्त' नामक छोटे कर्मचारियों के द्वारा लोगों को ऐसा उपदेश देंगे कि जिससे वे (लोग) ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करें। रज्जुक लोग मेरा आज्ञा-पालन करने का भरपूर प्रयत्न करते हैं और मेरे 'पुरुष' (एक प्रकार के कर्मचारी) भी मेरी इच्छा और आज्ञा के अनुसार काम करेंगे और वे भी कभी-कभी ऐसा उपदेश देंगे कि जिससे रज्जुक लोग मुझे प्रसन्न करने का प्रयत्न करें। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने लड़के को निपुण धाई के हाथ में सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है (और सोचता है)—'यह धाई मेरे लड़के को सुख पहुँचाने की भरपूर चेष्टा करेगी।' उसी प्रकार लोगों को हित और सुख पहुँचाने के लिए मैंने रज्जुक नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं। वे निर्भय, निश्चिन्त और शान्त-भाव से काम करें, इसलिए मैंने पुरस्कार या दण्ड देने का अधिकार उनके अधीन कर दिया है। व्यवहार (मुकदमा) करने तथा दण्ड देने में पक्षपात न होना चाहिए। इसीलिए आज से मेरी यह आज्ञा है कि कारागार में पड़े हुए जिन मनुष्यों को मृत्यु का दण्ड निश्चित हो चुका है, उन्हें तीन दिन की मुहलत दी जाय। जिन लोगों को वध का दण्ड मिला है, उनके जाति-कुटुम्बवाले उनके जीवन के लिए ध्यान करेंगे और अन्त तक ध्यान करते हुए परलोक के लिए दान देंगे तथा उपवास करेंगे; क्योंकि मेरी इच्छा है कि कारागार में रहने के समय भी दण्ड पाये हुए लोग परलोक का चिन्तन करें और लोगों में अनेक प्रकार के धर्माचरण, संयम और दान करने की इच्छा बढ़े।

पंचम स्तम्भ-लेख

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आहा—सडुवीसतिवसाभिसितस मे इमानि पि

जातानि अवधियानि कटानि से यथा सुके सालिक अलुने चकवाके हंसे नंदीमुखे गेलाटे जतूक अंबाकिपिलिक दुडी अनठिकमछे वेदवेयके गंगापुपुटके संकुजमछे कफटसेयके पंनससे सिमले संडके ओकपिंडे पलसते सेतकपोते गामकपोते सवे चतुपदे ये पटिभोगं न एति न च खादियति अजका नानि एडका च सूकली च गभिनी व पायमीना व अवध्य पोतके च कानि आसंमासिके वाधकुकुटे नो कटविये तुसे सजीवे नो झापयितविये दावे अनठाये व विहिसाये व नो झापयितविये जीवेन जीवे नो पुसितविये तीसु चातुमासीसु तिस्यं पुंनमासियं तिंनि दिवसानि चावुदसं पनडसं पटिपदं धुवाय च अनुपोसथं मछे अवध्ये नोपि विकेतविये एतानि येव दिवसानि नागवनसि केवटभोगसि यानि अंनानि पि जीवदिकायानि नो हंतवियानि अठमिपखाये चावुदसाये पंनडसाये तिसाये पुनावसुने तीसु चातुंमासीसु सुदिवसाये गोने नो नीलखितविये अजके एडके सूकले एवापि अंने नीलखियति नो नीलखितविये तिसाये पुनावसुने चातुंमासिये चातुंमासिपखाये अस्वस गोनस लखने नो कटविये याव सडुवीसतिवसाभिसितस मे एताये अंतलिकाये पंनवीसति बंधनमोखानि कटानि [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद मैंने इन प्राणियों का वध करना मना कर दिया है। यथा—सुग्गा, मैना, अरुण, चकवाक, हंस नान्दीमुख, गेलाड़, चमगीदड़, अम्बाकपीलिका, दुडि, अस्थिहीन मछली, वेदवेयक (जीवं जीवक), गंगा पुपुटक, संकुजमत्स्य, कछुआ, साहील, पर्णशश, बारहसिंहा, साँड़, ओकपिण्ड, मृग, सफेद कपोत, ग्रामकपोत और सब तरह के वे चतुष्पद, जो न उपभोग में आते हैं या न खाये जाते हैं। गाभिन या दूध पिलाती हुई बकरी, भेड़ी और सूअरी तथा इनके बच्चों को, जो छह मास से कम के हों, नहीं मारना चाहिए। मुर्गों को बधिया न करना चाहिए। जीवित प्राणियों के साथ भुस्से को न जलाना चाहिए। अनर्थ करने के लिए या प्राणियों के वध के लिए वन में आग न लगानी चाहिए। एक जीव को मारकर दूसरे जीव को न खिलाना चाहिए। प्रति चातुर्मास्य महीने की तीन ऋतुओं की तीन पूर्णिमासी के दिन, पौष मास की पूर्णिमा के दिन, चतुर्दशी, अमावस्या और प्रतिपदा के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली न मारना चाहिए, और न बेचना चाहिए। इन सब दिनों को वन में हाथी और तालाबों में कोई दूसरे प्रकार के भी प्राणी न मारे जायँ। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या या पूर्णिमा तथा पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य के त्योहारों के दिन बैल को दागना नहीं चाहिए। बकरा, भेड़ा, सूअर तथा इसी प्रकार के दूसरे प्राणी भी, जो दागे जाते हैं, इन दिनों दागे नहीं जायँ, पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य की पूर्णिमा के दिन तथा प्रत्येक चातुर्मास्य के शुक्ल पक्ष में घोड़े और बैलों को न दागना चाहिए। राज्याभिषेक के बाद २६ वर्ष के भीतर मैंने २५ बार कारागार से लोगों को मुक्त किया है।

षष्ठ स्तम्भ-लेख

देवानं पिये पियदसि लाज हेवं आह—दुवाडसवसाभिसितेन मे धंमलिपि लिखापित लोकस हित सुखाये से तं अपहट तं तं धंमवढि पापोव हेवं लोकस हितसुखे ति पटिवेखामि अथा इयं नातिसु हेवं पत्यासंनेसु हेवं अपकठेसु किंमं कानि सुखं आवहामी ति तथा च विदहामि हेमेव सवनिकायेसु पटिवेखामि सवपासंडा पि मे पूजित विविधाय पूजाय ए तु इयं अतन पचूपगमने से मे मुख्यमुते सडुवीसतिवसाभिसितेन मे इयं धंमलिपि लिखापित [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के बारह वर्ष बाद मैंने धर्मलेख लोगों के हित और सुख के लिए लिखवाये, जिसमें कि वे (पाप-पथ को) त्याग कर किसी-न-किसी प्रकार से धर्म की वृद्धि करें। इसी प्रकार मैं लोगों के हित और सुख को लक्ष्य में रखकर यह देखता हूँ कि जाति के लोग, दूर के लोग तथा पास के लोग किस प्रकार से सुखी रह सकते हैं। इसी के अनुसार मैं कार्य भी करता हूँ। इसी प्रकार सब निकायों (जातिवालों) के (हित और सुख को) मैं ध्यान में रखता हूँ। मैंने सब पाषण्डों (सम्प्रदायों) का भी विविध प्रकार से सत्कार किया है। फिर भी अपने धर्म के प्रति अनुराग मेरे मत में मुख्य वस्तु है। राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद मैंने यह धर्मलेख लिखवाया।

सप्तम स्तम्भ-लेख

मेरठ और टोपरा

पूर्वार्द्ध

देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा—ये अतिकंतं अतलं लाजाने हुसु हेवं इछिसु कथं जने धंमवढिया वढेया [।] नो चु जने अनुलुपाया धंमवढिया वढि था [।] एतं देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा [।] एस मे हुथा अतिकंतं च अंतलं हेवं इछिसु लाजाने कथं जने अनुलुपाया धंमवढिया वढेयाति नो च जने अनुलुपाया धंमवढिया वढि था [।] से किनु सुजने अनुपटिपजेया किन सुजने अनुलुपाया धंमवढिया वढेयाति [,] किन सुकानि अभ्युं नामं— येहं धंमवढिया ति [।] एतं देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा—एस मे हुथा [,] धंमसावनानि सावापयामि धंमानुसथि नि अनुसासामि [।] एतंजने सुतु अनुपटीपजीसति अभ्युंनमिसति [।]

उत्तरार्द्ध

धंमवढिया च बाढं वढिसति [।] एताये मे अठाये धंमसावनानि सावापितानि धंमानुसथिनि विविधानि आनपितानि यथा मे पुलिसापि बहुने जनसि आयता एते पलियोवदिसंति पि पवियलिसंति पि [।] लजूकापि बहुकेसु पानसतसहसेसु आयता ते पि मे आनपिता हेवं च हेवं च पलियोवदाथ जनं धंमयुतं [।] देवानं पिये पियदसि हेवं आहा—एतमेव मे अनुवेखमाने धंमथभानि कटानि [,] धंममहामाता कटा धंमसावने कटे [।] देवानं पिये पियदसि

लाजा हेवं आहा—मगेसु पि मे निगोहानि लोपापितानि छायोपगानि होसंति पसुमुनिसानं अंबावडिक्या लोपापिता अढकोसिक्यानि पि मे उदपानानि खानापापितानि निंसिधिया च कालापिता आयानानि मे बहुकानि तत तत कालापितानि पटिभोगाये पसुमुनिसानं [।] लहुके चु एस पटी भोगे नाम [।] विविधाया हि सुखायनामा पुलिमेहि पि लाजीहि ममया च सुखयिते लोके इमं चु धंमानुपटीपती अनुपटीपजंतु तिए तदथा मे एस कटे [।] देवानं पिये पियदसि हेवं आहा—धंममहामातापि मे ते बहुविधेसु अठेसु आनुगहिकेसु वियापटा से पवजीतनं चेव गिहियानं च सवपासंडेसु पि च वियापटा से [।] संघटसि पि मे कटे इमे वियापटा होहंतिति हेमेव बाभनेसु आजीविकेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंतिति [,] निगंठेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंति नानापासंडेसु पि मे कटे इमे वियापटा होहंतिति [।] पटिविसिटं पटिविसिटं तेसु तेसु ते ते महामाता [।] धंममहामाता चु मे एतेसु चेव वियापटा सवेसु च अंनेसु पासंडेसु [।] देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा, एते च अंने च बहुका मुखा दान-विसगसि वियापट से मम चेव देविनं च [,] सवसि च मे ओलोधनसि ते बहुविधेनं आकालेन तानि तानि तुठायतनानि पटीपादयंति हिद चेव दिसासु च [।] दालकानं पि च मे कटे अंनानं च देविकुमालानं इमे दान विसगेसु वियापटा होहंति ति धंमापदानठाये धंमानुपटिपतिये [।] एस हि धंमापदाने धंमपटीपति च या इयं दया दाने सचे सोचवे मदवे साधवे च लोकस हेवं वढिसतिति [।] देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा—यानि हि कानि चि ममिया साध-वानि कटानि तं लोके अनुपर्तीपंने तं च अनुविधियंति तेन वढिता च वढिसंति च मातापितिसु सुसुसाया गुलुसु सुसुसाया वयोमहालकानं अनुपटी पतिया बाभनसमनेसु कपनवलाकेसु आव दासभटकेसु संपटीपतिया [।] देवानं पिये पियदसि लाजा हेवं आहा—मुनिसानं चु या इयं धंमवढि वढि दुवेहि येव आकालेहि धंमनियमेन च निझतिया च [।] तत च लहु से धंम-नियमे निझतिया व मुये [।] धंमनियमे च खो एस ये मे इयं कटे इमानि च इमानि जातानि अवधियानि [।] अंनानि पि चु वहुकानि धंमनियमानि यानि मे कटानि [।] निझतिया वचु मुये मुनिसानं धंम वढि वढिता अविहिंसाये भुतानं अनालंभाये पानानं [।] से एतमे अठाये इयं कटे पुतापपोतिके चंदमसुलियिके होसु ति तथा च अनुपटीपजंतु ति [।] हेवं हि अनुपटीपजंतं हिदत पालते आलधे होति [।] सतविसतिवसाभिसितेन मे इयं धंम-लिपि लिखापायिता ति [।] एतं देवानं पिये आहा—इयं धंमलिबि अत अथि सिलाथंभानि वा सिलाफलकानि वा तत कटविया एन एस चिलठितिके सिया [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—बहुत दिन हुए, जो राजा हो गये हैं, उनकी इच्छा थी कि किसी प्रकार लोगों में धर्म की वृद्धि हो। पर लोगों में आशानुरूप धर्म की वृद्धि नहीं हुई। इसलिए देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—यह विचार मेरे मन में उदय हुआ कि पूर्व समय में राजा लोग यह चाहते थे कि किसी प्रकार लोगों में उचित रूप से धर्म की वृद्धि हो; पर लोगों में उचित रूप से धर्म की वृद्धि नहीं हुई।

तो, अब किस प्रकार से लोगों को (धर्मपालन में) प्रवृत्त किया जाय, किस प्रकार लोगों में उचित रूप से धर्म की वृद्धि की जाय, किस प्रकार मैं धर्म की वृद्धि से कम-से-कम कुछ लोगों को तो धर्म में तत्पर करा सकूँ? इसलिए देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—यह विचार मेरे मन में आया कि धर्म-श्रवण कराऊँ और उन्हें धर्म का उपदेश दूँ, जिसमें कि लोग उसे सुनकर उसी के अनुसार आचरण करें, उन्नति करें और विशेष रूप से धर्म की वृद्धि करें। इसी उद्देश्य से धर्म-श्रवण कराया गया और विविध प्रकार से धर्म का उपदेश दिया गया, जिसमें कि मेरे 'पुरुष' नामक कर्मचारीगण, जो बहुत-से लोगों के ऊपर नियुक्त हैं, मेरे उपदेशों का प्रचार करें और उनका खूब विस्तार करें। रज्जुकों को भी, जो लाखों मनुष्यों पर नियुक्त हैं, यह आज्ञा दी गई है कि 'धर्मयुत' नामक कर्मचारियों को इस प्रकार उपदेश देना।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ऐसा कहते हैं—इसी उद्देश्य से मैंने मनुष्यों और पशुओं को छाया देने के लिए बरगद के पेड़ लगवाये, आम्रवृक्ष की वाटिकाएँ लगवाईं; आठ-आठ कोस पर कूप खुदवाये, सरायें बनवाईं और जहाँ-तहाँ पशुओं तथा मनुष्यों के उपकार के लिए अनेक पनसाले बैठाये। किन्तु यह उपकार कुछ भी नहीं है। पहले के राजाओं ने और मैंने भी विविध प्रकार के सुखों से लोगों को सुखी किया है। किन्तु मैंने यह इसलिए किया है कि लोग धर्म के अनुसार आचरण करें।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ऐसा कहते हैं—मेरे धर्ममहामात्र भी उन बहुत तरह के उपकार के कार्यों में नियुक्त हैं, जिनका सम्बन्ध संन्यासी और गृहस्थ दोनों से है। वे कई सम्प्रदायों में नियुक्त हैं। मैंने उन्हें संघों में, ब्राह्मणों में, आजीवकों में, निर्ग्रन्थों में तथा विविध प्रकार के सम्प्रदायों में नियुक्त किया है। भिन्न-भिन्न महामात्र अपने-अपने कार्य में लगे हुए हैं, किन्तु धर्ममहामात्र अपने-अपने कार्य के अलावा सब सम्प्रदायों का निरीक्षण भी करते हैं।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—ये तथा अन्य दूसरे प्रधान कर्मचारी मेरे तथा मेरी रानियों के दानोत्सर्ग-कार्य के सम्बन्ध में नियुक्त हैं और यहाँ (पाटलिपुत्र में) तथा प्रान्तों में मेरे सब अन्तःपुरवालों को बताते हैं कि कौन-कौन से अवसरों पर कौन-कौन-सा दान करना चाहिए। वे मेरे पुत्रों और दूसरे राजकुमारों के दानोत्सर्ग-कार्य की देखभाल करने के लिए नियुक्त हैं, जिसमें धर्म की उन्नति और धर्म का आचरण हो। धर्म की उन्नति और धर्म का आचरण इसी में है कि दया, दान, सत्य, शौच, मृदुता और साधुता लोगों में बढ़े।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—जो कुछ अच्छा काम मैंने किया है, उसे लोग स्वीकार करते हैं और उसका अनुसरण करते हैं, जिससे उनके ये गुण बढ़े हैं और बढ़ेंगे—अर्थात् माता-पिता की सेवा, गुरुओं की सेवा, वयोवृद्ध का सत्कार और ब्राह्मण-श्रमणों के साथ, दीन-दुःखियों के साथ तथा दास-नौकरों के साथ उचित व्यवहार।

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं— मनुष्यों में जो यह धर्मवृद्धि हुई है, वह दो प्रकार से हुई है, अर्थात् एक धर्म के नियम से और दूसरे ध्यान के द्वारा। इन दोनों में धर्म के नियम कोई बड़े महत्त्व के नहीं है, पर ध्यान बड़े महत्त्व की बात है। पर मैंने धर्म के नियम इसलिए बनाये हैं कि अमुक-अमुक प्राणी न मारे जायँ। और भी बहुत-से धर्म के नियम मैंने बनाये हैं। पर ध्यान की बदौलत मनुष्यों में धर्म की वृद्धि, प्राणियों की अहिंसा और यज्ञों में जीवों का अनालंभ बढ़ा है। यह लेख इसलिए लिखा गया है कि जब-तक सूर्य और चन्द्रमा हैं, तबतक मेरे पुत्र और प्रपौत्र इसीके अनुसार आचरण करें; क्योंकि इसके अनुसार आचरण करने से इहलोक और परलोक दोनों सुधरेंगे। राज्याभिषेक के २७ वर्ष बाद मैंने यह लेख लिखवाया है।

देवताओं के प्रिय यह कहते हैं—जहाँ-जहाँ पत्थर के स्तम्भ या पत्थर की शिलाएँ हों, वहाँ-वहाँ यह धर्मलेख खुदवाया जाय, जिसमें कि यह चिरस्थित रहे।

गौण स्तम्भ-लेख*

सारनाथ

देवा [नं पिये पियदसि लाजा] ए (ल)······पाट (लिपुते)······ये केन पि संघे भेतवे [।] ए चुं खो भिखू वा भिखुनि वा संघं भखति से ओदातानि दुसानि संनं धापयिया आनावाससि आवासियिये [।] हेवं इयं सासने भिखुसंघसि च भिखुनीसंघसि च विंनपयित विये [।] हेवं देवानं पिये आहा हेदिसा च एका लिपी तुफाकं तिकं हुवालि संसलनसि निखिता [।] इकं च लिपिं हेदिसमेव उपासकानंतिकं निखिपाथ [।] ते पि च उपासका अनुपोसथं यावु एतमेव सासनं विस्वंसयितवे [।] अनुपोसथं च धुवाये इकिके महामाते पोसथाये याति एतमेव सासनं विस्वंसयितवे आजानितवे च [।] आवतके च तुफाकं आहाले सवत निवासयाथ तुफे एतेन वियंजनेन [।] हेमेव सवेसु कोटविसवेसु एतेन वियंजनेन विवासापयाथा [।]

हिन्दी

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं कि पाटलिपुत्र तथा प्रान्तों में कोई संघ में फूट न डाले। जो कोई चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी—संघ में फूट डालेगा, वह सफेद वस्त्र पहनाकर उस स्थान में रख दिया जायगा, जो भिक्षुओं या भिक्षुणियों के लिए उचित नहीं है। इसी प्रकार हमारी यह आज्ञा भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ को बता दी जाय। देवताओं के प्रिय ऐसा कहते हैं—इस तरह का एक लेख आपलोगों के समीप भेजा गया है, जिससे कि आप लोग उसे याद रखें। ऐसा ही एक लेख आपलोग उपासकों के लिए भी लिख दें, जिससे कि वे हर उपवास के दिन आकर इस आज्ञा के मर्म को समझें। वर्ष-भर प्रत्येक उपवास के दिन प्रत्येक महामात्र उपवास-व्रत-पालन करने के लिए इस आज्ञा के मर्म

* विवरण के लिए इस पुस्तक का पृ० १७६ द्रष्टव्य।

को समझाने तथा इसका प्रचार करने के लिए जायगा। जहाँ-जहाँ आपलोगों का अधिकार हो, वहाँ-वहाँ आप सर्वत्र इस आज्ञा के अनुसार प्रचार करें। इसी प्रकार आपलोग सब कोटों (गढ़ों) और विषयों (प्रान्तों) में भी इस आज्ञा को भेजें।

प्रयाग

······ये [आ] नपयति कोसंबिय महामात······म······संघसि नचि ये······ [संघं भो] खति भिखु व भिखुनि वा [पि] च [ओ] दा [ता] नि दुसानि, नं धापयितु आन [पे] स···व···य··· [।]

हिन्दी

देवप्रिय प्रियदर्शी कौशाम्बी के महामात्रों को इस प्रकार आज्ञा देते हैं— संघ के नियमों का उल्लंघन न किया जाय। जो कोई संघ में फूट डालेगा, वह श्वेत वस्त्र पहनाकर उस स्थान से हटा दिया जायगा, जहाँ भिक्षु या भिक्षुणियाँ रहती हैं (वहाँ से)।

साँची

······ये संघं भोखति भिखु वा भिखुनि वा ओदातामि दुसानि सनंधापयितु अना ससि विसयेतविये [।] इछाहि मे किंति संघस मगे चिलथितीके सियाति [।]

हिन्दी

······भिक्षु और भिक्षुणी दोनों के लिए मार्ग नियत किया गया है······जो कोई भिक्षुणी या भिक्षु-संघ में फूट डालेगा, वह उस स्थान में हटा दिया जायगा, जो भिक्षुकों या भिक्षुणियों के लिए उचित नहीं है। मेरी इच्छा है कि संघ का मार्ग चिरस्थित रहे।

अशोक की रानी का स्तम्भ-लेख*

देवानं पियया वचनेना सवंत महा मता वतविया, ए हेत दुतियाये देवीये दाने अंबा वडिका वा आलमे व दानग [हि वा ए वापि] अंने कीछि गनीयति ताये देविये पे नानि···व··· दुतियाये देवियेति तीवलमातु कालुवाकिये।

हिन्दी

देवताओं के प्रिय सर्वत्र महामात्रों को यह आज्ञा देते हैं—दूसरी रानी ने जो कुछ दान किया हो, चाहे वह आम्रवाटिका हो या उद्यान या दान-गृह अथवा और कोई चीज हो, वह सब उस रानी का दान गिना जाना चाहिए। यह सब कार्य दूसरी रानी, अर्थात् तीवर की माता 'कारुवाकी' के (पुण्य के निमित्त) किये गये हैं।

---

* यह लेख प्रयाग-स्तम्भ पर है। इसकी लिपि अशोक के धर्मलेखों की लिपि से भिन्न है।—ले०

करता है, वह अपने धर्म को बहुत उन्नति करता है और दूसरे धर्मवाले का भी उपकार करता है। जो इसके विपरीत करता है, वह अपने धर्म को क्षीण और परधर्म का अपकार करता है। जो कोई अपने धर्मवालों का आदर और दूसरे धर्मवालों का अनादर करता है, वह अपने धर्म को भक्ति से ही करता है क्यों? कि जिसमें अपने धर्म का प्रकाश हो, किन्तु वैसा करने से वह अपने धर्म को अत्यंत हानि पहुँचाता है। इसलिए आपस का मेल-जोल ही अच्छा है कि (लोग) एक-दूसरे के धर्म को सुनें और उसकी शुश्रूषा करें। यही देवताओं का प्रिय चाहता है। क्या कि सब धर्मवाले बहुश्रुत हों और उनका ज्ञान कल्याणमय हो। जो लोग जिस-जिस (धर्म) पर दृढ़ हों, वे यह कहें कि देवताओं का प्रिय दान और पूजा को वैसा नहीं मानता, जैसा कि सब धर्मवालों की सारवृद्धि और बड़ाई हो। इसी उद्देश्य से धर्ममहामात्र, स्त्रियों के अध्यक्ष महामात्र, व्रजभूमिक तथा दूसरी संस्थाएँ नियत हैं। इसका फल यह है कि अपने मत की उन्नति और धर्म का प्रकाश।

(त्रयोदश प्रज्ञापन*)

अस्तवषअभिसितस देवन प्रियस प्रियद्रशिस रञो कलिग विजित दियधमत्रे प्रणशतसहस्रे येतता अपवुढे शतषहस्रमत्रे तत्र हते बहुतवतके मुटे तते पछ अधुन लधेषु कलिगेषु तिव्रे ध्रमपलनं ध्रमकमत ध्रमनुशस्ति च देवन प्रियस सो अस्ति अनुसोचनं देवन प्रियस विजिनितु कलिगनि अविजितं हि विजिनमनि ये तत्र वधो व मरणं व अपवहो व जनस तं बढं वेदनियमतं गुरुमतं च देवनं प्रियस इमं पि त्रु ततो गुरुमत रं देवनं प्रियस तत्र हि वसि ब्रमण व श्रमण व अंञे व प्रषंड ग्रहथ व येसु विहित, एष अग्रभुटि सुश्रुष मत पितुषु सुश्रुष गुरुनं सुश्रुष मित्रसंस्तुत सहय ञतिकेषु दसभटकनं संम प्रतिपति दिढभतित तेषं तत्र भोति अपग्रथो व वधो व अभिरतन व निक्रमणं येषं व पि संविहितनं नेहो अविप्रहिनो एतेष मित्रसंस्तुतसहयञतिक वसन प्रपुणति तत्र तं पि तेष वो अपग्रथो भोति प्रतिभगं च एतं सव्र मनुशनं गुरुमतं च देवनं प्रियस (नथि चा पे जनपदे यता नथि इमे निकाया, आनंता येनेष बंभने चा षमने चा नथि, चा कुवापि जनपदषि यता नथि मनुषानं) एकतरस्पि पि प्रषंडस्पि न नम प्रसदो सो यमत्रो जनो तद कलिगे (ल० पु) हतो च मुटो च अववुढो च ततो शतभगे व सहस्रभगं व अज गरुमतं वो देवनं प्रियस यो पि च अपकरेयति छमितवियमते वो देवनं प्रियस यं शको छमनये य पि च अटवि देवनं प्रियस विजिते भोति त पि अनुनेति अनुनिझपये अनुतपे पि च प्रभवे देवनं प्रियस वचति तेष किति अवत्रपेयु न च हंयसु इछति हि देवनं प्रियो सव्रभुतन अक्षति संयमं समचरियं रभसिये एषे च मुखमुते देवनं प्रियस यो ध्रमविजयो सो च पुन लधो देवनं प्रियस इह च सव्रेषु च अंतेषु अषषु पि योजनशतेषु यत्र अंतियोको नम योजरज परं च तेन अंतियोकेन चतुरे रजनि तुरमये नम अंतिकिनि नम मक नम अलिकसुदरो नम निच चोड पंड

* यह प्रज्ञापन सहबाजगढ़ी का है। सहबाजगढ़ी में जहाँ-जहाँ वाक्य टूट गये हैं। वहाँ का अंश—कालसी-शिलालेख से लिया गया है, जो कोष्ठक ( ) के भीतर है। गिरनारवाले प्रज्ञापन में उसके बहुत अंश नष्ट हो गये हैं, अतः सहबाजगढ़ीवाला ही पाठ दिया गया है।—ले०

अव तंवपंनिय एवमेव हिदरज विषवत्रि योनकंबोयेपु नभके नभितिन भोजपितिनिकेपु अंध्र-पुलिदेषु सवत्र देवनं प्रियस ध्रमनुशस्ति अनुवर्टति यत्र पि (दुता) देवनं प्रियस दुत न व्रचंति ते पि श्रुतु देवनं प्रियस ध्रमवुटं विधेनं ध्रमनुशस्ति ध्रमं अनुविधियंति अनुविधियिशंति च यो च लधे एतकेन भोति सवत्र विजयो सवत्र पुन विजयो प्रितिरसो सो लध भोति प्रिति (पिति) ध्रमविजयस्पि लहुक तु खो स प्रिति परत्रिकमेव महफल मेत्रति देवनं प्रियो एतये च अठये अयो ध्रमदिपि दिपिस्त किति पुत्र पपोत्र मे असु नवं विजयं म विजेतवियं मञिषु (षयकपि) यो विजये छंति च लहुदंडतं च रोचेतु तं एव विजमञ यो ध्रमविजयो सो हिद-लोकिको परलोकिको सब च निरति भोतु य ध्रमरति स हि हिदलोकिक परलोकिक [।]

हिन्दी

अभिषिक्त होने के आठवें वर्ष देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंगों को जीता। वहाँ से डेढ़ लाख प्राणी बाहर ले जाये गये, एक लाख आहत हुए और उससे भी अधिक मरे। इसके अनन्तर जीते हुए कलिंगों में देवताओं के प्रिय का तूत्र धर्मविस्तार, धर्मकामना और धर्मानुशिष्टि हुई। इस पर कलिंगों को जीतनेवाले देवताओं के प्रिय को बड़ा पछतावा होता है; (क्योंकि) जहाँ लोगों का वध, मरण, या देशनिकाला हो, उस देश को मैं जीतने पर भी नहीं जीता हुआ मानता हूँ। यह देवताओं के प्रिय को अत्यन्त दुःखद और भारी जान पड़ता है। यह देवताओं के प्रिय को और भारी जान पड़ता है कि वहाँ सर्वत्र ब्राह्मण, श्रमण तथा दूसरे धर्मवाले और गृहस्थ रहते हैं, जिनमें सबसे पहले भरण-पोषण विहित है, जिनमें माता-पिता की शुश्रूषा, गुरु की शुश्रूषा, मित्र, परिचित, सहायक, सम्बन्धी तथा नौकर-चाकरों का उचित आदर और (उनकी ओर से) दृढ़ भक्ति का विधान है। ऐसे लोगों का वहाँ घात, वध या सुख से रहते हुओं का देश-निकाला होता है। जिन सुव्यवस्थित लोगों का स्नेह नहीं घटा है, उनके मित्रों, परिचितों, सहायकों तथा कुटुम्बियों को दुःख होता है। उनका भी उपघात होता है। यह दशा सब मनुष्यों की है, पर देवताओं के प्रिय को यह अधिक दुःखद जान पड़ती है। कोई ऐसा जनपद नहीं है, जहाँ ब्राह्मण, श्रमण आदि के अनंत सम्प्रदाय न हों। ऐसा कोई जनपद भी नहीं है, जिसमें मनुष्यों की किसी-न-किसी धर्म से प्रीति न हो। जितने मनुष्य कलिंग-विजय के समय आहत हुए, मारे गये और बाहर निकाले गये, उनका सौवाँ या हजारवाँ भाग भी आहत होता, मारा जाता या निकाला जाता, तो आज देवताओं के प्रिय को भारी दुःख देनेवाला होता। देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार करता है, वह भी क्षमा के योग्य है, यदि वह क्षमा किया जा सके। जो वन-निवासी देवताओं के प्रिय के विजित देश में हैं, उनको भी वह मानता और उनका भी ध्यान रखता है कि जिसमें देवताओं के प्रिय को पछतावा न हो। वे अपने कर्मों पर लज्जित हों और नष्ट न हों। देवताओं का प्रिय सब जीवों की अक्षति, संयम, सम-चर्या तथा प्रसन्नता चाहता है। जो धर्म की विजय है, वही देवताओं के प्रिय की मुख्य विजय है। यह विजय देवताओं के प्रिय को यहाँ तथा सब सीमान्त प्रदेशों में छह सौ योजन

६१. हिन्दी-साहित्य का बृहद् इतिहास (चौथा खण्ड)—प्रकाशक—नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी
६२. गुप्तकालीन मुद्राएँ (डॉ० अनन्त-सदाशिव अल्तेकर)—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना
६३. सारनाथ का इतिहास (श्रीवृन्दावन भट्टाचार्य)—प्रकाशक, ज्ञानमण्डल-यंत्रालय, काशी, संवत् १६७६
६४. बिहार-अब्दकोश—ले०-प्रका०, श्रीगदाधरप्रसाद अम्बष्ठ, पटना, सन् १६५४ ई०
६५. भारतीय कला को बिहार की देन (डॉ० बिन्ध्येश्वरीप्रसाद सिंह)—प्रका० बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना
६६. खारवेल का शिला-लेख (डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल)—इंडियन प्रेस, प्रयाग, १६२८ ई०
६७. गया एण्ड बोधगया—श्रीवेणीमाधव बरुआ
६८. दि लाइफ एण्ड वर्क बुद्धघोष—श्रीविमलचरण लाहा
६९. जर्नल एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, भाग ६६
७०. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया—डॉ० विंसेंट स्मिथ, सन् १६२४ ई०
७१. इंडिया हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली—मार्च, १६२५ ई०
७२. पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज—श्रीगायगर
७३. गंगा (मासिक) का पुरातत्त्वांक—सन् १६३२ ई०, सुलतानगंज, भागलपुर
७४. गंगा (,,), जनवरी, १६३१ ई० ,, ,,
७५. नागरी-प्रचारिणी पत्रिका (काशी), भाग १०, अंक ४, वि० सं० १६८६
७६. साहित्यकार (बुद्धांक)—साहित्यकार-संसद्, इलाहाबाद, सन् १६५६ ई०

भ्रम-संशोध

पुस्तक के पृ० २१ की २. संख्यावाली टिप्पणी में जहाँ 'ललितविस्तर' छप गया है, वहाँ 'अंगुत्तर निकाय' छपना चाहिए था। इसी प्रकार परिशिष्ट—१ के पृ० २८१ वाला प्रधान शीर्षक 'भाषा और साहित्य को बौद्धधर्म की देन' के स्थान पर 'बौद्धधर्म को भाषा और साहित्य की देन' होना चाहिए। कृपया उक्त भ्रान्तियों का परिमार्जन कर लें।

—लेखक